श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

●

प्रकाशक
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
१/१२८, डुमरॉव कॉलोनी, अस्सी
वाराणसी-५

●

प्रथम संस्करण ११००
वी० नि० सं० २५०२
श्रावणशुक्ला ७ (पार्श्वनिर्वाण-सप्तमी),

●

मूल्य बीस रुपये

भगवान महावीरकी पच्चीसवीं निर्वाण-रजतशती
तथा वर्णी-शताब्दिके मङ्गल प्रसङ्गपर

●

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-१

प्रकाशकीय

नवम्वर १९७५ में जैनसाहित्यका इतिहास भाग १ का प्रकाशन हुआ था और उसके प्रकाशकीयके अन्तमें आशा की थी कि उसका दूसरा भाग भी दिसम्बर १९७५ तक प्रकाशित हो जायगा। किन्तु जो सोचा जाता है वह पूरा नही होता। इस दूसरे भागके प्रकाशनमें दिसम्वर १९७५ के वाद ७ माह तो पूरे लग ही गये हैं।

इसमें सवसे वडा वाधक कारण अर्थका अभाव रहा है। यह उसी प्रकार जिस तरह मजदूर जितना कमा लेता है उतनी गुजर-वसर कर लेता है। और यदि नही कमा पाता है तो उसे भूखा रहना पडता है। यही हाल इसके प्रकाशनका रहा है। प्रेरणा या प्रयत्नसे जो आर्थिक सहायता मिली वह कागज तथा छपाईमें दे दी। पिछले दिनो वा० नन्दलालजी कलकत्ताने स्वय और अपने मित्रोंको प्रेरित कर २३५१ रुपए की ग्रन्थप्रकाशन-सहायता तथा ५ सरक्षक-सदस्य वना कर भिजाये। अभी हालमें वाहुवली (कोल्हापुर) जानेपर श्री ब्र० माणिकचन्द्रजीके चवरे कारजाने भी हमारी प्रेरणापर कुछ लोगोको सरक्षक सदस्य वनाकर सहयोग प्रदान किया तथा प्रयासशील हैं। इसी शृखलामें दान-शीला श्रीमती कुसुम वेन मोतीचन्दने भी ५००)की प्रकाशन-सहायता प्रदान की है।

हमें इतनी ही प्रसन्नता है कि श्रद्धेय प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीका वर्षों पूर्व किया गया परिश्रम सफल हो गया और उनका यह 'जैन-साहित्यका इतिहास' भाग २ भी, जो अन्तिम है, छप गया है। इसके लिए श्रद्धेय पण्डितजीके तो कृतज्ञ हैं ही, सहायतादाताओं, उसके प्रेरको और वर्द्धमान प्रेसको भी धन्यवाद देते हैं, जिनके समवेत प्रयत्नोसे यह कार्य सम्पन्न हो सका।

यह ग्रन्थ भी भगवान् महावीरकी २५००वी निर्वाण-शतीका एक सुखद, सुन्दर और ज्ञानमय उपहार है, जो निश्चय ही पाठकोका विशेष ज्ञान-सम्वर्द्धन करेगा।

पार्श्व-निर्वाण-सप्तमी, वी० नि० स० २५०२
२ अगस्त, १९७६ ई०,

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

लेखकका वक्तव्य

जैन साहित्यके इतिहासके दूसरे भागको पाठकोके हाथोमें देते हुए मुझे परम प्रसन्नताका अनुभव होना स्वाभाविक है। वर्णी-ग्रन्थमालाने सन् ५३ में इस योजनाको हाथमें लिया था। और मैंने लगभग सात वर्षमें इसके तीन भाग लिखे थे। प्रथम तो पीठिका भाग है। उसका प्रकाशन सन् ६३ में हुआ था। शेष दो भाग बारह वर्षोंके पश्चात् वर्णी-ग्रन्थमालाके मत्री डा० दरबारीलालजी कोठियाके अथक प्रयत्नसे ही प्रकाशित हो सके है। पीठिकाके पश्चात् प्रथम भागमें कर्म-सिद्धान्त-विषयक साहित्यका इतिहास है। इस दूसरे भागमें भूगोल, खगोल, तथा द्रव्यानुयोग (अध्यात्म और तत्त्वार्थ) विषयक साहित्यका इतिहास है। इन भागोके अध्ययनसे विज्ञ पाठकोको करणानुयोग और द्रव्यानुयोग विषयक मौलिक ग्रन्थोका विषय-परिचय भी ज्ञात हो सकेगा और वे उनके रचयिता आचार्योंके सम्बन्धमें भी जान सकेंगे। साहित्य देश, धर्म और जातिका जीवन होता है। अत उसका इतिहास भी उतना ही उपयोगी है जितना किसी राष्ट्रका इतिहास।

जैसा मैने ऊपर कहा है कि यह इतिहास पन्द्रह वर्ष पूर्व लिखा गया था, अत इसमें कुछ स्थल विचारणीय हो सकते है। उदाहरणके लिये द्रव्यसग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेव और कुन्दकुन्दके टीकाकार जयसेनके पौर्वापर्यका विचार। मैंने इनमें जयसेनके पश्चात् ब्रह्मदेवको बतलाया है। किन्तु यथार्थमें ब्रह्मदेवके पश्चात् ही जयसेन हुए है। उनकी पञ्चास्तिकाय-टीकाका द्रव्यसग्रहकी टीकाके साथ मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्मदेवजीकी टीकामें पद्मनन्दी-पचविंशतिकासे कोई उद्धरण नही लिया गया है, किन्तु पञ्चास्तिकायकी टीकामें लिया गया है तथा उसके बादके आचारसारसे भी उद्धरण लिया गया हैं। अत निश्चय ही जयसेन बादके है। तथा आशाधरके अनगारधर्मामृत (१।११०) की टीकामें द्रव्यसंग्रहकी टीकाको अक्षरण अपनाया गया है, अत आशाधरने ही ब्रह्मदेवजीका अनुकरण किया है, इतना संशोधन अपेक्षित है। इसको दृष्टिमें रख-कर ही उस प्रकरणको पढना चाहिये।

अन्तमें मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उन सब आधुनिक विद्वान् लेखकोका आभार स्वीकार करूँ, जिनकी कृतियों और लेखोका उपयोग मैने अपने इस इतिहासमें किया है।

उनमें सबसे प्रथम मैं पं० जुगलकिशोर मुख्तार, श्री नाथूराम प्रेमी, डा० हीरालाल और डा० ए० एन० उपाध्येका स्मरण करता हूँ, जो अब इस ससारमें नही है। जैन साहित्य और उसके इतिहासके सम्बन्धमें जो कुछ ज्ञान आज उपलब्ध है वह इन्ही मनीषियोकी देन है। इनके पश्चात् मैं अन्य सबका आभार स्वीकार करता हूँ।

देहलीके लाला पन्नालालजी अग्रवाल एक ऐसे सज्जन पुरुष है जिनके द्वारा दिल्लीके शास्त्रभण्डारोसे प्रतियाँ घर बैठे उपलब्ध हो जाती हैं। इसी तरह श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र कमेटी जयपुरके मंत्रीजीकी कृपासे डा० कस्तूरचन्दजी काशलीवालके द्वारा प्रतिया उपलब्ध होती रहती है। अत इन सबका भी मैं आभारी हूँ।

वर्णी-ग्रन्थमालाके मत्री डॉ० कोठिया तथा श्री बाबूलालजी फागुल्लके प्रयत्नसे ही यह भाग शीघ्र प्रकाशित हो सका है। अत उनका भी आभार स्वीकारता हूँ।

भाद्रमास २५०२
भदैनी, वाराणसी

कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय सूची

[भूगोल खगोल विषयक साहित्य पृ० १ से ९३]

[द्रव्यानुयोग विषयक साहित्य ९३ से १७१]

[अध्यात्मविषयक टीका साहित्य १७२ से २०९]

[तत्त्वार्थविषयक मूल साहित्य २१० से २७२]

[तत्त्वार्थविषयक टीका साहित्य २७३ से ३८१]

जैन साहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

प्रथम अध्याय

भूगोल-खगोल विषयक साहित्य

जैन साहित्यमे भूगोल-खगोल विषयक साहित्यका पारिभाषिक नाम 'लोकानु-योग-साहित्य' है । इस अनुयोग-साहित्यके अतर्गत द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, क्षेत्र एवं नगरादिके साथ सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदिका भी वर्णन आता है । यह ऐसा लोक-साहित्य है, जिसमें आधुनिक ज्योतिष, निमित्त, ग्रह-गणित और भूगोलका समावेश हो जाता है ।

भारतमें प्राचीन कालसे ही वैदिक और श्रमण इन दोनोने जीवनके विविध सम्बन्धो और कारण कलापोका निरूपण करते हुए भूगोल और खगोल सम्बन्धी समस्याओ पर भी विचार किया है । ऋग्वेदमें भूगोल और खगोल सम्बन्धी जैसी चर्चाएँ उपलब्ध होती है वैसी ही इस लोकानुयोग-साहित्यमे भी । श्रमणो-की यह विशेषता रही है कि वे प्रत्येक मूल मुद्देका तर्क पूर्वक विचार उपस्थित करते है और प्रत्येक कारणसूत्रके साथ उनकी 'वासना' भी अकित करते जाते हैं, जिससे उनका पूर्वाग्रह व्यक्त नही होता ।

जिस कार्यको सातवी-आठवी शताब्दीके वैदिक विचारकोने 'वासना' के विश्लेषणके रूपमें उपस्थित किया है उस कार्यको लोकानुयोग-साहित्यके रचयि-ताओने ईस्वी सन्की आरम्भिक शताब्दियोमें ही सम्पन्न किया था ।

श्रमणोकी भूगोल-खगोल सम्बन्धी अनेक मान्यताएँ वैदिक पुराणों और तद्विषयक अन्य साहित्यसे भिन्न हैं । हम यहाँ ग्रन्थक्रमसे विषयका निरूपण करते हुए उसका सागोपाग इतिवृत्त प्रस्तुत करते है ।

पहले लिख आये है कि करणानुयोगके अन्तर्गत जीव और कर्मविषयक साहित्य तथा लोकानुयोग विषयक साहित्य गर्भित है ।

लोकानुयोगका मतलब लोक रचना सम्बन्धी साहित्य से है जिससे आजके शब्दोमें खगोल और भूगोल लिया जाता है ।

भगवान् महावीरकी दिव्यवाणीको सुनकर उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर ने जिन बारह अंगोकी रचना की थी उनमें सबसे महत्वपूर्ण और विशाल अन्तिम

अग दृष्टिवाद था । उन दृष्टिवादके पाँच भेदोंमेंसे प्रथम भेदका नाम परिकर्म था । उस परिकर्मके भी पाँच भेद थे—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति । यह सब ग्रन्थ खगोल और भूगोल विषयक जैन मान्यताओंसे सम्बद्ध थे । खेद है कि ये सब लुप्त हो गये । फिर भी उनके आधार पर बने जैन ग्रन्थ उनके अभावकी आंशिकपूर्ति करते हैं । इस प्रकरणमें उसी लोकानुयोग विषयक साहित्यके इतिहास पर प्रकाश डाला जायेगा ।

जहाँ तक हम जानते हैं वैदिक धर्म और बौद्ध धर्मके साहित्यमें भी भूगोल और खगोलका तथा उससे सम्बद्ध लोकविषयक अन्य बातोंका कथन है । किन्तु उनमें जैन लोकानुयोग विषयक स्वतत्र ग्रन्थोंकी तरहका स्वतंत्र साहित्य हमारे देखनेमें नही आया । किन्तु जैनधर्ममें करणानुयोगके अन्तर्गत कर्म और लोक-विषयक साहित्यका स्थान धार्मिक दृष्टिसे भी विशेष महत्वपूर्ण है । धर्मध्यानके चार भेदोंमेंसे दो भेद विपाकविचय और सस्थानविचय क्रमसे कर्मविषयक और लोकविषयक चिन्तनसे सम्बद्ध हैं । अत धर्मध्यानमें संलग्न श्रावक और साधुके लिए कर्म और लोकविषयक शास्त्रोंका पठन-पाठन और चिन्तन हितावह है । इस कारणसे भी कर्मविषयक और लोकानुयोग विषयक स्वतत्र साहित्य जैसा जैन परम्परामें उपलब्ध हैं वैसा अन्यत्र नही है । उसीका सतत् चिन्तन मनन करते रहनेसे जैनाचार्योंने उसे खूब पल्लवित और पुष्पित किया है और गणितके आधार पर उसे व्यवस्थित किया है । मोटे तौर पर खगोल और भूगोल विषयक भारतीय विद्वानोंकी प्राचीन मान्यतायें कुछ अशोंमें समान हैं । यद्यपि आजके विज्ञानकी मान्यताओंसे उनका मेल नही खाता और आजके विज्ञानके विद्यार्थियो-को वे एकदम अटपटी और असगत प्रतीत होती हैं, तथापि उनके पीछे प्राचीन भारतीय चिन्तन और अवलोकनका महत्वपूर्ण हाथ है अत उन्हें एकदम उपेक्ष-णीय कहकर दृष्टिसे ओझल नही किया जा सकता ।

अत लोकानुयोग विषयक जैनसाहित्यका परिचयादि देनेसे पूर्व प्रकृत विषय-का सामान्य परिचय करा देना उचित होगा । साथ ही टिप्पणमें वैदिक और बौद्धाभिमत खगोल-भूगोलका भी आवश्यक अंश दिया जाता है इससे तुलना करनेमें सरलता होगी ।

१ जैनधर्ममें आकाशके मध्यमें लोक माना है और इस तरहसे एक अखण्ड आकाशको दो भागोंमें विभाजित कर दिया है । उनका नाम है—लोका-काश या लोक और अलोकाकाश या अलोक । जितने आकाशमें जीव पुद्गल आदि सब द्रव्योंका आवास है वह लोक है शेष अलोक है । लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक । एक मनुष्य दोनों पैर फैलाकर और

अपने दोनो हाथोको दोनों कूल्हो पर रख कर खडा हो तो उसका जैसा आकार होता है ठीक वैसा ही आकार लोक का है।

लोकका माप एक रज्जू (राजु) नामके मापसे किया जाता है। उसके विस्तारका वर्णन जैनशास्त्रोमें है। वह लोक चौदह राजू ऊँचा है। पूरब-पश्चिममें लोकके तल भागमें उसका विस्तार ७ राजू है। फिर ७ राजू ऊपर मध्यमें एकराजु विस्तार है। फिर ३॥ राजू ऊपर ५ राजू विस्तार है और फिर ३॥ राजू ऊपर एक राजु विस्तार है। अधोलोकमें ऊपर नीचे सात नरक हैं जिनमें नारकियोका आवास है। मध्य लोकमे मनुष्य और तिर्यञ्चोका आवास है और ऊर्ध्व लोकमें स्वर्ग है। तथा लोकके ऊपर अग्र भागमें सिद्धलोक है उसमें मुक्त जीवोंका आवास है। यह लोकका सामान्य परिचय है।

इस लोकको चारो ओरसे सर्वत्र तीन वायु मण्डल घेरे हुए हैं उन्हें वातवलय कहते हैं। लोकके तल भागमें उन वातवलयोकी मोटाई ६० हजार योजन है। ऊपर लोकके विस्तारके अनुसार घटती और वढती गई है। यह सक्षेपसे सामान्य लोकका स्वरूप है।

अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम - प्रभा और महातम प्रभा नामकी सात पृथिविया क्रमसे नीचे नीचे है। इनमेंसे रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं—खरभाग, पकभाग और अव्वहुलभाग। खरभाग और पकभागमें भवनवासी और व्यन्तर देव रहते हैं। और अव्वहुलभागमें प्रथम नरक है। नीचेकी प्रत्येक पृथिवीमें एक एक नरक है। इस तरह कुल सात नरक[१] हैं और उनमें ८४ लाख विले हैं जिनमें नारकी रहते है और अनेक प्रकारका कष्ट भोगते है। उन विलोके नाम रौरव प्रज्वलित, तप्त, तम अप्रतिष्ठ आदि जैसे है।

मध्य[२] लोकमें जिसे तिर्यग्लोक कहते है, एक दूसरेको चारो ओरसे वेष्ठित

---

१ 'पृथिवी और जलके नीचे रौरव, महाज्वाल, तम, अप्रतिष्ठ आदि वहुतसे भयानक नरक हैं। इनमें पापी जीव मरकर जन्म लेते है। वहाँसे निकल-कर वे क्रमश स्थावर कृमि, जलचर, धार्मिक पुरुष, देव और मुमुक्षु होते हैं।'—वि० पु० अ ६। तथा भा० पु० ५ स्क० २६ अ०।

२ इस पृथिवी पर जम्बू, प्लक्ष, शालमल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप है। ये द्वीप चारो ओरसे लवण, इक्षुरस, मदिरा, घृत, दही, दूध और मीठे जलके सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं। इन सवके वीचमें जम्बूद्वीप है। उसके भी वीचोवीचमें सुवर्णमय सुमेरुपर्वत है। इसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है। यह सोलह हजार योजन पृथ्वीमें घुसा है। इसके

किये हुए वलयाकार असख्यात द्वीप और समुद्र है। इन सबके मध्यमें एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है। उसके चारो ओर दो लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। उसके बाद दूसरा द्वीप और फिर दूसरा समुद्र है। यही क्रम अन्त तक है। उनका विस्तार उत्तरोत्तर पूर्वकी अपेक्षा दुगुना होता गया है। उन द्वीप और समुद्रोंके कुछ नाम इस प्रकार हैं—जम्बूद्वीप[1], लवणसमुद्र, धातकी खण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र। अतके द्वीप और समुद्रका नाम स्वयभूरमण है।

पुष्करवर[2] द्वीपके ठीक मध्यमे वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। वही तक

दक्षिणमें हिमवान, हेमकूट और निषध तथा उत्तरमें नील, श्वेत और शृगी नामक वर्ष पर्वत हैं। उनमेंसे मध्यके दो पर्वत निषध और नील एक एक लाख योजन तक फैले है। उनसे दूसरे दूसरे दस दस हजार योजन कम हैं। वे सभी दो हजार योजन ऊँचे और इतने ही चौडे हैं। मेरुपर्वतके दक्षिण ओर भारतवर्ष, किम्पुरुषवर्ष, और हरिवर्ष है। उत्तरकी ओर रम्यक हिरण्यमय और उत्तरकुरुवर्ष है जो भारतवर्षके समान धनुषाकार है। प्रत्येक का विस्तार नौ नौ हजार योजन हैं। इन सबके बीचमें इलावृत्त वर्ष है जिसमें सुमेरुपर्वत खडा है। यह इलावृत्त सुमेरुके चारो ओर नौ हजार योजन तक फैला है। इसके चारों ओर चार पर्वत हैं। ये चारो पर्वत मानों सुमेरुको धारण करनेके लिये चार कीलिया हैं। इनमेंसे पूर्वमे मन्दराचल, दक्षिणमें गन्धमादन, पश्चिममें विपुल और उत्तरमें सुपार्श्व है। ये सभी दस दस हजार योजन ऊँचे हैं। जम्बूवृक्षके कारण द्वीपका नाम जम्बूद्वीप पडा है।'

—वि० पु० द्वि० अ०, अ०२। तथा भा० पु०, ५ स्क०, २० अ०।

१ जम्बूद्वीपको चारो ओरसे लाख योजन विस्तारवाले वलयाकार खारे समुद्रने घेर रक्खा है। उसी तरह क्षार समुद्रको घेरे हुए प्लक्षद्वीप हैं। जम्बूद्वीप-का विस्तार लाख योजन है। इसका विस्तार उससे दूना है। प्लक्षद्वीपको अपने ही बराबर परिमाण वाला इक्षुरस समुद्र घेरे हुए है। इस समुद्रको उससे दूना विस्तार वाला शाल्मल द्वीप घेरे हुए है।

—वि० पु०, अ० २, अ० ४।

२ 'पुष्कर द्वीपमें वहाँके अधिपति महाराज सवनके महावीर और धातकी नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। अत उन दोनोंके नामानुसार उसमें महावीर खण्ड और धातकी खण्ड नामक दो वर्ष है। इसमें मानसोत्तर नामक एक ही वर्षपर्वत कहा जाता है जो इसके मध्यमें वलयकार स्थित है तथा पचास

मनुष्यका आवास है। अत शुरूके ढाई द्वीप और दो समुद्र मनुष्य लोक कहे जाते है।

जम्बूद्वीपके मध्यमें सुमेरु पर्वत है। उसकी ऊँचाई एक लाख योजन है। घातकी खण्ड और पुष्कर द्वीपमें भी दो दो मेरु है। उनकी ऊँचाई ८४ हजार योजन है। जम्बूद्वीपमें सुमेरुसे दक्षिणमें हिमवान, महाहिमवान और निषध नामके तथा उत्तरमें नील रुक्मि और शिखरी नामके वर्षधर पर्वत है। प्रथम मेरु पर्वतके दक्षिणकी ओर क्रमसे भरत हैमवत और हरि नामक और उत्तरमें रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत नामके वर्ष (क्षेत्र) है। उन सबके बीचमें विदेह वर्ष है। उस विदेह वर्षके बीचमें सुमेरु पर्वत है। भरत वर्षका उत्तर दक्षिण विस्तार पाच सौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोमें से ६ भाग है। आगेका प्रत्येक वर्षधर पर्वत और वर्ष विदेह पर्यन्त दूना दूना विस्तार लिये हुए है। और विदेहके पश्चात् ऐरावत पर्यन्त यह विस्तार क्रमसे आधा होता गया है। अत भरत और ऐरावत वर्षका विस्तार समान है। ये दोनो धनुषाकार है। इन दोनोके मध्यमें एक विजयार्ध गिरि है। हिमवान पर्वतसे निकलकर गगा और सिधु नदी भारतवर्षमें होकर बहती है और विजयार्धके नीचेसे निकलकर लवण समुद्रमें गिरती है। इसी तरह ऐरावतमे शिखरी पर्वतसे निकलकर रक्ता रक्तोदा नामकी नदी विजयार्धके नीचेसे होती हुई ऐरावत क्षेत्रमें बहती है और लवण समुद्रमें गिरती है। इन दोनो नदियो और विजयार्ध पर्वतके कारण भरत और ऐरावतके छै छै खण्ड हो गये है। उनमेंसे पाच म्लेच्छ खण्ड और केवल एक आर्यखण्ड है।

विदेहक्षेत्रका विस्तार भरत से चौसठगुना है। बीचमें सुमेरु पर्वत है। उसके चारो ओर चार गजदन्त पर्वत है। उनमेंसे मेरुसे पश्चिमोत्तर दिशा में गन्धमादन, उत्तर पूर्व दिशामें माल्यवान, दक्षिण पूर्व दिशामें सौमनस, और दक्षिण

सहस्र योजन ऊँचा और इतना ही सब ओर गोलाकार फैला हुआ है। यह पर्वत पुष्कर द्वीपरूप गोलेको मानो बीचमें से विभक्त कर रहा है और इससे विभक्त होनेसे उसमें दो वर्ष हो गये है। उसमें प्रत्येक वर्ष और पर्वत वलयाकार ही है ॥७४–७८॥ पुष्कर द्वीप चारो ओरसे अपने ही समान विस्तार वाले मीठे पानीके समुद्रसे मण्डलके समान घिरा हुआ है ॥८७॥ इस प्रकार सातो द्वीप सात समुद्रोसे घिरे हुए है। और वे द्वीप तथा समुद्र परस्पर समान है और उत्तरोत्तर दुगने होते गये है ॥८८॥ पुष्कर द्वीपमें सम्पूर्ण प्रजावर्ग सर्वदा अपने आप ही प्राप्त हुए षट्रस भोजनका आहार करते हैं ॥ ९३ ॥ —वि० पु०, अंश २, अ० ४।

पश्चिम दिशामें विद्युत्प्रभ नामक गजदन्त पर्वत हैं। ये चारो गजदन्ताकर पर्वत एक ओरसे सुमेरुको छूते हैं तो दूसरी ओरसे नील अथवा निषध पर्वतोको। मेरुसे उत्तरमे गन्धमादन और माल्यवान्के मध्यमें उत्तरकुरु है और मेरुसे दक्षिणमें सौमनस और विद्युत्प्रभके मध्यमें दक्षिण कुरु है। भरत, ऐरावत और विदेह ये कर्म भूमियाँ[1] है यहाँ से स्वर्ग, मोक्ष और नरक प्राप्त किया जा सकता है। शेष भोग भूमियाँ है। भरत और ऐरावतमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छै समयोके द्वारा सदा परिवर्तन हुआ करता है। किन्तु शेष क्षेत्रोमें सदा एकसी स्थिति रहती है। भोगभूमिमें कल्पवृक्षोंसे प्राप्त वस्तुओंका उपयोग होता है वहाँ धर्म-कर्म नही है भोगकी ही प्रधानता है। मनुष्य सुखी स्वस्थ होते हैं। राज्य सत्ता नही होती। विदेहके उत्तर कुरु और दक्षिण कुरु प्रदेशमे भी भोगभूमि है। शेष विदेहसे सदा जीव मुक्ति लाभ करते हैं। इसीसे उसका नाम विगतदेह-विदेह है। जम्बू द्वीपकी तरह ही धातकी खण्ड और पुष्करार्धमें भी भारतादि क्षेत्र तथा वर्षधर पर्वत है उनकी संख्या और विस्तार दूना है। इसका विशेष कथन तिलोयपण्णति आदिसे जाना जा सकता है। यहाँ तो केवल परिचयकी दृष्टिसे थोडा आभास कराया गया है।

इस समतलसे सात सौ नव्वे योजन ऊपर तारें हैं। तारोंसे दस योजन ऊपर सूर्य है। सूर्यसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमासे चार योजन ऊपर नक्षत्र है। नक्षत्रोंसे चार योजन ऊपर बुध है। बुधसे तीन योजन ऊपर शुक्र है। शुक्रसे तीन योजन ऊपर बृहस्पति हैं। बृहस्पतिसे तीन योजन ऊपर मंगल है। मगलसे तीन योजन ऊपर शनि है। यह ज्योतिषमण्डल[2] मनुष्यलोकमें सदा भ्रमण करता रहता है। उसीके भ्रमणसे मनुष्यलोकमें दिन रात होते हैं।

---

१ 'भारतवर्षमें ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि नामक ार युग है। अन्यत्र कही नही हैं। × × जम्बू द्वीपमें भी भारतवर्ष श्रेष्ठ है क्योकि यह कर्म भूमि है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य देश भोगभूमियाँ है। प्लक्ष द्वीपसे लेकर शाकद्वीप पर्यन्त छहो द्वीपोमे सदा त्रेता युगके समान समय रहता है। इन द्वीपोंके मनुष्य सदा नीरोग रहकर पांच हजार वर्ष तक जीते है। —वि० पु०, अं०, अ० ४।

२ 'पृथिवीसे एक लाख योजन दूर सूर्य मण्डल है। और सूर्य मण्डलसे भी एक लक्ष योजनके अन्तर पर चन्द्र मण्डल है। चन्द्रमासे पूरे सौ हजार योजन ऊपर सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल है। नक्षत्र मण्डलसे दो लाख योजन ऊपर शुक्र है। शुक्रसे उतना ही दूरी पर मगंल है। और मगलसे भी दो लाख योजन ऊपर बृहस्पति हैं। बृहस्पतिसे दो लाख योजन ऊपर शनि है। शनिसे

सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। उसके ऊपर ४० योजन ऊँची उसकी चूलिका है। चूलिकासे एक वालाग्रका अन्तर देकर स्वर्गोके विमान शुरू हो जाते हैं। स्वर्ग १६ हैं और युगलरूपसे ऊपर २ स्थित हैं। १६ स्वर्गोके ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं, उनके ऊपर नौ अनुदिश विमान हैं। उनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं। और उनके ऊपर सिद्ध लोक है।

सक्षेपमें यह जैन खगोल भूगोल सम्बन्धी मान्यता है। वैदिक धर्म और बौद्ध धर्ममे भी इससे कुछ मिलती-जुलती और कुछ भिन्नताको लिये हुए मान्यताएँ हैं। अस्तु,

लोकविभाग (श०स० ३८० वि० स० ५१५)

दिगम्बर परम्परामें लोकानुयोग विपयक प्राचीन ग्रन्थ लोकविभाग था। यह ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है। परन्तु एक सस्कृत लोकविभाग उपलब्ध है जो उसीका परिवर्तित रूप है। उसके प्रारम्भमें[1] कहा है कि लोक और अलोकके विभागोको जानने वाले जिनेश्वरोकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके लोक तत्त्वका संक्षेप में व्याख्यान करता हूँ। और अन्तिम[2] प्रशस्तिमे कहा है कि देवी और मनुष्योकी सभामें तीर्थङ्कर महावीरने भव्यजनोके लिये जो सारा जगत विधान कहा, जिसे सुधर्मा स्वामी आदिने जाना और जो आचार्योकी परम्परा द्वारा चला आया, उसे ऋषि सिंहसूरने भाषाका परिवर्तन करके रचा और निपुण साधुओने उसे सम्मानित किया। जिस समय उत्तराषाढ नक्षत्रमें शनैश्चर वृष राषिमें, वृहस्पति तथा उत्तरा फाल्गुनिमें चन्द्रमा था तथा शुक्लपक्ष था, उस समय पाड्य राष्ट्रके पाटलिक ग्राममें पूर्वकालमें सर्वनन्दि मुनिने इस शास्त्रको लिखा था। काची नरेश सिंह वर्माके २२वे संवत्सर और शकके ३८०वें सवत्सरमें यह ग्रन्थ समाप्त हुआ।

एक लाख योजनके अन्तर पर सप्तर्षि मण्डल है। सप्तर्षियोसे भी सौ हजार योजन ऊपर समस्त ज्योतिश्चक्रका नाभिरूप ध्रुव मण्डल स्थित है।'—वि० पु०, अश २, अ० ७।

१. 'लोका लोकविभागज्ञान् भक्त्या स्तुत्वा जिनेश्वरान्।
व्याख्यास्यामि समासेन लोकतत्त्वमनेकधा ॥१॥'

२ 'भव्येभ्य सुरमानुपोरुसदसि श्रीवर्द्धमानार्हता, यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिल ज्ञात सुधर्मादिभि। आचार्यावलिकागत विरचित तत् सिंहसूरर्षिणा, भाषाया परिवर्तनेन निपुणै सम्मानित साधुभि ॥१॥ वैश्वे स्थिते रविसुते वृपभे च जीवे राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे। ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्यराष्ट्रे शास्त्र पुरा लिखितवान् मुनि सर्वनन्दि ॥२॥ सवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशसिंह वर्मण। अशीत्यग्रे शकाब्दाना सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥'

संस्कृत लोकविभागमें प्राचीन लोकविभागके सम्बन्धमें केवल इतनी ही जानकारी प्राप्त होती है। संस्कृत लोकविभागके कर्ताने यद्यपि यह नहीं लिखा कि वह प्राचीन लोकविभाग किस भाषामें है, तथापि उसके संस्कृत रूपान्तरसे और आचार्य परम्परागत होनेसे यही व्यक्त होता है कि वह प्राकृतमें ही होगा। दूसरी बात यह भी ज्ञात नही होती कि उसका परिमाण कितना था।

संस्कृत लोकविभागके कर्ताने अन्तमे ग्रन्थका प्रमाण १५२६ अनुष्टुप श्लोक बतलाया है। पर यह परिमाण मूल ग्रन्थका है अथवा उसके संस्कृत रूपान्तरका, यह स्पष्ट नही होता। उपलब्ध लोकविभागमें २२३० श्लोक है। उनमें ७०४ श्लोक अधिक है। १०० से अधिक गाथाएँ तिलोय पण्णत्तिकी, २०० पद्य आदि पुराणके और शेष गाथाएँ तिलोयसार, जंबूदीप पण्णत्ति, त्रैलोक्यसंग्रह आदि ग्रन्थोंकी है। कही इनके नाम भी दिये है और कही 'उक्तंच' कहकर उद्धृत की है।

संस्कृत लोकविभागमें जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, मानुष क्षेत्र, द्वीप समुद्र, काल ज्योतिर्लोक, भवनवासीलोक, अधोलोक, व्यन्तरलोक, स्वर्गलोक और मोक्ष नामक ११ विभाग हैं। प्राचीन लोकविभागमें भी संभवतया इसी नामके इतने ही अधिकार रहे होगे।

उस लोकविभागके अन्तमें उसके रचयिता सर्वनन्दिने ग्रन्थ रचनाके काल, स्थान आदिका निर्देश किया होगा। उसी का संस्कृत रूपान्तर संस्कृत लोक विभागमें किया गया जान पडता है। और उससे उसके रूपान्तरकारका 'भाषाया परिवर्तनेन' लिखना अक्षरश सार्थक प्रतीत होता है।

मुनि सर्वनन्दिके सम्बन्धमें श्री प्रेमीजीने लिखा है कि शक सम्वत् ३८८ का मर्करा का जो दानपत्र है उसमें कोण्डकुन्दान्वयके जिन छह मुनियोंके नाम है उनमें अभयनन्दि जयनन्दि, गुणनन्दि, और चन्द्रनन्दि नाम नन्जन्त है। सर्वनन्दि नाम भी ऐसा ही है और उनका लोकविभाग मर्करा लेखसे आठ वर्ष पहलेका है। अर्थात् जिन अन्तिम चन्द्रनन्दिको दान दिया गया है, संभव है उन्हींके समकालीन हो और यापनीय हो।

जो कुछ हो, किन्तु सर्वनन्दिके विषयमें कुछ भी ज्ञात नही है। इस नामके किसी आचार्यका कोई प्राचीन अथवा अर्वाचीन उल्लेख भी दृष्टिगोचर नही होता।

तिलोय[1] पण्णत्ति

तिलोय पण्णत्ति या त्रिलोक प्रज्ञप्ति प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके

१ हिन्दी अनुवादके साथ तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थका प्रकाशन दो भागोंमें जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे हुआ है।

कर्ताने उसके इस नामको सार्थक वतलाते हुए लिखा[1] है कि यह तीनो लोकोंके प्रकाशनमें दीपके समान है। और उनका यह कथन एक दम यथार्थ है यह वात ग्रन्थके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाती है।

दिगम्वर जैन परम्परामें लोक विपयक उपलब्ध साहित्यमें तियोय पण्णत्ति ही प्राचीन है। और प्राय उसीके आधार पर लोक विषयक अन्य ग्रन्थोका निर्माण हुआ है। यह अपने विषयका एक आकर ग्रन्थ है। और इसमे अनेक प्राचीन मान्यताओ, मतान्तरो और ग्रन्थोका उल्लेख मिलता है। उन ग्रन्थोमेंसे आज दो एक ही उपलब्ध है।

आधार

ग्रन्थका आरम्भ करते हुए ग्रन्थकारने लिखा[2] है कि यह 'तिलोय पण्णत्ति' जिनेन्द्र भगवानके मुखसे निर्गत और गणधर देवके द्वारा शव्द रचना रूप मालामें गूँथे गये, तथा प्रवाह रूपसे शाश्वत पदोको लिये हुए है अत एव यह सम्पूर्ण दोषोसे रहित है और आचार्य परम्परासे मुझे प्राप्त हुई है। मै अतिशय भक्ति द्वारा प्रसन्न किये गये गुरुके चरणोके प्रसादसे इसे कहता हूँ।

आगे त्रिलोकके व्यासादिको 'दृष्टिवादका[3] निस्यन्द' वतलाते हुए लिखा है कि त्रिलोककी मुटाई, चौडाई और ऊँचाईका हम वैसा ही वर्णन करते है जैसा दृष्टिवाद अंगसे निकला है। उसमे पूर्व लिखा[4] है कि परमाणु भी पूरते और गलते है। अत पूरण गलन क्रियासे युक्त होनेके कारण वे भी पुद्गल है ऐसा दृष्टिवादमें निर्दिष्ट है।

इन उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि त्रिलोक प्रज्ञप्तिका मूल आधार दृष्टिवाद नामक अंग है। दृष्टिवादके ही एक भेद परिकर्मके अन्तर्गत चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, और द्वीपसमुद्र प्रज्ञप्ति थी। उन्ही सवका यथायोग्य कथन इस ग्रन्थमें भी है क्योकि त्रिलोकमें चन्द्र सूर्य, जम्वूद्वीप तथा शेष द्वीपसमुद्र सभी गर्भित हो जाते है। और त्रिलोकके साथ संलग्न शव्द प्रज्ञप्ति उन्हीका स्मरण करता है। यद्यपि ग्रन्थ रचनाके समय वे सव नष्ट हो चुकी थी तथापि आचार्य परम्परासे ग्रन्थकारको उनका ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ था। उसे ही उन्होने इस ग्रन्थमें निवद्ध किया है। अत इस ग्रन्थका मूलाधार दृष्टिवाद अंग है। और सहायक वे ग्रन्थ है जिनके मतान्तरोका उल्लेख इस ग्रन्थमें है।

---

१ ति० प०, १, ९।

२ ति० प० १, ८५–८७।

३ ति० प०, १, १४८।

४ ति० प०, १-९९।

ग्रन्थ-नामोल्लेख

त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें लोकविनिश्चय, लोकविभाग और मूलाचारके सिवाय मग्गा-यणी लोकायनी, सगाइणी, आदिका उल्लेख मिलता है।

सग्गायणी, सगायणी, सगाइणी, सगाहणी, और मगोयणी ये सब भिन्न ग्रन्थ प्रतीत नही होते, बल्कि लिपिकारोके दोपसे ही इन विविध रूपोकी सृष्टि हुई जान पडती है। चौदह पूर्वोमेंसे दूसरे पूर्वका नाम अग्रायणीय था। प्राचीन प्राकृत ग्रन्थोमें इसका रूप अग्गाणीय या अग्गेणिय पाया जाता है। ति० प० की प्रस्ता-वनामें प्रो० हीरालाल जीने (पृ० ११) सग्गायणी आदिको भी अग्गायणीयका ही भ्रष्ट रूप माना है और लिखा है कि जब कि इस रचनाका उसके मतभेदोके स्पष्ट कथन सहित इतने बार उल्लेख किया जाता है तब इसका यह अर्थ हो सकता है कि तिलोयपण्णत्तिकारको अग्रायणीय पूर्वका सविवरण वृत्तान्त उप-लब्ध था।

हमें खेद है कि प्रोफेसर साहबके उक्त मतसे हम सहमत नही हो सकते और उसके कई कारण है। प्रथम तो अग्रायणीय पूर्वमें वर्णित विपयके साथ त्रिलोक-प्रज्ञप्तिमें प्रतिपादित विपयका मेल नही खाता। तत्त्वार्थवार्तिक (१।२०), धवला (१, पृ०) जयधवला (भा० १, पृ० १३०), अगप्रज्ञप्ति (गा० ४०-४१), नन्दी चूर्णि (सूत्र २६), और उसकी टीकाओ में प्राय यही बतलाया है कि अग्रायणी पूर्वमें सुनयो, दुर्नयोका, छ द्रव्यो और नौ पदार्थोका, क्रियावादी आदि मतोकी प्रक्रियाका कथन रहता है। उसमें लोक रचना सम्बन्धी विपयोका भी कथन रहता है ऐसा दोनो परम्पराओके किसी भी ग्रन्थमें नही कहा। और उक्त नामोंसे त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें जो उल्लेख मिलते हैं वे सब लोक रचनाके अन्तर्गत विपयसे सम्बद्ध है यहाँ हम उन्हें उद्धृत कर देना उचित समझते हैं।

'पणुवीसजोयणाइ धारापमुहम्मि होदि विक्कभो।
सग्गायणिकत्तारो एवं णियमा परुवेंदि ॥२१७॥—अ० ४'

धाराके मुखमें गगा नदीका विस्तार पच्चीस योजन है। सग्गायणीके कर्ता इस प्रकार नियमसे निरूपण करते हैं।

× × ×

वासट्ठि जोयणाइ दो कोसा होदि कुड वित्थारो।
सगोयणी कत्तारो एवं णियमा परूवेंदि ॥२१९॥—अ० ४

(जिस कुण्डमें गगा गिरती है) उसका विस्तार बासठ योजन और दो कोस हैं। सगोयनीके कर्ता नियमसे ऐसा कथन करते हैं।

यह सग्गायणी और सगोयणी एक ही प्रतीत होते हैं। लिपि कर्ताके कारण इनमें भेद पड गया प्रतीत होता है।

चउजोयण उच्छेहं पणसहदीहं तदद्धवित्थारं।
सग्गायणि आइरिया एव भासति पडुसिल ॥ १८२१ ॥—४ अ०

'यह पाण्डुक शिला चार योजन ऊँची, पाँच सौ योजन लम्बी और इससे आधे अर्थात् अढाई सौ योजन प्रमाण विस्तारसे सहित है। इस प्रकार सग्गायणि आचार्य कहते हैं'।

× × ×

सिरिभद्दसाल वेदी वक्खार गिरीण अतर पमाणं।
पंच सम जोयणाणि सग्गायणियम्मि णिद्दिट्ठं ॥२०२९॥—अ० ४

'श्रीभद्रशाल वनकी वेदी और वक्षारगिरियोके अन्तरका प्रमाण पाँच सौ योजन सग्गायणीमें वतलाया हैं'।

× × ×

वसहणियादीण पुह पुह चुलसीदिलक्ख परिमाण।
पढमाए कक्खाए सेसासु दुगुण दुगुण कमे ॥२७१॥
एव सत्तविहाणं सत्ताणीयाण होंति पत्तेक्क।
सगायणि आइरिया एव णियमा परूवेंति ॥२७२॥—अ० ८।

'देवेन्द्रोकी प्रथम कक्षामें वृषभादिक अनीकोका प्रमाण पृथक् पृथक् चौरासी लाख है। शेप कक्षाओमें क्रमश इससे दूना-दूना है। इस प्रकार सात प्रकार सप्तानीकोमें से प्रत्येकके है, ऐसा सगायणि आचार्य नियमसे निरूपण करते हैं'॥

+ × ×

सगवीस कोडीओ सोहम्मिदेसु होंति देवीओ।
पुव्व पित्र सेसेसुं सगाहणियम्मि णिद्दिट्ठ ॥३८७॥—अ० ८।

'सौधर्म इन्द्रके सत्ताईस करौड और शेष इन्द्रोंके पूर्वोक्त सख्या प्रमाण देवियाँ होती हैं। ऐसा सगाहणिमें कहा हैं'।

उक्त मतभेदोसे यह स्पष्ट है कि जिस ग्रन्थसे वे मतभेद लिये गये है उनमें कम से कम मध्यलोकका तो विस्तृत वर्णन था। यदि ऐसा न होता तो गंगा, गगा कुण्ड, भद्रसालवन और वक्षारगिरिका अन्तर तथा पाण्डुक शिलाका वर्णन उसमें कहाँसे होता। इसी तरह उसमें स्वर्गलोकका भी वर्णन था। और जहाँ इन दोनोका वर्णन हो वहाँ नरकलोका वर्णन न हो, ऐसा नही हो सकता। अत उक्त ग्रन्थमें अवश्य त्रिलोकका वर्णन था। इसीसे त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें उसके

मतान्तर दिये गये है। ऐसा ग्रन्थ अग्रायणी पूर्व नही हो सकता। क्योकि उसका प्रतिपाद्य विपय द्रव्यानुयोग है, न कि करणानुयोग।

दूसरे, अग्रायणीय पूर्व तो गणधर गौतमके द्वारा ग्रथित हुआ था वह किसी आचार्यकी रचना नही था। किन्तु 'सग्गायणी' के साथ त्रिलोक प्रज्ञप्तिकारने आचार्य और कर्ता शब्दोका भी प्रयोग किया है। इसमे वह कोई आचार्य रचित ग्रन्थ प्रतीत होता है और उसका प्रतिपाद्य विपय लोकानुयोग था।

उक्त सब मतान्तर उस एक ही ग्रन्थके प्रतीत होते हैं। लिपि कर्ताओके दोपसे एक ही ग्रन्थ सग्गायणी, सगाइणी, सगायणी, सगोयणी और सगाहणी नामोसे निर्दिष्ट हुआ जान पडता है। ग्रन्थका मूल नाम सगहणी होना चाहिये। श्वेताम्बर साहित्यमें संग्रहणी नामके ग्रन्थ मिलते हैं। एक बृहत्सग्रहणी नामक ग्रन्थ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत है। इनका समय विक्रमकी सातवी शताब्दी-का उत्तरार्ध है। उस ग्रन्थमें भी करणानुयोगका ही विपय है।

त्रिलोक प्रज्ञप्तिकारके सन्मुख भी कोई प्राचीन संग्रहणी नामक ग्रन्थ रहा होगा। उसीके मतभेदोका निर्देश उन्होने त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें किया है।

उक्त उल्लेखोंके सिवाय 'मग्गायणी' और 'संगाइणि' का निर्देश क्रमसे 'लोक विनिश्चय' और 'लोक विभाग' के साथ भी मिलता है। दोनो उल्लेख इस प्रकार हैं—

'दसविद भूवासो पच सया जोयणाणि मुहवासो।
एवं लोयविणिच्छ्य मग्गायणिए मुदीरेदि ॥१९८॥—अ० ४।

'वलभद्र कूटका भूविस्तार दसके घनरूप अर्थात् एक हजार योजन और मुख विस्तार पाँच सौ योजन प्रमाण है। इस प्रकार लोकविनिश्चय मग्गायणीमें कहा है'।

यहाँ 'लोकविनिश्चय और मग्गायणी' भी हो सकता है और लोकविनिश्चय सम्बन्धी मग्गायणी अर्थ भी हो सकता है। लोकविनिश्चयके अन्य भी उल्लेख त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें है। अत यह तो निर्विवाद है कि लोकविनिश्चय नामक कोई ग्रन्थ त्रिलोकप्रज्ञप्तिकारके सम्मुख था। किन्तु यह मग्गायणी उसीका कोई भाग था या स्वतत्र ग्रन्थ यही विचारणीय है। लोकविनिश्चयके साथ आगत मग्गायणीको प्रो० हीरालाल जीने अग्गायणीय नामक दूसरा पूर्व माना है। किन्तु हमें यहाँ भी सग्गायणी पाठ ठीक प्रतीत होता है। 'स' और 'म' में ज्यादा अन्तर नही है अत लोकविनिश्चयके साथ उक्त संग्रहणीका ही उल्लेख यहाँ प्रतीत होता है।

दूसरा उल्लेख इस प्रकार है—

जलसिहरे विक्खभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा ।
एवं सगाइणिए लोयविभाए विणिद्दिट्ठं ॥२४४८॥—अ० ४ ।

'जल शिखर पर लवण समुद्रका विस्तार दस हजार योजन है। इस प्रकार सगाइणीमें और लोक विभागमें कहा है' ।

यहाँ तो दोनो पृथक्-पृथक् है अत 'सगाइणी और लोक विभाग' अर्थ करना ही उचित प्रतीत होता है । यह सगाइणी भी उक्त सग्रहणी ही प्रतीत होती है । अस्तु,

लोकायनीका निर्देश

ति०प० में एक उल्लेख लोकायिनी का मिलता है जो इस प्रकार है—

कप्प पडि पचादी पल्ला देवीण वड्ढदे आऊ ।
दो दो वड्ढी तत्तो लोयायणिये समुद्दिट्ठं ॥५३०॥

'देवियोकी आयु प्रथम कल्पमें पाँच पल्य प्रमाण है। इसके आगे प्रत्येक कल्पमें दो-दो पल्यकी वृद्धि होती गई है, ऐसा लोकायिनी में कहा है' ।

सगायणी की तरह लोकायनी भी कोई ग्रन्थ प्रतीत होता है। 'अयण' अन्त वाले ये नाम कुछ विचित्रसे प्रतीत होते है। गायद पुराकालमें इस तरहके ग्रन्थ नामोका प्रचलन रहा हो। किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्तिके सिवाय अन्यत्र इनका कोई निर्देग नही मिलता ।

लोक विनिश्चयका उल्लेख

ति० प० में सगायणी आदिकी तरह लोकविनिश्चय नामक ग्रन्थके भी अनेक उल्लेख हैं जो इस प्रकार हैं—

सोलस कोसुच्छेहं समचउरस्स तदद्धवित्थारं ।
लोयविणिच्छयकत्ता देवच्छन्द परूवेड ॥१८६६॥—अ० ४ ।

'लोकविनिश्चयके कर्ता देवच्छन्द[1]को समचतुष्कोण सोलह कोस ऊँचा और इससे आधे विस्तारसे सयुक्त वतलाते हैं' ।

× × ×

१ ति०प० अ० ४, गा० १८६५मे देवच्छन्दको दो योजन ऊँचा, एक योजन विस्तार वाला और चार योजन लम्बा कहा है। किन्तु तत्वार्थ वार्तिक (३।१०)में लोकविनिश्चयके अनुसार सोलह योजन ऊँचा और ८ योजन विस्तार वाला कहा है।

सामने लोकविनिश्चय वर्तमान हो तो कोई आश्चर्य नही है। संभव है लोक-विनिश्चय नामसे प्रभावित होकर ही उन्होने अपने ग्रन्थोके नाम सिद्धिविनिश्चय और न्यायविनिश्चय रखे हो।

लोकविभाग

अव हम त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें उल्लिखित लोकविभाग सम्बन्धी उल्लेखोंको यहाँ उद्धृत करते हैं। लोकविनिश्चयके पश्चात् लोकविभाग ही ऐसा ग्रन्थ है जिसका त्रि० प्र० में विशेप उल्लेख मिलता है—

दो छव्वारसभागव्भहिओ कोसो कमेण वाउघणं।
लोयउवरिम्मि एव लोयविभायम्मि पण्णत्त ॥२८१॥—अ० १।

'लोकके ऊपर अर्थात् लोक शिखर पर तीनों वातवलयोका वाहुल्य क्रमसे एक कोस और उसका आधा, एक कोस और एक कोसका छटा भाग तथा एक कोस और एक कोसका वारहवाँ भाग है, ऐसा लोकविभागमें कहा है'।

× × ×

लोयविभायाइरिया दीवाण कुमाणुसेहि जुत्ताण।
अण्णसरूवेण ठिदि भासते त परूवेमो ॥२४९॥—अ० ४।

'लोकविभागाचार्य कुमानुपोसे युक्त उन द्वीपोकी स्थिति अन्य प्रकारसे कहते है। उसका निरूपण करते हैं'।

× × ×

जोइग्गण-णयरीणं सव्वाण रूंदमाण सारिच्छ।
वहलत्त मण्णते लोगविभायस्स आइरिया ॥११५॥—अ० ७।

'लोकविभागके कर्ता आचार्य समस्त ज्योतिगणोंकी नगरियोके विस्तार प्रमाणके समान ही उसके वाहुल्यको भी मानते हैं'।

× × ×

लोयविभायाइरिया सुराण लोअंतिआण वक्खाण।
अण्णसरूव वेंति त्ति पि एण्हि परूवेमो ॥६३५॥—अ० ८।

'लोकविभागाचार्य लौकान्तिक देवोंका व्याख्यान अन्य रूपसे करते है इसलिये उसे भी हम यहाँ कहते हैं'।

लोक विभाग नामक एक ग्रथका, जिसका सस्कृत रूपान्तर उपलब्ध है, परिचय प्रारम्भमें ही कराया गया है। किन्तु लोक विभागके नामसे जिन मतान्तरोका निर्देश त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें है, उनमेंसे सस्कृत लोक विभागमें अनेक विषय तो मिलते नही या अन्य रूपमें मिलते हैं। उदाहरणके लिये—

१ त्रि० प्र० १–२८१ में वतलाया है कि लोकविभागमें लोकके ऊपर, वायुका वाहुल्य १॥ कोस आदि कहा है। किन्तु सस्कृत लोक विभागमें लोकके अग्रभागमे तीनो वातवल्योका वाहुल्य क्रमसे दो कोस, एक कोम और चार सौ पच्चीस धनुप कम एक कोस कहा है। यही वाहुल्य त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें भी वतलाया—यथा—

कोसदुगमेक्ककोस किंचूणेक्क च लोयसिहरम्मि ।
ऊणपमाणं दडा चउस्सया पचवीसजुदा ॥२७१॥—अ० १

इसीका संस्कृत रूप संस्कृत लोक विभागमें है—

लोकाग्रे क्रोशयुग्म तु गव्यूतिर्न्यूनगोरुत ।
न्यूनप्रमाण धनुषा पचविंशचतु शतम् ॥

त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जो लोकविभागका मत दिया है वह मत यदि उक्त लोकविभागमें था तो सस्कृत रूपान्तरकारने उसे छोडकर त्रिलोक प्रज्ञप्तिका मत क्यो दिया ? यदि उसने भापा परिवर्तन करते हुए मूल लोकविभागके मतोकी उपेक्षा की है तो उसका 'भापाया परिवर्तनेन' लिखना उचित प्रतीत नही होता। अत यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि उक्त मत उस लोकविभागमें नही था, अत रूपान्तरकारने त्रिलोक प्रज्ञप्तिमे उसकी पूर्ति कर ली।

इसी तरह त्रि० प्र०, अ० ४, गा० २४९१ में कहा है कि 'लोकविभागाचार्य कुमानुपोमे युक्त द्वीपोकी स्थिति अन्य प्रकारसे कहते है। और आगे उस स्थितिका कथन भी किया है किन्तु संस्कृत लोक विभागमें अन्तर्द्वीपोका जो वर्णन है वह त्रि० प्र० से मिलता है। इसीसे उसके समर्थनमें संस्कृत लोक विभागके रचयिताने त्रि० प्र० की गायाएं भी उद्धृत की हैं।

इन वातोसे त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें उल्लिखित लोकविभागके और सर्वनन्दि रचित लोकविभाग के एक होनेमें सन्देह होता है।

श्री प्रेमीजीने लिखा[१] है कि तिलोयपण्णत्तिमें लोकविभागके मतोका जिस स्वरूपमें अनेक जगह उल्लेख किया गया है और नियमसारकी टीकामें जिसे लोक विभागाभिधान परमागम' कहा है वह अवश्य ही काफी विस्तृत रहा होगा और सस्कृतमें उसका यह सक्षेप किया गया है—'व्याख्यास्यामि समासेन'। शायद इसी लिए इसमें वे वहुत-सी वातें नही मिलती जिनके नियमसार, ति० प० आदि ग्रन्थोमें लोकविभागमे कहे जानेके उल्लेख मिलते है।' प्रेमीजीकी उक्त सभावना उन कथनोके विषयमें लागू हो सकती है जो स० लो० वि० में नही

१ जै० सा० इ०, पृ० ५।

वासो पणघणकोसा तद्दुगुणा मदिराण उच्छेहो ।
लोयविणिच्छयकत्ता एव माणे णिरूवेदि ॥१९७५॥—अ० ४ ।

'मन्दिरोका विस्तार पाँचका घन अर्थात् एकसौ पच्चीस कोस प्रमाण और ऊँचाई इससे दुगुणी है। इस प्रकार लोकविनिश्चयके कर्ता इनके प्रमाणका निरूपण करते हैं'।

× × ×

ताण च मेरुपासे पचसया जोयणाणि वित्थारो ।
लोयविणिच्छयकत्ता एव णियमा परूवेदि ॥२०२८॥

'नील और निषध पर्वतके पासमें वक्षार[1] पर्वतोंका विस्तार दोसौ पचास योजन है इससे आगे मेरुपर्वतपर्यन्त प्रत्येकमें प्रदेश वृद्धि होनेसे मेरुके पासमें उनका विस्तार पाँचसौ योजन प्रमाण हो गया है। इस प्रकार लोकविनिश्चयके कर्ता नियमसे निरूपण करते हैं'।

× × ×

ते चउचउकोणेसु एक्केक्कदहस्स होंति चत्तारि ।
लोयविणिच्छयकत्ता एवं णियमा परूवेंति ॥६९॥—अ० ५ ।

'वे रतिकर पर्वत प्रत्येक द्रहके चार-चार कोनोमें चार[2] होते हैं। इस प्रकार लोकविनिश्चयकर्ता नियमसे निरूपण करते हैं'।

लोयविणिच्छयकत्ता कुडलसेलस्स वण्णणपयारं ।
अवरेण सरूवेणं वक्खाणइ त परूवेमो ॥ १२९ ॥—अ० ५ ।

'लोकविनिश्चयके कर्ता कुण्डल[3] पर्वतका वर्णन दूसरे प्रकारसे करते हैं उसे यहाँ कहते हैं'—

× × ×

---

१ ति०प० अ० ४, २०१७में वक्षार पर्वतोका सर्वत्र विस्तार पाँचसौ योजन कहा है। किन्तु तत्वार्थ वार्तिकमें (३।१०) लोकविनिश्चयके समान मेरुके पासमें पाँचसौ योजन और नील-निषधके पासमें २५० योजन विस्तार कहा है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें (७-१८) उनका विस्तार सर्वत्र ५०० योजन बतलाया है। त्रि०सा० (गा० ७५३)में भी इतना ही विस्तार कहा है।

२ ति०प० गा० (५-६९)में वापियोके दोनों बाह्य कोणोमें दो ही रतिका बतलाये हैं। किन्तु तत्वार्थवार्तिकमें (३।१५) लोकविनिश्चयके अनुसार चार चार रतिकर बतलाये हैं।

३. तत्वार्थवार्तिक (३।३५) में कुण्डलवर और रुचकवर द्वीपका वर्णन लोकविनिश्चयके अनुसार है।

लोयविणिच्छयकत्ता रुचक वरद्दिस्स वण्णणपयारं ।
अण्णेण सरूवेण वक्खाणइ तं पयासेमि ॥१६७॥—अ० ५ ।

'लोकविनिश्चयके कर्ता रुचकवर पर्वतका वर्णन अन्य प्रकारसे करता है उसे यहाँ कहते हैं' ।

× × ×

पण्णासाधिय दुसया कोदडा राहुणयर वहलत्त ।
एव लोयविणिच्छय कत्तायरिओ परूवेदि ॥२०३॥—अ० ७ ।

'राहुनगरका वाहुल्य[1] दो सौ पचास घनुप प्रमाण है ऐसा लोकविनिश्चयके कर्ता आचार्य कहते हैं' ।

× × ×

सव्वाणि पणीयाणि कक्ख पडि छस्सअ सहावेण ।
पुव्व व विकुव्वणाए लोयविणिच्छय मुणी भणइ ॥२७०॥—अ० ८ ।

'प्रत्येक कक्षाकी सव सेनाएँ स्वभावसे छ सौ और विक्रियाकी अपेक्षा पूर्वोक्त सख्याके समान है । ऐसा लोकविनिश्चयके कर्ता मुनि कहते हैं' ।

× × ×

खण हणहट्ठ दुग इगि अट्ठय छ स्सत्त सक्क देवीओ ।
लोयविणिच्छय गथे हुवति सेसेसु पुव्व व ॥३८६॥—अ० ८ ।

'शून्य, शून्य, शून्य, आठ, दो, एक, आठ, छह और सात, इन अक प्रमाण सौधर्म इन्द्रकी देवियाँ होती है । शेष इन्द्रोमें देवियोका प्रमाण पहलेके समान होता है ऐसा लोकविनिश्चय ग्रन्थमें कहा है' ।

लोकविणिच्छयगथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाण ।
ओगाहण परिमाण भणिद किंचूणचरिमदेहसमो ॥९॥—अ० ९ ।

'लोकविनिश्चय ग्रन्थमें और लोकविभागमें सव सिद्धोंकी अवगाहनाका प्रमाण कुछ कम चरम शरीरके समान कहा है' ।

इस प्रकार त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें लोकविनिश्चयके मतभेदोका उल्लेख मिलता है । यह लोकविनिश्चय अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होना चाहिये । अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकके तीसरे और चौथे अध्यायमे जो त्रिलोक सम्वन्धी कथन किया है लोकविनिश्चय सम्वन्धी मतभेदोके साथ उनका मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अकलकदेवने लोकविनिश्चयके अनुसार कथन किया है । अत उनके

---

१ तत्त्वार्थवार्तिकमें (४।१२) राहुविमानका वाहुल्य लोकविनिश्चियके अनुसार २५० धनूप वतलाया है ।

मिलते। किन्तु जो कथन त्रि० प्र० के अनुसार मिलते हैं और त्रि० प्र० में प्रतिपादित लोकविभागके मतानुसार नही मिलते, सक्षेपीकरणकी बात उनके विषयमें लागू नही हो सकती। किसी ग्रन्थकी भाषाको परिवर्तित करके उस ग्रन्थका सक्षेपीकरण करनेवाला मूल ग्रन्थकी मान्यताओंको छोडकर उसके स्थान मे दूसरेके मतोका निर्देश करे तो इसे सक्षेपीकरणका फल नही कहा जा सकता।

फिर स० लो० वि० के आद्य श्लोकके पूर्वार्धमें मगल करके जो उत्तरार्धमें 'व्याख्यास्यामि समासेन' कहा है वह लोक विभागके लिये नही कहा किन्तु लोक-तत्त्व' के लिये कहा है। 'अनेकधा लोक तत्त्वको मैं सक्षेपमे व्याख्यान करूँगा।' शायद यह आद्य श्लोक भी सर्वनन्दि रचित, लोकविभागकी आद्य गाथाका ही संस्कृत रूपान्तर हो और सर्वनन्दिने अपने लोक विभागमें ही अनेकधा लोक-तत्त्वका सक्षेपसे कथन करनेकी प्रतिज्ञा की हो।

प्रेमीजीने ठीक ही लिखा है कि 'जब तक सर्वनन्दिका मूलग्रथ नही मिलता तब तक इस तरहके विकल्प उठते ही रहेंगे।' और तब तक यह भी निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि त्रि० प्र० में उल्लिखित लोक विभाग ही सर्व-नन्दि रचित लोकविभाग है। अस्तु,

मूलाचार

एक उल्लेख मूलाचारका मिलता है जो इस प्रकार है—

> पलिदोवमाणि पचय सत्तारस पंचवीस पणतीसं।
> चउसु जुगलेसु आऊ णादव्वा इददेवीणं ॥५३१॥
> आरणदुगपरियत वड्ढते पचपल्लाइ।
> मूलाआरे इरिया एव णिउण णिरूवेंति ॥ ५३२ ॥—अ० ८।

'चार युगलोमें इन्द्रदेवियोंकी आयु क्रमसे पाच, सतरह, पच्चीस, पैंतीस पल्य प्रमाण जानना चाहिये। आगे आरण युगल तक पाच पल्यकी वृद्धि होती गई है। ऐसा मूलाचारमें आचार्य निरूपण करते हैं।'

मूलाचार नामक ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है वट्टकेराचार्यका कहा जाता है। उसके पर्याप्ति अधिकारमें गा० ८० में इन्द्रदेवियोंकी आयु बराबर उक्त प्रकार से कही है।

इस प्रकार ति० प० में उक्त ग्रन्थोका नाम निर्देश मिलता है। और उससे यह स्पष्ट है कि ग्रथकारके सामने उक्त ग्रथ वर्तमान थे और उन्होने अपने ग्रन्थ निर्माणमें उनसे साहाय्य लिया था। उनके सिवाय भी ऐसे अनेक ग्रथ है जिनकी गाथाएँ ज्यो की त्यो अथवा पाठभेदसे ति० प० में पाई जाती है। उनकी चर्चा आगे की जायेगी।

कुछ उल्लेखनीय मतान्तरो का निर्देश

ति०प० में जिन ग्रन्थोका नामोल्लेख करते हुए उनके मतभेदोका निर्देश किया है। उनके सिवाय भी अनेक मतभेदोका निर्देश पाठान्तर रूपमे अथवा अनिर्दिष्ट आचार्योंके नामसे मिलता है। उन सवका सकलन कर सकना तो यहाँ शक्य नही है। फिर भी कुछ उल्लेखनीय मतान्तरोका निर्देश यहाँ किया जाता है।

१ मगल शब्दके अर्थके सम्वन्धमे मतान्तर—

पाव मल त्ति भण्णइ उवचारसरूवेण जीवाण।
त गालेदि विणास णेदित्ति भणति मगल केई ॥१७॥—अ० १

'जीवोके पापको उपचार रूपसे मल कहा जाता है। उसे यह मगल गलाता है। विनाशको प्राप्त करता है इसलिए भी कोई आचार्य इसे मगल कहते है।'

विशेषावश्यक भाष्यमे भी मगलका यह लक्षण नही है।

२ दूसरे अध्यायमें शर्करा आदि छै पृथिवियोका वाहुल्य क्रमसे वत्तीस, अट्ठाईस, चौवीस, बीस, सोलह और आठ हजार योजन वतलाया है। आगे गाथा २३के द्वारा वही वाहुल्य प्रकारान्तरसे १३२०००, १२८०००, १२००००, ११८०००, ११६०००० और १०८००० वतलाया है। यह दिगम्वर ग्रन्थोमे तो नही मिलता। किन्तु जिनभद्रगणि प्रणीत वृहत्सग्रहणीमें (गाथा २४१) उक्त मत मिलता है। संभवतया श्वेताम्वर परम्परामें यही मत मान्य है।

३ चौथे अध्याय गा० ७७०में कहा है कि समवसरणमें स्थित मानस्तम्भोंकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकरके शरीरकी ऊँचाईसे वारह गुणी होती है। आगे गा० ७७८में कहा है कि ऋषभनाथ स्वामीके समवसरणमें मानस्तम्भोकी ऊँचाई एक योजनसे अधिक थी। शेष तीर्थकरोके मानस्तम्भोंकी ऊँचाई क्रमसे हीन होती गई ऐसा कितने ही आचार्य कहते है।

४ चौथे अध्याय गाथा १४९६-९९में वीर निर्वाणके पश्चात् शकराजाकी उत्पत्तिका काल वतलाते हुए चार मत दिये है। इसी तरह वीर निर्वाणसे १००० वर्ष पर्यन्त हुए राजवशोकी काल गणना सम्वन्धी भी एक मतभेद दिया है। इनका कथन आगे करेंगे।

५ चौथे अध्याय गा० २५४६में वतलाया है कि धातकी खण्ड द्वीपमें मेरुको छोडकर शेप पर्वतोका विस्तार जम्वूद्वीपके पर्वतोंसे दुगुना है। यही मत सर्वमान्य है किन्तु आगेकी गाथामें किन्ही आचार्यका मत दिया है जो दोनो द्वीपोमे पर्वतोका विस्तारादि समान ही मानते है।

६ इसी तरह अ० ४ गा० २५७८में मेरुका विस्तार तल भागमें दस हजार योजन और पृथ्वी पृष्ठ पर ९४०० योजन बतलाया है। किन्तु गाथा २५८१में मतभेद देते हुए लिखा है कि कितने ही आचार्य मेरुके तल विस्तारको ९५०० योजन तक मानते हैं। यह मतभेद धातकी खण्डस्थ मेरुके सम्बन्ध में है।

किन्तु अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक ३।३३में धातकीखण्डस्थ मेरुका मूलमें विस्तार ९५०० योजन और धरणी तलपर विस्तार ९४०० योजन लिखा है। यह कथन ति०प०के उक्त दोनो मतोंमे नही मिलता।

७ अधिकार ८ गाथा ११५में बतलाया है कि कोई आचार्य स्वर्गके बारह कल्प मानते हैं और कोई सोलह कल्प मानते हैं। तदनुसार ग्रन्थकारने प्रथम बारह कल्पोको गिनाया है और पश्चात् मतान्तर रूपमे सोलह कल्पोंको गिनाया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार बारह कल्पोके पक्षपाती है। यद्यपि उन्होने दोनो ही मान्यताओंके आधारसे कथन किया है। किन्तु प्राथमिकता बारह कल्पकी मान्यताको ही दी है। यथा, गाथा ५२५-२६में पहले बारह कल्पो-की विवक्षामे देवियोकी आयुका प्रमाण बतलाया है फिर गाथा ५२७-२९ सोलह कल्पोकी मान्यता वालोंके मतसे उक्त आयुका प्रमाण बतलाया है।

वर्तमानमें जो संस्कृत लोक विभाग पाया जाता है जो कि प्राकृत लोक-विभागकी भाषाको परिवर्तित करके रचा गया है उनमें भी दोनो मतोका कथन है। श्वेताम्बर परम्परामें बारह कल्प ही माने गये है जबकि दिगम्बर परम्परामें १६ कल्प माने गये है।

९ इसी ८वें अ०में गा० ५११में सर्वार्थसिद्धिमें पल्यके असख्यातवें भाग कम तेतीस सागर जघन्य आयु किन्ही आचार्य के मतसे बतलाई है। यह मत अन्यत्र नही पाया जाता। सर्वार्थसिद्धिसे च्युत हुए देवोंके सम्बन्धमें गा० ६८४ में कहा है—

> णवरि विसेसो सव्वट्ठसिद्धिठाणदो विच्चुदा देवा।
> वज्जा सलाग पुरिसा णिव्वाण जंति णियमेण ॥६८४॥

इसका अनुवाद किया गया है कि विशेष यह है कि सर्वार्थसिद्धिसे च्युत हुए देव शलाका पुरुष न होकर नियमसे निर्वाणको प्राप्त होते हैं। अनुवाद ठीक है किन्तु अ० ४ गाथा ५२२ आदिमें लिखा है कि ऋषभ और धर्मादि तीन तीर्थंकर सर्वार्थसिद्धिसे अवतीर्ण हुए। अत उक्त गाथामें वज्जाके स्थानमें भज्जा पाठ होना चाहिए। अर्थात् सर्वार्थसिद्धिसे च्युत हुए देव निर्वाण तो नियमसे जाते हैं परन्तु शलाका पुरुष होते भी है नही भी होते।

इस प्रकार ये कुछ मतोंका निर्देश है। मतान्तर तो और भी वहुत से हैं। उनसे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके सन्मुख प्रकृत विषयसे सम्वद्ध काफी साहित्य वर्तमान था, जो अव अनुपलब्ध है।

विषय परिचय

त्रिलोक प्रज्ञप्तिका आरम्भ पाँच गाथाओके द्वारा पच गुरुओकी वन्दनासे होता है, जो पट्खण्डागमके आद्य मगलभूत पचनमस्कार मत्रका स्मरण करा देता है। किन्तु पञ्च नमस्कार मत्रमें अरहन्तोको पहले नमस्कार किया है, पीछे सिद्धोको नमस्कार किया है। किन्तु ति० प्र० में सिद्धोके पश्चात् अरहतोको नमस्कार किया है यही विशेषता है।

गा० ७ में कहा[1] है कि शास्त्रमे मगल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ताका कथन पहले करना चाहिये, यह आचार्योकी परिभाषा है। कसाय पाहुडके चूर्णिसूत्रोके प्रारम्भमें उपक्रम[2] रूपसे आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकारका निर्देश किया है। ववला[3] टीकाके आरम्भमें वीरसेनने ति० प० में कथित उक्त छै वातोका प्रथम कथन करनेका निर्देश किया है किन्तु प्रमाण रूपसे जो एक गाथा भी उद्धृत की है वह ति० प० से भिन्न है।

उक्त मगलादिककी चर्चा करनेके पश्चात् गा० ८८-८९ में त्रिलोक प्रज्ञप्ति के नौ अधिकारोके नाम गिनाये हैं—सामान्य जगतका स्वरूप, नारकलोक, भवनवासीलोक, मनुष्यलोक, तिर्यग्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिपी लोक, कल्पवासी लोक और सिद्ध लोक। ये नौ अधिकार इस ग्रन्थमे है। (गा० १, ८८-८९)

प्रथम अधिकारका वर्णन प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकारने कहा है कि अनन्तानन्त अलोकाकाशके वहुमध्यमें जीवादि पाँच द्रव्योंसे व्याप्त और जगश्रेणिके घन प्रमाण यह लोक है (१, ९१)। चूंकि इसमें लोकका प्रमाण जगश्रेणिका घन कहा है अत. जगश्रेणिका घन प्रमाण वतलानेके लिये ग्रन्थकारने उपमा प्रमाणके आठ भेदोका कथन किया है। जो प्रमाण किसीकी उपमाके द्वारा जाना जाता है उसे उपमा प्रमाण कहते है। पल्योपम, सागरोपम, सूच्यगुल, प्रतरागुल, घनागुल, जगश्रेणि, लोक प्रतर और लोक ये आठ उपमा प्रमाणके भेद है। (गा० १, ९३)।

---

१ 'मगल कारणहेदु सत्थस्स पमाण णाम कतारा। पठम चिय कहिदव्वा एसा आइरिय परिभासा ॥७॥–ति० प०, अ० १।

२ पंचविहो उवक्कमो। त जहा-आणुपुव्वी, णाम, पमाण वत्तव्वदा, अत्थाहियारो चेदि।—क० पा०, भा० १, पृ० १३।

३ मगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तार। वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो ॥१॥—पट्ख० पु० १ पृ० ७।

इन सबका वर्णन करके ग्रन्थकार अपने प्रकृत विषय लोकके स्वरूप पर आते है। लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान, मध्य लोकका आकार खडे किए हुए मृदगके ऊर्ध्वभाग-समान और ऊर्ध्व लोकका आकार खडे किये हुए मृदगके समान है (गा० १३०-१३८)। आगे तीनो लोकोका मापादि वतलाया है। और त्रिविध प्रकारसे क्षेत्र-फल तथा घनफल निकाला है। पूरा प्रकरण गणितसे सम्बद्ध है मुद्रित प्रतिके अनुसार पहले अधिकारमें २८३ गाथाएँ हैं और अन्तमे कुछ प्राकृत गद्य भाग है। गद्यके द्वारा लोक पर्यन्त वात वलयोंसे अवरुद्ध क्षेत्रोका फल वतलाया गया है।

दूसरा अधिकार नारक लोकसे सम्बद्ध है। प्रारम्भमें ही ४ गाथाओंके द्वारा ग्रन्थकारने 'तीर्थङ्करके वचनोसे निकले हुए इस नारक प्रज्ञप्ति नामक महाधिकार के अन्तर्गत पन्द्रह अधिकारोको गिनाया है—नारकियोकी निवासभूमि, नारकियो की सख्या, आयुका प्रमाण, शरीरकी ऊँचाई, अवधि ज्ञानका प्रमाण, उनके गुण-स्थान वगैरह, नरकोंमें उत्पन्न होने वाले प्राणी, जन्म और मरणके अन्तर-कालका प्रमाण, एक समयमें उत्पन्न होने वाले और मरने वाले जीवोका प्रमाण, नरकसे निकलने वाले जीवोका वर्णन, नरक गतिकी आयुके वन्धक परिणामोका कथन, नरक गतिके उत्पत्ति स्थानोका कथन, नरकके दु खोंका वर्णन, नरकमें सम्य-ग्दर्शन ग्रहण करनेके कारणोंका कथन, नरकमें उत्पन्न होनेके कारणोंका कथन। इन पन्द्रह वातोका कथन दूसरे अधिकारमें है। इस अधिकारमे ३६२ गाथाएँ है ४ इन्द्रवज्रा हैं और एक स्वागता है। कुल ३६७ पद्य हैं।

तीसरे अधिकारमें भवनवासी देवोका वर्णन है। इस महाधिकारके अन्तर्गत चौवीस अधिकार हैं जिनमें क्रमसे भवनवासी देवोंका निवास क्षेत्र, भवनवासी देवोंके भेद, उनके चिन्ह, भवनोकी सख्या, इन्द्रोका प्रमाण, इन्द्रोंके नाम, दक्षिण इन्द्र और उत्तर इन्द्र, उनमेसे प्रत्येकके भवनका परिमाण, अल्पऋद्धि वाले मह-र्द्धिक और मध्यम ऋद्धि वाले भवनवासी देवोंके भवनोका व्यास, वेदी, कूट, जिन मन्दिर, प्रासाद, इन्द्रोकी विभूति, भवनवासी देवोकी सख्या, उनकी आयु-का प्रमाण, उनके शरीरकी ऊँचाईका प्रमाण, उनके अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण उनके गुणस्थानादि, एक समयमें उत्पन्न होने वाले और मरने वाले भवनवासी देवोका प्रमाण, भवनवासी देवोमेंसे मरकर अन्यत्र जन्म लेने वाले जीवोकी दशा, भवनवासी देवोकी आयुके वन्धयोग्य परिणाम, देवोके सुखका स्वरूप और भवन-वासी देवोमें सम्यक्त्व ग्रहणके कारणोका कथन किया गया है। इस महाअधिकार के आदिमें जो २४ अधिकार गिनाये है उनमें देवोमें सुख नामक अधिकार नही गिनाया है। किन्तु ग्रन्थमें इस अधिकारका कथन किया है। यथा—'एव सुह सरूव समत्त'।

इस अधिकारमें ३४३ पद्य है। जिनमें दो इन्द्रवज्रा, चार उपजाति और शेष गाथाएँ है।

मनुष्य लोक नामक चौथे महा अधिकार में सोलह अवान्तर अधिकारो के द्वारा जम्बू द्वीप, लवण समुद्र, घातकी खण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्करार्द्ध द्वीप, इन द्वीपो में रहने वाले मनुष्यो के भेद, उनकी सख्या, उनका अल्पबहुत्व, उनके गुण स्थान वगैरह, आयुवन्ध में निमित्त परिणाम, योनियाँ, सुख, दु ख, सम्यग् दर्शन ग्रहण करने के कारण, और मनुष्य लोक से मुक्ति प्राप्त करने वाले जीवो की सख्या आदि का कथन है।

यह अधिकार भूगोल सम्वन्धी वर्णनो से सम्वद्ध है। अन्य भी कई दृष्टियो से वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका विस्तार भी सवसे अधिक है। इसी से इसकी पद्य सख्या ३९६१ है। जिनमें ७ इन्द्रवज्रा, दो दोघक, १ शार्दूलविक्रिडित २ वसन्त तिलका और शेष गाथाएँ है।

तृतीय सुषम दुषमा काल का अन्त निकट आने पर भोगभूमि से इसमें जो भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में होने वाले काल परिवर्तन का वर्णन है वह ऐतिहासिक दृष्टि से भी अवलोकनीय है उसका कथन आगे करेंगे।

जम्बूद्वीप के वर्णन के पश्चात् लवण समुद्र का वर्णन है। लवण समुद्र के मध्य में चारो दिशाओ में चार उत्कृष्ट पाताल[1] है, विदिशाओ में चार मध्यम पाताल है। और उनके वीच में एक हजार जघन्य पाताल है। प्रत्येक पाताल के नीचे के त्रिभाग में वायु, मध्यम त्रिभाग में जल और वायु तथा ऊपर के त्रिभाग में केवल जल रहता है।

पातालो की वायु स्वभाव से शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन २२२२$\frac{2}{9}$ योजन मात्र वृद्धि को और कृष्ण पक्ष में उतनी ही हानि को प्राप्त होती है। इस प्रकार पूर्णिमा के दिन नीचे के दो त्रिभागो में वायु जल और ऊपर के एक त्रिभाग मे जल रहता है। तथा अमावस्या के दिन उपरिम दो त्रिभागो में जल और नीचे के त्रिभाग में वायु रहती है। इसी से समुद्र में जल की हानि और वृद्धि होती है।

लवण समुद्र के अभ्यन्तर भाग में और वाह्य भाग में २४–२४ अन्तर्द्वीप वतलाये है। इनमे कुमनुष्य रहते है। उनके विचित्र आकार वतलाये है।

---

१. 'हे मुनि सत्तम ! अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान, महातल, सुतल और पाताल इन सातो में से प्रत्येक पाताल दस दस सहस्र योजन की दूरी पर है। उनमे दानव, दैत्य, यक्ष और वडे वडे नाग आदिकी सैकडो जातियाँ निवास करती है।'—वि० पु०, १ अश, ५ अ०।

लवण समुद्र के पश्चात् घातकी खण्ड द्वीप का वर्णन है। फिर कालोदधि समुद्र और पुष्करार्ध द्वीप का वर्णन है।

पाँचवे तिर्यग्लोक नामक महाविकार में सोलह अधिकार हैं—स्थावर लोक का प्रमाण, उसके बीच में तिर्यक् त्रसलोक, द्वीप समुद्रो की संख्या, नाम सहित उनका विन्यास, नाना प्रकार का क्षेत्रफल, तिर्यञ्चो के भेद, संख्या, आयु, आयु बन्ध के कारण परिणाम, योनि, सुख, दु ख, गुणस्थान वगैरह, सम्यक्त्व ग्रहण के करण, गति–आगति, अल्प बहुत्व, और अवगाहना।

इस अधिकार को प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि मैं अपनी शक्ति से तिर्यग्लोक का लेश मात्र वर्णन करता हूँ। इससे ऐसा प्रकट होता है कि उसके सम्बन्ध मे उन्हे विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के विशेष साधन उपलब्ध नही थे।

देव, नारकी और मनुष्यो के सिवाय शेष सब प्राणी तिर्यञ्च कहलाते हैं। वे तिर्यञ्च स्थावर और त्रस के भेद से दो प्रकार के है। स्थावर पूरे लोक में रहते हैं और त्रस लोक के मध्य में स्थित त्रसनाली में रहते हैं। इसी से ग्रन्थकार ने समस्त लोकाकाश को स्थावर लोक कहा है और सुमेरु पर्वत के मूल से एक लाख योजन ऊपर तक तथा एक राजु लम्बे चौडे क्षेत्र को तिर्यञ्चों का त्रसलोक कहा है। क्योंकि तिर्यञ्च त्रस केवल मध्यलोक में ही रहते हैं।

यों तो मध्यलोक मे असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र है। किन्तु ग्रन्थकार ने आदि और अन्त के सोलह सोलह द्वीपो और सोलह सोलह समुद्रों के ही नाम बतलाये हैं। इनमें से केवल आठवें और तेरहवें द्वीप का विशेष वर्णन किया है। इनमें से आठवें नन्दीश्वर द्वीप का जैन परम्परा में बहुत महत्त्व है क्योंकि वहाँ ५२ अकृत्रिम जिनालय हैं और प्रतिवर्ष कार्तिक, फाल्गुन और आसाढ के अन्तिम आठ दिनो में उनकी पूजा के उपलक्ष में नन्दीश्वर पर्व मनाया जाता है।

इस अधिकार में गद्य भाग अधिक है। गाथा संख्या तो केवल ३२१ है। प्राकृत गद्य द्वारा द्वीप समुद्रों का क्षेत्रफल आदि बतलाया गया है।

छठे व्यन्तर लोकमें सतरह अधिकारोंके द्वारा भूत पिशाच आदि व्यन्तर देवोका कथन है। व्यन्तरोका निवास क्षेत्र, उनके भेद, उनके विविध चिन्ह, उनके कुल, नाम, दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र, उनकी आयु, आहार, उछ्वास, अवधि ज्ञान, शक्ति, ऊँचाई, संख्या, जन्म, मरण, आयुके बन्धक भाव, सम्यक्त्व ग्रहणके कारण, और गुणस्थानादिका कथन, इन अधिकारोके द्वारा उनका कथन किया गया है। इस अधिकारमें १०३ गाथाएँ है।

ज्योतिर्लोकका कथन भी सतरह अधिकारोंके द्वारा किया गया है। वे सतरह अधिकार हैं—ज्योतिषी देवोंका निवास क्षेत्र, भेद, संख्या, विन्यास, परिमाण, चर ज्योतिषियोका संचार, अचर ज्योषियोका स्वरूप, आयु, आहार, उछ्वास, उत्सेध, अवधिज्ञान, शक्ति, उत्पत्ति व मरण, आयुके वन्धक भाव, सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेके कारण और गुणस्थानादि वर्णन।

यह अधिकार खगोलसे सम्वद्ध है। जैनमान्य खगोलका परिचय कराते हुए पहले लिख आये हैं कि सम पृथ्वीतलसे ७९० योजनसे लेकर नौ सौ योजनकी ऊँचाई तक ज्योतिष मण्डलका अवस्थान है। उनमेंसे चन्द्रको इन्द्र और सूर्यको प्रतीन्द्र माना है। जम्बूद्वीपमें दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। दोनोका चार क्षेत्र जम्बूद्वीपमें १८० योजन और लवण समुद्रमें ३३० $\frac{४८}{६१}$ योजन है। सूर्य विमानका व्यास ४८/६१ योजन है और चन्द्र विमानका व्यास ५६/६१ योजन है।

चन्द्र विमानके नीचे राहु विमान है। उसका विस्तार कुछ कम एक योजन है। श्यामवर्ण है। उसकी गतिके कारण ही चन्द्रग्रहण और प्रतिदिन कलाकी हानि वृद्धि होती है। पक्षान्तर रूपसे यह भी कह दिया है कि स्वभावसे ही चन्द्रकी कलायें घटती और वढती है। सूर्यके गमनके कारण दिनकी हानि वृद्धि भी वतलाई है। इस अधिकारमें ६१९ गाथाएँ हैं। अन्तमें कुछ गद्य भाग भी है।

सुरलोक नामक आठवें महाधिकारमें २१ अवान्तर अधिकार हैं। जो इस प्रकार हैं—निवास क्षेत्र, विन्यास, भेद, नाम, सीमा, सख्या, इन्द्र, विभूति, आयु, उत्पत्ति और मरणका अन्तर, आहार, उछ्वास, उत्सेध, देवलोक सम्वन्धी आयुके वन्धक भाव, लौकान्तिक देवोका स्वरूप, गुणस्थानादिका स्वरूप, सम्यग्दर्शन ग्रहणके विविध कारण, स्वर्गोसे आगमन, अवधि ज्ञान, देवोकी सख्या, और शक्ति और योनि। किन्तु इन अधिकारोमें से उछ्वास और उत्सेधका कथन नही है। तथा १३ आयुवन्धकभाव नामक अधिकारके आगे उत्पत्ति और सुख नामक दो ऐसे अधिकारोंका कथन हैं जिनके नाम इक्कीस अधिकारोमें नही है।

इस महाधिकारमें स्वर्ग लोकका वर्णन है। इसमें ७०३ गाथाएँ है। और एक शार्दूल विक्रीडित है। कुछ गद्य भाग भी है।

यह अधिकार सवसे छोटा है। इसमे मुक्त जीवोका वर्णन पाच अधिकारोके द्वारा किया गया हैं। वे पाँच अधिकार हैं—सिद्धोकी निवास भूमि, सख्या, अवगाहना, सुख और सिद्धत्वके कारणभूत भाव। इस अधिकारमे केवल ७७ गाथाएँ हैं।

यह त्रिलोक प्रज्ञप्तिका सामान्य विषय परिचय जानना चाहिये।

त्रिलोक प्रज्ञप्तिके कुछ विशेष कथन

त्रिलोक प्रज्ञप्तिकी जहाँ कुछ अपनी विशेषतायें है जिन पर ध्यान दिया जाना

आवश्यक है वहाँ उसके कुछ विशेष कथन भी है जो जैन करणानुयोगका तु
नात्मक अध्ययन करने वालोंके लिये ही उपयोगी नहीं है किन्तु भारतीय इ
हासके अन्वेषकोंकी दृष्टिसे भी उपयोगी है। उन्हींकी ओर ध्यान आकृष्ट कि
जाता है।

सबसे प्रथम ध्यान देने योग्य है उसकी शैली, उसकी चर्चा आगे की जायेग

प्रारम्भमें मगलकी चर्चा परम्परागत होते हुए भी कई दृष्टियोंसे उल्लेखन
है—प्रथम गा० ८ में मगलके पर्याय शब्द—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शि
भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य बतलाये हैं। फिर मगल शब्दकी त
व्युत्पत्तिया की है—मलका गालन करता है इसलिये मगल है। मंग-सुख
लाता है इसलिये मगल है और पूर्वमें आचार्यों द्वारा मगलपूर्वक ही शास्त्र
पठन पाठन हुआ है उसीको यह लाता है इसलिये मगल है। फिर शास्त्र
आदि अन्त और मध्यमें नियमसे मगल करनेका विधान है और उसका फल ब
लाते हुए लिखा है कि शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे शिष्य शास्त्रके पारग
होते हैं, मध्यमें मगल करने पर निर्विघ्न विद्याकी प्राप्ति होती है और अन
मगल करनेसे विद्याका फल प्राप्त होता है (गा० २८-२९)

विशेषावश्यक भाष्यके आदिमें भी मगलकी चर्चा है किन्तु वह इससे
भिन्न है। उसमें भी शास्त्रके आदि अन्त और मध्यमें मगल करनेका विध
है। किन्तु प्रथम मगलका फल निर्विघ्न रूपसे शास्त्रके अर्थका पारगामी हो
है। मध्य मगलका फल शास्त्रकी स्थिरता और अन्त मंगलका फल उस
अव्युच्छित्ति बतलाया है। (वि० भा० गा० १३-१४)। यह उससे भिन्न है

इसी तरह मगल शब्दकी व्युत्पत्ति भी भिन्न है—जिसके द्वारा हित प्र
किया जाये वह मगल है। मग अर्थात् धर्मको लाता है इसलिए मगल
मां (मुझको) ससारसे छुडाता है इसलिए मगल है (गा० २२-२४)

विद्यानन्दिने आप्तपरीक्षा टीकाके आरम्भमें जो मगलकी चर्चा की है उ
मंगल शब्दकी व्युत्पत्ति ति०प० के अनुसार ही है। और धवलाटीकाके आरम
जो मंगलकी चर्चा है (षट्ख० पु० १, पृ० ३१) वह तो ति०प० की ही ऋणी

ति०प० १-४० आदिमें राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक[1], मण्डली

---

१ शुक्रनीतिमें (१।१८२-१८४) मण्डलीकको राजा और महाराजासे ह
बतलाया है। जिसकी वार्षिक भूमि करसे आय ४ लाखसे १० लाख चाँ
कार्षापण पर्यन्त हो वह मण्डलीक और ११ लाखसे २० लाख पर्यन्त
होने पर राजा तथा २१ लाखसे ५० लाख पर्यन्त होने पर महार
बतलाया है।

महामण्डलीक, अर्धचक्री और चक्रवर्ती ये राजपद गिनाकर प्रत्येककी परिभाषा दी है—जो भक्ति युक्त अट्ठारह सेनाओंका स्वामी होता है, रत्नजटित मुकुट धारण करता है, सेवा करने वालोको वृत्ति और अर्थ देता है तथा युद्ध स्थलमें शत्रुओको जीतता है वह राजा है। पाँचसौ राजाओका स्वामी अधिराज है। एक हजार राजाओका पालक महाराज है। दो हजार राजाओका अधिपति अर्धमण्डलीक है। इसी तरह दूने-दूने राजाओके स्वामी मण्डलीक आदि कहे जाते हैं।

हाथी, घोडा, रथ इनके अधिपति, सेनापति, पदाति, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर (ब्राह्मण), गणराज, मन्त्री, तलवर, पुरोहित, अमात्य और महामात्य ये अट्ठारह श्रेणियाँ हैं ॥४३-४४॥

इससे प्राचीन भारतके राजानुक्रमकी व्यवस्थाका पता चलता है।

द्रव्यकी मापका मूल परमाणु है। परमाणुका स्वरूप ग्रन्थकारने तीन-चार गाथाओके द्वारा बतलाया है—जो अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्रके द्वारा भी छेदा-भेदा नही जा सकता तथा जो जल और अग्निके द्वारा भी नाशको प्राप्त नही होता वह परमाणु है (गा० १।९६)।

जिसमें एक रस, एक वर्ण, एक गध किन्तु दो स्पर्श गुण होते हैं जो स्वयं शब्द रूप न होकर भी शब्दका कारण है वह परमाणु है (गा० १।९७)। जो आदि अन्त और मध्य से रहित है, एक प्रदेशी है, इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता तथा विभाग रहित है, वह परमाणु है (९८)।

अनन्तानन्त[1] परमाणुओंसे एक उवसन्नासन्न नामक स्कन्ध उत्पन्न होता है। आठ उवसन्नासन्नोंसे सन्नासन्न नामक स्कन्ध उत्पन्न होता है। आठ सन्नासन्नोंसे एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणुओंसे एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओंसे एक रथरेणु, आठ रथरेणुओका एक उत्तम भोगभूमिके मनुष्यके वालका अग्रभाग, उक्त आठ वालग्रभागोका एक मध्यम भोगभूमिके मनुष्यका वालाग्र, इन आठ वालाग्रोका एक जघन्य भोगभूमिके मनुष्यका वालाग्र, इन आठ वालाग्रोकी एक लीक, आठ लीककी एक जूँ, आठ जूँका एक जौ और आठ जौंका एक उत्सेध अगुल होता है। (गा० १०२-१०६)।

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र १०१में भी उक्त कथन है मगर कुछ अन्तरको लिए हुए हैं। तत्वार्थवार्तिक (३।३८) पृ० २०७ पर भी उक्त कथन है। जहाँ एक ओर वह ति०प० से मिलता है वहाँ कुछ भेदको भी लिए हुए है और कुछ अश उसका अनुयोगद्वारसे मिलता है।

अगुलके तीन भेद हैं—उत्सेधागुल, प्रमाणागुल और आत्मागुल। उत्सेधागुल मे पाँचसौ गुना प्रमाणागुल होता है। अपसर्पिणी कालके प्रथम चक्रवर्ती भरतका यही आत्मागुल होता है। भरत और ऐरावत क्षेत्रमें जिस-जिस कालमें जो-जो मनुष्य होते हैं उस-उस कालके मनुष्योंका अंगुल आत्मागुल कहा जाता है। उत्सेधागुलसे देव मनुष्य, तिर्यञ्च नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई, निवास स्थान, तथा नगरादिका प्रमाण मापा जाता है। तथा द्वीप, समुद्र, कुलाचल, भरतादि क्षेत्रोंका माप प्रमाणागुलसे होता है। (१।गा० १०७-१११)।

छै अगुलका पाद, दो पादोका एक वितस्ति, दो वितस्तियोंका एक हाथ, दो हाथका एक रिक्कू (किष्कु), दो रिक्कुओंका एक दण्ड या धनुप और दो हजार दण्ड या धनुपका एक कोश होता है। चार कोशका एक योजन होता है। (१। गा० ११४-११६)

ति०प० (४।२८५ आदि)में काल गणनाका क्रम दिया है। पुद्गलका एक परमाणु जितने क्षेत्रको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। और एक परमाणु अपने निकटवर्ती आकाश प्रदेशको जितनी देरमें अतिक्रमण करता है वह समय है। यह कालका सवसे लघु अश है। असख्यात समयोकी एक आवलि होती है। सख्यात आवलियोंका एक उछ्वास होता है। सात उछ्वासोका एक स्तोक, सात स्तोकोका एक लव, साढे अडतीस लवकी एक नाली और दो नालियोका एक मुहूर्त होता है। एक समय कर्म मुहूर्तको भिन्न मुहूर्त कहते हैं। तीस मुहूर्तका दिन, १५ दिनका पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी ऋतु, तीन ऋतुओंका अयन, दो अयनोका वर्प और पाच वर्पका युग होता है। ८४ लाख वर्पका पूर्वाग, चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व इसी तरह आगे नियुताग, नियुत, आदि जानना। (गा० १, २८५-३०८)।

ति० प० का चौथा महाधिकार जैनधर्मके उन कथनोकी दृष्टिसे जिन्हें पौराणिक कहा जाता है वहुत महत्त्वपूर्ण है।

यह पहले लिख आये हैं कि भरत क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छ भागोंके द्वारा सदा परिवर्तन होता रहता है। अवसर्पिणीके शुरूके तीन कालोमें भोगभूमि रहती है। कल्पवृक्षोंसे ही आवश्यक सव वस्तुएँ उन्हें मिल जाती है। वे कल्पवृक्ष दस प्रकारके होते हैं उनमेंसे प्रकाश देने वाले कल्पवृक्षोके कारण सूर्य चन्द्रमा आदि तक दृष्टि अगोचर रहते हैं। उनका प्रकाश पृथ्वी तक नही आता। फलत वर्षा भी नही होती। जगली पशु भी अहिसक होते हैं। युगल स्त्री पुरुप अन्त समय उपस्थित होने पर वालक-वालिकाके युगलको जन्म देकर स्वर्गत हो जाते हैं। और युवा होने पर वे दोनो वालक वालिका पति पत्नीके रूपमें अपने

माता पिताका स्थान ले लेते हैं। दिगम्बर साहित्यमें भोग भूमियोके बारेमे केवल ७–७ दिनका ही विवरण मिलता है, जिसके अनुसार वे ४२ दिनमें ही तरुण हो जाते हैं। किन्तु यह व्यवस्था जघन्य भोगभूमि की हैं। ति०प०में मध्यम भोगभूमिमें ५–५ दिन और उत्तम भोगभूमिमें तीन-तीन दिन काल वतलाया है। श्वेताम्वर साहित्यमे ऐसा कथन मिलता है। जव भोगभूमिसे कर्मभूमि आती है तव उक्त वातोमें धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगता है और जनता उन परिवर्तनोको देखकर घवरा उठती है। तव एकके वाद एकके क्रमसे चौदह कुलकर (मनु) उत्पन्न होते हैं जो अपने-अपने समयकी कठिनाइयोको दूर करनेका उपाय वताकर जनताको आश्वस्त करते है। अन्तिम कुलकर नाभिराय थे। उन्हीकी पत्नी मरूदेवीकी कोख से प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवने जन्म लिया था। (४। गा० ३१३–५५० में) कुलकरोके कार्यका वर्णन आदि किया है। भगवान ऋषभदेव इस युगके आद्य नृपति और उनके पुत्र भरत आद्य चक्रवर्ती थे। महाभारतमें तथा बौद्धोके दीघनिकायमें भी सृष्टिकी आदिमे ऐसे समयका वर्णन है जव न कोई राजा था और न कोई शासक और सव सुखी सन्तोषी और सदाचारी थे।

कर्म भूमिके प्रथम कालमें त्रेसठ शलाका पुरुष उत्पन्न होते है। ये शलाका पुरुष हैं—२४ तीर्थङ्कर, वारह चक्रवर्ती, नौ वलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण। चक्रवर्तियोमें भरतके पश्चात् सगर हुए। इनका कथन हिन्दू-पुराणोमें भी आता है। नौ वलदेवोमें ८वें श्री रामचन्द्र और नौवें कृष्ण जी के वडे भाई वलदेव जीका नाम है। वलदेव जीके लिये पद्मनाम आया है। नौ नारायणोमें लक्ष्मण तथा श्रीकृष्णजीका नाम है। नारायणोके शत्रु प्रतिनारायणोमें रावण और जरासधका नाम है। (४। ५१५-५१९)।

चौवीस तीर्थङ्करोका कथन विस्तारसे किया गया है। उसमें उनके अवतरण स्थान, जन्मस्थान, माता-पिता, जन्मतिथि, जन्मनक्षत्र, वंश, आयु, शरीरकी ऊँचाई, रग, चिन्ह, कुमारकाल, राज्यकाल, वैराग्यका कारण, दीक्षास्थान, दीक्षा की तिथि काल, नक्षत्र, वन, सह दीक्षित राजकुमारोकी सख्या, पारणाका काल, केवलज्ञान प्राप्तिकी तिथि, समय, नक्षत्र और स्थान, और उनकी उपदेश सभा, समवसरण आदिका कथन किया है। गा० ८९६ आदिमें तीर्थंकरोके चौतीस अतिशयो और ८ प्रातिहार्योका कथन है। आठ प्रातिहार्योमें दिव्य ध्वनि नही है उसके स्थानमें लिखा है कि वारह गण तीर्थंकरको घेर कर स्थित रहते है। गा० ९१६–९१८ में तीर्थंकरोके केवलज्ञानके वृक्षोके नाम गिनाये हैं, और लिखा है कि जिन वृक्षोंके नीचे तीर्थंकरोको केवलज्ञान हुआ वे सव अशोक वृक्ष है।

समवशरणकी रचनाका वर्णन सास्कृतिक दृष्टिसे भी उल्लेखनीय है। इसी

तरह शेष शलाका पुरुषोके सम्वन्धमें भी आवश्यक बातें बतलाई हैं। गा० १३०४–१४१० में चक्रवर्त्तियोकी दिग् विजय तथा विभूतिका वर्णन पठनीय हैं।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरकी गणना भारतके ऐतिहासिक महापुरुषोमे की जाती है। भगवान महावीरके पश्चात् ६८३ वर्ष तक हुए उनके शिष्य प्रशिष्योकी काल गणना दी गई है। यही काल गणना धवला, जयधवला, हरिवश पुराण, श्रुतावतार आदि ग्रथोमें तथा पट्टावलियोमें मिलती हैं।

उसके पश्चात् ग्रन्थकारने वीर निर्वाणके पश्चात् शक राजाकी उत्पत्ति होनेका काल देते हुए अनेक मतोका निर्देश किया है, जो इस बातका सूचक है कि प्राचीन समयमें भी काल गणनामें आश्चर्यजनक मतभेद पाया जाता था। वीर जिनेन्द्रके निर्वाणके पश्चात् चार सौ इकसठ वर्ष बीतने पर शक राजा हुआ। अथवा नौ हजार सात सौ पिचासी वर्ष और पाच मास बीतने पर शक राजा हुआ, अथवा चौदह हजार सात सौ तिरानवे वर्ष बीतने पर शक राजा हुआ। अथवा ६०५ वर्ष ५ मास बीतने पर शक राजा हुआ। (४।१४९६–९९)।

इनमेंसे ग्रन्थकारको प्रथम मत मान्य है। किन्तु धवलाकार, हरिवश पुराण कार (६०।५४९) और त्रिलोकसारके (गा० ८५०) कर्ताको अन्तिम मत मान्य था। वर्तमानमें जो वीरनिर्वाण सम्वत् तथा शालिवाहन शक सम्वत् प्रचलित है उन दोनोमें ६०५ वर्ष ५ मासका ही अन्तर है।

ग्रन्थकार ने वीर निर्वाण के पश्चात् १००० वर्ष में भारत में हुए प्रमुख राजवशो की काल गणना भी दी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। सबसे प्रथम ग्रन्थकार ने इस काल गणना के सम्बन्ध मे एक मतान्तर दिया है जिसके अनुसार श्रीवीर भगवान के निर्वाण काल के पश्चात् ४६१ वर्ष बीतने पर शक नरेन्द्र हुआ। उसके वश का राज्य काल २४२ वर्ष तक रहा। फिर २५५ वर्ष तक गुप्तो का राज्य रहा। फिर ४२ वर्ष तक चतुर्मुख कल्किका राज्य रहा। इस तरह ४६१ + २५५ + २४२ + ४२ = १००० वर्ष होते है।। (४।१५०३–४)।

इसके बाद की राज्य काल गणना उल्लेखनीय है। जिस समय भगवान महावीर का निर्वाण हुआ उसी समय अवन्तिसुत पालकका राज्याभिषेक हुआ। साठ वर्ष तक पालक का, एक[1] सौ पचपन वर्ष तक विजय वशियो का, चालीस वर्ष मुरुण्ड[2] वशियो का, और तीस वर्ष पुष्यमित्र का राज्य रहा।

---

१ तपागच्छ पट्टावली, तीर्थोद्धार प्रकरण और मेरुतुग की विचारश्रेणी में पालक के बाद १५५ वर्ष राज्यकाल नन्द राजाओ का लिखा है।

२ प्रभावक चरित में पाटली पुत्र के मुरुण्ड राज्यवश का वर्णन है।

फिर साठ वर्ष वसुमित्र[1] अग्निमित्र का, एक सौ वर्ष गन्धर्व का और ४० वर्ष नर वाहन का राज्य रहा। फिर भ्रत्यान्ध्रो का काल २४२ वर्ष रहा, फिर गुप्त वश का राज्य २३१ वर्ष रहा। फिर चतुर्मुखकल्कि हुआ,। उसने ४२ वर्ष राज्य किया। इस तरह ६० + १५५ + ४० + ३० + ६० + १०० + ४० + २४२ + २३१ + ४२ = १००० वर्ष हुए। (४।१५०५-९)।

आगे कल्कि के अत्याचारो का वर्णन है। अन्त में लिखा है कि इसी तरह प्रत्येक एक एक हजार वर्ष में एक एक कल्कि और प्रत्येक पाँच सौ वर्षों में एक एक उपकल्कि होगा (४।१५०५-९)।

कल्कि एक ऐतिहासिक राजा हुआ है। उसके विषय में स्व० श्री जायसवाल[2] ने एक विस्तृत लेख लिखा था। इसी तरह स्व० डा० काशीनाथ वापूजी पाठक ने भी अपने एक लेख में कल्कि को ऐतिहासिक राजा वतलाया था। किन्तु जायसवाल जी के मत से मालवाधिपति विष्णु यशोधर्मा ही कल्कि है और पाठक जी मिहिर कुल को कल्कि मानते थे। अस्तु,

२१वें अन्तिम कल्कि के अत्याचारो के विरोध स्वरूप अन्तिम मुनि आर्यिका श्रावक और श्राविका समाधि पूर्वक मरण को प्राप्त होते है। उसी दिन एक असुर के द्वारा कल्कि मार डाला जाता है और धर्म तथा राजाके साथ अग्नि का भी लोप हो जाता है। इस घटना के तीन वर्ष साढे आठ मास पश्चात् अतिदुषमा नामक छठा काल आता है। उस काल में वस्त्र, वृक्ष, मकान वगैरह नष्ट हो जाते है। मनुष्यो का आचरण पशुवत् हो जाता है। इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है। उसमें उनचास दिन शेप रहने पर प्रलय काल आता है। भयकर वर्षा और उत्पातो से पर्वत तक चूर्ण चूर्ण हो जाते हैं। उनचास दिन वीतने पर अवसर्पिणी समाप्त हो जाता है और उत्सर्पिणी काल आरम्भ होता है। यह दु ख से सुख की ओर वढता है। इसके अन्तर्गत छै काल हैं—अति दुपमा, दुषमा, दुपम सुपमा, सुपम दुपमा, सुषमा, सुषम

---

१ विचार श्रेणी, तीत्थोगालीपइन्ना और तीर्थोद्धार प्रकरण में वसुमित्र अग्निमित्र के वदले वलमित्र भानमित्र, गन्धर्व के स्थान में गर्दभिल्ल का नाम है। हरिवश पुराण में गर्दभिल्लको गर्दभ मानकर उसके पर्यायवाची शब्द रासभ का प्रयोग किया है। गर्दभिल्ल एक राजवश था। स्व० जायसवाल ने खारवेल के राजवश से उसकी एकता सिद्ध की है। (वि० उ० रि० सो० जर्नल का सितम्बर १९३० का अक)।

२ 'कल्कि अवतार की ऐतिहासिकता' और गुप्त राजाओ का काल, 'मिहिरकुल और कल्कि' शीर्षक लेख—जै० हि०, भा० १३, अ० १२।

सुपमा। इन छै कालो का सक्षेप में वर्णन है। इस तरह भरत क्षेत्र का वर्णन समाप्त होता है। उसके पश्चात् जम्बूद्वीप के शेप क्षेत्रों और पर्वतो का वर्णन है।

ये ति० प० के कुछ उल्लेखनीय विशेप कथन हैं।

ति० प० में अनेक ऐसी गाथाएँ भी पाई जाती है जो उपलव्ध अन्य ग्रन्थो-में भी ज्यो की त्यों पाई जाती है। ऐसे ग्रन्थोमे मूलाचार, समयसार, पञ्चा-स्तिकाय, प्रवचनसार और भगवती आराधनाका नाम उल्लेखनीय है। ये सभी ग्रन्थ प्राचीन है और दि० जैन माहित्य में इनका स्थान प्रथम कोटि में गिना जाता है। कुछ गाथाओ का विवरण नीचे दिया जाता है।

ति० प० के सिद्धलोक नामक नौवें अधिकार में १८–६५ गाथाओ में सिद्धत्व की हेतु भूत भावनाओ का वर्णन है। इन गाथाओ में कितनी ही गाथाएँ प्रवचनसार ममयसार पञ्चास्तिकाय में और नियमसार मे ज्यो की त्यो पाई जाती हैं, और तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये गाथाएँ उन ग्रन्थोंसे ही ति० प० में ली गई हैं क्योकि जितनी 'फिट' उनकी स्थिति उनके मूल ग्रन्थोमें है उतनी यहाँ नही है। उदाहरणके लिये तिलो० प० के नौवें अधिकारके अन्तमें कुन्थुनाथसे लेकर महावीर पर्यन्त तीर्थंकरोको नमस्कार किया है। महावीर भगवान्‌को नमस्कार करने वाली गाथा प्रवचनसारकी आद्य मंगल गाथा है जो इस प्रकार है—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥७३॥

प्रवचनसारमें इसके पश्चात् 'सेसे पुण तित्थयरे' गाथाके द्वारा शेप तीर्थंकरोको नमस्कार किया है और सबसे प्रथम भगवान् महावीरको नमस्कार करनेका कारण उक्त गाथामें ही बतला दिया है कि प्रचलित धर्मतीर्थके कर्ता वे ही है। साथ ही 'एस' शब्दकी स्थिति भी प्रवचनसारमे ही ठीक घटित होती है। ति०प०में तो उसका कोई प्रयोजन ही दृष्टिगोचर नही होता। अत उक्त गाथा प्रवचनसारसे ही ली गई है। इसी तरह, अन्य गाथाओके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए।

मूलाचारका तो ग्रन्थकारने नामोल्लेख भी किया है यह पहले लिख आये हैं। उसके पर्याप्ति अधिकारकी अन्य गाथाएँ ति०प०में ज्योकी त्यो या कुछ पाठ परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं।

इसी तरह भगवती आराधनासे भी कुछ गाथाएँ ली गई हैं।

कतिपय प्रकरणोंको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारमें संग्रह वृत्ति थी। उन्हें जहाँ जो कुछ सग्राह्य जान पडा उसका उन्होंने सग्रह कर लिया। उदाहरणके लिए प्रथम अधिकारके आदिमे लोक सामान्यका वर्णन आरम्भ करते हुए पल्यका प्रमाण वतलानेके लिए परमाणुका निरूपण ७ गाथाओंके द्वारा किया है। वे सातो गाथाएँ ग्रन्थातरोंमे सगृहीत की गई है। गाथाएँ इस प्रकार है—

खंध सयलसमत्थ तस्स य अद्ध भणति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी[1] होदि परमाणू ॥९५॥
सत्थेण सुतिक्खेण छेत्तु भेत्तु च ज किरस्सक्क।
जलयणलादिहि णास ण एदि सो होदि परमाणू ॥९६॥
एक्करसवण्णगंध दो पासा सद्दकारणमसद्द।
खदंतरिदं दव्व त परमाणु[2] भणति वुधा—॥९७॥
अंतादि मज्झहीण अपदेस इंदिएहि ण हु गेज्झ।
ज दव्वं अविभत्तं त परमाणु कहति जिणा ॥९८॥
पूरति गलंति जदो पूरणगलणोहि पोग्गला तेण।
परमाणुच्चिय जादा इदि दिट्ठ दिट्ठिवादम्हि ॥९९॥
वण्णरसगधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि।
खद पिव कुणमाणा परमाणु पुग्गला तम्हा ॥१००॥
आदेसमुत्तमुत्तो धातुचउक्कस्स कारण जो दु।
सो णेओ परमाणु परिणाम[3]गुणो य खदस्स ॥१०१॥

इनमेंमे गाथा ९५, ९७ तथा १०१ पञ्चास्तिकायकी क्रमसे गाथा न० ७५, ८१ और ७८वी गाथा है। इन तीनोंके केवल अन्तिम चरणमें पाठभेद पाया जाता है। पञ्चास्तिकायमें उनकी स्थिति विल्कुल स्वाभाविक और सयुक्तिक है। जवकि ति०प०में वे सगृहीत दगामें वर्तमान हैं। इसी तरह गाथा ९६का पूर्वार्ध अनुयोगद्वारकी गाथासे विल्कुल मिलता हुआ है। यथा—

'सत्थेण सुतिक्खेणवि छित्तु भेत्तु च ज किर न सक्का।
त परमाणु सिद्धा वयति आइ पमाणाण ॥१००॥'

गाथा ९८ नियमसारकी २६वी गाथा है उसमें वह इस प्रकार है—

अत्तादि अत्त मज्झ अत्तत णेव इदिए गेज्झ।
ज दव्वं अविभागी त परमाणु विजाणीहि ॥२६॥

---

१. 'परमाणु चेव अविभागी ॥७५॥'—पञ्चास्ति०।

२ 'परमाणु त वियाणेहि' ॥८१॥—पञ्चा०।

३ 'परिणाम गुणो सयमसद्दो' ॥७८॥—पञ्चा०।

ये ग्रन्थ ति०प०मे कई सौ वर्ष प्राचीन है। अत ति०प०से उनमे लिये जाने की तो सम्भावना ही नही की जा सकती।

भगवती आराधना शिवार्य रचित एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसकी भी कई गाथाएँ ति० प० में वर्तमान हैं।

ति० प० में एक गाथा इस प्रकार है—

वेढेदि विसयहेदु कलत्तपासेहिं दुव्विमोचेहिं।
कोसेण कोसकारो व दुम्मदी मोहपासेसु ॥६२७॥—अ० ४।

यह भ० आराधनाकी ९१९ वी गाथा है। अन्तिम चरणमें 'दुम्मदी णिच्च अप्पाण' पाठ भेद हैं। इसी तरह ति० प० अ० ३ में गाथा न० ६१७–६१८, भ० आरावनामे उसी क्रमसे वर्तमान गाथा न० १५८२–८३ है। भगवतीकी वैराग्य परक अन्य भी गायाएँ ति० प० में तीर्थङ्करोके वैराग्यके प्रकरणमें वर्तमान हैं।

ति० प० के नौवें अधिकारमे, जिसमें अधिकाश गाथा सगृहीत है और उनका कोई क्रम भी समुचित प्रतीत नही होता, तीन गायाएँ पुण्यकी बुराईमें दी गई हैं, जो इस प्रकार है—

पुण्णेण होई विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मदमोहेण य पाव तह्मा पुण्णो वि वज्जेज्जो ॥५२॥
परमट्ठ बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छति।
समारगमणहेदु विमोक्खहेदु अयाणता ॥५३॥
णहु मण्णदि जो एव णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाण।
हिंडदि घोरमपार ससारं मोहसछण्णो ॥५४॥

इनमेंमे पहली गाथा परमात्म प्रकाशकी २।६० वी गाथा है। इसके अन्तिम चरणमें पाठ भेद है। उसमें 'तह्मा पुण्णोवि वज्जेजो'के स्थानमे 'ता पुण्णं अह्म मा होउ' पाठ है। अभिप्रायमें कोई अन्तर नही है। दूसरी गाथा समय प्राभतकी १५४ वी गाथा है और तीसरी गाथा प्रवचनसारकी १।७७ वीं गाथा है। तीनों गाथाओका परस्परमें कोई सम्बन्ध नही है। अत यह निश्चित है कि वे उन ग्रन्थोंसे सगृहीत की गई हैं। जहाँ तक समयसार और प्रवचनसारकी बात है वहाँ तक तो कोई विशेप बात नही है क्योंकि इन दोनो ग्रन्थोकी बहुत सी गाथाएँ ति० प० में संगृहीत हैं और ये दोनो ग्रन्थ भी ति० प० से बहुत प्राचीन हैं। किन्तु परमात्म प्रकाशकी गायाका तिलोयपण्णत्तिमें पाया जाना अवश्य ही विचारणीय है क्योंकि डा० ए० एन० उपाध्येने परमात्मप्रकाशकी अपनी प्रस्तावनामें उसके कर्ता जोइन्दुका समय ईसाकी छठी शताब्दी निर्धारित किया है और

यही समय ति० प० का भी निश्चित होता है। दूसरी वात यह है कि परमात्म-प्रकाश दोहा छन्दमें है और उक्त गाथा भी दोहोके मध्यमे स्थित है। किन्तु इस गाथाकी स्थिति पर डा० उपाध्येने कोई आपत्ति नही की है। इसका मतलव है कि उसकी स्थितिमें सन्देहका आभास किसी प्रति या टीकाकारके द्वारा प्राप्त नही हुआ। उधर ति० प० में उक्त गाथाके आगे पीछेकी जब प्राय सभी गाथाएँ ग्रन्थान्तरोकी ऋणी हैं तव उक्त एक गाथाको ही ति० प० की मूल गाथा भी कैसे माना जा सकता है।

इस तरह ति० प० में इतर ग्रन्थोमे वहुत सी गाथाएँ ज्योकी त्यो या किंचित् पाठभेदके साथ ली गई हैं।

तिलोयपण्णत्तिमे मिलावट

यह हम वतला चुके हैं कि ति० प० में अन्य ग्रन्थोंसे वहुत सी गाथाएँ ली गई है। उसके सातवें अधिकारमें कुछ गद्य भाग भी ऐसा पाया जाता है जो धवलाटीकामें ज्योंका त्यो वर्तमान है, और धवलामे तिलोयपण्णत्तिका नामोल्लेख किया गया है तथा उस नामोल्लेखके साथ धवलाका गद्य ति० प०में ज्यों-का त्यो वर्तमान है। अत उसके सम्वन्धमे तो यह सन्देह किया ही नही जा सकता कि शायद वह गद्य ति० प० मे धवलामें लिया गया हो, क्योकि उस गद्यके द्वारा धवलाकारने अपने व्याख्यानका परिकर्मसे विरोध वतलाते हुए अपने व्याख्यानको तिलोयपण्णत्ति सूत्रका अनुसारी वतलाया है। यथा—

'एसा तप्पाउग्गसखेज्जरूवाहिय-जवूदीवछेदणय-सहिददीवसमुद्दरूवमेत्तरज्जु-च्छेदणय-पमाण-परिक्खाविही ण अण्णाइरिय-उवदेस-परपराणुसारिणी, केवल तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारिणी (ति० प० अ-७, पृ० ७६६ तथा—षट्ख० पु० ४, पृ० १५७)।

अत यह असदिग्ध है कि उक्त गद्य धवलासे ही तिलोयपण्णत्तिमें ली गई है। इससे यह आभास होना स्वाभाविक है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति अपने मूल रूपमें नहीं है उसमें पीछेसे मिलावट की गई है। इस सम्वन्धमें प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्रीने 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकाल आदिका विचार' शीर्षकसे एक लेख जैं० सि० भास्कर भाग ११, किरण एकमें प्रकाशित कराया था। उसमें पण्डित जीने लिखा है कि 'इसका (ति० प० का) सूक्ष्म निरीक्षण करनेसे जो अन्य एतिहासिक सामग्री उपलव्ध होती है उसपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका रचनाकाल ९वी शताव्दीके पहलेका किसी भी हालतमें नही हो सकता। अपने इस मतके समर्थनमें पण्डित जीने जो पाच हेतु उपस्थित किये है। सक्षेपमें वे इस प्रकार है—

१ वीरसेन स्वामीने जीवट्ठाण क्षेत्रानुयोगद्वारकी धवलाटीकामें पृष्ठ १२ से लेकर लोकके आकार और परिमाणकी चर्चा की हैं। उसे देखनेसे मालूम पडता है कि उनके काल तक उपमा लोकके प्रमाणसे पाच द्रव्योका आधारभूत लोकका प्रमाण भिन्न माना जाता था। उसकी पुष्टि राजवार्तिकसे भी होती हैं। वीरसेन स्वामीने जिस लोककी सिद्धि की है उससे राजवार्तिकमें बताये गये लोकमें अन्तर हैं। वीरसेन स्वामीका बतलाया हुआ लोक अधोलोकके मूलमें सातराजू तो है पर वह चारों दिशाओमें ही सातराजु है विदिशाओमे नही, इस लिये इसका आकार चौकोर हैं। राजवार्तिकमें बतलाया हुआ लोक भी अधोलोकके मूलमें सात राजु है पर वह आठो दिशाओ और विदिशाओमें सातराजु है अत इसका आकार गोल हुआ। आगे वीरसेन स्वामीका बतलाया हुआ लोक पूर्व और पश्चिममें क्रम से घटकर मध्य लोकके पास एक राजु रह जाता है पर यह उत्तर और दक्षिण दिशामें नही घटता किन्तु सर्वत्र सात राजु ही रहता है। किन्तु राजवार्तिकमें[1] बतलाया हुआ लोक आठों दिशाओ और विदिशाओमें घटता हुआ मध्यलोकके पास सर्वत्र एक राजु रहता है। इसी प्रकार मध्यलोकसे ऊर्ध्व लोक तक जानना चाहिये। इनमेंसे वीरसेन स्वामीके द्वारा बतलाये हुए लोकका घनफल ३४३ घन राजु है। किन्तु राजवार्तिकमे इस पाँच द्रव्योंके आधार भूत लोकका घनफल नही दिया। परन्तु राजवार्तिकमें तीसरे अध्यायके ३८वे सूत्रकी व्याख्यामें जगश्रेणीके घनको घनलोक कहा हैं। चालू मान्यताके अनुसार जगश्रेणीका प्रमाण सातराजु है अत घनलोकका प्रमाण ३४३ घनराजु हुआ।

राजवार्तिकके दोनो उल्लेखोंसे यह भलीभाति समझमें आ जाता है कि वीरसेन स्वामीके समय तक जैनाचार्य उपमालोकसे पाँच द्रव्योंके आधारभूत लोकको भिन्न मानते थे। वीरसेन स्वामीने उक्त दोनो लोकोंकी मान्यताको नही पनपने दिया और उपमालोकके प्रमाण को मुख्य माना।

आगे पण्डितजीने उन दो गाथाओंको उद्धृत किया है जो वीरसेन स्वामीने अपने मतकी पुष्टिमें धवलामें उद्धृत की हैं। वे दोनों गाथाएँ तिलो० प० की नहीं हैं। साथ ही वीरसेन स्वामीने यह भी लिखा है कि 'उत्तर दक्षिण दिशाओंकी अपेक्षा लोकका प्रमाण सर्वत्र सात राजु है यद्यपि इसका विधान करणानुयोगके ग्रन्थोंमें नहीं है तो भी वहां निषेध भी नहीं है।'

किन्तु वीरसेन स्वामीके द्वारा स्थापित किये उक्त मतकी समर्थक तीन गाथाएँ पण्डितजीने तिलोय० से उद्धृत की है, और यह बतलाया है कि

१. [illegible]

यदि ये गाथाएँ तिलोयपण्णत्तिमें पहलेसे वर्तमान होती तो वीरसेन स्वामी अपने मतके समर्थनमें उन्हें अवश्य उद्धृत करते। अत जिस तिलोयपण्णत्तिका वीरसेन स्वामीने उल्लेख किया है वह वर्तमान ति० प० से भिन्न होनी चाहिये।

२ तिलो० प० में पहले अधिकारकी ७वी गाथासे लेकर ८७वी गाथा तक ८१ गाथाओंमें मंगल आदि छै अधिकारोका वर्णन है। यह पूरा का पूरा वर्णन संत परूवणाकी धवलाटीकासे मिलता हुआ है। ये छह अधिकार तिलोयपण्णत्तिमे अन्यत्रसे संग्रहीत किये गये है इस वातका उल्लेख स्वय ति० प० के कर्तानें पहले अधिकारकी ८५वी गाथामें किया है। तथा धवलामें इन छह अधिकारोका वर्णन करते समय जितनी गाथाएँ या श्लोक उद्धृत किये गये है वे सव अन्यत्रसे लिये गये है तिलोयप० मे नही। इससे मालूम पडता है कि ति० प० के कर्ताके सामने धवला अवश्य थी।

३ लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थोंके कर्ता भट्टाकलकके तत्त्वार्थ भाष्यका उल्लेख धवला टीकामें अनेक जगह है। लघीयस्त्रयके छठे अध्यायके 'ज्ञान प्रमाणमात्मादे' श्लोकको वीरसेन स्वामीने धवलामें उद्धृत किया है। तिलोयपण्णत्तिकारने इसे भी नही छोडा। तिलोयपण्णत्तिको देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि तिलोय० कारने इसे लघीयस्त्रयसे न लेकर धवलासे ही लिया है क्योकि धवलामें इसके साथ जो एक दूसरा श्लोक उद्धृत है उसे भी उसी क्रमसे ति० के कर्तानें अपना लिया है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि ति० प० की रचना धवलाके वाद हुई है।

४ धवला द्रव्य प्रमाणानुयोग द्वारके पृ० ३६ मे तिलोयपण्णत्तिका एक गाथाश उद्धृत किया है। जो इस प्रकार है—'दुगुण दुगुणो दुवग्गो णिरतरो तिरियलोगोत्ति।' वर्तमान ति० प० में यह नही है। वर्तमान तिलोयप० में इसका न पाया जाना यह सिद्ध करता है कि यह तिलोयपण्णत्ति उससे भिन्न है।

५ पाँचवा प्रमाण वही है जिसकी चर्चा हमने प्रारम्भमें की है और वतलाया है कि इससे वर्तमान ति० प० मे मिलावटकी पुष्टि होती है।

इन पाँच प्रमाणोके आधार पर पण्डित फूलचन्द्रजीने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिका सग्रह धवलाके अनन्तर हुआ है। तथा नेमिचन्द्रने अपने त्रिलोकसारकी रचना वर्तमान ति० प० के आधार पर ही की थी यह दोनोकी तुलनासे स्पष्ट है। अत धवलाकी रचनाके पश्चात् और त्रिलोकसारकी रचनासे पूर्व शक सं० ७३८ से लेकर ९०० के मध्यमें वर्तमान तिलोयपण्णत्तिकी रचना हुई है।

आगे पं० जीने वर्तमान ति० प० के सकलनका कर्त्ता वीरसेनके शिष्य जिनसेन को बतलाया है।

पं० फूलचन्द्रजीकी उक्त युक्तियोका विरोध प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'तिलोयपण्णत्ति[1] और यतिवृषभ' शीर्षक लेखमें किया है। और सिवाय अन्तिम बात को स्वीकार करनेके और किसी भी युक्ति को मान्य नही किया है। तथा उक्त गद्याशको बादमे किसीके द्वारा धवला आदि परसे प्रक्षिप्त किया हुआ बतलाया है, और यह सभावना की है कि और भी कुछ गद्याश ऐसे हो सकते हैं जो धवला परसे प्रक्षिप्त किये गये हो। चुनाचे जिस गद्याश को प्रारम्भमें धवला परसे ति० प० में प्रक्षिप्त हुआ बतलाया है, मुख्तार साहबने उसके आदि और अन्त भागको भी उसमें सम्मिलित करके प्रक्षिप्त बतलाया है। किन्तु यह प्रक्षेप जान बूझकर किसीके द्वारा किया गया नही बतलाया है और अन्तमें यह निष्कर्ष निकाला है कि शास्त्रीजीका यह लिखना कि तिलोयपण्णत्तिका संकलन शक सम्वत् ७३८ (वि० स० ८७३) से पहलेका किसी भी हालतमें नही हो सकता तथा इसके कर्ता यतिवृषभ नही हो सकते 'उनके अति साहसका द्योतक है और उसे किसी भी तरह युक्तिसगत नही कहा जा सकता।

प्रो० हीरालालजीने ति० प० भा० २ की प्रस्तावनामें पं० फूलचन्दजीकी युक्तियों और मुख्तार साहबके विरोधकी समीक्षा करते हुए इस बातको तो मान्य किया है कि परिवर्धन और सस्कार होकर ति० प० का वर्तमान रूप धवलाकी रचनाके पश्चात् किसी समय उत्पन्न हुआ होगा। किन्तु वर्तमान ति० प० के कर्ता वीरसेनके शिष्य जिनसेन हैं, प० जीकी इस कल्पनाके सम्बन्धमें समुचित साधक बाधक प्रमाणोकी अनुपलब्धि बतलाई है।

श्रीयुत प्रेमीजी ने भी 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति' शीर्षक लेखमें मिलावटकी बातको मान्य किया है।

ति० प० से भी उसका समर्थन होता है। ति० प० की एक अन्तिम गाथामें उसका परिमाण आठ हजार श्लोक बतलाया है। किन्तु वर्तमान ति० प० का परिमाण नौ हजार श्लोक प्रमाणसे भी अधिक है।

इस तरह ति० प० मे प्रक्षिप्त अश भी है और वह अपने मूल रूपमें नही है, यह बात तो सर्वमान्य है। किन्तु उसमें कौन अश प्रक्षिप्त है और कौन

---

१. यह लेख वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थमें प्रकाशित हुआ है। पश्चात् पुरातन जैन वाक्य सूची और जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश नामक निबन्ध संग्रहमें भी प्रकाशित हुआ है।

अश मूल है इसमें विवाद है और जब तक ति० प० की कोई प्राचीन प्रति उपलब्ध न हो तब तक उस विवादका निबटारा होना भी सभव नही है। और जब धवलाके पश्चात् ही मिलावटकी सभावना की जाती है तो इतनी प्राचीन प्रति मिलना भी असभव ही है। अत यत्किञ्चित् उपलब्ध साधनोके प्रकाशमें प० फूलचन्द्रजीकी तरह ति० प० के वर्तमान रूपकी समीक्षाके द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुचनेका प्रयत्न व्यर्थ नही है यह मानकर प्रकृत चर्चा पर थोडा ऊहापोह किया जाता है। उससे प्रथम ति० प० कर्ताके सम्बन्धमें चर्चा करना उचित होगा क्योकि प्रकृत विषयसे उसका गहरा सम्बन्ध हो सकता है।

तिलोयपण्णत्तिके कर्ता और उसका समय

धवला और जयधवलासे पूर्वके किसी ग्रन्थ अभिलेख या पट्टावली वगैरहमें तिलोयपण्णत्ति और उसके कर्ताके सम्बन्धका कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नही आया। तिलोयपण्णतिका सर्वप्रथम उल्लेख वीरसेन स्वामीकी धवलामें ही दृष्टिगोचर होता है क्योकि उन्होने उससे उद्धरण दिये हैं। किन्तु ति० प० के सम्बन्धमें वे भी मूक है। वर्तमान ति० प० के अन्तमें दो गाथाएँ पाई जाती हैं जो इस प्रकार हैं—

> पणमह जिणवरवसह गणहरवसह तहेव गुणवसहं।
> दट्ठूण परिसवसह जदिवसहं धम्मसुत्तपाठएवसह ॥७६॥
> चूण्णिसरूवछक्करणसरूवपमाण होइ किं जं त।
> अट्ठसहस्सपमाण तिलोयपण्णत्तिणामाए ॥७७॥

'जिनवर वृषभको, गुणोमें श्रेष्ठ गणधर वृषभको तथा परीपहोको सहन करने व धर्मसूत्रके पाठकोमें श्रेष्ठ यतिवृषभको देखकर नमस्कार करो।'

'चूर्णिस्वरूप तथा षट्करण स्वरूपका जितना प्रमाण है, त्रिलोक प्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थका भी प्रमाण उतना आठ हजार श्लोक परिमित है।'

उक्त दोनो गाथाएँ तथा उनका यह अर्थ मुद्रित ति० प० से दिया गया है। इन गाथाओंके कुछ पदोके सम्बन्धमें जो पाठान्तर सुझाये गये है उनके विवादमें हम नही पढना चाहते। पहली गाथामें यतिवृषभका नाम है और दूसरी गाथाके प्रारम्भमे चूर्णिस्वरूपका। धवला जयधवला तथा इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें बतलाया है कि यतिवृषभने कसायपाहुडके गाथा सूत्रो पर छ हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि सूत्रोकी रचना की थी। अत उक्त दो गाथाओंके आधार पर चूर्णिसूत्रोके रचयिता यतिवृषभ तिलोयपण्णत्तिके कर्ता माने जाते हैं। चूर्णिसूत्रोकी चर्चामें यतिवृषभके समयके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। अत उसकी पुनरुक्ति न करते हुए इतना बतला देना आवश्यक है कि उक्त ग्रन्थोंके अनुसार

यतिवृपभ आर्यमगु और नागहस्तिके शिष्य थे, उन्हीसे कसायपाहुडके गाथासूत्रो-को पटकर उन्होने उस पर चूर्णिसूत्र रचे थे। नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमे आर्य मगु और नागहस्तीका उल्लेख है। जयधवलामें लिखित इन दोनो नामके आचार्योके साथ उनकी एक रूपता पर भी पीछे प्रकाश डाला गया है तथा यह भी दिखाया है कि पट्टावलीके आधार पर उनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीके पश्चात् नही जाता है। अत उनके शिष्य यतिवृपभ उसी समयके लगभग होने चाहिये।

किन्तु तिलोयपण्णतिमें भगवान महावीरके निर्वाणसे लेकर एक हजार वर्ष तक की राजकाल गणना दी हुई है। अत प्रचलित वीर निर्वाण संवत्के अनुसार ति० प० का समय १०००-४७० =५३० वि० स० से पूर्व नही कहा जा सकता। अत यदि यतिवृपभ ति० प० के कर्ता हैं तो वे आर्यमक्षु और नागहस्तिके शिष्य नही हो सकते और यदि वे उनके शिष्य है तो वे ति० प०के कर्ता नही हो सकते। क्योकि विक्रम सम्वत् की ५-६वी शताब्दीमें आर्यमक्षु और नागहस्ती नामके किन्ही आचार्योंके होनेका कोई सकेत तक नही मिलता।

दूसरी बात यह है कि वीरसेन स्वामीने जयधवला मे चूर्णिसूत्रोको एक नही अनेक जगह यतिवृपभ निर्मित लिखा है। किन्तु तिलोयपण्णतिका धवलामें उल्लेख करते हुए भी कही इस बातका आभास तक नही दिया कि तिलोयपण्णत्ति यतिवृपभ कृत है।

तीसरे, जिस 'पणमह जिणवर वसह' आदि गाथाके आधारपर तिलोय-पण्णत्तिको यतिवृपभ कृत माना जाता है वह गाथा जयधवलाके सम्यक्त्व अनु-योगद्वारके आदिमें मगलरूपमे वर्तमान है और उसमें जो पाठ है वह विल्कुल शुद्ध और मूल प्रतीत होता है—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेंव गुणहरवसह।
दुसहपरीसहविसहं जइवसह धम्मसुत्तपाठरवसह॥'

'जिनवर वृपभको, गणधर वृपभको और श्रेष्ठ गुणधराचार्यको तथा दु सह परीपहको सहनेवाले और धर्मसूत्रके पाठकोमें श्रेष्ठ यतिवृपभको नमस्कार करो।'

इसमें 'गुणवसहं' की जगह 'गुणहरवसह' पाठ तथा 'दट्ठूण' की जगह दुसह पाठ विल्कुल उपयुक्त है। गुणवर कसायपाहुडके रचयिता है। यदि यह गाथा यतिवृषभ रचित है तो उनके द्वारा गुणधराचार्यको नमस्कार किया जाना उचित ही है और यदि जयधवलाकारके द्वारा रचित है तो उनके द्वारा गुणवराचार्य और यतिवृपभाचार्यको नमस्कार किया जाना और भी अधिक उपयुक्त है क्योकि इन दोनोंके द्वारा रचित ग्रन्थो पर ही जयधवला टीका रची गई है।

इसके सिवाय शिवार्य[1] रचित भगवती आराधना गा० २०७५ मे एक गणी-के परीषह सहन करने पूर्वक समाधिमरण करनेका निर्देश है। टीकाकार अपराजितसूरिने गणिका अर्थ यतिवृषभाचार्य किया है और हरिषेण वृहत्कथाकोशकी १५६वी कथामे तथा नेमिदत्तके आराधना कथाकोशकी ८१वी कथामे इसका विवरण भी यतिवृषभके सम्बन्धमें मिलता है। उसकी संगति गाथाके 'दुसह-परीसहविसह' पदके साथ मिल जाती है। यदि शिवार्यके द्वारा निर्दिष्ट गणी यतिवृषभ ही है तो यतिवृषभका समय विक्रमकी छठी शताब्दी नही हो सकता।

उक्त बातोके प्रकाशमें तिलोयपण्णत्तिका यतिवृषभ रचित होना भी सदिग्ध ही प्रतीत होता है। इसके सिवाय यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रोंके साथ ति०प० की तुलनासे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है।

१ चूर्णिसूत्रोके प्रारम्भमें पाच उपक्रमोका निर्देश है—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण वक्तव्यता और अर्थाधिकार। किन्तु ति० प० के प्रारम्भमें कहा गया है कि मंगल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम, और कर्ताका कथन पहले करना चाहिए यह आचार्योंकी परिभाषा है।

२ चूर्णिसूत्रोमें निक्षेपपूर्वक नययोजनाकी प्राचीन परिपाटीका क्रियात्मक रूपसे पालन किया गया है। किन्तु ति० प० अ० १, गा० ८२ के द्वारा केवल यह कह भर दिया है कि जो नय प्रमाण और निक्षेपसे अर्थका निरीक्षण नही करता उसे अयुक्त पदार्थ युक्तकी तरह और युक्त पदार्थ अयुक्तकी तरह प्रतीत होता है। किन्तु उसका अनुसरण नही किया गया।

३. चूर्णिसूत्रोंमें केवल कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृतिका निर्देश है। कर्मप्रवाद आठवें पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति दूसरे पूर्वके पचमवस्तु अधिकारके चौथे प्राभृतका नाम है। इसी प्राभृतसे षट्खण्डागमकी उत्पत्ति हुई है। इन दो आगमिक ग्रन्थोंके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थ या आचार्यका नाम चूर्णिसूत्रोमें नही पाया जाता। और यह बात चूर्णिसूत्रोकी प्राचीनताको ही सिद्ध करती है।

उधर ति० प० में लोकानुयोग विषयक अनेक ग्रन्थोके उल्लेखोके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थोसे मूल ग्रन्थमें सम्मिलित की गई गाथाओकी भरमार है। यह शैली चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभकी शैलीसे कोई मेल नही खाती।

चूर्णिसूत्रोमें मगलका नाम तक नही है और ति० प० के प्रारम्भमें पचपरमेष्ठीका स्तवन करते हुए भी प्रथम अधिकारके अन्तमें ऋषभदेवको नमस्कार किया गया है और आगे प्रत्येक अधिकारके आदि और अन्तमें क्रमसे एक-एक

---

१. जै० सा० इ०, पृ० २०-२१।

ति० प० मे लोक सामान्यनिरूपणमें गणितकी प्रधानता है। विविध प्रकार-से लोक और वातवलयोका क्षेत्रफल बतलाया गया है। यह सब कथन ह० पु० मे नही है। किन्तु ति० प० के प्रथम और द्वितीय महाधिकारमें जिस प्रकार लोकका पूरब-पश्चिम विस्तार, वातवलयोकी मोटाई, नारक बिलोंके नाम, संख्या, विस्तार, नारकियोकी आयु, उत्सेध, अवधि ज्ञानका विषय, उत्पत्तिका विरह काल, नरकोमे उत्पन्न होने वाले जीव, नरकोंसे निकले जीवोंकी दशा आदिका वर्णन किया गया है वैसा ही वर्णन ह० पु० में है। पूर्व अधिकार-की गा० १०८ से १५६ तक ह० पु० में (४ सर्ग) श्लोक १०० से २१९ तक यथाक्रम अनुदित मिलती है। इससे यह भी पता चलता है कि मुद्रित ह० पु० मे यत्र तत्र कुछ श्लोक छूटे हुए हैं। यथा श्लो० २०६–२०७ के बीचमें एक श्लोक छूटा है जो ति० प० के २–१४५ गाथाके अर्थको लिए हुए है।

हाँ, कही कही कथनकी शैलीमें अन्तर है। जैसे ति० प० में (२–२८६) बतलाया है कि उपयुक्त सात पृथिवियोंमें क्रमसे असंज्ञी आदि जीव उत्कृष्ट रूपसे आठ, सात, छह, पाच, चार, तीन और दो बार ही उत्पन्न होते हैं। हरि० पु० (४–३७६–३७७) में इसीको इस प्रकार कहा है—सातवींसे निकला हुआ जीव उसीमे एक बार, छठीसे निकला हुआ पुन छठीमे दो बार, पांचवीसे निकला हुआ पुन पांचवीमे तीन बार, चौथीसे निकला हुआ पुन. चौथीमें चार बार, तीसरीसे निकला हुआ पुन तीसरीमें पाच बार, दूसरीसे निकला हुआ पुन दूसरीमें छै बार और पहलीसे निकला हुआ असंज्ञी पहली पृथ्वीमें पुन सात बार जन्म ले सकता है। दोनों कथनोमें कोई अन्तर नही है केवल शैली भेद[1] है।

हाँ, ति० प० (२–२९२) मे जो यह बतलाया है कि सातवी पृथिवीसे निकलकर तिर्यञ्चोमें उत्पन्न हुए कोई कोई सम्यक्त्वको भी प्राप्त कर सकते है, ह० पु० में यह कथन नही है। त० वार्तिकमें भी नही है। (षट्खं० पु० ६, ९,

---

आरणाच्युत सुस्कन्धो द्विपर्यन्तमहाभुज ।
नवग्रैवेयक ग्रीवोऽनुदिशोद्धनुद्वय ॥३०॥
पचानुत्तरसद्वक्त्र सिद्धक्षेत्रललाटभृत् ।
सिद्धजीवश्रिताकाश देशविस्तीर्णमस्तक ॥३१॥
स्वोदरस्थित-नि शेष-पुरुषादि-पदार्थक ।
अपौरुषेय एवैष सल्लोकपुरुष स्थित ॥३२॥'—ह० पु०, ४ स० ।

१. ति० प० भा० २ की भूमिकामें पृ० ५३ पर इस कथनको जो मतभेदोंमें गिनाया है वह ठीक ही है।

पृ० २०३–२०६) में उसका स्पष्ट निषेध है। हाँ, श्वे० प्रज्ञापना (२०, १०) में वैसा कथन मिलता है।

इस मिलानके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ह० पु० के कर्ताके सामने ति० प० का दूसरा अधिकार सम्भवतया इसी रूपमें वर्तमान था।

हरि० पु० के पाँचवें सर्गमें मध्य लोकका वर्णन है। यह ति० प० के चतुर्थ अधिकारका ऋणी है। इस अधिकारके कुछ विषय हरि० पु० के ६०वें सर्गमें भी पाये जाते हैं। वे हैं शलाका पुरुषोंका वर्णन, रुद्र और नारदोंका वर्णन, शक राजाका समय, महावीर निर्वाणके पश्चात् एक हजार वर्षमें भरतमें हुए राजवंशोंका वर्णन, कल्किका वर्णन आदि। हरिवंशमें तीर्थंकरोंके पूर्व जन्मके नगरादिका भी कथन है यह कथन ति० प० में नहीं है। बाकी तीर्थंकरोंके जन्म, तिथि, माता पिता, जन्म, नक्षत्र, चैत्यवृक्ष और निर्वाण भूमिका कथन ति० प० की तरह ही है। क्वचित् जन्म तिथियोंमें भेद भी पाया जाता है।

वीर निर्वाणके पश्चात् जो एक हजार वर्षोंमें भारतमें हुए राजवंशोंको गिनाया है वह तो बिल्कुल ति० प० की गाथाओंका ही अनुवाद है—

जक्काले वीर जिणो णिस्सेयस-सपयं समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो पाल्यणामो अवंतिसुदो ॥ १५०५ ॥
पालकरज्जं सट्ठि इगिसय पणवण्णविजयवंसभवा।
चालं मुरुदयवंसा तीस वस्सा सुपुस्समित्तम्मि ॥ १५०६ ॥
वसुमित्त अग्गिमित्ता सट्ठी गंधव्वया वि सयमेक्कं।
णरवाहणा य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥ १५०७ ॥
भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइं हवंति बादाला।
तत्तो गुत्ता ताणं रज्जे दोण्णि य सयाणि इगतीसा ॥ १५०८ ॥
तत्तो चक्की जादो इंदसुदो तस्स चउम्मुहो णामो।
सत्तरि वरिसा आऊ विगुणियइगिवीस रज्जंतो ॥१५०९॥

—ति० प० अ–४

× × ×

वीर निर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते।
लोकेऽवंतिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥ ४८७ ॥
षष्ठिर्वर्षाणि तद्राज्यं ततो विष(ज)यभूभुजां।
शतं च पंच पञ्चाशद्वर्षाणि तदुदीरितम् ॥४८८॥
चत्वारिंशत् पुरूढां (मुरुण्डा-) नां भूमण्डलमखण्डितम्।
त्रिंशत्तु पुष्यमित्राणां षष्ठिर्वस्वग्निमित्रयोः ॥ ४८९ ॥

तीर्थङ्करको नमस्कार किया गया है। इस तरह नौवें अधिकारके प्रारम्भ पर्यन्त १६ तीर्थङ्करोंको नमस्कार किया गया है और शेष आठ तीर्थङ्करोंको नौवें अधिकारके अन्तमें नमस्कार किया गया है। यह क्रम भी बड़ा विचित्र प्रतीत होता है।

इस तरह चूर्णिसूत्रोंके साथ तुलनाकी दृष्टिसे भी वर्तमान तिलोयपण्णत्ति यतिवृषभकृत प्रतीत नहीं होती। किन्तु वर्तमान ति० प०में भी जो प्राचीनताके चिन्ह वर्तमान हैं उनसे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मूल ति० प० अवश्य ही प्राचीन होनी चाहिए और उसके कर्ता यतिवृषभ जैसे प्राचीन आचार्य ही होने चाहिए। किन्तु उसका मूलरूप क्या था यह कह सकना शक्य नहीं है, क्योंकि जैसा पं० फूलचन्दजीने अपने लेखमें बतलाया है कि लोकको सर्वत्र उत्तर दक्षिण सातराजु माननेकी स्थापना वीरसेन स्वामीने की है और वर्तमान ति० प० में वीरसेन स्वामीके मतनानुसार ही कथन मिलता है। यदि वीरसेन स्वामीके सामने वर्तमान ति० प० का उक्त कथन होता तो वह आयत चतुरस्राकार लोककी स्थापनाका श्रेय स्वयं क्यों लेते और क्यों धवलामें इतने विस्तारसे उसका कथन करते। अतः यह निश्चित है कि उस समय ति० प० में उस प्रकारका कथन नहीं था।

जहाँ इस तरहकी मिलावटकी बात प्रमाणित होती है। वहाँ यह कैसे निर्णय करना सम्भव है कि ति०प०का मूलरूप अमुक था।

फिर भी इतना निश्चित है कि वीरसेन स्वामीके सामने ति०प० थी, क्योंकि उन्होंने उसका उल्लेख किया है। और उसमें कुछ मिलावट करनेका कार्य अथवा पुरानी ति०प०के होते हुए नई ति०प०की रचना करनेका काम वीरसेन या उनके शिष्य जिनसेन जैसे प्रामाणिक आचार्य नहीं कर सकते। अतः पं० जीका यह कथन कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिकी रचना वीरसेनके शिष्य जिनसेन की है, ठीक नहीं है और इसलिए उन्होंने जो उसका समय निर्धारित किया है वह भी ठीक नहीं है।

हरिवंश पुराणकी रचना शक सं० ७०५में हुई है और हरिवंश पुराणके सर्ग चौथा, पाचवाँ, छठा, सातवाँ तथा सर्ग ६० का मिलान तिलोयपण्णत्तिसे करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिवंश पुराणकी रचना करते समय उसके कर्ताके सामने ति०प० अवश्य थी। उसके उक्त अध्यायोंके अधिकांश वर्णन ति०प०के अनुवाद रूप हैं। हाँ, कहीं-कहीं उनमें कुछ विशेषता भी है और मतभेद भी प्रतीत होता है। यहाँ दोनोका थोड़ा-सा तुलनात्मक परिचय दे देना अनुचित न होगा।

हरिवंश पुराणके चतुर्थ सर्ग मे २२ श्लोको तक तो लोक सामान्यका वर्णन है, पश्चात् अधोलोकका वर्णन है। हरिवंश पुराणके कर्ताके सामने अकलक देवका तत्त्वार्थवार्तिक[1] भी था और उन्होने लोक सामान्यका वर्णन उसीके अनुसार प्रारम्भ किया है। त०वा०में मध्यलोकको झल्लरीके आकार वतलाया है, ति०प०में ऐसा नही वतलाया। लेकिन हरिवंश पुराणमें भी झल्लरीके आकार मध्यलोक वतलाया है। साथ ही ति०प०को भी अपनाया गया है। यथा—

'अद्ध मुरज्जस्सुदओ समग्गमुरजोदय सरिच्छो ॥१५०॥'—ति०प० १।

× × ×

मुरजार्धमधोभागे तस्योर्ध्वे मुरजो यथा।
आकारस्तस्य लोकस्य किन्त्वेष चतुरस्रक ॥७॥ ह०प्र०स० ४।

हरिवंश पुराणके कर्ताने ति०प० की तरह अधोलोकको अर्धमृदगके आकार और ऊर्ध्वलोकको पूर्ण मृदगके आकार वतलाया है। साथ ही 'किन्त्वेष चतुरस्रक' लिखकर यह भी व्यक्त कर दिया है कि लोक मृदगकी तरह गोल नही है, किन्तु चौकोर है। और आयतचतुरस्र लोकके सस्थापक वीरसेन स्वामी है। उन्हीका अनुसरण ह० पु० के कर्ताने किया है।

ह० पु० के कर्ताने पूर्व पश्चिम विस्तारका तो कथन किया है किन्तु दक्षिण उत्तर विस्तारका कथन नही किया। जव कि ति० प० १–१४९ गाथामे दक्षिण उत्तर में सातराजु प्रमाण आयाम वतलाया है। इससे भी इस वातकी पुष्टि होती है कि यह वात उस समय ति० प० मे नही थी। अन्यथा १४९ गाथाके पश्चात्की गाथाओके अनुसार लोकके नापका कथन करते हुए भी हरि० पु० के कर्ता जिनसेन उसीको क्यो छोड देते।

हरिवंश पुराणमें एक और विशेष कथन है। यद्यपि त० वा० (पृ० २२४) में लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवा लिखकर लोकको पुरुषाकार वतलाया है किन्तु हरि०[2] पु० में उसकी रूपरेखाको विल्कुल स्पष्ट कर दिया है। ति० प० मे यह कथन नही है।

---

१ 'धर्माधर्म-पुद्गल-काल-जीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इति वा।'—त०वा०, पृ० ४५६। 'काल पञ्चास्तिकायाश्च सप्रपञ्चा इहाखिला। लोक्यन्ते येन तेनाय लोक इत्यभिलप्यते ॥५॥'—ह०पु०, ४ सर्ग।
'ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्मृदङ्गवेत्रासनझल्लर्याकृति'—त०वा०, पृ० ७६।
वेत्रासनमृदगोरुझल्लरी सदृशाकृतिः। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च यथायोगमिति त्रिधा ॥६॥—ह०पु०, ४ स०,।

२ 'अधोलोकोरुजघादिस्तिर्यग्लोककटीतट।
ब्रह्मब्रोत्तरोरस्कोमाहेन्द्रान्तस्तु मध्यभाग् ॥२९॥

गत रासभराजाना नरवाहनमप्यत ।
चत्वारिंशत्ततो द्राभ्या चत्वारिंशच्छतद्वय ॥ ४९० ॥
भद्र (ट्ट)वाणस्य तद्राज्य गुप्ताना च गतद्वयम् ।
एकविंशश्च[1] (?) वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ॥ ४९१ ॥
द्विचत्वारिंशदेवात कल्किराज्यस्य राजता ।
ततोऽजितजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसस्थित ॥ ४९२ ॥—ह० पु, स०६०

श्रीयुत प्रेमीजीने अपने एक लेखमे हरिवश पुराणके जो उक्त श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें 'विषयभुभुजा' के स्थानमें 'विजयभुभुजा', 'पुरूढाना' के स्थानमें 'मुरुण्डाना' और 'भद्रवाणस्य' के स्थान 'भट्टवाणस्य' पाठ है। ये पाठ ति० प० के विशेप अनुकूल है। 'गधव्वपा' का जो 'रासभराजा' अनुवाद किया गया है वह भी ठीक है। भविष्य पुराणमें विक्रमको गन्धर्वसेनका पुत्र लिखा है। गर्दभी विद्या जाननेके कारण वह गर्दभिल्ल नामसे ख्यात हुआ। गर्दभका पर्यायवाची शब्द 'रासभ' देना उचित ही है।

अत ह० पु० की उक्त काल गणना भी ति० की ही ऋणी है।

ति० प० में महावीर निर्वाणके पश्चात् हुए शक राजाके कालके विपयमें अनेक मत दिये है। ह० पु० के कर्त्ताने ति० प० में दिये गये मतभेदोको अपने ग्रन्थमें कही भी स्थान नही दिया है। जो मत उन्हें परम्परासे सम्मत प्रतीत हुआ वही ग्रहण किया है शेपको छोड दिया है। शक राजाके विपयमें भी सर्वमान्य मतका ही उल्लेख किया है।

वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास वाद शक राजा हुआ, यही मत धवलामें और त्रिलोकसारमें मान्य किया गया है। ह० पु० के कर्त्ताने भी उसे ही मान्य किया है।

ति० प० में लिखा है—

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पचवरिसेसु ।
पणमासेसु गदेसु सजादो सगणिओ अहवा ॥१४९९॥—अ० ४ ।

और हरि० पु० में इसे यो दिया है—

वर्षाणा पट्शती त्यक्त्वा पञ्चाग्र मासपञ्चकम् ।
मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥५५१॥—स० ६० ।

यह श्लोक उक्त गाथाका बिल्कुल अनुवाद जैसा लगता है।

इसी तरह ति० प० अ० ४ में गा० २७८ से कालका वर्णन है। ह० पु० के

---

१ 'एकत्रिंशच्च' होना चाहिये।

सातवें सर्गमें यह पूरा वर्णन अनुवाद रूपसे वर्तमान है। दोनोके प्रारम्भका कुछ भाग यहाँ दिया जाता है—

'पास-रसगंध-वण्णव्वदिरितो अगुरुलहुगसजुतो।
वत्तणलक्खण कलिय कालसरूव इम होदि ॥२७८॥
कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हवति एदेसु।'
वर्ण-गधरस-स्पर्श-मुक्तोऽगौरवलाघव ।
वर्तनालक्षण कालो मुख्यो गौणश्च स द्विधा ॥१॥

× × ×

जीवाण पुग्गलाण हवति परियट्टणाइ विविहाइ।
एदाणा पज्जाया वट्टते मुक्खकाल आधारे ॥२८०॥
जीवाना पुद्गलाना च परिवृत्तिरनेकधा।
गौणकालप्रवृत्तिश्च मुख्यकालनिवधना ॥४॥

× × ×

सव्वाण पयत्थाण णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ।
वहिरतरगहेदुहि सव्वब्भेदेसु वट्टति ॥२८१॥
सर्वेषामेव भावाना परिणामादिवृत्तय ।
स्वातर्वहिर्निमित्तेभ्य प्रवर्तन्ते समन्तत ॥५॥

× × ×

वाहिरहेदू कहिदो णिच्छयकालो त्ति सवदरिसिहि।
अब्भतर णिमित्त णिय णिय दव्वेसु चेट्ठेदि ॥२८२॥
निमित्तमान्तर तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता।
वहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभि ॥६॥

× × ×

कालस्य भिण्णभिण्णा अण्णुण्णपवेसणेण परिहीणा।
पुह पुह लोयायासे चेट्ठते सचएण विणा ॥२८३॥
अन्यानुप्रवेशेन विना कालाणव पृथक्।
लोकाकाशमशेष तु व्याप्य तिष्ठन्ति सचिता ॥७॥

उक्त गाथाओके नीचे दिये श्लोक बिल्कुल अनुवाद रूप है।

तिलोयपण्णत्तिकी हरिवश पुराणके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट है कि हरिवश पुराणकारके सामने जो ति० प० थी वह आजकी ति० प० से एकदम भिन्न नही थी, वल्कि वहुत कुछ वर्तमान रूपमें ही थी। उसमें जो ऐसी गाथाएँ पाई जाती हैं जो पञ्चास्तिकाय वगैरहकी हैं, वे थोडे वहुत रूपमे उस समय

भी उसमे थी। क्योकि ति० प० के प्रथम अधिकारमें जो परमाणु के स्वरूपको वतलाने वाली गाथाएँ पञ्चास्तिकायकी हैं उनका अनुवाद भी ह० पु० मे वर्तमान है यथा—

एक्करस वण्णगध दो पासा सद्दकारणमसद्दं।
खदतरिद दव्व त परमाणु भणति वुधा ॥९७॥
अतादिमज्झहीण अपदेस इदिएहि ण हु गेज्झ।
ज दव्व अविभत्त तं परमाणु कहति जिणा ॥९८॥ ति० प० १।

× × ×

आदि मध्यान्तनिर्मुक्त निर्विभागमतीन्द्रियम्।
मूर्तमप्यप्रदेश च परमाणु प्रचक्षते ॥३२॥
एकदैकं रसं वर्ण गधस्पर्शाविवाधकौ।
दधन् स वर्ततेऽभेद्य शव्दहेतुरशव्दक ॥३३॥—ह० पु० ७ स०।

इसीसे हरिवश पुराणके कर्ताने हरिवंश पुराणके सर्ग ५ और ६वें अन्तमें 'प्रज्ञप्ति' नामसे तिलोयपण्णत्तिका ही उल्लेख किया प्रतीत होता है। यथा—

प्रज्ञप्ति श्रेणिक ज्ञाता द्वीपसागरगोचरा।
प्रज्ञप्ति श्रुणु सक्षेपाज्योतिर्लोकोर्व्वलोकयो ॥७३४॥
—ह० पु० स० ६।

तथा छठें सर्गके अन्तमें कहा है—

'ज्योतिर्लोक प्रकटपटलस्वर्गमोक्षोर्व्वलोक।
प्रज्ञप्युक्त नरवर मया सग्रहात् क्षेत्रमेवम्।'
—ह० पु० स० ६, १३९।

अत यह निश्चित है कि ह० पु० के कर्ताके सामने ति० प० वर्तमान थी। और वह प्राय उसी रूपमें वर्तमान थी, जिस रूपमें आज है। ह० पु० मे वीरसेन स्वामीको भी स्मरण किया गया है जो उस धवलाटीकाके कर्ता है जिसमें उन्होंने लोकको चतुरस्र स्थापित किया है। और तदनुसार हरिवश पुराणमें भी लोकको चतुरस्र माना है। वीरसेन स्वामीने भी धवलामें ति० प० का उल्लेख किया है। अत तिलोयपण्णत्ति वीरसेन तथा उनके लघु समकालीन हरिवंश पुराणकारके समयमें वर्तमान थी। पश्चात् उसमें किसीने मिलावट अवश्य की है। किन्तु उक्त गाथाओंके नीचे दिये गये श्लोक विल्कुल अनुवाद रूप हैं। आगे भी यही स्थिति है।

ति० प० (४।३०६) में चौरासी लाखसे गुणित महालता प्रमाणको 'सिरिकप्प' कहा है। इसका हिन्दी अनुवाद श्रीकल्प किया गया है। किन्तु

ह० पु० (७।३०) में 'शिर प्रकम्पित' दिया है। ति० प० मे सिरिकप्प' के पादटिप्पणमें 'सिरिकपे' और 'सिरकप' ये दो पाठान्तर दिये है। जिससे प्रकट होता है कि पुराणकारके सन्मुख ति० प० की जो प्रति थी उसमें 'सिरकप' पाठ था उसीका अनुवाद 'शिर प्रकम्पित' दिया गया है।

ति० प० के प्रथम अधिकारमें अगुल, पल्य वगैरहका वर्णन है और चौथेमें काल गणनाका कथन है। ह० पु० में इन दोनो कथनोको सातवें सर्गमे आगे पीछे दिया है।

ह० पु० में केवल संख्यात कालका ही वर्णन है। ति० प० अ० ४ में भी सख्यात तकका कथन तो गाथावद्ध है। आगेका कथन गद्यमें है। यह कथन हरि० पु० मे नही है। अत गद्य भाग उम समय भी ति० प० मे था या उसके पीछे उसे मिलाया गया यह नही कहा जा सकता। यह गद्य भाग तत्त्वार्थ वार्तिकके वर्णनसे मिलता है।

ति० प० के प्रथम अधिकारमे मानका कथन परमाणुसे प्रारम्भ किया है। उसमें परमाणुका स्वरूप बतलाने वाली (९५-१०१) छै गाथाएँ है जो पञ्चास्तिकाय आदिमें भी हैं। उनमेसे केवल तीन गाथाओका अनुवाद ह० पु० में है।

इससे यह भी प्रमाणित होता है कि ति० प० में जो अन्य ग्रन्थोकी गाथाएँ पाई जाती हैं वे उसमें पहलेसे ही है, पीछेसे सम्मिलित नही की गई है।

ह० पु० के छठे सर्गमें ज्योतिलोक ओर स्वर्गलोक तथा मिद्धलोकका सक्षिप्त कथन है। यह कथन भी ति० प० के अन्तिम तीनो ज्योतिर्लोकाधिकार, कल्पवासी लोकाधिकार और सिद्धलोकाधिकारका ऋणी है। हरि० पु० के कर्ताने ति० प० के इन तीनो अधिकारोकी कतिपय बातोको छठे सर्गमें एकत्र कर दिया है।

किन्तु ज्योतिर्लोकका वर्णन केवल ३३ श्लोकोमें किया है। उसमें ज्योतिपी देवोकी पृथ्वीमे ऊपर आकाशमें अवस्थिति, उनकी आयु, उनके विमानोका परिमाण, वर्ण और भ्रमण, तथा द्वीप समुद्रो पर उनकी अवस्थिति मात्रका कथन किया है। जहाँ यह कथन तिलोयपण्णत्तिसे मिलता है वहाँ उसमें कुछ अन्तर भी है और ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने शायद तत्त्वार्थवार्तिक (४–१२) का भी कुछ अनुमरण किया है। ति० प० और तत्त्वार्थवार्तिकमें आकाशमें ग्रहोके अन्तरालकी अवस्थितिको लेकर अन्तर है। यह कथन तो ह० पु० में ति० प० के ही अनुसार है किन्तु राहुके विमानका वाहुल्य २५० धनुप तत्त्वार्थवार्तिकके अनुसार है। ति० प० (७–१०३) में यह वाहुल्य लोकविनिश्चय कर्ताके मतानुसार मतान्तर रूपसे दिया हैं। इसके मिवाय ह० पु० में

बाह्य पुष्करार्धमें भी ७२ चन्द्र सूर्य बतलाये है। तत्त्वार्थवार्तिकमें भी ऐसा ही कथन है। किन्तु ति० प० मे पुष्करार्ध द्वीपके प्रथम वलयमें १४४ चन्द्र सूर्य बतलाये है। यह कथन वहाँ गद्यमे है।

इसी तरह वैमानिक देवोके वर्णनमें ति० प० में ऋतु नामक विमानकी चारो दिशाओमें ६२-६२ श्रेणीबद्ध बतलाये हैं और मतान्तरसे ६३-६३ बतलाये है। ह० पु० में ६३-६३ ही बतलाये है और तत्त्वार्थवार्तिकमें ६२-६२ ही बतलाये है। किन्तु प्रत्येक कल्पके विमानोकी सख्यामें कोई अन्तर नही है। वैमानिक देवोके वर्णनमें ह० पु० में सौधर्मादि स्वर्गोमें विमानोकी सख्या, उनका परिमाण, देवोमें उत्पन्न होने वाले जीव, लेश्या, अवधिका विषय, और देवोके उत्पत्ति स्थानोका कथन किया गया है प्राय' सब कथन ति० प० में है।

इस तरह ह० पु० के साथ ति० प० की तुलना करनेसे यह स्पष्ट है कि ह० पु० के कर्ताके सामने ति० प० थी और उन्होने छठे सर्गके अन्तमें प्रज्ञप्ति नामसे उसका निर्देश भी किया है यथा—'ज्योतिर्लोक' प्रकट पटल स्वर्ग-मोक्षोर्ध्वलोक, प्रज्ञप्त्युक्तं नरवर मया सगहात् क्षेत्रमेव'। उसके पश्चात् उसमें मेल किया गया है। उसमें जो गद्य भाग पाया जाता है उसकी स्थिति भी संदिग्ध प्रतीत होती है।

आगे अकलक देवके तत्त्वार्थवार्तिकसे भी प्रकृत विषय पर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है।

तिलोयपण्णत्ति और तत्त्वार्थवार्तिक

तत्त्वार्थसूत्रके तीसरे और चौथे अध्यायमें जीवोके निवासस्थानके रूपमें अधो-लोक, मध्यलोक, और ऊर्ध्वलोकका सूत्रात्मक वर्णन है। अकलकदेवने उसके आधार पर अपने तत्त्वार्थवार्तिकमे तीनो लोकोका कुछ विस्तारसे कथन किया है। जिसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

तत्त्वार्थवार्तिक (३-२०)में लोकको 'सुप्रतिष्ठक सस्थान' बतलाया है तथा ऊर्ध्वलोकको मृदगाकार, अधोलोकको वेत्रासनके आकार और मध्यलोकको झल्लरीके आकार बतलाया है। तथा आगे नीचेसे ऊपर तक लोकका विस्तार हानि वृद्धिके साथ दिया है। ति०प०के प्रथम अधिकारमे न तो लोकको 'सुप्रति-ष्ठक सस्थान कहा है और न मध्यलोकको झल्लरीके आकार बतलाया है। हाँ, लोकका विस्तार हानि वृद्धिके साथ जो दिया है वह तत्त्वार्थवार्तिकसे मेल खाता है। किंतु त०वा०में लोकको प्रतरवृत्त और चतुर्दशरज्जु आयाम मात्र बतलाया है। उत्तर-दक्षिण विस्तार उसमें नही बतलाया जैसा कि ति०प०में बतलाया है

है। ति०प० (२–२५)में स्पष्ट लिखा है कि अधोलोक पूर्व-पश्चिम दिशामें वेत्रासनके आकार है और उत्तर-दक्षिण लम्बा है। तत्त्वार्थवार्तिकमें केवल वेत्रासनकार अधोलोक वतलाया है दिग्भागका उल्लेख वहाँ नही है।

अधोलोकके वर्णनमें सातो पृथिवियोका वाहुल्य ति०प० (२–२२)के अनुकूल है। गाथा २३में जो अन्य मत दिया है वह दिगम्वर साहित्यमे अन्यत्र नही मिलता। विलोकी संख्या, प्रमाण वगैरह भी तुल्य है। किन्तु ति०प० (२–२९)मे पाँचवी पृथिवीके तीन वटे चार विलें उष्ण और चतुर्थांश विलें शीत वतलाये हैं जवकि त०वा० (पृ० १६४) मे दो भाग विलें उष्ण, एक भाग शीत वतलाये हैं। इसी तरह नरकोका वाहुल्य वतलानेके लिए तत्त्वा०-वा० (पृ० १६३)में दो गाथाओकी सस्कृत छाया दी है। वे गाथाएँ किस ग्रन्थ की है यह ज्ञात नही हो सका। नरकोमें स्थिति तो ति०प०के अनुकूल ही वतलाई है। किन्तु शर्करा प्रभा आदि पृथिवियोके प्रत्येक पटलमे आयुका प्रमाण लानेके लिए जिस करण सूत्रकी सस्कृत छाया दी है वह ति०प०से भिन्न है। उसकी मूल गाथा वृहत्सग्रहणीमे सगृहीत है। कौन जीव किस नरक तक उत्पन्न होता है यह कथन दोनोंमे समान है। किन्तु नरकमे निकलकर मनुष्य तिर्यञ्चोमे उत्पन्न होने वाले जीवोकी अभ्युन्नतिका जो कथन है उसमे सातवें नरकसे निकलने वालोंके सम्वन्धमे अन्तर है। ति०प०के अनुसार ऐसे जीव सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं और तत्त्वार्थवार्तिकमें उसका स्पष्ट निषेध है।

मध्यलोकके वर्णनमें त०वा०मे जम्बूद्वीपका वर्णन विस्तारसे किया है। ति०प०में जम्बूद्वीपमें वेदिकाका वर्णन वहुत विस्तृत है, त०वा०में वहुत सक्षिप्त है। जो है वह ति०प०के अनुकूल है। विजयार्ध पर्वतका वर्णन भी प्राय समान है।

त०वा०में (पृ० १७३-१८१) विदेह क्षेत्रका वर्णन वहुत विस्तारसे किया गया है। उसीमें मेरु पर्वतका भी विस्तृत वर्णन है। यह वर्णन जहाँ ति०प०से मिलता है वहाँ कुछ अन्तरको भी लिये हुए है। सुमेरु पर्वतके ऊपर पाण्डुक वनमे स्थित पाण्डुक आदि शिलाओंका जो विस्तार [1]त०वा०में वतलाया है, ति० प० (४।गा० १८२१) के अनुसार वह सगायणी आचार्यका मत है। इसी

---

१ 'ता एताश्चतस्रोऽपि पञ्चयोजनशतायामतदर्ध विष्कम्भाश्चतुर्योजन वाहुल्या'
—त०वा० पृ० १८०

चउजोयण उच्छेह् पणसयदीह तदद्धविस्तार।
सग्गायणि आइरिया एवं भासति पडुसिलं ॥१८२१॥—ति प० ४।

तरह त०वा०[1]में मेरुस्थ जिनालयोमें स्थित देवच्छन्दका जो विस्तार बतलाया है ति० प० (४।१८६६) के अनुसार वह लोकविनिश्चयके कर्ताका मत है। त०वा०में नन्दनादिवनों[2]में प्रासादोंका जो विस्तार और ऊँचाई बतलाई है ति० प० (४-१९७५) के अनुसार वह भी लोकविनिश्चयके कर्ताका मत है। त०वा०मे बलभद्र नामक कूट नन्दनवनमे बतलाया है सौमनसमें नही बतलाया। किन्तु ति०प०में दोनो वनोमें बतलाया है। त०वा०में बलभद्रकूट[3]की ऊँचाई एक हजार योजन, मूलमें विस्तार एक हजार योजन, और अग्र विस्तार पाँच सौ योजन है। ति०प० (४।१९८२) के अनुसार यह भी लोक विनिश्चयका मत है। किन्तु त०वा०में वक्षार पर्वतोकी ऊँचाई नील निषध पर्वतके समीपमें चार सौ योजन और क्रमसे बढते बढते मेरुके पासमे पाँच सौ योजन बतलाई है। ति० प० (४-२०१८-१९) में बिल्कुल इतनी ही बतलाई है और लोक-विनिश्चयमें निषध नीलके समीप २५०, मेरुके पासमें ५०० योजन बतलाई है। यह कथन त०वा०का लोकविनिश्चयसे नही मिलता, ति० प० से मिलता है।

त०वा० (पृ० १७५) मे सौ काचंनाद्रि बतलाये हैं। ति० प० (४।२११६-१७) में इसे कुछ आचार्योका मत कहा है।

लवण समुद्रका वर्णन यो तो दोनोंमें समान है किन्तु कई बातोंमें अन्तर है। त०वा०में (पृ० १९३) १००८ पातालोके अन्तरालमें और भी पाताल बतलाये हैं। और कुल पाताल ७८८० बतलाये हैं। ति० प० (४।२००९) में १००८ ही पाताल बतलाये हैं। ति० प० (४।२४३६) में स्वभावसे ही शुक्ल पक्षमें जलकी वृद्धि और कृष्ण पक्षमें हानि बतलाई है किन्तु त०वा०में इसका कारण

---

१ 'अर्हदायतन-मध्य-देशनिवेशिन षोडशयोजनायाम-तदर्धविष्कम्भोच्छ्रया रत्नमया देवच्छन्दा ।'—त०वा०, पृ० १७८।

सोलसकोसुच्छेह समचउरस्सं तदद्धवित्थार।
लोयविणिच्छयकत्ता देवच्छंद परूवेई ॥१८६६॥—ति० प० ४।

२. 'तेषामुपरि द्विषष्ठियोजन-द्विगव्यूतोच्छ्राया सक्रोशैस्त्रिंशत् योजनविष्कम्भास्तावत्प्रवेशा एवाष्टौ प्रासादा ।'—त वा, पृ. १७९।

'वासो पणघणकोसा तद्दुगुणा मंदिराण उच्छेहो।
लोयविणिच्छककत्ता एवं माणे परूवेदि ॥१९७५॥'—ति० प० ४।

३ 'नन्दनवने बलभद्रकूटं योजनसहस्रोच्छ्रायं मूलमध्याग्रेषु योजनसहस्रार्धष्टमयोजनशतपञ्चयोजनशतविस्तारम्'—त०वा०, पृ० १७९।

'दसविद भूवासो पचसया जोयणाणि मुहवासो।
एवं लोयविणिच्छय सग्गायणिए मुदीरेदि ॥१९८२॥'—ति० प० ४।

वायु कुमार देवो और उनकी देवांगनाओकी क्रीडाके कारण पातालोमें वायुका सक्षोभ होनेसे जलकी वृद्धि हानि बतलाई है।

जम्बूद्वीपके सिवाय अन्य द्वीपोंका तो बहुत ही सक्षिप्त वर्णन त० वा० में हैं। नन्दीश्वर द्वीपके वर्णनमें त० वा०[1] (पृ० १९८) में वापिकाओके चारो कोनो पर चार रतिकर बतलाये है। ति० प० (५।६७) में वापियोके दोनो बाह्य कोनोमें दो रतिकर बतलाये है और आगे लिखा है कि वे रतिकर प्रत्येक वापी के चार चार कोनोमें चार होते है ऐसा लोक विनिश्चय कर्ता कहते हैं।

त० वा० (१९९) में कुण्डलवर द्वीपके मध्यमें स्थित कुण्डलवर पर्वतका वर्णन है। ति० प० (५।१२५) में लिखा है कि लोक विनिश्चयके कर्ता कुण्डल पर्वतका वर्णन अन्य प्रकारसे करते हैं उसे हम कहते हैं। और फिर इक्कीस गाथाओसे उस वर्णनको कहा है। यह वर्णन त० वा० के वर्णनसे शब्दश मिलता है। इसी तरह ति०प० (५।१६७)में कहा है कि लोकविनिश्चयके कर्ता रुचकवर पर्वतका वर्णन अन्य प्रकारसे करते है उसे कहते है। त०वा०मे भी रुचकवर पर्वतका वर्णन है जो लोकविनिश्चयगत वर्णनसे मिलता है।

ज्योतिषी देवोके वर्णनमें समतलसे चन्द्र, सूर्य आदिके विमानोकी दूरी बतलानेके लिए त०वा० (पृ० २१९)में जो गाथा उद्धृत की है वह ति०प०में नही है। साथ ही कुछ नक्षत्रोके अन्तरालमें भी अन्तर है।[2]त०वा० (पृ० २१९ में राहुविमानका बाहुल्य अढाई सौ धनुष है। ति०प० (७।२०३)के अनुसार यह लोकविनिश्चयके कर्ता आचार्यका कथन है। तत्त्वार्थवार्तिकमें ज्योतिषी देवोके विमानोका बाहुल्यादि, उनका परिवार, चार क्षेत्र, सूर्य, चन्द्रका मुहूर्तगति क्षेत्र, पुष्कर द्वीप पर्यन्त प्रत्येक द्वीप और समुद्रमें चन्द्र और सूर्यकी सख्या आदिका कथन है। ति०प० (अ० ७, पृ० ७६१)में बाह्य पुष्करार्ध द्वीपके प्रथम वलयमें चन्द्र और सूर्योका प्रमाण १४४, १४४ बतलाया है। किन्तु त०वा० (पृ० २२०)में बाह्य पुष्करार्धमें चन्द्र, सूर्य केवल ७२-७२ ही बतलाये हैं।

---

१ 'एतद् वापीकोणसमीपस्था प्रत्येकं चत्वारो नगा रतिकराख्या'—त०वा०, पृ० १९८। 'ते चउचउकोणेसु एक्केक्कदहस्स होति चत्तारि। लोगविणिच्छयकत्ता एव णियमा परूवेंति' ॥६९॥—ति०प० ५।

२ 'राहुविमानान्येकयोजनायामविष्कम्भाण्यर्धतृतीयधनु शतबाहुल्यानि'—त०वा०, पृ० २१९। पण्णासाधियदुसया कोदडा राहुणयरबहलत्त। एवं लोयविणिच्छय कत्तायरिओ परूवेदि ॥२०३॥—ति०प० ७।

ति०प०के आठवें अधिकारमे मतान्तर रूपसे सोलह कल्पोका कथन है। त०वा०मे (४।१९) सोलह कल्पोका ही कथन है। और वह कथन ति०प०से मिलता है। इन्द्र विमानोके नामोंके क्रममें कही-कही अन्तर है। १६ कल्पवाले भी बारह ही इन्द्र मानते हैं। सर्वार्थसिद्धिमे तथा ति०प०में भी बारह इन्द्र बतलाये हैं। किन्तु त०वा०मे लिखा[1] है कि लोकानुयोगके उपदेशसे चौदह इन्द्र कहे किन्तु यहाँ बारह ही लिखे गये हैं क्योकि पूर्वोक्त क्रमसे ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, महाशुक्र और सहस्रार इन्द्र दक्षिणेन्द्रके अनुवर्ती होते हैं और आनत तथा प्राणत कल्पमें एक-एक इन्द्र होता है।

त०वा० (पृ० २२६)में देवसेनाओकी सख्याके सम्बन्धमें लिखा है कि इन छहो सेनाओकी सख्या पदातियोंकी सख्याके समान होती है। यह संख्या विक्रियाकृत है। प्राकृत सख्या तो एक-एक सेनाकी छसौ है।' ति०प० (८। २७०)में इसे लोकविनिश्चयके कर्ताका मत बतलाया है। इसी तरह त०वा० (पृ० २२५)में सौधर्मेन्द्रकी देवियोका जो प्रमाण बतलाया है, ति०प० (८। ३८६)के अनुसार वह भी लोकविनिश्चय ग्रन्थका कथन है।

त०वा० (पृ० २०६-२०७)में संख्या प्रमाणका कथन करते हुए उत्कृष्ट सख्यात, असख्यात और अनन्तका प्रमाण लानेकी रीति बतलाई है। तत्पश्चात् उपमा प्रमाणके आठ भेदोका कथन किया है। ति०प०के प्रथम अधिकारके प्रारम्भमें उपमा प्रमाणके आठ भेदोका कथन है और चतुर्थ अधिकारमे सख्याप्रमाणका कथन गद्य द्वारा किया गया है। प्रकरण चलता है व्यवहारकाल का। व्यवहार कालके प्रसगसे सख्यातादि राशियोकी उत्पत्तिको भी ला घुसेणा है। यदि बीचमें रखे इस गद्य भागको निकाल दिया जाये तो वर्णनमें कोई हानि नही पहुँचती। अत यह पीछेसे सम्मिलित किया गया जान पडता है। यह प्राकृत गद्य, तत्त्वार्थवार्तिककी सस्कृत गद्यसे बहुत मिलती-जुलती हुई है। दोनोका मिलान करनेसे यही प्रतीत होता है कि एक दूसरेका रूपान्तर है। किन्तु अनन्त राशिके भेदोंकी उत्पत्तिके कथनमें दोनोमे अन्तर भी है। दोनोका आरम्भिक भाग यहाँ दिया जाता है।

'सख्येयप्रमाणावगमार्थं जम्बूद्वीप-तुल्यायाम-विष्कम्भा योजनसहस्रावगाहा बुद्धया कुशूलाश्चत्वार कर्तव्या शलाका-प्रतिशलाका-महाशलाकाख्यास्त्रयोऽ-

---

१ 'त एते लोकानुयोगोपदेशेन चतुर्दशेन्द्रा उक्ता। इह द्वादश इष्यन्ते पूर्वोक्तेन क्रमेण ब्रह्मोत्तर-कापिष्ठ-महाशुक्र-सहस्रारेन्द्राणा दक्षिणेन्द्रानुवर्तित्वात् आनत-प्राणतकल्पयोश्च एकैकेन्द्रत्वात्।'—त०वा०, पृ० २३३।

वस्थिता चतुर्थोऽनवस्थित । अत्र द्वौ सर्षपौ निक्षिप्तौ जघन्यमेतत् संख्येयप्रमाणम् ।'–त०वा०, पृ० २०६ ।

'एत्थ उक्कस्स संखेज्जय जाणणिमित्तं जम्बूद्वीपवित्थारं सहस्सजोयणउव्वेध पमाणचत्तारि सरावया कादव्वा सलागा पडिसलागा महासलागा । एदे तिण्णि वि अवट्ठिदा चउत्थो अणवट्ठिदो । एदे सव्वे पण्णाए ठविदा । एत्थ चउत्थसरावय-अब्भतरे दुवे सरिसवे त्थुदे त जहण्णय सखेज्जयं जाद ।'–ति०प०, पृ० १७९ । अस्तु,

ति०प० और त०वा०के तुलनात्मक अध्ययनमे तो यही प्रकट होता है कि अकलकदेवके सामने तिलोयपण्णत्ति नही थी, वल्कि लोकविनिश्चय था ।

उक्त चर्चाका उपसंहार

उक्त चर्चासे यही निष्कर्ष निकलता है कि चूँकि वीरसेन स्वामीने तिलोय-पण्णत्तिका निर्देश किया है अत उससे पहले तिलोयपण्णत्ति रची जा चुकी थी । वीरसेन स्वामीके समकालीन हरिवशपुराणके साथ उसके तुलनात्मक अध्ययनसे यह भी स्पष्ट है कि हरिवंगपुराणकारके सामने ति०प० थी और वह वहुत कुछ उसी रूप में थी जिस रूपमें वर्तमान है । किन्तु पश्चात् उसमें मिश्रण किया गया है । अकलंकदेवके सामने ति०प० उपस्थित नही थी किन्तु जिस लोक-विनिश्चयके मतोंका उल्लेख ति०प० में है वह होना चाहिये । ह०पु० (शक स० ७०५)से एक शताव्दी पूर्व अकलकदेव हुए हैं । अत ति०प०की रचना उन्ही-के समयके लगभग या उससे कुछ पूर्व होनी चाहिये ।

मिलावट किसने की

ति० प० के चौथे अध्याय के मध्य में जहाँ चौवीस तीर्थंकरों के निर्वाण का कथन समाप्त होता है, एक पद्य वसन्ततिलका छन्द में आया है जो इस प्रकार है—

घोरट्ठकम्मणियरे दलिदूण लद्ध णिस्सेयसा जिणवरा जगवदणिज्जा ।
सिद्धि दिसतु तुरिदं सिरिवालचंदसिद्ध तियप्पहुदि भव्वजणाण सव्वे ॥१२११॥

'जिन्होंने घोर अष्ट कर्मोंके समूहको नष्ट करके निश्रेयस पदको प्राप्त कर लिया है और जगतके वन्दनीय हैं, ऐसे वे सर्व जिनेन्द्र शीघ्र ही श्री वालचन्द सैद्धान्तिक आदि भव्य जनोको मुक्ति प्रदान करें ।'

इसके पश्चात् प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें हुए अनुवद्ध केवलियोकी सख्या दी गई है । अत मध्यमें पडा हुआ उक्त पद्य मूल ग्रन्थकारका तो हो ही नही सकता क्योंकि एक तो वालचन्द्र सैद्धान्तिकका नाम है । दूसरे उसकी स्थिति भी

विचित्र है। साथ ही पद्यको देखनेसे यह भी स्पष्ट है कि पद्यकार अवश्य ही प्रकृत पद्य रचनामें चतुर है। यदि उसमें किसी व्यक्तिका नाम न होता तो उसे मूल ग्रन्थकारकी रचना मान लेनेमें कोई बाधा नही थी।

उसने यदि अन्य भी कुछ पद्य रचकर मूल ग्रंथमे सम्मिलित कर दिये हो तो कोई अचरजकी बात नही है। वह व्यक्ति या तो स्वय बालचन्द्र सैद्धांतिक या उनका कोई शिष्य हो सकता है।

श्री नाथूरामजी प्रेमीका अनुमान है कि इन बालचन्द्र सैद्धातिकने ग्रंथमें मिलावट की है। उन्होने लिखा[1] है—'इनके सैद्धान्तिक विशेषणसे मालूम होता है कि ये कोई साधारण प्रति लेखक नही हो सकते। सिद्धान्त शास्त्रोके ज्ञाताओ-की ही यह पदवी होती है। इससे आश्चर्य नही जो ये बालचन्द्र सैद्धान्तिक वीरसेन जिनसेनके अनुयायी हो और इन्होने ही तिलोयपण्णत्तिमें कुछ बातें धवलादिसे अन्यथा देखकर उसका सशोधन परिवर्धन करके उसे वर्तमान रूप दे दिया हो और फिर उनके इस संस्कार किये हुए ग्रथकी ही प्रतिलिपियाँ सर्वत्र पहुँच गई हो।'

प्रेमीजीका उक्त विचार असंगत नही प्रतीत होता। ऐसा होना संभव है। उन्होंने बालचन्द्र सैद्धान्ति नामके विद्वानोका परिचय कराते हुए लिखा है कि 'बालचन्द्र सैद्धान्तिक नामके अनेक विद्वान हो गये हैं। उनमेंसे एकका उल्लेख काम्बदहल्लीमें कम्बदराय स्तम्भमें मिलता है। उनका समय श० स० १०४० (वि० स० ११७५) है। उनके गुरुका नामा राद्धान्तार्णवपारग अनन्तवीर्य और शिष्यका नाम सिद्धान्ताम्भोनिधि प्रभाचन्द्र था।

एक और बालचन्द्र हुए हैं जो भावत्रिभगीके कर्ता श्रुत मुनिके गुरु और अभयचन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य थे। कर्नाटक कविचारितके कर्ता ने इनका समय विक्रमकी चौदहवी शताब्दी बतलाया है। इन्होने द्रव्य संग्रहकी टीका श० सं० ११९५ (वि० स० १३३०) में लिखी है और अपने गुरुका नाम अभयचन्द्र बत-लाया है।'

श्वे० जम्बूद्वीपपण्णत्ति[2]

जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण से भी पूर्वमें सकलित किये गये कुछ ग्रंथ है जो उपाग कहे जाते है। उनमें एक उपाग जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति भी है। श्वेताम्बर

---

१ जै० सा० इ०, पृ० १६।

२. यह ग्रंथ शान्ति चन्द्ररचित सस्कृत वृत्तिके साथ श्रेष्ठि देवचन्द लालचन्द भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बईकी ओरसे वि० स० १९७६ मे प्रकाशित हुआ है।

परम्पराके अनुसार उसका सकलन भी वलभी वाचनाके समय किया गया था। उसका परिचय भी दिया जाता है।

इस ग्रथका आरम्भ पचनमस्कार मत्रसे होता है।

यह ग्रथ अन्य अग ग्रथोकी तरह गद्यात्मक सूत्रोमें रचा गया है। भाषा अर्धमागधी है। अग सूत्रोकी तरह ही इसके प्रारम्भमें कहा गया है कि उस कालमें उस समय मिथिला नामकी समृद्ध नगरी थी। उसके बाहर उत्तर पूर्व दिशामें माणिभद्र नामका चैत्य था। वहाँके राजाका नाम जितशत्रु और रानी-का नाम धारिणी था। उस समय वहाँ भगवान महावीर स्वामीका समवसरण आया। परिषद् आई। धर्मका उपदेश हुआ। परिषद् चली गई। उस कालमें उस समय श्रमण भगवान महावीरके ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति नामक अनगार थे। उनका गोत्र गौतम था। वे सात हाथ ऊँचे थे और समचतुरस्र संस्थानसे सहित थे। उन्होने तीन बार दाहिनी ओरसे भगवानकी प्रदक्षिणा-की वन्दना की और नमस्कार किया। वन्दना और नमस्कार करके वे बोले भगवन् जम्बूद्वीप कहाँ है, वह कितना बडा है और किस आकारका है? भगवान् बोले—गौतम! यही जम्बूद्वीप है। यह सब द्वीपो और समुद्रोके मध्य-में है। सबसे छोटा है। तेलमें पकाये हुए पुएकी तरह गोल है। रथके पहिए-के घेरेकी तरह गोल है। कमलकी कर्णिका तरह गोल है। पूर्णमासीके चन्द्रमा-की तरह गोल है। उसका आयाम और विस्तार एक लाख योजन है। तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष, और कुछ अधिक साढे तेरह अगुल प्रमाण उसकी परिधि है (सू० ३)।

इस तरहसे इस ग्रंथका प्रारम्भ होता है। गौतम प्रश्न करते हैं और भगवान उसका उत्तर देते है। ९ सूत्र तक तो जम्बूद्वीपके बाह्य भागमें स्थित वेदिका वगैरहका ही वर्णन है। १०वें सूत्रसे भरत क्षेत्रका वर्णन आरम्भ होता है। इसे पहला अधिकार समझना चाहिये। १७वें सूत्र तक यह अधिकार समाप्त हो जाता है। ८ सूत्रोमें भरत क्षेत्र, वैताढ्य पर्वत, पर्वत पर स्थित सिद्धायतन कूट, दक्षिणार्ध भरतकूट, उत्तरभरत और ऋषभकूटका वर्णन है।

दूसरे अधिकारमें भरतक्षेत्रमें प्रवर्तित छै कालोका वर्णन है। १८वें सूत्रमे कुछ गाथाएँ भी है जिनके द्वारा आवलि, उच्छ्वास, निश्वास आदिका स्वरूप कहा है। सूत्र १९ में पल्योपम और सागरोपमका कथन है। इसमें परमाणुका स्वरूप बतलाने वाली 'सत्थेण सुतिक्खेण वि' आदि गाथा दी है, जो तिलोयपण्णत्ति (१-९) में अनुयोग द्वार सूत्रमें, और ज्योतिष्करण्ड (२–७३) तथा अन्य भी ग्रन्थोमें पाई जाती है।

सूत्र २०मे भरत क्षेत्रमें प्रवर्तित अवसर्पिणी कालके प्रथम सुषमसुषमा कालमें होनेवाली दशाका वर्णन है। सूत्र २०मे कल्पवृक्षका स्वरूप वतलाया है। सूत्र २१ में भोगभूमिमे उत्पन्न हुए युगलोके शरीरादिका कथन है। इस तरह २७वें सूत्र तक भोगभूमिज जीवोका कथन है। सूत्र २८ मे कहा है कि तीसरे कालमें पल्यका आठवा भाग काल शेष रहने पर पन्द्रह कुलकर उत्पन्न होते हैं। भगवान ऋषभदेवको १५वाँ कुलकर वतलाया है। सूत्र २९ में कुलकरोके द्वारा स्थापित दण्ड व्यवस्थाका वर्णन है। सूत्र ३०–३३ में भगवान ऋषभदेव के जन्म और दीक्षा वगैरहका कथन है। सूत्र ३४–३६ मे चौथे, पाचवे और छठे कालका कथन है। सूत्र ३७–४०में उत्सर्पिणी कालका कथन है। यहाँ दूसरा कालाधिकार समाप्त हो जाता है।

तीसरे अधिकारमे सूत्र ४१ से ७१ तक चक्रवर्ती भरतकी दिग्विजय तथा विभूति वगैरहका वहुत विस्तारसे सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें वाहुवलिके साथ होने वाले युद्धकी कोई चर्चा ही नही है। अन्तमें भरतके वैराग्यका वर्णन करते हुए कहा है कि एक दिन भरत महाराज मज्जन गृहसे निकल कर आदर्श गृहमे प्रविष्ट हो आत्म निरीक्षण करने लगे। उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शनकी प्राप्ति हो गई तव उन्होंने आभरणादि त्यागकर पचमुष्टि लोच किया और आदर्श गृहसे निकल कर प्रव्रज्या धारण की। अन्तमें उन्होने निर्वाण लाभ किया। चौथे अधिकारमें सूत्र ७२ से १११ सूत्र पर्यन्त हिमवान आदि पर्वतोका तथा हैमवत आदि क्षेत्रोका वर्णन है।

पाचवें अधिकारमे जिनेन्द्र देवके जन्माभिषेकका कथन है। छठेमें भरतक्षेत्र प्रमाण जम्वूद्वीपके खण्ड उनका क्षेत्रफल, वर्षसंख्या, पर्वतसख्या, विद्याधर श्रेणि सख्या, आदि सख्याओका कथन है।

सातवें अधिकारमें चन्द्र सूर्य आदिकी सख्याको वतलाकर सूर्य मण्डलोकी सख्या, उनका क्षेत्र, अन्तर, विस्तार, दिन-रात्रिका मान, ताप क्षेत्र चन्द्र मण्डलो और नक्षत्र मण्डलोकी सख्या आदिका कथन है।

आठवें अधिकारमें नक्षत्र सवत्सर, युग सवत्सर, प्रमाण सवत्सर, लक्षण सवत्सर और शनिश्चर सवत्सर इन पाँच सवत्सरोका निर्देश करके प्रत्येकके भेद वतलाये हैं। फिर सवत्सरके मासोका उल्लेख करके श्रावणसे लेकर आसाढ पर्यन्त मास नामोको लौकिक वतलाया है।

इनके लोकोत्तर नाम इस प्रकार वतलाये हैं—१ अभिनन्दित, २ प्रतिष्ठ, ३ विजय, ४ प्रीतिवर्धन, ५ श्रेय-श्रेय, ६ शिव, ७ शिशिर, ८ हेमन्त, ९ वसन्त, १० कुसुम सभव, ११ निदाघ, १२ वनविरोध। इसी प्रकार १५ दिन और

उनकी तिथियोके तथा १५ रात्रि और उनकी भी तिथियोंके नामोका उल्लेख किया है।

नौवे अधिकारमें २८ नक्षत्रोंके नामोका निर्देश करके योग, देवता, गोत्र, सस्थान, चन्द्रसूर्ययोग, कुल, पूर्णिमा, अमावस्या, और सन्निपात, इनके आश्रयसे उनका विशेप कथन किया है।

दसवें अधिकारमे चन्द्रसूर्य विमानोके नीचे-ऊपर ताराओके विविध रूप उनका परिवार, मेरुसे अन्तर, लोकान्तसे अन्तर, पृथिवीतलसे अन्तर, अन्य नक्षत्रोका पारस्परिक अन्तर, वाह्य एवं नीचे ऊपर नक्षत्रोका सचार, विमानोकी आकृति तथा प्रमाण, उनके वाहक देव, गति, ऋद्धि, तारान्तर स्थिति वगैरहका कथन है।

ग्यारहवें अधिकारमें जम्बूद्वीपके तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वलदेव और वासुदेवोकी जघन्य तथा उत्कर्पसे संख्या वतलाकर यह वतलाया है कि चक्रवर्ती कितनी निधियो और रत्नोका उपभोग करता है। अन्तमें जम्बूद्वीपके आयाम आदि वतलाकर उसकी शाश्वतता और अशाश्वतताकी चर्चाकी है।

सूत्र ४ में जीवाभिगम नामक सूत्रका नाम आया है।

सूर्य प्रज्ञप्ति[1]

यह भी एक उपाग है। इसका प्रारम्भ भी विल्कुल जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिकी ही तरह उन्ही शब्दोमें और उसी रूपमे हुआ है। इसमे वीस प्राभृत है। उनमें वर्णित विपयोंकी सूचना प्रारम्भमें ही पाच गाथाओके द्वारा कर दी गई है। जो इस प्रकार है—

१ सूर्य वर्पभरमें कितने मण्डल चलता है। २ सूर्य तिर्यग्गमन कैसे करता है ३ सूर्य कितने क्षेत्रको प्रकाशित करता है। ४ प्रकाशकी स्थिति कैसी है। ५. सूर्यकी लेश्या (तेज) कहाँ प्रतिहत होती है। ६. सूर्यके ओजकी कैसी स्थिति है। ७ सूर्यके वरणके विपयमें विप्रतिपत्तिया, ८ सूर्यके उदयके विषयमें विप्रतिपत्तियाँ ९. सूर्यकी पौरुषी छायाका प्रमाण। १० सूर्यका नक्षत्रादिके साथ योग ११. सवत्सरोका आदि। १२ सवत्सर कितने हैं। १३ चन्द्रमाकी वृद्धि-हानि। १४ चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना सवसे अधिक कव होती है। १५ चन्द्र सूर्य वगैरहमें शीघ्रगति कौन है। १६ चन्द्रकी लेश्या। १७ चन्द्र सूर्य वगैरहका च्यवन और उत्पत्ति। १८ भूमितलसे उनकी ऊँचाई। १९ चन्द्र सूर्य वगैरहकी सख्या। २० चन्द्रादि का स्वरूप।

---

१ सूर्य प्रज्ञप्ति मलयगिरिकी सस्कृत टीकाके साथ आगमोदय समितिसे प्रकाशित हुई है।

एक-एक प्राभृतके अन्तर्गत अनेक प्राभृत प्राभृत नामक अवान्तर अधिकार है। उनकी सख्या बीस तक है। अत कोई प्राभृत छोटे है तो कोई वडे भी है। जैसे पहला, दसवा और वारहवा प्राभृत वडे है। तीसरा चौथा, पाचवा वगैरह छोटे है। इन प्राभृतोंमें जो प्रकृत विपयमें प्रचलित मतान्तर दिये गये है वे महत्त्वपूर्ण हैं।

चन्द्र प्रज्ञप्ति

यह तो सूर्य प्रज्ञप्तिकी नकल है। यत उसमें चन्द्र और सूर्य दोनोका कथन है इसलिये उसी ग्रन्थको दो नामोसे प्रसिद्ध कर दिया जान पडता है। दोनोंके आरम्भ में थोडा अन्तर है। चन्द्र प्रज्ञप्तिके प्रारम्भमें कुछ गाथाएँ हैं जिनमें अधिकार परक गाथाएँ भी है जो सूर्य प्रज्ञप्तिमें भी है। उसके वाद जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वाली उत्थानिका है। सूर्यप्रज्ञप्तिमे पहले उत्थानिका पीछे अधिकार सूचक गाथाएँ हैं। केवल इतना ही अन्तर है। शेप अन्त पर्यन्त ज्योकी त्यो है।

ज्योतिष्करण्ड

श्री ऋपभ देवजी केशरी मल्लजी श्वेताम्बर सस्था रतलामने प्रकाशित पचाशक आदि मूल ग्रन्थोंके सग्रह में प्रकाशित ज्योतिष्करण्डके ऊपर 'पूर्वभृद्वालभ्य-प्राचीन-तदाचार्य-रचित ज्योतिष्करण्डम् छपा हुआ है। जो वतलाता है कि वालभ्य वाचनाके अनुयायी किसी प्राचीन आचार्यने इसकी रचना की थी।

इसमें २१ अधिकार हैं—१ काल प्रमाण, २ सवत्सर प्रमाण, ३ अधिकमास निष्पत्ति, ४ पर्वतिथि समाप्ति, ५ अवमरात्र, ६. नक्षत्र परिमाण, ७ चन्द्र सूर्य परिमाण, ८ चन्द्र सूर्य नक्षत्रगति, ९ नक्षत्रयोग, १० चन्द्र सूर्य मण्डलविभाग, ११ अयन, १२ आवृत्ति, १३ मण्डलमें मुहूर्तगति परिमाण, १४ ऋतु परिमाण, १५ विपुव, १६ व्यतिपात १६ तापक्षेत्र, १८ दिवस वृद्धि, १९ अमावस्या पौर्णमासी, २० प्रणष्ट पर्व और २१ पौरुपी। ग्रन्थके प्रारम्भमें ही गाथा २-५ के द्वारा ग्रन्थकारने उक्त अधिकार गिना दिये हैं। प्रथम गाथामें कहा है कि सूरपन्नत्ती (सूर्य प्रज्ञप्तिमें) जो कथन विस्तारसे किया है उसे यहाँ सक्षेपमें कहूँगा। अन्तिम गाथामें कहा है कि पूर्वाचार्योंने शिष्यजनोंके वोधके लिये दिनकर पण्णत्ती (सूर्य प्रज्ञप्ति) मे यह कालज्ञान संक्षेपमें लाया गया है। अत यह स्पप्ट है कि इस ग्रन्थकी रचना सूर्य प्रज्ञप्तिके आधारसे की गई है। इसमें कुल ३७६ गाथाएँ हैं।

प्रथम काल प्रमाणमें केवल पाँच गाथाएँ हैं। जिनके द्वारा वतलाया है कि सवसे सूक्ष्म काल समय है। असख्यात समयोका एक उच्छ्वास और उतने ही का एक निश्वास होता है। एक उच्छ्वास और एक निश्वासोंका एक प्राण होता है।

सात प्राणोका एक स्तोक, सात स्तोकोका एक लव, साढे अडतीस लवकी एक नाली होती है। इस नालीका आकार आदि कालमान नामक दूसरे अधिकारमें वतलाये है। लिखा है—अनारके फूलके आकारकी लोहेकी नाली वनवानी चाहिये। उसके तलमें छिद्र करना चाहिये। छिद्र वनानेका भी विघान किया है। फिर उसमें पानी डालनेका भी प्रमाण वतलाया है। इस नालिकाके द्वारा उस समय कालको जाना जाता था। दो नालीका एक मुहूर्त होता था। यह कथन तो अन्य भी ग्रन्थोमें मिलता है किन्तु नालीकी उपपत्ति अन्यत्र नही मिलती। तत्त्वार्थ वार्तिक (४-२०५-२०६) में जो प्रतिमानका कथन है वह विलकुल ज्योतिष्करण्डके कालमान सम्बन्धी कथनसे मिलता है किन्तु उसमें भी नालीकी उपपत्ति नही दी है। इस काल मान नामक दूसरे अधिकारमे ८० गाथाएँ है। कालका मान जानने के लिये यह अधिकार वहुत उपयोगी है। इसकी अनेक गाथाएँ अन्य ग्रन्थोंमें भी मिलती हैं।

तीसरे अधिकमास नामक अधिकारमे केवल तीन गाथाएँ है। उसमें वतलाया है कि चन्द्रमास और सूर्यमासमें जितना अन्तर है उसको तीससे गुणा करने पर अधिकमासकी निष्पत्ति होती है। चौथे तिथि निष्पत्ति नामक अधिकारमें १३ गाथाएँ है। इसमे तिथिकी निष्पत्तिकी प्रक्रिया वतलाई है। छठे नक्षत्र परिमाणमें नक्षत्रोंके नाम, आकार वगैरह वतलाये है। इसी तरह प्रत्येक अधिकारमें अपने नामके अनुरूप ज्योतिष मण्डलका कथन किया है।

ज्यो० क० के दूसरे अधिकारमें कालका मान वतलाते हुए लिखा है कि चौरासी लाख पूर्वोका एक लताग, चौरासी लाख लताग की एक लता और चौरासी लाख महालताङ्गोका एक नलिन होता है। इसी तरह नलिन, महा नलिनाग, महानलिन, पद्माग, पद्म, महापद्माग, महापद्म, कमलाग, कमल, महाकमलाग, महाकमल, कुमुदाग, कुमुद, महाकुमुदाग, महाकुमुद, त्रुटिताग, त्रुटित, महात्रुटिताग, महात्रुटित, अष्टाग, अष्ट, महाअष्टाग, महाअष्ट, ऊट्टाग, ऊट्ट, महोट्टाग, महोट्ट, शीर्ष प्रहेलिकाग, शीर्ष प्रहेलिका, इस तरह क्रम दिया है। किन्तु ये जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (सू० १८) मे त्रुटिताग, त्रुटित, अट्टाग, अट्ट, अववाग, अवव, हुहुकाग, हुहुक, उत्पलाग, उत्पल, पद्माग, पद्म, नलिनाग, नलिन, अर्थनिपूराग, अर्थनिपूर, अयुताग अयुत, नयुताग, नयुत, प्रयुताग, प्रयुत, चूलिकाग, चूलिक, शीर्ष प्रहेलिकाग और शीर्ष प्रहेलिका, यह क्रम दिया है। दोनोमें वहुत अन्तर है।

अनुयोगद्वार सूत्र (११४, १३७) का क्रम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसे मेल खाता है। इसी तरह तत्त्वार्थ वार्तिक (पृ० २०९) में तथा तिलोयपण्णत्तिमें (४-२८५

आदि) जो क्रम दिया है वह भी न तो पूरी तरहसे आपसमें मेल खाता है और न उक्त क्रमसे ही मेल खाता है।

तत्त्वार्थ सूत्रका तीसरा और चौथा अध्याय लोकानुयोगसे सम्बद्ध है। तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका कथन है और चौथे अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका कथन है। वह कथन सूत्रात्मक होनेसे बहुत संक्षिप्त है और उसमें कुछ मुख्य-मुख्य बातोका ही कथन है। तत्त्वार्थ सूत्रकी टीकाओमे विशेष कथन पाया जाता है। उसमें भी पूज्यपाद रचित सर्वार्थ सिद्धि टीकामें किंचित् ही विशेष कथन है। हाँ, तत्त्वार्थ वार्तिकमें विवरणात्मक विशेष कथन है। उसके पश्चात् हरिवंश पुराणमें भी विशेष कथन है जिसका परिचय पीछे कराया गया है। किन्तु ये सब ग्रन्थ लोकानुयोगमें गर्भित नही होते। अत यहाँ उनका सामान्य उल्लेख मात्रकर दिया गया है।

दिगम्बर परम्परामे तिलोय पण्णतिके पश्चात् त्रिलोकसार ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो लोकानुयोग विषयक साहित्यमें गणनीय है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें इस बीचमें जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण नामके एक महान् जैनाचार्य हुए जिन्होंने आवश्यक सूत्र पर विशेषावश्यक भाष्यकी रचना की। उसके कारण भाष्यकारके नामसे भी वे प्रसिद्ध हैं। उन्होने बृहत् क्षेत्र समास, बृहत्संग्रहिणी विशेषणवती आदि अनेक ग्रंथो की रचना की है, जिनमेंसे बृहत क्षेत्र समास और बृहत्संग्रहणी लोकानुयोगसे संबद्ध है। और विशेषणवतीमें भी अनेक चर्चाएँ लोकानुयोगसे सम्बद्ध हैं। किन्तु वह केवल लोकानुयोग विषयक प्रकरण नही हैं। किन्तु उसमें विभिन्न सैद्धान्तिक शकाओंका समाधान किया गया है।

समय

जेसलमेरके भण्डारसे विशेषावश्यक भाष्यकी एक प्राचीन प्रति मुनि जिन विजय जी को प्राप्त हुई हैं। उसके अन्तमें उसका रचनाकाल[1] शकसम्वत् ५३१ (वि० स० ६६६) दिया हुआ है। और उस परसे मुनि जीने श्री जिनभद्र गणि क्षमा क्षमणका अवसान काल विक्रमकी सातवी शताब्दीका अन्तिम चरण निश्चित किया हैं। जो उचित ही है।

---

१ 'पचसता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स ।
तो चेत्त पुण्णिमाए बुधदिणसातिमि णक्खत्ते ॥
रज्जे णु पालणपुरे सी (लाइ) च्चम्मि णरवरिन्दम्मि ।
वलभीणगरीए इम महवि मि जिणभवणे ॥''
भा० वि०, स्व० बहादुर सिंह सिंघी स्मृति ग्रन्थमें मुनिजीके 'जिनभद्र गणि क्षमा श्रमणनो समय' शीर्षक निबन्धमे उद्धृत।

वृहत्[1] क्षेत्र समास

टीकाकारने अपनी टीकामे इस ग्रन्थका नाम क्षेत्र[2] समास वतलाया है और ग्रन्थकारने इसे 'समय[3] क्षेत्र समास' नाम दिया है। उसकी व्युत्पत्ति करते हुए टीकाकारने लिखा[4] है—'सूर्यके गमनकी क्रियासे उपलक्षित अत्यन्त सूक्ष्म काल विशेषको समय कहते हैं। और उसमे उपलक्षित क्षेत्रको समय क्षेत्र कहते हैं। वह समय क्षेत्र मनुष्यलोक है क्योकि मनुष्य क्षेत्रसे बाहर सूर्यकी गमन क्रियामे उपलक्षित कोई कालविशेष नही है'। आशय यह है कि इसमें मनुष्यलोक सम्बन्धी द्वीप समुद्रोका ही कथन है अत ग्रन्थकारने इसका सार्थक नाम 'समय क्षेत्र समास' रखा है। किन्तु यह वृहत्क्षेत्र समासके नामसे प्रसिद्ध है। मुद्रित पुस्तकमे इसे यही नाम दिया गया है।

वृहत्क्षेत्र समास ग्रन्थमें पाँच अधिकार है—१ जम्बूद्वीपाधिकार, २ लवणाव्यधिकार, ३ धातकी खण्ड द्वीपाधिकार, ४ कालोदधि अधिकार और ५ पुष्कर वरद्वीपार्धाधिकार। इनमे क्रमसे ३९८ + ९० + ८१ + ११ + ७६ = ६५६ गाथाएँ हैं। किन्तु पाचवें अधिकारकी ७५ वी गाथामें ग्रन्थकारने स्वय क्षेत्र समास प्रकरणकी गाथा सख्या ६३७ वतलाई है। और टीकाकार मलयगिरिने भी अपनी टीकामें गाथाओका परिमाण ६३७ ही वतलाया है। किन्तु मुद्रित प्रतिके पादटिप्पणमें लिखा है कि अन्य प्रतिमें 'पणपन्ना हुति इत्थ सत्यम्मि' ऐसा पाठान्तर पाया जाता है। अन्तिम गाथाको न गिनने पर गाथा सख्या ६५५ बैठती है। अत पाठान्तरके अनुसार गाथा परिमाण ठीक बैठता है।

प्रथम जम्बूद्वीपाधिकारमें जम्बूद्वीपसे लेकर अन्तिम स्वयम्भू रमण पर्यन्त सब द्वीप समुद्रोका प्रमाण अढाई उद्धार सागरोके समयोकी सख्याके बरावर वतलाकर अढाई द्वीप और दो समुद्रोको मनुष्य क्षेत्र वतलाया है तथा उसका विस्तार पैतालीस लाख योजन, जिसमे जम्बूद्वीपकी परिधि, जगती, भरतादिक सात क्षेत्रो और हिमवदादि षट् कुलाचलोका विस्तार आदि उनका वाण जीवा धनु, क्षेत्रफल घनफल आदि, वैताढ्यपर्वतका विस्तारादि, नदियोका विस्तारादि, हैमवत आदिमें

---

१ वृहत् क्षेत्र समास, मलयगिरिकी सस्कृत टीकाके साथ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ है।

२ 'विवृणोमि यथाशक्ति क्षेत्रसमासं समासत स्पष्टम्।'

३ 'समयक्खेत्तसमास वोच्छामि गुरुवएसेण ॥१॥'

४ 'समय क्षेत्र समास' समय सूर्यगमनक्रियोपलक्षित परमनिरुद्ध कालविशेष. तदुपलक्षित क्षेत्र समयक्षेत्र मनुष्यक्षेत्रमिति। न हि मनुष्यक्षेत्राद्बहि सूर्यगमनक्रियोपलक्षितो नाम कोऽपि कालोऽस्ति।'—वृ० क्षे०, स०, पृ० १।

रहने वाले मनुष्योका प्रमाणादि, मेरुका वर्णन, विदेह क्षेत्रके तीर्थङ्करोका कथन जम्बूद्वीपके सूर्य चन्द्रादिका कथन है। यह सब कथन तिलोय पण्णत्तिके प्राय समान है।

ति०प०के चौथे अधिकारका नाम नरलोकपण्णत्ति अथवा मनुष्यलोक प्रज्ञप्ति है। उसका प्रारम्भ पैतालिम लाख योजन प्रमाण मनुष्यलोकके निर्देशमे होता है। क्षेत्र समास की भी वही शैली है। अन्तर केवल इतना ही है कि ति०प०में प्रत्येक वर्णन विस्तार मे है और क्षेत्रसमासमे संक्षेप से है। उसीका सूचक 'समाम' शब्द है। वर्णनकी ममानताकी दृष्टिसे कुछ गाथाएँ उद्धरणीय है—

'चत्तारिदुवारा पुण चउद्दिसिं जवूदीवस्स ॥१६॥
चउजोयणविच्छिन्ना अट्ठेव य जोयणाइ उच्चिट्ठा।
उभओ वि कोमकोस कुड्डा वाहल्लओ तेंसि ॥१७॥
पुव्वेण होइ विजय दाहिणओ होइ वेजयत तु।
अवरेण तु जयतं अवराइय उत्तरे पासे ॥१८॥'—वृ०क्षे०सं०।

× × ×

विजयंतवेजयंत जयत अपराजयतणामेहि।
चत्तारि दुवाराइ जवूदीवे चउदिसासु ॥४१॥
पुव्वदिसाए विजय दक्खिणआसाए वइजयत हि।
अवरदिसाए जयत अवराजिदमुत्तरासाए ॥४२॥
एदाणं दाराणं पत्तेक्कं अट्ठजोयणा उदओ।
उच्छेहद्ध रुद होदि पवेसो वि वाससमं ॥४३॥

गणितके नियमो में तो प्राय समानता है ही, किन्तु गणितके सूत्रोमें भी समानता कही-कही पाई जाती है। यथा—

अभीष्ट स्थानमे मेरुका विस्तार निकालनेकी रीति

जत्थिच्छसि विक्खभ-मंदिरसिहराहि उवइत्ताण।
एक्कारसहि विभत्त सहस्ससहियं च विक्खंभ ॥३०७॥ वृ०क्षे०स०।

× × ×

जत्थिच्छसि विक्खभं मंदरसिहराउ समवदिण्णाणं।
त एक्कारस भजिदं सहस्ससहिदं च तत्थवित्थारं ॥१७१९॥
—ति०प० ४।

चूलिका विस्तार

जत्थिच्छसि विक्खंभ चूलीयसिहराहि उवइत्ताणं।
त पचहि पविभत्त चउहि जुय जाण विक्खंभ ॥३५०॥
—वृ०क्षे०स० १।

जत्थिच्छसि विक्खभं चूलियसिहराउ समवदिण्णाणं ।
त पंचेहि विहत्त चउजुत्त तत्थ तव्वास ॥१७९७॥–ति०प० ४ ।

दूसरे लवणाब्धि अधिकारमें लवण समुद्रका विस्तार, परिधि, उसमे स्थित पाताल, जलकी हानिवृद्धि, वेलंधर नागकुमारोकी संख्या आदि, छप्पन अन्तरद्वीप, अन्तरद्वीपमें रहने वाले मनुष्योका उत्सेध आदि, लवण समुद्रके उत्सेधादिका प्रमाण तथा चन्द्रमा, सूर्य आदिकी सख्याका कथन है ।

इस अधिकारमें अन्तरद्वीप छप्पन वतलाये हैं । जिनमेंसे अट्ठाईस द्वीप हिमालय पर्वत सम्वन्धी और २८ द्वीप शिखरी पर्वत सम्वन्धी है । इनके नाम क्रमश एकोरुक, आभाषिक, वैषाणिक, लाङ्गलिक आदि है । (वृ०क्षे०स०, २-५६ आदि) । श्वेताम्वर साहित्यमें छप्पन अन्तर्द्वीप माने गये हैं किन्तु दिगम्वर साहित्यमें अन्तर्द्वीप माने गये है । तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके उमास्वाति रचित भाष्यमें भी ९६ अन्तर्द्वीप माने है । उस पर टीकाकार[1] सिद्ध सेनगणिने रोष प्रकट करते लिखा है कि यह कथन आर्ष विरुद्ध है ।

अत तिलोयपण्णत्तिमे अन्तर्द्वीप ९६ वतलाये है । सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थ-वार्तिक आदिमें भी ९६ ही वतलाये हैं । वृहत्क्षेत्र समासमें द्वीपोका नाम एकोरुक आदि वतलाया है और द्वीपोके नामके कारण उनमें रहने वाले मनुष्यो का भी वही नाम वतलाया है । किन्तु दिगम्वर साहित्यमें अन्तद्वीपोमें रहने वाले मनुष्योको एकोरुक–जिनके एक पैर हैं, आदि वतलाया है । और उनका अर्थ उन शब्दोके अनुसार यही किया जाता है कि उनके एक जघा है, वे गूँगे है, उनमेंसे किसीका मुख मत्स्यकी तरह, किसीका वन्दरकी तरह है, आदि ।

तिलोयपण्णत्तिमें भी अन्तर्द्वीपोके मनुष्योको एकोरुक, लागलिक आदि वतलाया है मगर नाममात्रसे । यथा—

'एकोरुक लगुलिका वेसणका भासका य णामेंहि ।
पुव्वादिसु दिसासु चउदीवाण कुमाणुसा होंति ॥२४८४॥"

आगे भी कमानुषोको 'तण्णामा' लिखकर एकोरुक आदि नाम वतलाया है । अत एकोरुक आदिका शब्दार्थ लेना विचारणीय है । अस्तु

तिलोयपण्णत्तिसे वृहत् क्षेत्र समासमें द्वीपोंका अवस्थान भी भिन्न रूपसे वतलाया है । यह केवल ग्रन्थगत भेद नही है किन्तु परम्परागत भेद है ।

---

१ 'एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशित सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन पण्णवतिरन्तरद्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते । अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात् ।'–सिद्धक्षे० टीका, भा० १, पु० २६७ ।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थोमें तिलोयपण्णत्तिके अनुसार कथन है और श्वेताम्बर परम्पराके ग्रन्थोमें वृहत्क्षेत्रके अनुसार कथन मिलता है।

तीसरे धातकी खण्ड अधिकारमें धातकी खण्ड द्वीपका विस्तार, परिधि, इष्वाकार पर्वत, मेरु पर्वत, भरतादिक क्षेत्रोका तथा हिमवदादि पर्वतोका आकार विस्तारादि, तथा चन्द्र सूर्य वगैरहकी संख्या आदिका कथन है।

तिलोयपण्णत्तिमें (४-२५७८) मेरुका विस्तार तल भागमें दस हजार योजन और भूतल पर ९४०० योजन वतलाया है। आगे (गा० २५८१) लिखा है कि कुछ आचार्य मेरुके तल विस्तारको नौ हजार पाँच सौ योजन मानते है। तत्त्वार्थ वार्तिक (पृ० १९५) में मेरुका मूल में विस्तार ९५०० और भूतल पर ९४०० वतलाया है। वृहत् क्षेत्र समासमें (गा० ३–५८) भी उतना वतलाया है। जो ति० प० के मतान्तरके अनुसार है। दोनो ग्रन्थोमें मेरुकी हानि वृद्धि निकालनेके लिये जो गणित सूत्र दिया है वह पूर्ववत् प्राय समान ही है यथा—

जत्थिच्छसि विक्कभं मदरसिहराहि उच्चइत्ताणं।
त दसहि भइय लद्धं सहस्स सहिय तु विक्कभ ॥५९॥—वृ०क्षे०स० ३।
जत्थिच्छसि विक्खभ खुल्लयमेरूण समवदिण्णाणं।
दसभजिदे ज लद्ध एक्क सहस्सेण समिलिद ॥२५८२॥—ति०प० ४।

चौथे अधिकारमें कालोद समुद्रके विस्तार, परिधि, द्वीप, चन्द्र सूर्य आदि की सख्या, आदिका कथन है।

तिलोयपण्णत्तिमें कालोद समुद्रमें भी लवण समुद्रकी तरह अन्तर्द्वीप और उनमें रहने वाले कुमनुष्योका कथन है। किन्तु वृहत्क्षेत्र समासमें वह सब कथन नही है। इसका कारण यह है कि श्वेताम्बरमें कालोदधिमें ऐसे अन्तर्द्वीप नही माने गये है।

पाँचवे अधिकारमें पुष्कर द्वीप व उसके मध्यमें स्थित मानुषोत्तर पर्वतके विस्तारादिका, तथा इष्वाकार पर्वत, भरतादि क्षेत्र, हिमवदादि पर्वतोके विस्तारादिका तथा चन्द्र सूर्यादिकी सख्या आदिका कथन है।

वृहत्सग्रहणि[1]

जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण विरचित वृहत्संग्रहणि भी लोकानुयोगका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन पर भी मलयगिरिकी सस्कृत टीका है। वृहत् क्षेत्र

---

१. मलयगिरिकी सस्कृत टीकाके साथ वृहत्सग्रहणीका प्रकाशन श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे हुआ है। और उसका गुजराती अनुवाद श्री जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ है।

समासकी तरह ही वृहत् सग्रहिणीमे भी ग्रन्थकारका कोई निर्देश नही मिलता। किन्तु टीकाकारने उसे जिनभद्र गणिजीकी कृति वतलाया है।

उसके गुजराती अनुवादकी प्रस्तावनामें लिखा है कि वृहत्सग्रहणिकी मूल गाथाएँ ३५३ है, क्योंकि मलयगिरिकी टीकाके साथ छपे हुए ग्रन्थके अन्तमें ३५३ मूल गाथाएँ दी है। टीकाकारने अपनी टीकामें २४ क्षेपक गाथाओको भी सम्मिलित कर लिया है इससे गाथा सख्या ३६७ हो गई है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें उसका नाम 'सगहणि' वतलाया है। तथा उसमें देवो और नारकियोकी स्थिति, भवन, अवगाहना और मनुष्यो तथा तिर्यञ्चोंके शरीर और आयुका प्रमाण तथा उत्पत्ति और च्यवनका विरहकाल, एक समयमें उत्पन्न होने वाले और च्युत होने वाले जीवोकी संख्या और गति आगतिका कथन करनेका निर्देश किया है।

तथा अन्तमें (गा० ३६४) कहा है कि मैंने भव्य जीवोके हितके लिये आगमसे उद्धृत करके यह सक्षिप्त सग्रहणी कही है। और अन्तिम गाथामें कहा है कि मैंने पूर्वाचार्य कृत श्रुतमेंसे अपनी मतिके अनुसार जो कुछ उद्धृत किया हो उसे श्रुतधर क्षमा करें। इसमे स्पष्ट है कि इस सग्रहणीका सग्रह पूर्वाचार्य कृत श्रुतमेंसे किया गया है।

दिगम्वर परम्परामें एक मूलाचार नामक ग्रन्थ है इस ग्रन्थका उल्लेख तिलोयपण्णत्तिमें मिलता है और उससे उसमें कुछ गाथाएँ भी ली गई है यह पहले वतला आये हैं। मूलाचारके अन्तिम प्रकरणका नाम 'पज्जति सग्रहणी है। इस प्रकरणकी अनेक गाथाएँ वृहत् सग्रहणीमें सगृहीत है। कुछ गाथाएँ तो यथाक्रम पाई जाती हैं। विवरण इस प्रकार है—

जम्बूद्वीपसे लेकर क्रौंचवर द्वीपपर्यन्त सोलह द्वीपोके नाम दोनो ग्रन्थोमें दो गाथाओसे वतलाये गये हैं। इन दोनो गाथाओंकी क्रमसख्या मूलाचारमें ३३-३४ और संग्रहणीमें ८२-८३ है। दोनोमें प्राय समानता है। उसके पश्चात् मूलाचार-में यह गाथा है—

एवं दीवसमुद्दा दुगुण दुगुणवित्थडा असखेज्जा।
एदे दु तिरियलोए सयभुरमणोदहिं जाव ॥३५॥

सग्रहणीमें यही गाथा थोडेसे पाठभेदको लिए हुए इस प्रकार है—

एव दीवसमुद्दा दुगुणा दुगुणा भवे असंखेज्जा।
भणिओ य तिरियलोए सयंभुरमणोदही जाव ॥८५॥

उक्त दो गाथा और उक्त गाथाके वीचमे संग्रहणी में जो ८४ नम्वरकी गाथा

है वह मूलाचारमें आगे दी हैं उसका नम्बर ३६ है। उसके पश्चात् ३८, ३९ और ४० नम्बरकी गाथाएँ संग्रहणीमें ८७, ८८ और ९० नम्बर पर हैं।

इस तरह द्वीप समुद्रोंके कथन सम्बन्धी गाथाएँ दोनो संग्रहणियोमे प्राय समान हैं।

आगे योनियोके कथन सम्बन्धी मूलाचार गाथा ५८-५९ संग्रहिणीमें ३५८-३५९ नम्बर पर है। ६० तथा ३६० नम्बरकी गाथाका अर्थ समान होते हुए भी शब्दोमें थोडा अन्तर अन्तर पाया जाता है। आगे ६१-६२ तथा ३६१-३६२ गाथाएँ प्राय समान हैं। मूलाचारकी ६२वी गाथाके अन्तिम चरणका पाठ है—'सेसा सेसेसु जोणीसु'। और सग्रहणीकी ३६२वी गाथाके अन्तिम चरणमें पाठ है—'सेसाए सेसगजणो य'। गोम्मटसार जीवकाण्डमें यह गाथा सग्रहणी वाले पाठके साथ पाई जाती है।

मूलाचारमें कुलोंको बतलाने वाली १६६ से १६९ तक की चार गाथाएँ इसी क्रमसे संग्रहणीमें है और उनकी क्रमसख्या ३५३-३५६ तक है। और भी कितनी ही गाथाएँ दोनो ग्रथोंमें समान हैं।

विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्रगणी सातवी शताब्दीमें हुए है। तिलोय-पण्णत्तिकी रचना उससे बहुत पहले हो चुकी थी और तिलोयपण्णत्तिमे मूलाचार का निर्देश है तथा उसमे कुछ गाथाएँ भी ली गई है। अत मूलाचार ति०प०से भी प्राचीन है। अत संग्रहणीमें उक्त गाथाएँ मूलाचारके अन्तमें स्थित 'पज्जती संग्रहणी' से ली गई हो, यह सभव है।

और भी कुछ गाथाएँ सग्रहणीमें ऐसी हैं जो अन्य ग्रथोमें मिलती है। सगहणीकी 'पदमक्खरं पि इक्क' आदि १६७वी गाथा भगवती आराधनाकी ३९वी गाथा है और 'सुत्त गणहरडयं' आदि १६८वी गाथा भ० आराधनाकी ३४वी गाथा है। अन्तर केवल इतना है कि उसमें 'रइय' के स्थान पर 'गथिद' और 'कहियं' पाठ है। 'कथिद' पाठके साथ यही गाथा मूलाचारके पञ्चा-चाराधिकारमें भी पाई जाती है। फिर सग्रहणीमें ये दोनो गाथाएँ विना किसी प्रकरणके स्वर्गोमें उपपादके प्रकरणमें सगृहीत की गई हैं। अत. निश्चय ही इन्हे अन्यत्रसे लिया गया है। भगवती आराधना तिलोयपण्णत्तिसे भी प्राचीन है।

इसी तरह 'पुव्वस्स उ परिमाण' आदि ३१८वी गाथा पूज्यपादकी सर्वार्थ-सिद्धिमें उद्धृत हैं। और पूज्यपाद ५-६वी शतीके आचार्य है। अत यह गाथा प्राचीन होनी चाहिये। संग्रहणीमें पहली पृथिवीकी स्थिति बतलाकर शेष पृथि-वियोंमें स्थिति बतलानेके लिए एक करणसूत्र दिया है जो इस प्रकार है—

उवरिखिइठिइविसेसो सगपयरविभाग इत्थ सगुणिओ ।
उवरिमखिइठिइसहिओ इच्छियपयरम्मि उक्कोसा ॥२३८॥

संस्कृतमें एक इसी प्रकारका करणसूत्र तत्त्वार्थवार्तिकमें दिया है जो उक्त गाथाकी छाया-सा जान पडता है—

'उपरिस्थितेर्विशेप स्वप्रतरविभाजितेष्ट-सगुणित ।
उपरिपृथिवीस्थितियुत स्वेष्टप्रतरस्थितिर्महती ॥'–(पृ० १६८)

अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकके तीसरे अध्यायमें और भी इस प्रकारके प्रमाण उद्धृत किये हैं जो प्राकृत गाथाओकी छायारूप जान पडते है, किन्तु उनके मूलका पता नही चलता। सभव है उक्त संस्कृत छाया भी उसी ग्रन्थ पर से सगृहीत की गई हो, जिस परसे अन्य प्रमाण सस्कृत छाया रूपमें सकलित किये गये है ।

इस तरह सग्रहणीमें वहुत-सी गाथाएँ ग्रन्थकारोंसे संगृहीत की गई है। इसीसे उसकी रचना उतनी सुसम्बद्ध और सुगठित प्रतीत नही होती ।

नेमिचन्द्रकृत त्रिलोकसार[1]

गोम्मटसारके रचयिता आचार्य नेमिचम्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ही त्रिलोकसार नामक ग्रन्थके रचयिता हैं। गोम्मटसारकी तरह त्रिलोकसारकी अन्तिम[2] गाथामें भी उन्होने अपनेको अभयनन्दिका वत्स्य (शिष्य) वतलाया है। तथा उसीकी तरह प्रथम मगलगाथामें नेमिचन्द्रको नमस्कार किया हैं। नेमिचन्द्र गगवशी नरेश राचमल्लके सेनापति और मत्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय के लिए ही उन्होने गोम्मटसारकी रचना की थी ।

त्रिलोकसारकी प्रथम गाथामें नेमिचन्द्रका विशेषण 'वलगोविन्द सिंहामणि किरणकलावरुणचरणणह किरणं' दिया है। जिसका साराश यह है कि वलदेव और गोविन्द (कृष्ण) नेमिनाथ तीर्थंकरको नमस्कार करते थे। किन्तु टीकाकार माघवचन्द्र ने, जो नेमिचन्द्रके शिष्य और उनके समकालीन थे, उक्त गाथाका एक व्याख्यान यह भी किया है कि चामुण्डराय[3] अपने गुरु नेमिचन्द्रा-

---

१ संस्कृत टीकाके साथ त्रिलोकसार माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वम्वईसे और प० टोडरमल रचित ढुढारी भापामें लिखी हुई टीकाके साथ हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय वम्वई से प्रकाशित हुआ हैं ।

२. 'इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणभयणदिवच्छेण ।
रइयो तिलोयसारो खमतु तं वहुसुदाइरिया ॥१०१८॥—त्रि० सा० ।

३ 'विमलतरश्च स चासी नेमिचन्द्राचार्यश्च विमलतर नेमिचन्द्रस्त नमस्यामीति चामुण्डराय स्वगुरुनमस्कारपूर्वकं शास्त्रमिद प्रारभते। । वलश्चामुण्डराय गा पृथ्वी विंदति पालयतीति गोविंदो राचमल्लदेव ।
—त्रि० सा० टी०, गा० १ ।

चार्यको नमस्कार करके इस शास्त्रका प्रारम्भ करते है और उन्होंने 'वल'का अर्थ चामुण्डराय और 'गोविन्द'का अर्थ राचमल्लदेव किया है। ये दोनों नेमिचन्द्राचार्य को नमस्कार करते थे।

इस व्याख्यामे यह प्रमाणित हो जाता है कि त्रिलोकसारके कर्ता गोम्मटसारके कर्तासे अभिन्न है। तथा त्रिलोकसारकी रचनामें माधवचन्द्रकी तरह चामुण्डरायका भी सहयोग रहा है। माधवचन्द्र केवल टीकाकार ही नही थे, उनके द्वारा रचित कुछ गाथाएँ भी त्रिलोकसारमें यत्र तत्र पाई जाती है। उन्होंने अपनी प्रशस्ति में एक गाथाके[1] द्वारा इस वातका निर्देश किया है कि गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको सम्मत कुछ गाथाएँ यत्र तत्र माधवचन्द्रने भी रची हैं। और गुरु नेमिचन्द्राचार्यने भी गाथामें माहवचंदुद्धरिया' लिखकर अपने शिष्य माधवचन्द्रके कृतित्वको स्वीकार किया है।

इस तरह त्रिलोकसार सहकार पद्धति पर रचित एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है और इसकी रचना विक्रमकी ग्यारहवी शताव्दीके मध्यमें हुई है।

इसमें समस्त गाथाएँ १०१८ है। और लोकसामान्य, भावनलोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, वैमानिक लोक और नरतिर्यगलोक नामके छह अधिकार है। ग्रन्थकारने दूसरी गाथामें जिनभवनोको नमस्कार करनेके व्याजसे लोकसामान्य को छोडकर शेष अधिकारोका निर्देश 'भवण-विंतर-जोइसि-विमाणणरतिरियलोय जिणभवणे' के द्वारा कर दिया है। इसी तरह इन अधिकारोके आदिमें मगलगाथाके द्वारा उस उस लोकमें स्थित जिन भवनोको नमस्कार किया है।

इसके आधारभूत ग्रन्थ कौन है, इसका कोई संकेत ग्रन्थकारने नही किया है। तथापि तिलोयपण्णत्ति और लोकविभाग जैसे प्राचीन ग्रन्थ इसके आधार होने चाहिये। जैसे तिलोयपण्णत्तिमें तीनो लोको का विस्तृत वर्णन है उसी प्रकार इसमें भी वर्णन है। ति० प० की तरह इसका भी प्रथम अधिकार लोकसामान्य है उसीके अन्तर्में नारक लोकका वर्णन है। किन्तु ति० प० में इसके लिये एक पृथक अधिकार है जिसका नम्वर दूसरा है।

लोक सामान्य अधिकारके पश्चात् त्रिलोकसारमें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक लोकोका क्रमसे वर्णन है। अन्तमें नरतिर्यग्लोकाधिकार है किन्तु ति० प० में भवनवासी और व्यन्तर लोकके मध्यमें नर लोक और

---

१. 'गुरु-णेमिचद्र-सम्मद-कदिवय-गाहा तहिं तहिं रइदा। माहवचंदतिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं ॥१॥'

तिर्यगलोक नामक पृथक् पृथक् अधिकार है। फिर ज्योतिर्लोक और देवलोकका वर्णन है। त्रिलोकसारमें वैमानिक लोकके अन्तमें सिद्धलोकका वर्णन है। और ति० प० के अन्तमें सिद्धलोक नामक अलग अधिकार है। इस तरह दोनोके क्रममें तथा अधिकार सख्यामें अन्तर है।

१ ति० प० के लोकसामान्य अधिकारके प्रारम्भमे लगभग ९० गाथाओके द्वारा जो मगल निमित्त आदिकी चर्चा है त्रिलोकसारमें उसका कोई आभास तक नही है। ति० प० की ९१वी गाथासे लोकसामान्यका कथन आरम्भ होता है जो इस प्रकार है—

जगसेढिघणपमाणो लोयायासो सपंचदव्वरिदी।
एस अणंताणतालोयायासस्स वहुमज्झे ॥९१॥—ति० प० १।

तदनुसार त्रिलोकसारकी तीसरी गाथासे उसका आरम्भ होता है जो इस प्रकार है—

सव्वागासमणतं तस्स य वहुमज्झदेसभागम्हि।
लोगोऽसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु ॥३॥—त्रि० सा०।

ति० प० मे श्रेणिके वनप्रमाणका निर्णय करनेके लिये पल्य सागर आदि प्रमाणोंका कथन (गाथा १–९३ आदि) किया है। और त्रि० सा० में भी उसीका निर्णय करनेके लिये प्रमाणोका कथन किया है। किन्तु त्रि० सा०[1] मे प्रमाणोका कथन तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० २०६) के अनुसार किया है। यथा—भावके दो भेद हैं लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक के छ[2] भेद हैं और लोकोत्तरके चार भेद है। द्रव्य, क्षेत्रकाल और भाव। द्रव्य प्रमाणके दो भेद हैं—सख्या और उपमा आदि। सख्या प्रमाणका कथन करनेके पश्चात् त्रि० सा० में (गा० ५३–९२) चौदह धाराओका कथन किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—सर्वधारा, समधारा, कृतिधारा, घनधारा, कृति मातृकधारा, घनमातृकधारा, विषमधारा, अकृतिधारा, अघनधारा, अकृति मातृकधारा, अधन मातृकधारा, द्विरूप वर्गधारा, द्विरूप घनधारा, द्विरूप घनाघनधारा। इन धाराओको संख्या प्रमाणका ही विशेष भेद वतलाया है।

---

१ माण दुविहं लौगिग लोगुत्तरमेत्थ लोगिगं छद्धा।
माणुम्माणो माणे गणि पडितप्पडिपमाणमिदि ॥३॥

२ 'प्रमाणं द्विविधं लौकिक लोकोत्तर भेदात्।
लौकिक षोढा मानोन्मानावमानगणना प्रतिमान ।'

इन धाराओका कथन उपलब्ध साहित्यमे अन्यत्र देखनेमें नही आता। धाराओंके कथनका उपसहार करते हुए त्रि० सा० में लिखा[1] है कि यहाँ व्यवहारोपयोगी धाराओका दिशा मात्र दर्शन कराया है विस्तारसे जाननेकी रुचि रखने वाले शिष्य परिकर्मसे जान सकते है।

यह वही परिकर्म है जिसके अनेक उल्लेख धवला टीकामें मिलते हैं और जिसे इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें पट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डो पर रचा गया बतलाया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके सन्मुख भी वह वर्तमान था। अत त्रि० सा० में उन्होने उसका भी उपयोग किया है यह स्पष्ट है।

धाराओंके पश्चात् उपमा प्रमाणोंका कथन है। इस तरह एक सौ बारह गाथाओके द्वारा उक्त प्रमाणोका कथन करके त्रि० सा० में लोकका वर्णन प्रारम्भ होता है। ति० प० में सामान्यलोक, अधोलोक और ऊर्ध्वलोकमेंसे प्रत्येकका सामान्य, दो चतुरस्र, यवमुरज, यवमध्य, मन्दर, दूष्य और गिरिकटकके आकार रूप चित्रण करके क्षेत्रफल निकाला है। किन्तु त्रि० सा०[2] में (गा० ११५–११७) केवल अधोलोकका ही उक्त आठ भेद रूपसे कथन किया है और ऊर्ध्वलोकका कथन (गा० ११–१२०) सामान्य, प्रत्येक, अर्ध, स्तम्भ, और पिनष्टिके रूपमें पाँच प्रकारसे किया है। तिलोयपण्णत्तिमें यह कथन नही है।

आगे वातवलयोका क्षेत्रफल बतलाया गया है। इस तरह १४२ गाथा तक लोक सामान्यका कथन है। आगे अधोलोकका कथन करते हुए नारक लोकका कथन किया है। उसमें सात पृथिवियोंमें स्थित नारकियोंके बिल, नारकियोका उत्पाद स्थान, विक्रिया, वेदना, आयु, शरीरकी ऊँचाई, अवधि ज्ञानका विषय तथा गति आगतिका कथन है।

२ दूसरे भावनलोक अधिकारमें भवनवासी देवोके भेद, उनके इन्द्र, मुकुटोमें चिह्न, चैत्यवृक्ष, सामानिक आदि देवोका परिवार, आयु, उच्छ्वास आहारादिका कथन है जो ति० प० के ही समान है। अनेक गाथाओमें भी समानता है।

३. तीसरे व्यन्तर लोकाधिकारमें व्यन्तर देवोंके भेद, उनके शरीरका वर्ण,

---

१ 'ववहारुवजोग्गाणं धाराणं दरिसिदं दिसामेत्त।
वित्थरदो वित्थररुइसिस्सा जाणंतु परियम्मे ॥९१॥'—त्रि० सा०।

२ 'सामण्णं दो आयद जवमुर जवमज्झ मदरं दूसं।
गिरिगडगेणकि जाणह अट्ठवियप्पो अधोलोको ॥११५॥—त्रि० सा०

चैत्यवृक्ष, व्यन्तरोके अवान्तर भेद, इन्द्रोके नाम, परिवार देव, आयु आदिका कथन है ।

४ चौथे ज्योतिर्लोक अधिकारमें पहले ज्योतिषी देवोके पाँच भेद वतलाये है फिर चूँकि द्वीप समुद्रोका कथन किये विना ज्योतिषी देवोका कथन नही हो सकता क्योकि वे सव द्वीप-समुद्रोके ऊपर फैले हुए है, अत आदि और अन्तके सोलह-सोलह द्वीपों और सोलह सोलह समुद्रोके नाम गिनाये है, और उनके सूची व्यास तथा वलय व्यासका कथन करते हुए सूची आनयन तथा परिधि और क्षेत्रफल लानेके लिये करणसूत्र वतलाये हैं । साथ ही समुद्रोके जलका स्वाद, उनमें जलचरोका भावाभाव, स्वयंभुरमण द्वीपके वाह्य भागमें पाये जाने वाले त्रसजीवोकी उत्कृष्ट अवगाहना आदिका कथन किया है । ति० प० में यह सव कथन पाँचवें तिर्यग्लोक अधिकारके प्रारम्भमें किया गया है । चूकि त्रि० सा० में इस नामका कोई स्वतंत्र अधिकार नही है इसलिये प्रसगवश ज्योतिलोकाधिकारके आदिमें ही आवश्यक वातोका कथन कर दिया है । इस प्रासंगिक कथनके पश्चात् भूमितलसे तारा आदिकी ऊँचाई वतलाई है जो ति० प० के ही समान है । आगे ज्योतिर्विमानोका स्वरूप, राहु और अरिष्ट ग्रहोके विमानका व्यास तथा उनका कार्य, चन्द्रमा आदिकी किरणोका प्रमाण, चन्द्रमण्डलकी हानि वृद्धि, जम्बूद्वीपसे लेकर पुष्करार्घ पर्यन्त चन्द्रमा और सूर्योकी सख्या, मानुषोत्तरसे परे चन्द्रमा और सूर्यके अवस्थानका क्रम, असख्यात द्वीप समुद्रोंके ऊपर स्थित चन्द्र और सूर्य आदिकी सख्या निकालनेकी विधि, अठासी ग्रहोके नाम, ताराओकी सख्या, चन्द्र और सूर्यका चार क्षेत्र, दिन रातकी हानि वृद्धि, दक्षिणायन, उत्तरायण, ताप और तमकी हानि वृद्धि, नक्षत्र भुक्ति, अधिक मासकी उत्पत्ति, विषुप, नक्षत्रोके नामादि तथा ज्योतिष्क देवो और देवियोंकी आयुका कथन है ।

५ पाँचवे वैमानिक लोकाधिकारमें कल्प और कल्पातीत विमानोको वतलाकर सोलह स्वर्गोमें विमानोकी सख्या, इन्द्रक विमानोका प्रमाणादि, श्रेणिवद्ध विमानोका अवस्थान, दक्षिणेन्द्रो और उत्तरेन्द्रोका निवास, सामानिक आदि देवोकी संख्या, कल्पोमें स्त्रियोंके उत्पत्ति स्थान, प्रवीचार, विक्रिया, अवधिज्ञानका विपय, जन्म मरणका अन्तरकाल, इन्द्रादिका उत्कृष्ट विरह काल, आयु, लौकान्तिक देवोका स्वरूपादि, देवागनाओकी आयु, उच्छ्वास व आहार ग्रहणका काल, गति-आगति, आदिका कथन है । चूकि वैमानिक लोकसे ऊपर ही सिद्ध जीवोका स्थान है अत उनका कथन भी इसी अधिकारके अन्तमें कर दिया गया है । ति० प० में सिद्धोका कथन एक पृथक् अधिकारमें किया गया है ।

६ छठे नर तिर्यग्लोकाविकारमें पहले जम्बूद्वीपके भरतादि क्षेत्रों, हिमवान आदि पर्वतो, उन पर स्थित पद्म आदि ह्रदो, उनसे निकलने वाली गगा सिन्धु आदि नदियो, मेरु पर्वत व उसके भद्रशाल आदि वनोका कथन है। आगे जम्बू वृक्ष, भोगभूमि और कर्म भूमियाँ, दिग्गज पर्वत, तथा विदेह देशोका वर्णन है। चूँकि विदेहस्थ देशोमें सदा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि रहते हैं अत॰ उनकी सख्या वतलाकर चक्रवर्तीकी सम्पत्ति तथा राजा अधिराजा आदिका लक्षण वतलाया है। आगे धातकी खण्ड और पुष्करार्धमें स्थित मेरुओंके व्यासादि-का कथन हैं। और करण सूत्रोके द्वारा भरतादि क्षेत्रोका धनु, वाण, जीवा आदि निकालनेकी विधि तथा स्थूल व सूक्ष्म क्षेत्रफल निकाल कर वतलाया हैं।

गाथा ७०९ से भरत और ऐरावत क्षेत्रमें छह कालोके द्वारा होने वाले परिवर्तनका विस्तारसे कथन है। उसमें छहो कालोमें जीवोकी आयुका प्रमाण, मनुष्योके शरीरकी ऊँचाई, शरीरका रग, आहारका क्रम, भोगभूमिका स्वरूप, कर्म भूमिके प्रवेशके आरम्भमें होनेवाले चौदह कुल करोका वर्णन, चतुर्थ कालमें उत्पन्न हुए त्रेसठ शलाका पुरुपोका वर्णन हैं। त्रेसठ शलाका पुरुपोंके वर्णनसे उनके सम्वन्धकी आवश्यक वातोंकी जानकारी हो जाती हैं। फिर गाथा ८५० से शक राजा और कल्कि राजाकी उत्पत्तिका समय वतलाया है कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् शक राजा हुआ और शक राजासे ३९४ वर्ष ७ मास वीतने पर कल्की हुआ। तथा लिखा है कि प्रत्येक एक हजार वर्पके पश्चात् एक कल्कि होता है। चूँकि पांचवा काल इक्कीस हजार वर्षका होता है। अतः उसमें इक्कीस कल्कि होते हैं। अन्तिम कल्किके अत्याचारोंके फलस्वरूप उसके साथ ही धर्म, राजा और अग्निका अन्त हो जाता है और छठे कालका प्रवेश होता है वह भी इक्कीस हजारका वर्ष हैं। उसके अन्तमें प्रलयकाल होता है। विपैली अग्निकी वर्पासे सव जन नष्ट हो जाते हैं। वहुतसे मनुष्य पर्वत आदिकी कन्दराओमें छिप जाते हैं। उत्सर्पिणी कालका प्रवेश होने पर जव सुवर्पासे पृथ्वीकी ऊष्मा शान्त होती है तो पर्वतोंकी गुफाओमे छिपे मनुष्य उनसे निकलकर पृथ्वी पर वसने लगते हैं और इस तरह पुन॰ कर्म भूमिका प्रवेश होता है। उसके आरम्भमें पुन चौदह कुलकर उत्पन्न होते है जो जनता-को जीवनोपयोगी शिक्षा देते है। तीसरा काल आने पर पुन त्रेसठ शलाका पुरुप उत्पन्न होते हैं। यह सव कथन करनेके पश्चात् लवण समुद्रका वर्णन है फिर घातकी खण्ड और पुष्करार्धका वर्णन है। आगे मानुषोत्तर, कुण्डल पर्वत और रुचक पर्वतका कथन हैं। आगे नन्दीश्वर द्वीपमें स्थित जिनालयोका वर्णन है।

इस तरह त्रिलोकसारमें तीनों लोकोंका सारभूत कथन दिया गया है।

त्रिलोकसार टीका

त्रिलोक सारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य ने त्रिलोकसारकी सस्कृत टीका रची है जो मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित हो चुकी है। टीकाकी अन्तिम[1] प्रशस्तिमें माधवचन्द्र त्रैविद्य देवने अपनेको 'त्रिलोकसार मलकरिष्णु' त्रिलोकसारको अलंकृत करने वाला लिखा है। उन्होने त्रिलोकसार-को केवल अपनी टीकासे ही अलंकृत नही किया किन्तु अपने गुरु नेमिचन्द्रके अभिप्रायके अनुसार कुछ गाथाएँ भी यत्र तत्र रचकर त्रिलोकसारमें सम्मिलित की हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि माधवचन्द्र अच्छे गणितज्ञ भी थे। क्योकि नरतिर्यग्लोकाधिकारमें जो भरतादि क्षेत्रोके जीवा और धनुपका प्रमाण करणसूत्रो के द्वारा आनयन करके बतलाया है उसमें माधव ९ और चन्द्र १ के अर्थात् १९ के व्याजसे माधवचन्द्रका नाम देकर उस सब गणितको माधवचन्द्रके द्वारा कथित बतलाया[2] है।

चूँकि माधवचन्द्र नेमिचन्द्राचार्यके समकालीन थे और त्रिलोक सारकी रचनामें भी उनका पूरा सहयोग था अत· त्रिलोकसारकी रचनाके साथ ही अथवा उसके पश्चात् ही उसकी टीकाका निर्माण उन्होने किया हो, यह सम्भव हैं। नेमिचन्द्राचार्य विक्रमकी ग्यारवी सदीके पूर्वार्धमें हुए हैं। अत उनके सहयोगी शिष्यका समय भी वही समझना चाहिये। और उसी समयके लगभग टीका रची गई होगी। इनकी अन्य किसी कृतिका पता नही चलता।

'जवूदीप पण्णत्ति सगह'

जम्बूद्वीप पण्णति संग्रह नामक ग्रन्थ लोकानुयोगका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी प्रस्तावनासे ज्ञात होता है कि प्रतियो पर इस ग्रन्थका नाम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति अंकित पाया जाता है। किन्तु उद्देशोकी पुष्पिकाओंके अनुमार ग्रन्थका

---

१ 'तं त्रिलोकसारमलंकरिष्णुर्मावचन्द्रत्रैविद्यदेवो अपि आत्मीयमौद्धत्यं परिहरति—'गुरुणेमिचदसम्मदकदिवयगाहा तहिं तहिं रइदा।
माहवचद तिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं ॥१॥—त्रि० सा० पृ० ४०५।

२ 'जीवदु विदेहमज्झे लक्खा परिहिदलमेवमवरद्धे।
माहवचदुद्धरिया गुणधम्मपसिद्धसव्वकला ॥ ७७७ ॥
टी०—'प्रसिद्ध पूर्वोक्ता सर्वा कला योजनाशा अंकसंज्ञया माधवचन्द्रा-ङ्केन १९ उद्धृता भक्ता पक्षे गुणेपु धर्मे च प्रसिद्धा सर्वा कला माधवचन्द्रत्रैविद्येगिनोद्धृता प्रकाशिता ॥ ७७७ ॥—त्रि०सा०

पूरा नाम जम्बूदीव पण्णत्ति संगह (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सग्रह) है। सग्रह शब्दसे यह सूचित होता है कि ग्रन्थकारने किसी अन्य प्राचीन स्रोत परसे इसका सकलन किया है।

आधार—ग्रथके तेरहवें उद्देशके अन्तमें ग्रथकारने लिखा है कि ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, और तिर्यग्लोकसे सम्बद्ध जम्बूद्वीप निबद्ध शास्त्रका विषय परमेष्ठीके द्वारा भाषित है अत वह पूर्वापरदोषसे रहित है ॥१४०॥ परमेष्ठीके द्वारा उपदिष्ट अर्थको ग्रहण कर गणधरदेवने उसे ग्रथ रूपमें ग्रथित किया। आचार्य परम्परासे आगत उस समीचीन ग्रन्थार्थका ही उपसहार करके यहाँ संक्षेपसे लिखा गया है ॥१४२॥

अधिकार—इसमें तेरह उद्देश हैं—१ उपोद्घात, २. भरत ऐरावत वर्ष, ३. पर्वत नदी भोगभूमि, ४ महाविदेहाधिकार, ५. महाविदेहाधिकारके अन्तर्गत मन्दिर और जिनभवन वर्णन, ६. महाविदेहाधिकारके अन्तर्गत देवकुरु-उत्तरकुरु विन्यास प्रस्तार, ७ महाविदेहाधिकारके अन्तर्गत कच्छा विजय वर्णन, ८ महाविदेहाधिकारके अन्तर्गत पूर्वविदेह वर्णन, ९ अपर विदेह वर्णन, १० लवण समुद्र वर्णन, ११ दीप-सागर, नरकगति, देवगति सिद्ध क्षेत्र वर्णन, १२ ज्योतिर्लोक वर्णन और १३ प्रमाण भेद वर्णन।

विषय परिचय—प्रथम उद्देशमें केवल ७४ गाथाएँ हैं। सर्व प्रथम छै गाथाओंसे अर्हत् सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्व साधुकी वन्दना करके द्वीपसागर प्रज्ञप्ति रचनेकी प्रतिज्ञा की है। पश्चात् गा० ७में सर्वज्ञ गुणकी प्राप्तिकी प्रार्थना करके गा० ८में वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार करके श्रुतगुरु परिपाटीको यथाक्रम कहनेकी प्रतिज्ञा की है और (९-१७) नौ गाथाओंमें उसका कथन किया है। यह वही गुरु परम्परा है जो तिलोयपण्णत्ति, धवला, जयधवला, हरिवंश पुराण तथा इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें पाई जाती है। यहाँ केवल गौतम गणधरसे लेकर लोहाचार्य पर्यन्त अंग ज्ञानियोकी नामावली दी है उनकी काल गणना नही दी। आगे गा० १८में सागर द्वीप प्रज्ञप्तिको सक्षेपसे कहनेकी पुन प्रतिज्ञा की है। गा० १९से प्रतिपाद्य विषयका आरम्भ करते हुए कहा गया है कि पच्चीस कोडा-कोडी उद्धार पल्य प्रमाण द्वीप सागरोंके मध्यमें एक लाख योजन लम्बा चौडा और सूर्य मण्डलकी तरह गोल जम्बूद्वीप है।

आगे जम्बूद्वीपकी परिधि, उसके निकालनेकी विधि, जम्बूद्वीपका क्षेत्रफल, जम्बूद्वीपकी वेदिकाका विस्तारादि तथा जम्बूद्वीपके अन्तर्गत पर्वत नदी आदिकी वेदिकाओका वर्णन है। अन्तमें नदी तट, पर्वत, उद्यान, भवन, शाल्मलि वृक्ष, जम्बूवृक्ष आदिके ऊपर स्थित जिन प्रतिमाओंको नमस्कार किया है।

२ दूसरे उद्देशमें २१० गाथाएँ हैं। इस उद्देशमे जम्बूद्वीपके क्षेत्र विभागका वर्णन करते हुए उसमें भरतादि सात क्षेत्र तथा उनका विभाग करनेवाले हिमवान् आदि छै कुलाचल वतलाये है तथा उनके विस्तारादिका कथन किया हैं। इनके घनुष पृष्ठ, जीवा, चूलिका और वाण आदिका प्रमाण लानेके लिए गणित सूत्र भी दिये है।

भरत और ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें स्थित विजयार्ध पर्वतका भी वर्णन है। आगे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके भेदोका उल्लेख करके सव विदेह क्षेत्रो, पाँच म्लेच्छ खण्डो और सव विद्याधर नगरोंमें सदा चतुर्थकाल वर्तमान वतलाया है और भोगभूमियोमें प्रथम, द्वितीय, और तृतीय काल वतलाया है। प्रसगवश इन कालोमें होने वाली आयु, शरीरकी ऊँचाई आदिका भी कथन किया है और कौन जीव किन परिणामोंमे भोगभूमियोमें उत्पन्न होता है यह भी वतलाया है।

मानुषोत्तर पर्वतसे आगे अन्तके स्वयभूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित नगेन्द्र पर्वत पर्यन्त असख्यात द्वीप समूद्रोमें भोगभूमि की सी स्थिति रहती है और वहाँ तिर्यञ्च जीव ही रहते है, इत्यादि रूपसे सर्वत्र कालोका निर्देश करते हुए अन्तिम छहों कालोका स्वरूप वतलाया है।

३ तीसरे उद्देशमें २४६ गाथाएँ है। इसमें जम्बूद्वीपस्थ पर्वतो, नदियो और भोगभूमियोका वर्णन है।

४ चतुर्थ उद्देशमें २९२ गाथाएँ है। इसी उद्देशमें मुख्य रूपसे जम्बूद्वीपस्थ विदेह क्षेत्रके मध्यमें स्थित सुमेरु पर्वतके विस्तारादिका तथा उस पर स्थित नन्दन आदि वनोके विस्तारादिका वर्णन है।

प्रारम्भमें मेरुकी स्थिति वतलाते हुए लोकके आकारादिका वर्णन है, जो कुछ विचित्र है। यद्यपि गाथा १०से जो लोकका विस्तारादि वतलाया है वह तो सभी ग्रन्थोमें पाया जाता है किन्तु गाथा ३से ९ तक जो कथन किया है वह अन्यत्र नही मिलता। यथा—लोककी स्थिति वलभीके आकार है। वह लोक कुल पर्वतके समान हैं। अधोलोकका आकार देवच्छन्दके सदृश, छज्जाके सदृश, तलघरके समान अथवा पक्षीके पंखके समान हैं आदि।

५ पाँचवें उद्देशमें १२५ गाथाएँ हैं। इसमें मेरु पर्वत पर स्थित जिनभवनोका वर्णन है।

६ छठें उद्देशमें १७८ गाथाएँ है। इसमे देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रोका वर्णन है। इन क्षेत्रोमें युगल रूपसे जन्म लेनेवाले स्त्री-पुरुष मरकर नियमसे स्वर्गमें देव होते है।

७ सातवें उद्देशमें १५३ गाथाएँ हैं। इसमें विदेह क्षेत्रका वर्णन है। यह निषध और नील पर्वतके मध्यमें स्थित है। इसके बीचमें सुमेरु पर्वत और उसके चारो ओर चार दिग्गज पर्वत है। इनके कारण विदेह पूर्व विदेह और अपर-विदेहके रूपमें दो भागोमें विभाजित है। बीचमें सीता और सीतोदा महा-नदियोंके कारण प्रत्येकके दो भाग हो गये है। इन चारो भागोमेंसे प्रत्येक भागमें ४ वक्षार पर्वत और तीन विभग नदियाँ है। इनके कारण प्रत्येक भाग के भी आठ-आठ भाग हो गये हैं। ये ८×४=३२ भाग ३२ विदेह कहे जाते हैं। प्रत्येक विदेह एक-एक चक्रवर्तीके अधीन रहता है अत चक्रवर्तीकी विभूति तथा विजय यात्राका भी वर्णन किया गया है।

८ आठवें उद्देशमें १९८ गाथाएँ हैं। इसमें पूर्व विदेहका वर्णन है।

९ नौवें उद्देशमें १९७ गाथाएँ है। इसमें अपर विदेहका वर्णन है।

१० दसवें उद्देशमें १०२ गाथाएँ हैं। इसमें लवण समुद्रका वर्णन है। तदनुसार लवण समुद्रकी गहराई व्यास, पातालोकी अवस्थिति, जलकी हानि वृद्धि, अन्तर्द्वीप तथा अन्तद्वीपोमें बसने वाले मनुष्योंका वर्णन है।

११ ग्यारहवें उद्देशमें ३६५ गाथाएँ हैं। इसमें घातकी खण्ड द्वीपसे लेकर आगेके द्वीप समुद्रोका तथा अधोलोक (नारकलोक) और ऊर्ध्वलोक (देवलोक) का वर्णन है। प्रारम्भकी ८२ गाथाओंमें तो केवल घातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपका वर्णन है। आगे शेष द्वीप समुद्रोमेंसे आदि और अन्तके सोलह सोलह द्वीपों और समुद्रोंका नाम मात्र गिनाया है तथा कुछ विशेष बातोका कथन कर दिया है। गाथा ९६ से १०३ तक रज्जूकी ग्रन्थिका जो प्रक्षेपण किया गया है वह अस्पष्ट है पता नही ग्रन्थकारने इसे कहाँसे लिया है। अधोलोकका वर्णन प्रारम्भ करनेसे पूर्व गाथा १०६–१११ में पुन लोकका वर्णन किया है। आगे नारकलोक और देवलोकका वर्णन है।

१२ बारहवें उद्देशमें ११३ गाथाएँ है। इसमें ज्योतिर्लोकका वर्णन है। किन्तु वह वर्णन चन्द्रमाके विमानसे प्रारम्भ होता है। और उसीके कथनकी यहाँ प्रधानता है। प्रारम्भकी साठ पैंसठ गाथाओंमें चन्द्रको लेकर ही कथन है। ऐसा अन्यत्र नही पाया जाता। सिद्धान्तके अनुसार चन्द्र इन्द्र है शायद इसीसे उसके कथनको ही मुख्यता दी गई है। आगे शेष गाथाओसे सभी ज्योतिषी देवोका साधारण कथन कर दिया है। बहुत सा आवश्यक कथन नही किया गया है।

१३. तेरहवें समुद्देशमें १७६ गाथाएँ है। सर्व प्रथम कालके व्यवहार और परमार्थ रूप दो भेदोको बतलाकर समय आवलि आदि व्यवहार कालके भेदोका

कथन किया है। आगे परमाणुका स्वरूप वतलाकर उत्सेधागुल, प्रमाणागुल और आत्मागुलका कथन है। फिर पल्य आदि प्रमाणोका कथन है।

गा० ४४ से सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है और सर्वज्ञके वचनको प्रमाण वतलाया है। तथा प्रमाणके प्रत्यक्ष परोक्षादि भेदोका कथन करते हुए मति ज्ञानके भेद प्रभेदोका तथा श्रुतज्ञानका कथन किया है। तथा 'वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोमें प्रणाणता होती है' इस कथनके समर्थनमें वक्ता अरहन्त देवकी विशेपताओका वर्णन वहुत विस्तारसे किया है। (गा० ८४–१३७)।

उक्त कथनके साथ ही जम्वूद्वीप पण्णत्तिका कथन समाप्त हो जाता है और उसके पश्चात् ग्रन्थकारने अपनो गुरु परम्परा वगैरहका कथन किया है। सक्षेपमे यह ग्रन्थका विषय परिचय है।

तुलना तथा आधार

जैसा प्रारम्भमें कहा गया है कि ग्रन्थकारने आचार्य परम्परासे आगत ग्रन्थार्थका उपसंहार करके इस ग्रन्थकी रचना की है। किन्तु यह तो सामान्य कथन है जो प्राय ग्रन्थकारोके द्वारा अपने ग्रन्थका प्रामाण्य वतलानेके लिये किया जाता है। ग्रन्थकी अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करनेसे प्रकट होता है कि ग्रन्थकारने अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोका उपयोग इस ग्रन्थमें किया है जिसका खुलासा सक्षेपमें इस प्रकार है—तिलोयपण्णत्तिसे इसकी रचना शैली विल्कुल मिलती है। जैसे ति० प० के प्रारम्भमें पाँच गाथाओंके द्वारा पाँचो परमेष्ठियोका स्मरण करके छठी गाथाके द्वारा ति० प० को कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है, वैसे ही जम्वूद्वीप०के प्रारम्भमें पाँच गाथाओके द्वारा पाँचो परमेष्ठियोका स्मरण करके छठी गाथाके द्वारा उन्हें नमस्कार करते हुए द्वीप सागर पण्णत्तिको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। अन्तर केवल इतना है कि ति० प० में पहले सिद्धोका स्मरण करके तव अरहन्तोंको स्मरण किया है और ज०द्वी० प० में पहले अरहन्तोको स्मरण करके तव सिद्धोंको स्मरण किया गया है।

ति० प० में अधिकारके अन्तमें ऋपभ देवको और शेप सात अधिकारोके आदि तथा अन्तमें क्रमसे एक एक तीर्थङ्करको नमस्कार करते हुए शेप सव तीर्थङ्करोको अन्तिम अधिकारमें नमस्कार किया है। ज० द्वी० प० में पहले उद्देशको छोडकर शेप वारह उद्देशोंके आदि और अन्तमें एक एक तीर्थङ्करको क्रमसे नमस्कार किया गया है।

जं० द्वी० प० की विपय प्रतिपादन शैली भी ति० प० की समान है। तथा ति० प० की वहुतसी गाथाएँ यत्किञ्चित् परिवर्तनके साथ ज० द्वी० प० मे वर्तमान है। उदाहरणके लिये ति० प० के प्रथम अधिकारमें मानका कथन

परमाणुसे प्रारम्भ किया गया है। ज० द्वी० प० में यही कथन उसके तेरहवें अधिकारमें किया गया है। ति० प० मे सात गाथाओंके द्वारा (गा० ९५-१०१) परमाणुका स्वरूप बतलाया है। ज० द्वी० प० में उनमेंसे दो गाथाएँ ही ली गई है—

'सत्थेण सुतिक्खेण छेत्तुं भेत्तु च ज किरस्सक्कं।
जलयलणादिहिं णास ण एदि सो होदि परमाणु ॥९६॥
अतादिमज्झहीण अपदेसं इदिएहि ण हु गेज्झं।
जं दव्व अविभत्त त परमाणु कहति जिणा ॥९८॥—ति० प०

× × ×

अंतादिमज्झहीण अपदेसं णेव इदिए गेज्झं।
ज दव्व अविभागी तं परमाणु मुणेयव्वा ॥१६॥
सत्थेण सुतिक्खेण ण छेतु भेत्तु च जं किर ण सक्कं।
त परमाणुं सिद्धा भणति आदि पमाणेण ॥१८॥—ज० द्वी० प०

ये दोनो गाथाएँ ति० प० में भी ग्रन्थान्तरोसे ली गई है। जं० द्वी० प० में भी ये ग्रन्थान्तरोंसे ही ली गई जान पडती है। इनमेंसे 'सत्थेण सुतिक्खेण' गाथा श्वेताम्बर साहित्यमें बहुतायतसे मिलती है। ज्योतिष्करण्ड (गा० ७३) मे भी यह गाथा ज० द्वी० प० के अनुरूप ज्योकी त्यो है। अत नीचे आगेकी अन्य गाथाएँ दी जाती हैं—

परमाणूहिं अणताणतेहि बहुविहेहि दव्वेहिं।
उवसण्णासण्णो त्तिय सो खदो होदि णामेण ॥१०२॥
उवसण्णासण्णो त्तिय गुणिदो अट्ठेहि होदि णामेण।
सण्णासण्णो त्ति तदो दु इदि खघो पमाणट्ठ ॥१०३॥—ति० प० १।

× × ×

परमाणुहिं य णेया णताणतेहि मेलिदेहि तहा।
ओसण्णासण्णे त्ति य खंधो सो होदि णादव्वो ॥१९॥
अट्ठेहि तेहिं दिट्ठा ओसण्णासण्णएहिं दव्वेहिं।
सण्णासण्णो त्ति तदो खघो णामेण सो होइ ॥२०॥—जं०द्वी०प०१३।

ति० प० में भगवान महावीरके पश्चात् हुए अग ज्ञानियोंकी परम्परा दी गई है उसमें उनका कालमान भी है। ज० द्वी० प० के आरम्भमें कालमानको छोड कर उसी रूपमें परम्परा दी गई है उसकी कुछ गाथाएँ यहाँ उद्धृत की जाती है—

णदी य णदिमित्तो विदियो अवराजिदो तइज्जो य।
गोवद्धणो चउत्थो पचमओ भद्दबाहुत्ति ॥५४८२॥

पच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा ।
ते वारस अगधरा तित्थे सिरिवड्ढमाणस्स ॥१४८३॥—ति०प० ४ ।

× × ×

णदी य णदिमित्तो अवराजिद मुणिवरो महातेओ ।
गोवद्धणो महप्पा महागुणो भद्दवाहू य ॥१२॥
पंचेदे पुरिसवरा चउदसपुव्वी हवति णायव्वा ।
वारस अगधरा खलु वीरजिणिंदस्स णायव्वा ॥१३॥—ज०द्वी०प० १ ।

इस तरहकी समान गाथाएँ वहुत सी हैं ।

किन्तु ज० द्वी० प० का पूरा विषय वर्णन ति० प० के सर्वथा अनुकूल नही है । उसमें अनेक स्थलो पर अन्तर भी हैं । ति० प० (१–१०४) में आठ सन्नासन्नोंका एक त्रुटिरेणु और आठ त्रुटिरेणुओंका एक त्रसरेणु वतलाया है । किन्तु ज० द्वी० प० १३।२१ में आठ सन्नासन्नोका एक व्यवहार परमाणु और आठ व्यवहार परमाणुओंका एक त्रसरेणु कहा है । व्यवहार परमाणु सज्ञा किसी दिगम्वर परम्पराके ग्रन्थमें हमने नही देखी । हाँ श्वेताम्वरीय परम्पराके ग्रन्थोंमें मिलती हैं ।

अनुयोगद्वार सूत्रमें दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

परमाणु तसरेणु रहरेणु अग्गय च वालस्स ।
लिक्खा जूआ य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥९९॥
सत्थेण सुतिक्खेणवि छित्तु भेत्तु च ज किर न सक्का ।
त परमाणु सिद्धा वयति आइ पमाणाण ॥१००॥

ये दोनो गाथाएँ ज० द्वी० प० में इस प्रकार हैं—

सत्थेण सुतिक्खेण य छेत्तु भेत्तु च ज किर ण सक्क ।
त परमाणुं सिद्धा भणति आदिं पमाणेण ॥१८॥
परमाणु तसरेणु रहरेणु अग्गयं च वालस्स ।
लिक्खा जूवा य जओ अट्ठगुणविवड्ढिदा कमसो ॥२२॥

ये दोनो गाथाएँ ज्योतिष्करण्डमें इसी क्रमसे है । अत वहीसे ली गई जान पडती हैं । ऐसी अनेक गाथाएँ है जो दोनो ग्रन्थोमें समान है । अनुयोगद्वारसूत्रमें अनन्तानन्त व्यवहार परमाणु पुद्गलोंकी एक उत्सन्नासन्ना, आठ उत्सन्नासन्नाओ की एक सन्नासन्ना और आठ सण्णासण्णाओंका एक उर्ध्वरेणु और आठ उर्ध्वरेणुओका एक त्रसरेणु वतलाया हैं । तिलोयपण्णत्ति तथा तत्त्वार्थ वार्तिकमें अनन्तानन्त परमाणुओकी एक उत्सन्नासन्ना आदि वतलाये हैं । वहा व्यवहार परमाणु-

की कोई चर्चा नही है। केवल उर्व्वरेणुके स्थानमें त्रुटिरेणु है। किन्तु ज० द्वी० प० में त्रुटिरेणुके स्थानमें व्यवहार परमाणु है। इस तरह उक्त दो गाथाओको अपना कर भी ज० द्वी० प० के कर्ताने वर्णनमें ति० प० और तत्त्वार्थ वार्तिक का ही अनुसरण किया है। केवल त्रुटिरेणुके स्थानमें व्यवहार परमाणु संज्ञाको स्थान दिया है। क्यो ऐसा किया गया है यह नही कहा जा सकता।

तिलोयपण्णत्ति, तत्त्वार्थवार्तिक, वृहत्सग्रहणी, हरिवश पुराण, तथा जम्बूद्वीप पण्णत्ति, इन सभी ग्रन्थोंमें जम्बूद्वीपमें २, लवण समुद्रमें ४, धातकी खण्डमे १२, कालोदधिमें ४२ और पुष्करार्धमें ७२ चन्द्रमा और उतने ही सूर्य वतलाये हैं। किन्तु मनुष्यलोकसे वाहर चन्द्रसूर्योकी सख्याके प्रमाणमें मतभेद हैं। अकलक देवने तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] वाह्य पुष्करार्धमें भी ७२ चन्द्र सूर्य वतलाये हैं। उससे चौगुने पुष्करवर समुद्रमें वतलाये हैं और आगे द्वीपसमुद्रोंमें दूने-दूने वतलाये हैं। वृहत्सग्रहणीमें[2] (गा० ६५) एक गाथाके द्वारा यह वतलाया है कि धातकीखण्डसे लेकर आगेके द्वीपो और समुद्रोंमें चन्द्रमाकी संख्या लानेके लिये तिगुना करके उसमें पहलेके द्वीपसमुद्रोकी संख्याको जोड देनेसे आगेके द्वीप अथवा समुद्र में चन्द्रमाओकी सख्या आ जाती है। जैसे धातकीखण्डमें १२ चन्द्रमा हैं। १२ × ३=३६। इसमें जम्बूद्वीपके २ और लवणके ४ चन्द्रमाओको जोडनेसे ४२ संख्या आती है। कालोदधिमें ४२ चन्द्र-सूर्य हैं। ४२ को तिगुना करके उसमें पहले के द्वीप समुद्रोकी सख्याका प्रमाण जोड़ देनेसे पुष्करवरद्वीपके चन्द्र सूर्यका प्रमाण ४२ × ३=१२६ + १८ = १४४ आता है। इसमेंसे ७२ चन्द्रसूर्य आभ्यन्तर पुष्करार्धमें और ७२ वाह्य पुष्करार्धमें हैं। तत्त्वार्थवार्तिक और हरिवश पुराणमें ऐसा ही वतलाया है। हरिवंश[3] पुराणमें तो सग्रहणीकी गाथाका करण सूत्रके अनुसार सस्कृत रूप भी दिया है।

ज० द्वी०प० में ति०प० की ही तरह वाह्य पुष्करार्धके प्रथम वलयमें १४४ चन्द्रमा वतलाये हैं। तदनुसार पुष्करवर समुद्रके प्रथम वलयमें उससे दुगने अर्थात् २८८ होने चाहियें। किन्तु ज० द्वी० प० में १४४ ही वतलाये हैं और आगे

---

१ 'पुष्करार्धे द्वासप्ततिः सूर्या।' वाह्ये पुष्करार्धे च ज्योतिषामियमेव सख्या। ततश्चतुर्गुणा पुष्करवरोदे, तत परा द्विगुणा द्विगुणा ज्योतिषा सख्या अवसेया—त० वा० पृ० १२०

२ 'धायइखण्डप्पभिई उद्दिट्ठा तिगुणिया भवे चंदा। आइल्लचंद सहिआ अणंतराणंतरे खित्ते ॥६१॥—वृ० स०।

३ धातक्यादिषु चन्द्रार्का क्रमेण त्रिगुणा पुन। व्यतिक्रान्तैर्युतास्ते स्युर्द्वीपे च जलधौ परे ॥३३॥ ह० पु० ६ स०।

वारुणीवर द्वीपके प्रथम वलयमें २८८ वतलाये है। ग्रन्थकारने यह कथन किस आधारसे किया है, यह कहना शक्य नही है। तत्त्वार्थवार्तिकके अनुसार भी पुष्करवर समुद्रमें ७२ × ४ = २८८ चन्द्रसूर्य होते है।

ऐसे ग्रन्थकारसे इस प्रकारकी भूलकी आशा भी नही की जा सकती। अस्तु। फिर भी यह निर्विवाद है कि ति० प० जम्बूद्वीपपण्णत्तिका एक प्रमुख आधार भूत ग्रन्थ है।

इसी तरह मूलाचार ग्रंथके अन्तिम प्रकरण पर्याप्तिसग्रहणी की भी कई एक गाथाएँ जम्बू द्वी० प० के उद्देश ११, १२, १३ में[1] ली गई हैं। त्रिलोकसार[2] की भी कुछ गाथाएँ ज० द्वी० प० के साथ आशिक रूपसे मेल खाती हैं किन्तु उनमें क्वचित् अर्थभेद भी पाया जाता है। दोनो ग्रथोकी कुछ मिलती हुई गाथाएँ उपमा प्रमाणसे सम्बद्ध हैं। जिनमेंसे त्रि० सा० गा० ९३ तथा ज० द्वी० प० १३।३६ वी गाथा तो पूज्यपादकी सर्वार्थिसिद्धि (३।३८) में उद्धृत होनेसे दोनो ग्रथोंसे प्राचीन है। आगे—

सत्तमजम्मावीणं सत्तदिणब्भंतरम्मि गहिदेहिं।
सण्णट्ठ सण्णिचिद भरिदं वालग्गकोडीहिं ॥ ९४ ॥—त्रि० सा०
एगाहि वीहि तीहि य उक्कस्स जाव सत्तरत्ताणं।
सणद्ध सणिचिद भरिद वालग्गकोडीहिं ॥३७॥—ज० द्वी० प० १३।

इन गाथाओका पूर्वार्ध भिन्न है किन्तु उत्तरार्ध समान है। परन्तु श्वे० परम्पराके ज्योतिष्करण्डमें भी यह गाथा ज० द्वी० प० से वहुत कुछ समानता रखती हुई इस प्रकारसे पाई जाती है—

एकाहिय-वेहिय-तेहियाण उक्कोससत्तरत्ताणं।
सम्मट्ठ सन्निचिय भरिय वालग्गकोडीण ॥ ७९ ॥

एक गाथा ऐसी भी है जो त्रि०सा० (९५) में और ज०द्वी० प० (१३।३५) में समानताको लिये हुए पाई जाती है। अन्य भी कुछ गाथाएँ पाठभेद और मान्यता भेदको लिये दोनो ग्रन्थोंमें समान रूपसे मिलती हैं। और उस परसे यह सम्भावना की जाती है कि एकने दूसरेको देखा हो।

---

१ ज० प० ११।१३७–१३८ तथा मूलाचा० १२।७५-७६। ज० प० ११।१३९, १४०, १४१ तथा मूला० १२।२१, १०९-११० आदि।

२ त्रि० सा० ९६ जं० प० ४।३४। त्रि० सा० ९५, जं० प० १३।३५। त्रि० सा० ९३, ज० प० १३।३६। त्रि० सा० ९४, ज० प० १३।३७। त्रि० सा० ९९–१०२ जं० प० १३।३८–४१ आदि।

रचयिता तथा गुरु परम्परा

जं० द्वी० प० के तेरहवें उद्देश के अन्तमें ग्रथकारने लिखा है कि जिन-मुखोद्भूत परमागमके उपदेशक विख्यात श्री विजय गुरु है। उनके पासमें जिनागमको सुनकर मैंने यहाँ कुछ उद्देशोंमें मनुष्य क्षेत्रके अन्तर्गत ४ इष्वाकार, ५ मन्दर शैल, ५ शालमलिवृक्ष, ५ जम्बूवृक्ष, २० यमक पर्वत, २० नाभिगिरि, २० देवारण्य, ३० भोग भूमिया, ३० कुलाचल, ४० दिग्गजपर्वत, ६० विभग नदियाँ, ७० महा नदियाँ, ३० पद्मद्रहादि, १०० वक्षार पर्वत, १७० वैताढ्य पर्वत, १७० ऋषभ गिरि, १७० राजधानियाँ, १७० पट्खण्ड, ४५० कुण्ड, और २२५० तोरण इत्यादि बहुतसे ज्ञातव्य विषयोंका कथन तथा इनके अतिरिक्त मनुष्य लोकमें अढाई द्वीप, दो समुद्र, आदिका तथा अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोकका कथन श्री विजय गुरुके प्रसादसे किया है (१४६–१५३ गा०)।

श्री माघनन्दि गुरु श्रुत सागरके पारगामी विख्यात है। उनके शिष्य सकलचन्द्र गुरु हुए। उनके शिष्य श्री नन्दि गुरु हुए। उनके निमित्त यह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति लिखी गई है। तथा एक वीर नन्दि नामक आचार्य हुए है। उनके शिष्य बलनन्दि गुरु हुए। वे सूत्रार्थके मर्मज्ञ थे। उनके शिष्य सिद्धान्तके पारंगत पद्मनन्दि नामक मुनि हुए। श्री विजय गुरुके पासमें अतिविशुद्ध आगम-को सुनकर मुनि पद्मनन्दिने इसको सक्षेपसे लिखा। (१५४–१६४ गा०)।

जिनशासन वत्सल शक्ति नामक भूपाल बारा नगरका शासक था। प्रचुर पुष्करणियो व वापियोंसे सयुक्त, भवनोंसे भूपित, अति रमणीय, नानाजनोंसे संकीर्ण, धनधान्यसे व्याप्त, सम्यग्दृष्टि जनोंके समूहसे सहित, मुनिगणसे मण्डित, रम्य और जिन भवनोंसे भूपित पारियात्र देशके अन्तर्गत बारा नगरमें स्थित होकर मैंने इस जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिको संक्षेपमें लिखा है। मुझ अल्पज्ञने जो आगम विरुद्ध लिखा गया हो उसको विद्वान् मुनि प्रवचन वत्सलतासे शुद्ध कर लें (गा० १६५–१७०)।

उक्त कथनके अनुसार ग्रन्थकारका नाम पद्मनन्दि था। उनके गुरुका नाम बलनन्दि था। और गुरुके गुरुका नाम वीरनन्दि था। ग्रंथकार पद्मनन्दि-ने शास्त्रका ज्ञान श्री विजय गुरुसे प्राप्त किया था। और इस ग्रन्थकी रचना उन्होने माघनन्दिके प्रशिष्य तथा सकल चन्द्रके शिष्य श्री नन्दिके लिये की थी। तथा इस ग्रन्थकी रचना बारा नगरमें हुई थी। बारा नगर परियात्र देशमें था और वहाँ शक्ति भूपाल राज्य करते थे।

समय विचार

ग्रन्थकारने ग्रन्थमें उसके रचनाकालका कोई निर्देश नही किया। और न

अपने सघ, गण अन्वय आदिका ही कोई उल्लेख किया। उनकी गुरु परम्परा भी समयके विषयमें कोई सहायता नही करती।

हेमचन्द्रने अपने कोशमें लिखा है—'उत्तरो विंध्यात्पारियात्र।' अर्थात् विंध्य पर्वतसे उत्तरमें पारियात्र है। श्रीयुत नाथूरामजीने लिखा[1] है कि यह पारियात्र शब्द पर्वतवाची और प्रदेशवाची भी है। विन्ध्याचलकी पर्वतमाला-का पश्चिम भाग जो नर्मदा तटसे शुरु होकर खभात तक जाता है और उत्तर भाग जो अर्वलीकी पर्वत श्रेणी तक गया है, पारियात्र कहलाता है। अत पूर्वोक्त वारा नगर इसी भूभागके अन्तर्गत होना चाहिये। राजपूतानेके कोटा नगरमें जो वारा नामका कस्वा है वही वारा नगर है क्योंकि वह पारियात्र देशकी सीमाके भीतर ही आता है। नन्दि सघकी पट्टावलीके अनुसार वारामें भट्टारकोंकी एक गद्दी भी रही है और उसमे वि० स० ११४४ से १२०६ तकके १२ भट्टारकोंके नाम भी दिये हैं। इससे भी जान पडता है कि सम्भवत ये सव पद्मनन्दि या माघनन्दिकी शिष्य परम्परामें हुए होगे। और यही वारा (कोटा) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके निर्मित होनेका स्थान होगा'।

ओझाजी लिखित राजपूतानेका इतिहासके अनुसार गुहिलोत वशके राजा नरवाहनका पुत्र शालिवाहन वि० स० १०३०—३५ के लगभग मेवाडका शासक था जिसका उत्तराधिकारी और पुत्र शक्ति कुमार था। प्रेमीजीका अनुमान है कि इसीके समयमें जम्बूद्वीप पण्णत्तिकी रचना हुई है। इसके राजत्व कालके तीन शिलालेख अव तक मिले है—

१ वि० स० १०३४ वैशाख शुक्ला १ का आट पुर (आहाड) में कर्नल टाडको मिला।

२, आहाडके जैन मन्दिरकी देव कुलिका वाला लेख।

३ आहाडके जैन मन्दिरकी सीढीमें मामूली पत्थरके स्थान पर लगा हुआ लेख।

प्रेमीजीका कहना है कि जैन मन्दिरोंके लेखोंसे वह जिन शासन वत्सल भी मालूम होता है। यद्यपि वह पाशुपत मतका अनुयायी था। किन्तु जम्बूद्वीप पण्णत्तिकी रचनाके समय वह आहाड (मेवाड) का नही, वारा नगरका प्रभु था। मुजने वि० स० १०५३ के लगभग मेवाडकी राजधानी आहाडको तोडा था अतएव उसके वाद ही किसी समय शक्तिकुमारका निवास स्थान वारा हुआ होगा और वही जम्बूद्वीप पण्णत्तिका रचना काल है।

---

१ 'जै० सा० इ०' पृ० २५६—२६१ पर 'पद्मनन्दिकी जम्बू द्वीपपण्णत्ति' शीर्षक लेख।

जैन भारती भवनसे प्रकाशित पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाकी प्रस्तावनामें प० गजाधर लालजीने लिखा है कि पूना लाइब्रेरीकी रिपोर्टसे पता लगा है कि पद्मनन्दि नामके कई आचार्य हो गये है उनमें एक जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ता हैं। दूसरे पद्मनन्दिने पञ्चविंशतिका, चरणसार प्राकृत, धर्मरसायन प्राकृत ये तीन ग्रन्थ बनाये हैं। इनके समयादिका कुछ भी पता नही लगता। तीसरे कर्णखेट ग्राममें हुए है। जिन्होने सुगन्ध दशमी उद्यापनादि बनाये हैं। चौथे पद्मनन्दि कुण्ड-पुर निवासी हुए है जिन्होने चूलिका सिद्धान्तकी वृत्ति नामक व्याख्या १२००० श्लोकोंमें बनाई है। पाँचवें विक्रम स० १३९५मे हुए है। छठें पद्मनन्दि भट्टारक नामसे प्रसिद्ध हुए हैं। जिनकी बनाई हुई देवपूजा, रत्नत्रयपूजा पूनाकी लाइब्रेरी में हैं। सातवे विक्रम स० १३६२में भट्टारक नामसे हुए हैं। इनकी लघु पद्म-नन्दि सज्ञा भी है। इनके बनाये हुए यत्याचार, आराधना सग्रह, परमात्मप्रकाश-की टीका, निघंटु (वैद्यक) श्रावकाचार, कलिकुण्ड पार्श्वनाथविधान, अनन्त कथा आदि ग्रन्थ है।

इनमें चौथे पद्मनन्दि तो आचार्य कुन्दकुन्द प्रतीत होते हैं। कौण्डकुन्दपुर के निवासी होनेके कारण वे कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए। इन्द्रनन्दिके श्रुता-वतारके अनुसार उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डो पर परिकर्म नामका ग्रन्थ रचा था और उसका परिमाण बारह हजार श्लोक प्रमाण था। यह पद्मनन्दि सबसे प्रथम हुए हैं। इनका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दीका उत्त-रार्ध है। शेष पद्मनन्दियोकी एकता अथवा भिन्नता चिन्तनीय है।

प० गजाधर लालजीने पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाके कर्ता को ही जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिका कर्ता होनेकी सभावना की है। क्योंकि पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकामें कर्ता पद्मनन्दिने कई स्थानो पर अपने गुरु वीरनन्दिका स्मरण किया है तथा उन्होंने इस ग्रन्थमें ऋषभ स्तोत्र तथा जिनेन्द्र स्तोत्रकी रचना प्राकृतमें की है अत वे प्राकृत भाषाके भी पडित जान पडते हैं।

किन्तु जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके रचयिता पद्मनन्दिके गुरुका नाम बलनन्दि और गुरुके गुरुका नाम वीरनन्दि था। ऐसी स्थितिमें गुरु बलनन्दिको छोडकर गुरुके गुरु वीरनन्दिको ही स्मरण करना उनकी भिन्नताको ही प्रकट करता है।

किन्तु श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारका कहना[1] है कि भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकाके कर्ता श्रीविजय नामके एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, जिनका दूसरा नाम अपराजित सूरि है। पं० आशाधरजीने अपनी मूलाराधना दर्पण नामकी टीकामें जगह जगह उन्हें श्रीविजयाचार्यके नामसे उल्लेखित किया है।

---

१. पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ६६-६७।

श्रीविजयने अपनी उक्त टीका श्रीनन्दि गणिकी प्रेरणाको पाकर लिखी है। इधर यह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति भी एक श्रीनन्दिगुरुके निमित्त लिखी गई है। और इसके कर्ता पद्मनन्दिने अपने शास्त्र गुरुके रूपमें श्रीविजयका नाम खास तौरसे कई बार उल्लेखित किया है। इससे बहुत संभव है कि दोनो श्रीविजय एक हो और दोनो ग्रन्थोंके निमित्तभूत श्रीनन्दि गुरु भी एक ही हो। श्रीविजयने अपने गुरुका नाम बलदेव सूरि, प्रगुरुका चन्द्रनन्दि (महाकर्म प्रकृत्याचार्य) सूचित किया है और पद्मनन्दि अपने गुरुका नाम बलनन्दि और प्रगुरुका वीरनन्दि लिख रहे हैं। हो सकता है कि बलदेव और बलनन्दिका व्यक्तित्व भी एक हो, और इस तरह श्रीविजय और पद्मनन्दि गुरुभाई हो। जिनमें श्रीविजय ज्येष्ठ और पद्मनन्दि कनिष्ठ हो और इस तरह पद्मनन्दिने श्रीविजयका उसी तरहसे गुरु रूपमें उल्लेख किया हो जिस तरह कि गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्रने इन्द्रनन्दि आदिका किया है।

आगे मुख्तार साहबने लिखा है कि यदि यह कल्पना ठीक हो तो फिर यह देखना चाहिये कि इस ग्रंथ और इसके कर्ता पद्मनंदिका क्या समय ठीक हो सकता है? चंद्रनन्दिका सबसे पुराना उल्लेख श्रीपुरुषके दानपत्र अथवा नाग मंडल ताम्रपत्र में पाया जाता है जो श्रीपुरके जिनालयके लिये शकसंवत् ६९८ (वि० सं० ८३३) में लिखा गया है और जिसमें चंद्रनन्दिके एक शिष्य कुमारनन्दि और कुमारनन्दिके शिष्य कीर्तिनन्दि और कीर्तिनन्दिके शिष्य विमलचंद्रका उल्लेख है और इससे चंद्रनन्दिका समय शक सं० ६३८ से कुछ पहलेका जान पडता है। बहुत संभव है कि श्रीविजय इन्ही चंद्रनन्दिके प्रशिष्य हो। यदि ऐसा है तो श्रीविजयका समय शक सम्वत् ६५८ के लगभग प्रारम्भ होता है। और तब जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति तथा उसके कर्ता पद्मनन्दिका समय शक सं० ६७० अर्थात् वि० सं० ८०५ के आसपास होना चाहिये। उस समय पारियात्र देशके अंतर्गत बारा नगरका स्वामी कोई शक्ति या शांति नामका भूपाल राजा हुआ होगा, जिसका इतिहाससे पता चलाना चाहिये।' अंतमें मुख्तार सा०ने लिखा है कि कुछ भी हो, यह ग्रंथ अपने साहित्यादि परसे काफी प्राचीन मालूम होता है।

मुख्तार सा० ने श्रीविजय अपर नाम अपराजित सूरिके साथ पद्मनन्दिके विद्यागुरु श्रीविजयकी एकताको मानकर आगे जो एक रूपताएँ स्थापित की है मुख्तार सा० के कथनानुसार ही वे सब कल्पना पर ही आधृत है, क्योकि जम्बूद्वीप पण्णत्तिके रचयिताने जिसके लिए शास्त्र रचा, उसकी गुरुपरम्परा अलग दी है और अपनी गुरुपरम्परा अलग दी है और उनका परस्परमें कोई सम्बन्ध नही बतलाया है। तथा जिस श्रीविजय गुरुके पासमें उन्होने

शास्त्राध्ययन क्या, उनको दोनोंमेंसे किसीसे भी सम्बद्ध नही बतलाया है। यदि बलनन्दि और बलदेव एक ही व्यक्ति होते और श्रीविजय उनके शिष्य होनेके नाते पद्मनन्दिके गुरुभाई होते तो वह श्रीविजय गुरुके साथ अपने इस सम्बन्धका कुछ-न-कुछ निर्देश अवश्य करते, जैसा कि नेमिचन्द्राचार्यने इन्द्रनन्दिके विषयमें किया है। फिर उस समयमें बारा नगरके शक्ति भूपालका भी कोई अस्तित्व कहीसे ज्ञात नही होता। उससे प्रेमीजीका अनुमान अधिक समुचित प्रतीत होता है। यद्यपि उस कालमें पद्मनन्दि नामके किसी आचार्यका और उनके द्वारा उल्लिखित आचार्योका कोई पता नही चलता है। किन्तु ज०द्वी० पण्णत्ति ग्रथके उद्धरण एक संस्कृत लोकविभागको छोडकर अन्य किसी ग्रथमें नही मिलते। उद्धरणोके लिए आकर रूप धवलाटीकामें उसका एक भी उद्धरण नही है। फिर उसमें (४।१७) स्पष्ट रूपसे लोकको दक्षिण-उत्तर सात राजू लिखा है। इसके व्यवस्थापक धवलाटीकाकार वीरसेन स्वय अपनेको बतलाते हैं। यदि जम्बूद्वीप पण्णत्ति उनके सामने होती तो वह ऐसा नही लिखते, प्रमाणरूपसे उसका निर्देश करते। अत जम्बूद्वीप पण्णत्ति धवलाटीकाके पश्चात् ही लिखी गई होनी चाहिये। प्रेमीजीके प्रमाणानुसार वि०स०के ग्यारहवी शताब्दीके उत्तरार्धमें ज०द्वी०प० रची गई होगी। इससे वह त्रि०सा०के पश्चात् की ठहरती है। ज०द्वी०प०की सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति वि०सं० १५१८की लिखी हुई मिलती है। उसी समयके लगभग रचे गये सस्कृत लोकविभागमें भी उसका उल्लेख है। अत यह निश्चित है कि उसकी रचना उससे पूर्व हो चुकी थी।

सस्कृत लोक विभाग

जैसा कि प्राकृत लोक विभागके सम्बन्धसे इसके विषयमें पहले लिखा गया है यह लोक विभाग सस्कृतके अनुष्टुप श्लोकोमे है। यह सर्वनन्दि मुनिके द्वारा रचित प्राकृत लोकविभागकी भाषाका परिवर्तन करके सिंह सूरिके द्वारा रचा गया है। इसमें ग्यारह प्रकरण हैं।

१ पहले जम्बूद्वीप विभागमें जम्बूद्वीपका विस्तार, छह कुलाचल, विदेह, विजय, विजयार्ध, मेरु, भद्रशाल आदि वनोका कथन है।

२ दूसरे लवण समुद्र विभागमें लवण समुद्रका विस्तार, उसके मध्यमें स्थित पाताल, जलकी हानि वृद्धि तथा अन्तर्द्वीपज मनुष्योका कथन है।

३. तीसरे मानुष क्षेत्र विभागमें धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपोका तथा कालोदक समुद्रका वर्णन है।

४. चौथे द्वीप समुद्र विभागमें आदि तथा अन्तके १६, १६ द्वीप समुद्रोका

नामोल्लेख करके राजुके अर्धच्छेदोंके पतनका तथा द्वीप समुद्रोंके अधिपति व्यन्तर देवोंके नामोंका कथन किया है। पश्चात् नन्दीश्वर द्वीपके विस्तार, परिधि उसमें स्थित अंजनगिरि, दधिमुख, और रतिकर पर्वतोका तथा इन्द्रोके द्वारा किये जाने वाले जिनपूजा विधानका कथन है। आगे अरुणवर द्वीप और अरुणवर समुद्रका निर्देश करके कुण्डलद्वीपमें स्थित कुण्डल गिरि तथा रुचकवर द्वीपमें स्थित रुचक पर्वत पर स्थित कूटों और उनपर वसने वाली दिक्कुमारिकाओके कार्योंका कथन है।

५ पाचवें काल विभागमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोके सुषम सुषमादि विभागोका, अवसर्पिणीके प्रथम तीन कालोमें होने वाले मनुष्योकी आयु शरीरोत्सेध आदिका, दश प्रकारके कल्पवृक्षोका, कर्म भूमिके प्रारम्भमें उत्पन्न होने वाले कुलकरोके कार्योंका तथा भोगभूमिका अन्त व कर्मभूमिके प्रवेशका, तीर्थङ्करोकी उत्पत्तिका, पाचवें और छठे कालकी विशेषताओका व अवसर्पिणी कालके अन्त और उत्सर्पिणी कालके प्रवेशका कथन है।

इस प्रकरणमें ग्रन्थकारने आदि पुराणके श्लोकोका खूव उपयोग किया है। प्रारम्भमें लगभग ४०–४५ श्लोकोंके पश्चात् 'उक्त चार्ये' कहकर तीसरे कालके अन्तमें उत्पन्न होने वाले प्रतिश्रुति आदि कुलकरोका वर्णन करते हुए जो श्लोक दिये गये हैं, वे आदि पुराणके तीसरे पर्वमें वर्तमान हैं।

यहाँ १४ कुलकरोकी आयुका प्रमाण क्रमसे पल्यका दसवा भाग, अमम, अटट, त्रुटित, कमल, नलिन, पद्म, पद्माग, कुमुद, कुमुदाग, नयुत, नयुताग, पूर्व और पूर्वकोटि वतलाया है। तिलोय पण्णत्ति (४, ५०२-५०३ गा०) में इस मतका उल्लेख 'केई' करके किया गया है।

भोगभूमिजोंकी यौवन प्राप्तिमें यहाँ २१ दिनका काल प्रमाण वतलाया है परन्तु तिलोयपण्णत्तिमें (४, ३७९–३८०, ३९९–४००, ४०७) उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियोंके अनुसार यौवन प्राप्तिका काल क्रमसे, २१ दिन, ३५ दिन और ४९ दिन वतलाया है।

६ छठे ज्योतिर्लोक विभागमें ज्योतिषी देवोंके भेद, उनका निवास स्थान, विमानोका विस्तार, सचारक्रम, जम्बूद्वीपादिमें चन्द्र सख्या, मेरुसे सूर्य और चन्द्रका अन्तर प्रमाण, चन्द्र और सूर्योकी मुहूर्तगति दिन रात्रिका प्रमाण, ताप तमकी परिधिया, चार क्षेत्र, अधिक मास, दक्षिण-उत्तर अयन, विषुप, चन्द्रकी हानि वृद्धि, ग्रहादिका आकार, कृत्तिकादि नक्षत्रोका संचार, सूर्यका उदय व अस्त, तारार्ओका प्रमाण, चन्द्र आदिकी आयु तथा देवियोंकी सख्या आदिका कथन है।

७ सातवें भवनवासिलोक विभागमें प्रथम रत्नप्रभा पृथिवीके विभागोका

नामके भट्टारकोका उल्लेख मिलता है। शायद इसीसे प्रेमीजी ने सिंहसूर नामको संक्षिप्त मानकर पूरा नाम सिंहनन्दि या सिंहकीर्ति होनेकी संभावना की है और उनका समय १५वी १६वी शताब्दी अनुमान किया है।

श्री प्रेमीजीने लिखा है कि स्व० सेठ माणिक चन्द जीके चौपाटीके मंदिरमें लोकविभागकी जो हस्त लिखित प्रति है वह भट्टारक भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणकी लिखी हुई है।

ज्ञान भूषणके शिष्य और भुवनकीर्तिके प्रशिष्य विजयकीर्तिके वि० स० १५५७ और १५६१ के दो मूर्ति लेख उपलब्ध है। इससे पहलेके वि० स० १५३४, ३५, ३६ के मूर्तिलेखोमें भट्टारक ज्ञान भूषणका नाम है। अतः भट्टारक ज्ञानभूषण विक्रमकी १६वी शताब्दीके पूर्वार्धमें अवश्य वर्तमान थे। उससे पहले संस्कृत लोकविभाग रचा जा चुका था। अत विक्रमकी ग्यारवी शताब्दीके पश्चात् और १६वी शताब्दीसे पूर्व उसकी रचना हुई है।

प्रवचन[1] सारोद्धार .

प्रवचन सारोद्धार श्वेताम्बरीय साहित्यमें एक प्रतिष्ठित ग्रन्थ माना जाता है। इसमें २७६ द्वार और १५९९ प्राकृत गाथाएँ है। जैसा इसके नामसे प्रकट है यह एक संग्राहक ग्रंथ है। ग्रन्थकारने इसमें अनेक विषयोका संग्रह किया है। इसके द्वार १५८ में पल्योपमका, १५९ में सागरोपमका, द्वा० १६० अवसर्पिणी कालका और १६१ में उत्सर्पिणी कालका कथन है।

इसमे पल्यके तीन भेद किये है—उद्धार पल्य, अद्धा पल्य और क्षेत्र पल्य। तथा बादर और सूक्ष्मके भेदसे प्रत्येक पल्यके दो दो भेद किये है। दिगम्बर साहित्यमे तथा श्वे० जोतिष्करण्डमें ये भेद नही पाये जाते। हाँ, अनुयोग द्वार सूत्रमें पाये जाते हैं।

द्वार १६३ में पन्द्रह कर्म भूमियोंको, द्वा० १६४ में तीस अकर्म भूमियोको गिनाया हैं। द्वार १७२ से १८४ तक नारकियोंके आवास, आयु, लेश्या, अवधि ज्ञान, जन्म मरणका अन्तर वगैरहका कथन है। द्वार १८१ में सातवी पृथिवीसे निकल करके नारकी जीव तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न होता है, यह बतलानेके लिये आई दो गाथाएँ इस प्रकार है—

उवट्टिया उ संता नेरइया तमतमाओ पुढवीओ।
न लहंति माणुसत्तं तिरिक्खजोणिं उवणमंति ॥ १०८९ ॥

---

१ सिद्धसेनसूरि कृत वृत्तिके साथ यह ग्रन्थ दो भागोमें सेठ देवचन्द लालचन्द जैन पुस्तकोद्धार फण्डसे प्रकाशित हुआ है।

५ कुन्दकुन्दके दूसरे टीकाकार जयसेनने समयसार टीकाके[1] अन्तमें लिखा है—श्री पद्मनन्दी जयवन्त हो, जिन्होंने महातत्त्वोका कथन करने वाले समय-प्राभृतरूपी पर्वतको वुद्धि द्वारा उद्धार करके भव्य जीवोको अर्पित किया। तथा उन्होने पञ्चास्तिकायकी टीकाको प्रारम्भ करते हुए लिखा[2] है–कि कुण्डकुन्दाचार्य-के पद्मनन्दि आदि अन्य नाम भी है। वह कुमारनन्दि देवके शिष्य थे और प्रसिद्ध कथाके अनुसार उन्होने पूर्व विदेहमें जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमन्दर (सीमवर) स्वामी तीर्थंकरके दर्शन किये थे और उनके मुखकमलसे निकली हुई दिव्यवाणीको सुनकर तथा शुद्ध आत्मतत्त्व आदिका सारभूत अर्थग्रहण करके वापिस लौट आये थे। उन्होंने अन्तस्तत्त्व और वाह्यतत्त्वकी मुख्यता और गौणता का ज्ञान करानेके लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि सक्षेप रुचि वाले शिष्योंके प्रतिवोधके लिए पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्रकी रचना की थी।'

कुन्दकुन्द स्वामीके सम्वन्धमें ग्रन्थोंसे जो प्रामाणिक सूचना प्राप्त होती है वह ऊपर सकलित की गई है। इसके सिवाय शिलालेखोसे भी कुछ वातें ज्ञात होती है जो प्राय उक्त वातो की ही समर्थक है। उनका उल्लेख आगे यथास्थान किया जायेगा।

परम्परागत कथा भी कुन्दकुन्दके विषयमें पाई जाती है। व्रह्म नेमिदत्तके आराधना कथाकोशमे शास्त्र दानके फलके रूपमे एक कथा आई जो इस प्रकार है—

भरतक्षेत्रके कुरुमरई ग्राममें एक गोविन्द नामका ग्वाला रहता था। एक वार उसने जगलमें एक गुफामें एक जैनग्रथ रखा देखा। उसने उसे उठा लिया और पद्मनन्दि नामके एक महान् आचार्यको दे दिया। उस ग्रंथकी यह विशेषता थी कि आचार्य देखकर अन्तमे उसे उसी गुफामें रख देते थे। फलत पद्म-नन्दिने भी उस ग्रन्थको उसी गुफामें रख दिया। गोविन्द ग्वाला उसकी प्रतिदिन

---

१ 'जयउ रिसि पउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो।
वुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स॥"

२. "अथ श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेह गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमदरस्वामितीर्थंकरपरमदेव दृष्ट्वा तन्मुखकमल-विनिर्गतदिव्यवाणी-श्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्डकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्ववहि-स्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसक्षेपरुचिशिष्य-प्रतिवोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे।"—पञ्चास्ति० टी० १ पृ०।

निर्देश करके भवनवासी देवोंके भवनोंकी संख्या, जिन भवन, इन्द्रोके नाम, उनके भवन, परिवार, आयु, उच्छ्वास तथा आहारका प्रमाण वगैरहका कथन है।

८ आठवें अधोलोक विभागमें रत्न प्रभा आदि सात पृथिवियोंका बाहुल्य, पृथिवियोंमें प्रस्तारोंकी संख्या, श्रेणी बद्ध और प्रकीर्णक बिलोकी संख्या, उनका विस्तार, अन्तर, प्रथम श्रेणीबद्ध बिलोंके नाम, नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई, आयु, आहार, अवधि ज्ञानका विषय, वेदना, जन्म मरणका अन्तर, गति-आगति, विक्रिया आदिका कथन है।

९ नौवें व्यन्तर लोक विभागमें पहले व्यन्तरोंके तीन भेद बतलाये हैं—औपपातिक, अध्युषित, और आभियोग्य। फिर व्यन्तरोंके तीन प्रकारके निवास स्थान बतलाये है भवन, आवास और भवनपुर। फिर व्यन्तरोके आठ भेदोको बतलाकर प्रत्येकके अवान्तर भेद, इन्द्र, आयु परिवार आदिका कथन किया है।

१० दसवें ऊर्ध्व लोक विभागमें सबसे प्रथम भावन, व्यन्तर, नीचोपपात्तिक, दिग्वासी, अन्तरवासी, कूष्माण्ड, उत्पन्नक, अनुत्पन्नक, प्रमाणक, गन्धिक, महागन्ध, भुजग, प्रीतिक, आकाशोत्पन्न, ज्योतिषी, वैमानिक और सिद्धोकी क्रम से ऊपर-ऊपर स्थिति बतलाकर उनकी आयुका कथन किया है। पश्चात् १२ कल्पोका व कल्पातीतोका कथन करके प्रत्येक कल्पके इन्द्रक और श्रेणीबद्ध विमानोंका तथा १६ कल्पोंके मतानुसार विमानोकी संख्या, बाहुल्य, वर्ण, देवोंमें प्रवीचार, शरीरकी ऊँचाई, लेश्या, विक्रिया आदिका और लौकान्तिक देवोका कथन किया है।

११ ग्यारहवें मोक्ष विभागमें आठवी पृथिवीका विस्तार आदि बतला कर सिद्धोकी अवगाहनाका कथन किया है। फिर सिद्धो का स्वरूप बतलाया है।

लोक विभागके अन्तमें ग्रन्थका परिमाण अनुष्टुप श्लोकोमें १५२६ बतलाया है। परन्तु उपलब्ध लोक विभागमें २२३० श्लोक है। अर्थात् ७०४ श्लोक अधिक हैं। श्री जुगुलकिशोरजी मुख्तार[1]के लेखानुसार इस ग्रन्थमें १०० से अधिक गाथाएँ तो तिलोयपण्णत्ति की हैं, २०० से अधिक श्लोक भगवज्जिनसेनाचार्यके आदिपुराणसे लिये गये है। शेष पद्य त्रिलोकसार, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदिसे उद्धृत किये गये हैं।

रचयिताका समय

इस ग्रन्थके रचयिताने अपना नाम सिंहसूर ऋषि बतलाया है। अपने गुर्वादिके सम्बन्धमें तथा रचनाकालके सम्बन्धमें उन्होने कुछ भी नही लिखा

---

१ पु० वा० सू०, प्रस्ता०, पृ० ३२-३३।

है। मुख्तार साहवने लिखा है कि इस ग्रन्थमें भाषाके परिवर्तन और दूसरे ग्रन्थो से कुछ पद्योके 'उक्तच' रूपसे उद्धरणके सिवाय सिंहसूरकी प्राय और कुछ भी कृति नही मालूम होती। वहुत सम्भव है कि 'उक्त च' रूपसे जो यह पद्योका संग्रह पाया जाता है वह स्वय सिंहसूर मुनिके द्वारा न किया गया हो, वल्कि वादको किसी दूसरे ही विद्वानके द्वारा अपने तथा दूसरोके विशेष उपयोगके लिये किया गया हो, क्योकि ऋषि सिंहसूर जव एक प्राकृत ग्रन्थका सस्कृतमें—मात्र भाषाके परिवर्तन रूपसे ही अनुवाद करने वैठे—व्याख्यान नही, तव उनके लिये यह सभावना वहुत ही कम जान पडती है कि वे दूसरे प्राकृत ग्रन्थो परसे तुलनाके लिये कुछ वाक्योको स्वय उद्धृत करके उन्हे ग्रन्थका अग वनाएँ। यदि किसी तरह उन्हींके द्वारा यह उद्धरण कार्य सिद्ध किया जा सके तो कहना होगा कि वे विक्रमकी ११वी शताव्दीके अन्तमें अथवा उसके वाद हुए है क्योकि इसमें आचार्य नेमिचन्द्रके त्रिलोकसारकी भी गाथाएँ 'उक्त च त्रैलोक्यसारे' जैसे वाक्यके साथ उद्धृत पाई जाती है।'

'उक्तं चार्षे' 'उक्त च त्रैलोक्यसारे' जैसे वाक्योके साथ पद्योका उद्धरण जिस तरह यथास्थान पाया जाता है, उससे यह कार्य सिंहसूरका ही प्रतीत होता है जो उनके करणानुयोग विषयक वहुश्रुतत्वका तथा सग्रहप्रेमका ही परिचायक है। अत त्रिलोकसार और जम्बूद्वीपपण्णतिके पश्चात् ही इस ग्रन्थका निर्माण होना वहुत अधिक सम्भव है। सिंहसूरके साथ प्रयुक्त ऋषि विशेषणसे भी उसी-का समर्थन होता है।

इस विषयमें श्री नाथूराम जी प्रेमीकी सभावना अधिक उचित प्रतीत होती है। प्रेमीजीने लिखा है—'पिछले भट्टारक शायद अपनी मठाधीश महन्तो जैसी रहन-सहनके कारण अपनेको मुनिके वदले ऋषि लिखना पसन्द करने लगे थे। दान शासन नामका ग्रन्थ वि० स० १४७८ का वना हुआ है। उसकी अन्त प्रशस्तिमें वाक्य है—'श्री वासुपूज्यर्षिणा प्रोक्तं पावन दानशासनमिद'। अर्थात् वासुपूज्य ऋषिका कहा हुआ यह पवित्र दान शासन। इसी तरह श्रुतसागरने अपना यशोधरचरित जिन भट्टारकोंकी प्रेरणासे लिखा है उनमेंसे भट्टारक रत्न-राजको भी ऋषि लिखा है। गरज यह कि सिंहसूरके साथ जो 'ऋषि' लगा हुआ है वह यही वतलाता है कि वे भट्टारक थे'।

किन्तु श्री प्रेमीजीने जो सिंहसूरको सक्षिप्त नाम वतलाकर पूरा नाम सिंहनन्दि या सिंहकीर्ति होनेकी सभावना की है वह उचित नही मालूम होती। 'सिंहसूर' नाम अपने आपमें पूरा प्रतीत होता है। यद्यपि सिंहसूर नामके किसी भट्टारकका कोई उल्लेख नही मिलता जव कि सिंह नन्दि और सिंह कीर्ति

पूजा किया करता था। एक दिन उसे शेरने खा डाला। वह मरकर निदानवश उसी गाँवके मुखियाके घर उसके पुत्र रूपमें उत्पन्न हुआ।

बड़ा होने पर उसे अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और वह साधु हो गया वहाँसे मरकर वह राजा कुण्डेश हुआ वहाँ भी उसने जिन दीक्षा ले ली और श्रुतकेवली हुआ।

ब्रह्म नेमिदत्तसे तीन शताब्दी पूर्व हुए प० आशाधरने भी अपने सागारधर्मामृतमें शास्त्र दानके फलके रूपमें कौण्डेशका उल्लेख किया है यथा—

कौण्डेश पुस्तकार्चावितरणविधिनाऽप्यागमाम्भोधिपारम् ॥७०॥

अर्थात् पुस्तकोंकी पूजा और दानकी विधिसे कौण्डेश श्रुतसमुद्रका परगामी अर्थात् श्रुतकेवली हुआ।

इसकी स्वोपज्ञ संस्कृत टीकामें[1] आशाधरने कौण्डेशको पूर्व जन्ममें गोविन्द नामका ग्वाला बतलाया है। वहाँसे मरकर वह ग्रामकूटका पुत्र हुआ और फिर कौण्डेश नामका मुनि हुआ।

इस कथाका कुन्दकुन्दाचार्यके जीवनसे क्या कुछ सम्बन्ध है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु 'कौण्डेश' नामसे और उसमें आगत पद्मनन्दि नामसे उसका सम्बन्ध कुन्दकुन्दाचार्यसे ही जान पड़ता है।

एक कथा श्रीयुत प्रेमीजी ने ज्ञानप्रबोध नामक पद्यबद्ध भाषा ग्रन्थसे जैनहितैषी (भा० १०, पृ० ३६९) में प्रकाशित की थी। उसका सार इस प्रकार है—मालव देशके वारापुर नगरमें कुमुदचन्द्र नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्यमें एक कुन्द श्रेष्ठी नामका साहूकार रहता था। उसकी सेठानीका नाम कुन्दलता था। उनके कुन्दकुन्द नामका एक पुत्र था। एक दिन वह लड़कोंमें अन्य लड़कोंके साथ खेलता था। उसने एक उद्यानमें एक मुनिराजको देखा। उनके चारो ओर बहुत-सा समुदाय बैठा हुआ था। लड़केने ध्यानसे उनका उपदेश सुना और वह उनके उपदेशसे इतना प्रभावित हुआ कि उनका शिष्य बन गया। उस समय बालककी उम्र केवल ग्यारह वर्ष की थी और उसके गुरुका नाम जिनचन्द्र था।

बालक कुन्दकुन्दने जल्दी ही इतनी उन्नति की कि वह ३३ वर्ष की अवस्थामें आचार्य बना दिया गया। एक दिन आचार्य कुन्दकुन्दको जैन सिद्धान्तके सम्बन्धमें कोई शंका उत्पन्न हुई। वे ध्यानमें मग्न हो गये। एक दिन

---

१ 'तथा कौण्डेशोऽपि गोविन्दाख्यगोपालचरो ग्रामकूटपुत्रः सन् कौण्डेशो नाम मुनिरभूत्।'

ध्यान करते हुए उन्होने अपना मन वचन काम विदेह क्षेत्रमें स्थित श्रीमन्धर स्वामीके प्रति एकाग्र किया ।

समवशरणमें विराजमान श्रीमन्धर स्वामीने 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया । समवसरणमें स्थित जनोको यह आशीर्वाद सुनकर वडा अचरज हुआ । क्योकि वहाँ किसीने भी उस समय भगवानको नमस्कार नही किया था । जिज्ञासा प्रकट करने पर भगवान श्रीमन्धर स्वामीने कहा कि हमने भरत क्षेत्रमें स्थित कुन्दकुन्द मुनिको आशीर्वाद दिया है । तत्काल कुन्दकुन्दके पूर्व जन्मके मित्र दो चारण ऋद्धि धारी मुनि वारापुर गये और कुन्दकुन्दको समवसरणमें लिवा ले गये । आकाश मार्गसे जाते समय कुन्दकुन्दकी मयूरपिच्छी कही गिर गई तव कुन्दकुन्दने गृद्ध पिच्छसे अपना काम चलाया । कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह तक रहे और उनकी शकाका समाधान हो गया । लौटते समय वे अपने साथ तत्र मत्रका एक ग्रन्थ लाये थे किन्तु वह मार्गमें ही लवण समुद्रमें गिर गया । भरतक्षेत्रमें लौटने पर उन्होने अपना धार्मिक उपदेश देना प्रारभ कर दिया और तत्काल ७०० स्त्री पुरुप उनके अनुयायी वन गये । कुछ समय पश्चात् गिरिनार पर्वत पर उनका श्वेताम्वरोंके साथ विवाद हो गया । तव उन्होने वहाँकी देवी ब्राह्मीके मुखसे यह कहलाया कि दिगम्वर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है । अन्तमें उन्होने अपना आचार्य पद अपने शिष्य उमास्वातिको प्रदान किया और सैंल्लेखना पूर्वक शरीरको त्याग दिया' ।

जम्वूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ताका नाम भी पद्मनन्दि था और उन्होने वारा नगरमें जम्वूद्वीप प्रज्ञप्तिकी रचना की थी । चूँकि कुन्दकुन्दका एक नाम पद्मनन्दि भी था । अत' ऐसा प्रतीत होता है जम्वूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ता पद्मनन्दिको ही कुन्दकुन्द समझकर ज्ञान प्रवोधके कर्ताने कुन्दकुन्दका जन्म स्थान वारा वतला दिया है । और कुन्दकुन्द नामकी उपपत्ति वैठानेके लिये उनके माता पिताके नाम कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठी कल्पित कर लिये गये हैं । और उनके विदेह गमनकी जो कथा पहलेसे ही प्रवर्तित थी, उसे उसमें जोड दिया गया है ।

अव विभिन्न आधारोंसे उनके सम्वन्धमें जो वातें ज्ञात होती है उनकी समीक्षाके प्रकाशमें कुन्दकुन्दके जीवन पर प्रकाश डाला जाता है ।

सवसे प्रथम उनके नामोकी स्थिति विचारणीय है । वारस अणुवेक्खाकी अन्तिम गाथामें उसके रचयिताका नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है । इसी नामसे वे ख्यात है । किन्तु समयसारकी अपनी टीकाके अन्तमें जयसेनाचार्यने श्री पद्मनन्दिका जयकार किया है और उन्हें समयप्राभृतका रचयिता कहा है । उधर इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोकी प्राप्ति कौण्डकुन्दपुरके पद्मनन्दिको होनेका निर्देश किया है । उससे यह प्रकट होता है कि पद्मनन्दि

कौण्डकुन्दपुरके निवासी थे। उनका मूल नाम पद्मनन्दि था और अपने जन्म स्थानके नाम परसे वह कौण्डकुन्द या कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए।

श्रवण वेलगोलाके अनेक शिलालेखोसे[1] भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है उसमें उनका प्रथम नाम पद्मनन्दि वतलाया है। तथा श्री कौण्डकुन्द आदि अन्य नाम वतलाये है।

विजय नगरके शक स० १३०७ के एक अन्य शिलालेख[2] में पाँच नाम वतलाये है—पद्मनन्दी, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ। डा० होर्नले[3] ने दिगम्वर पट्टावलियोके सम्वन्धमें एक विस्तृत लेख लिखा था, एक प्रतिके आधार पर उसने उसमें लिखा है कि कुन्दकुन्दके पाँच नाम थे। कुन्दकुन्दके पट्प्राभृतोके टीकाकार श्रुतसागरने भी प्रत्येक प्राभृतके अन्तमें जो सन्धिवाक्य दिये हैं उनमें कुन्दकुन्दके उक्त पाँचो नाम स्वीकार किये है। इस तरह पाँच नामोकी परम्परा मिलती है किन्तु ऐतिहासिक तथ्योके प्रकाशमें विचार करने पर पाँच नाम वाली वात प्रमाणित नही होती।

जहाँ तक पद्मनन्दि और कुन्दकुन्द नामकी प्रवृत्तिकी वात है उसमें तो कोई सन्देहकी वात नही है। उनका मूल नाम पद्मनन्दि था और वे अपने जन्म स्थानके नाम परसे कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए। शेष तीन नामोकी स्थिति विचारणीय है।

पहले वक्रग्रीव नामको देखा जाये। ई० ११२५ के एक [4]शिलालेखमें द्रविल (ऽ) सघ और अरुगलान्वयके आचार्योकी नामावलीमें वक्रग्रीवाचार्यका नाम आया है किन्तु उसमें उनके सम्वन्धमें कोई विवरण नही दिया कि यह कौन थे। इसके पश्चात् श्रवण वेलगोलाके शिलालेख[5] नं० ५४ में, जो श०

---

१ 'तस्यान्वये भूविदिते वभूव य पद्मनन्दि प्रथमाभिधान । श्री कौण्डकुन्दादि मुनीश्वराख्यस्ससंयमादुद्गतचारणर्द्धि ॥६॥—शि० ले० न० ४०। 'श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशव्दोत्तरकौण्डकुन्द । द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसजात सुचारणर्द्धि ॥४॥—शि० ले० न० ४२, ४३, ४७, ५०।
—जैं० शि० सं०, भा० १।

२ 'आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनि । एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥४॥' —जैं० सि० भा०, भा० १, कि० ४।

३ इ० ए०, जि० २१, पृ० ७४, टि० नं० ३५।

४ जैं० शि० स०, भा० १, नं० ४९३।

५ जैं० शि० सं० भा० १।

सं० १०५० (११२९ ई०) का है, वक्रग्रीवका नाम आता है। यह शिलालेख बहुत लम्बा है। इसमें पहले कौण्डकुन्दका नाम आता है। फिर समन्त भद्र और सिंहनन्दिकी प्रशसा है। पश्चात् वक्रग्रीव महामुनिकी प्रशसा करते हुए लिखा है कि नागेन्द्र एक हजार मुखोंसे भी उनकी स्तुति करनेमें समर्थ नही हो सका। शासन देवता उनका बहुत आदर करते थे। वादियोकी गर्दनें (ग्रीवा) उनके सामने झुक जाती थी। छै मास तक उन्होने केवल 'अथ' शब्दका अर्थ किया था। इस तरह वक्रग्रीवको बडा पूज्य और विद्वान् बतलाया है। किन्तु शिलालेखसे इस बातका कोई आभास नही मिलता कि कुन्दकुन्दका ही नाम वक्रग्रीव था, प्रत्युत उससे तो यही प्रमाणित होता है कि वक्रग्रीव नामके भी कोई आचार्य थे और वह कुन्दकुन्दसे पर्याप्त समयके पश्चात् हुए थे।

इसके सिवाय बेलूरके ११३७ ई० के शिलालेखमें समन्तभद्र और पात्रकेसरीके पश्चात् वक्रग्रीवका नाम आया है और उन्हें द्रमिल सघका अग्रेसर बतलाया है। करगुण्डसे प्राप्त ११५८ ई० के शिलालेख[२]में अकलकदेवके पश्चात् और सिंहनन्द्याचार्यसे पहले वक्रग्रीवाचार्यका नाम आया है। बोगादिसे प्राप्त शिलालेख[३]में भी वक्रग्रीवाचार्यका नाम है! किन्तु इन सभी शिलालेखोसे यही प्रमाणित होता है कि वक्रग्रीव नामके भी एक महान् आचार्य हुए है। और वे द्रविड संघ, नन्दिगण तथा अरुगलान्वय शाखाके थे। कुन्दकुन्दके साथ वक्रग्रीव नामका कोई सम्बन्ध इनसे ज्ञात नही होता।

अब हम एलाचार्य नामकी ओर आते है।

चिक्कहनसोगे[४]से प्राप्त एक शिलालेखमें, जिसका अनुमानित समय ११०० ई. है, देसियगण, पुस्तकगच्छके एलाचार्यका नाम आता है। उनके शिष्यका नाम दामनन्दि भट्टारक था। जयधवला और धवलाके रचयिता वीरसेनके गुरुका नाम भी एलाचार्य था, धवलाकी प्रशस्तिके प्रारम्भमें उन्होने उनका स्मरण किया है। तथा इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें लिखा है कि चित्रकूटवासी एलाचार्य सिद्धान्त शास्त्रोके ज्ञाता थे और उनके पास वीरसेन स्वामीने सिद्धान्त ग्रन्थोका अध्ययन करके धवला जयधवला टीकाकी रचना की थी। साथ ही इन्द्रनन्दिने कौन्डकुन्द पुरके पद्मनन्दिका भी निर्देश किया है और उन्हें पट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डो पर परिकर्म नामक ग्रन्थका रचयिता बतलाया है। इन्द्रनन्दिके

---

१ जै० शि० सं० भा० ३, न० ३०५।
२ जै० शि० स०, भा० ३, न० ३४७।
३. जै० शि० स० भा० ३, न० ३१९।
४ जै० शि० स०, भा० ३, नं०।

अनुसार षट्खण्डागमके आद्य टीकाकार कौण्डकुन्दपुर वास्तव्य पद्मनन्दि थे और अन्तिम टीकाकार थे वीरसेन। अत वीरसेनके गुरु एलाचार्यसे कुन्दकुन्द कई शताब्दियो पूर्व हो चुके थे। इस लिये वे उनसे बिल्कुल भिन्न व्यक्ति थे।

इन्द्रनन्दि योगीन्द्रका रचा हुआ एक ज्वालिनीकल्प[1] का नामका मंत्र शास्त्र है। यह ग्रन्थ शक स० ८६१ के बीतने पर रचकर समाप्त हुआ है। इसके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने बतलाया है कि हेलाचार्यके द्वारा रचित प्राक्तन शास्त्रको परिवर्तित करके लिखा है। टिप्पणीमे हेलाचार्यको एलाचार्य रूपसे भी उल्लिखित किया है। इन हेलाचार्य अथवा एलाचार्यके साथ भी कुन्दकुन्दकी एकरूपता स्थापित करना शक्य नही है क्योंकि प्रथम तो यह उतने प्राचीन ज्ञात नही होते। दूसरे इस सम्बन्धमें प्रमाणका अभाव है। अत कुन्दकुन्दका नाम एलाचार्य था यह प्रमाणित नहीं होता।

अब हम तीसरे नाम गृद्धपिच्छको लेते हैं—

श्रवण बेलगोलासे प्राप्त शिलालेख[2] नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५, १०८ में उमास्वातिको गृद्धपिच्छाचार्य कहा है और उमास्वातिको कुन्दकुन्दके अन्वयमें हुआ बतलाया है। पल्लादहल्लि[3] के शिलालेखमें जो ११५४ ई० का है, समन्तभद्र स्वामी और अकलकदेवके पश्चात् गृद्धपिच्छाचार्य नामका स्वतंत्र निर्देश किया है। श्रवण बेलगोलाके उक्त शिलालेखोमें उमास्वातिके शिष्यका नाम बलाक पिच्छ बतलाया है। जिससे प्रकट होता है कि इस प्रकारके स्वतत्र नाम भी प्रचलित थे। गृद्धपिच्छ नामका स्वतंत्र रूपसे प्राचीन उल्लेख धवलाकी टीकामें वीरसेन स्वामीने किया है। उन्होने गृद्धपिच्छाचार्यको तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाया है। चूकि तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताके रूपमें उमास्वातिका नाम प्रसिद्ध है और शिलालेखोमें उमास्वातिको ही गृद्धपिच्छाचार्य कहा है अत वीरसेन स्वामी द्वारा स्वतत्र रूपसे प्रयुक्त नामको भी उमास्वातिके रूपमें ही लिया जायेगा। किन्तु उमास्वातिका गृद्धपिच्छाचार्य नाम इतना ख्यात नही था कि उसका प्रयोग नामान्तरके रूपमें किया जा सके। इसके सम्बन्धमें विशेष विचार आगे किया जायगा।

इन सब उल्लेखोसे तो यही प्रमाणित होता है कि यदि गृद्धपिच्छ किसीका नामांतर था तो उमास्वाति का था, न कि कुन्दकुन्द का। किन्तु उक्त कथामें

---

१ अनेकान्त, वर्ष १ पृ० ४३१।

२ जै० शि० स०, भा० १।

३. जै० शि० सं० भा० ३, नं० ३२४।

यह वात कही है कि कुन्दकुन्द जव विदेह गये तो मार्गमें मयूरपिच्छ गिर जानेसे उन्होने गृद्धपिच्छका व्यवहार किया। साधारणतया दि० जैन मुनि मयूर-पिच्छका ही व्यवहार करते हैं। गृद्धपिच्छका व्यवहार विशेप अवस्थामें ही किया जाना सम्भव है और इसीसे जिसने मयूरपिच्छकी जगह गृद्धपिच्छका व्यवहार किया हो वह गृद्धपिच्छाचार्यके नामसे ख्यात हो सकता है। किन्तु पर्याप्त प्रमाणोंके अभावमें इस विषयमें कुछ निश्चय पूर्वक कहना संभव नही है।

उक्त विवेचनसे पद्मनन्दि और कुन्दकुन्दके सिवाय शेष तीनो नामोके सम्वन्धमे कोई प्रमाणित आधार नही मिलता। अत उन नामोकी स्थिति चिन्त्य है।

जन्मस्थान

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि द्विविध सिद्धान्तको कौण्डकुन्द-पुरमें पद्मनन्दि मुनिने जाना। चूंकि पद्मनन्दिका अपरनाम कुन्दकुन्द या कौण्ड-कुन्द था, इस पर से वे कौण्डकुन्दपुरके जान पडते है और उसीके कारण वह अपने गाँवके नाम परसे कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए है। दक्षिण-भारतमें व्यक्ति-के नामके पहले गाँवका नाम लिखनेकी प्रथा आज भी प्रचलित है। जैसे प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक और भारतके उपराष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन्के नामके पहले सर्वपल्ली उनके गाँवका ही वोधक है। अत कोण्डकुण्ड पद्मनन्दि कर्णकटु कोण्डकुण्डके श्रुतिमधुर रूप कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए। किन्तु यह कौण्डकुण्ड स्थान दक्षिण-भारतमें किस स्थान पर था यह अनिर्णीत है।

श्री पी०वी० देसाईने अपनी 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया'[1] पुस्तकमें एक 'कोनकोण्डल' नामक स्थानका विवरण दिया है। गुण्टकल रेलवे स्टेशनसे दक्षिण-की ओर चार मील पर एक कोनकोण्डल नामक गाँव है जो अनन्तपुर जिलेके गूटी (Gooty) ताल्लुकेमें स्थित है। इसे कोनकुण्डल भी कहते है। श्री देसाई स्वयं इस स्थानको देखने गये थे और वह इसकी प्राचीनतासे वहुत प्रभावित हुए। प्राचीन शिलालेखोसे, जो वहाँसे प्राप्त हुए है प्रकट होता है कि इस स्थानका प्राचीन नाम 'कोण्डकुण्डे' था। आज भी यहाँके अघसम्य अधिवासी इसे 'कोण्डकुण्डी' कहते हैं।

श्री देसाईने लिखा है कि 'कुण्ड' कन्नड शब्द है इसका अर्थ पहाडी होता है किन्तु जव यह किसी स्थानके लिए प्रयुक्त होता है तो इसका अर्थ होता है— 'पर्वतीय आवास'। कन्नडमें 'कोण्ड' का अर्थ भी 'पहाडी' होता है। अत

---

१. जीवराज जैन ग्रन्यमाला शोलापुरसे प्रकाशित।

'कोण्डकुण्ड' का अर्थ होता है वह स्थान जो पहाडी पर या पहाडीके निकट हो। यह अर्थ आज भी इस गाँवके साथ घटित होता है क्योकि यह पर्वत श्रेणी-के अति निकट अवस्थित है।

यहाँसे प्राप्त एक खण्डित शिलालेखमें पद्मनन्दि नाम पढा जाता है जो दो वार आया है। उस नामके साथ लगा 'चारण' विशेषण महत्त्वपूर्ण है। उसके वाद कुन्दकुन्दान्वय नाम आता है। अत श्री देसाईका मत है कि उक्त शिलालेखसे प्रमाणित होता है कि यही स्थान कुन्दकुन्दकी जन्मभूमि थी। इसी शिलालेखके अन्तमें नयकीर्तिदेव सैद्धान्तिक चक्रवर्ती का तथा कुमार तैलप्य और उनके पिता पश्चिमीय चालुक्य राजा विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०)का नाम अंकित है।

श्री देसाईका कहना है कि कोण्डकुण्ड नाम मूलत सामान्यतया द्रविड़ है किन्तु खासतौरसे कन्नड़ है। वैसे यह ग्राम कर्नाटक और आन्ध्रके मध्यमें सीमा प्रवेश पर स्थित है।

नामकी साम्यता तथा उक्त शिलालेखके प्रकाशमें श्री देसाईका मत समुचित प्रतीत होता है। इससे अधिक कुछ कह सकना सम्भव नही है।

गुरु—टीकाकार जयसेनाचार्यके अनुसार कुन्दकुन्द कुमार नन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। और नन्दि संघकी पट्टावलीके अनुसार उनके गुरुका नाम जिनचन्द्र था। तथा कुन्दकुन्द स्वय अपनेको भद्रवाहुका शिष्य वतलाते हैं।

श्रवणवेल गोलाके शिला[1] लेख न० २२७ में एक कुमार नन्दि भट्टारकका नाम आता है। देवरहल्लिके शिला[2] लेखमें जो आठवी ईस्वी शताब्दीका है नन्दि सघ के एरिगित्तु गण तथा पुलिक्ल (पुष्कर) गच्छके चन्द्रनन्दिके शिष्य कुमार नन्दिका नाम आया है। आचार्य विद्यानन्दने अपनी प्रमाणपरीक्षामें कुमार नन्दि भट्टारकके नामसे एक कारिका भी उद्धृतकी है। अत कुमार नन्दि नामक आचार्य तो हो गये है किन्तु फिर भी चूंकि विद्यानन्दने उनका उल्लेख किया है अत. वह नौवी शताब्दीसे वादके नही है। किन्तु वे तार्किक थे। और उतने प्राचीन भी नही हो सकते। अत कुन्द-कुन्दके साथ उनके गुरुशिष्यभावकी कोई सभावना प्रतीत नही होती।

मथुरासे प्राप्त एक शिलालेखमें उच्च नगर शाखाके एक कुमारनन्दिका उल्लेख है। यह शिलालेख हुविष्क वर्ष ८७का होनेसे वहुत प्राचीन है। किन्तु

---

१. जै० शि० स० भा० १।
२. वही, भा० २, नं० १२१।

प्रथम तो उच्चनगर शाखाका कुन्दकुन्दसे कोई सम्वन्ध ज्ञात नही है। दूसरे जव तक कोई और सूत्र प्राप्त न हो तव तक इसकी संगति नही वैठाई जा सकती।

इसी तरह नन्दि सघकी पट्टावलीमें माघनन्दि, उनके वाद जिनचन्द्र तव कुन्दकुन्दका नाम आता है। इस तरह उसमें कुन्दकुन्दको जिनचन्द्रका और जिनचन्द्रको माघनन्दिका उत्तराधिकारी वतलाया है। इन जिनचन्द्रके विषयमें भी कहींसे कुछ ज्ञात नही होता।

किन्तु कुन्दकुन्दने स्वयं अपनेको भद्रवाहुका शिष्य वतलाया है। यथा—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहिय।

सो तह कहियं णाय सीसेण य भद्दवाहुस्स ॥६१॥—वो० पा०।

इसमें वतलाया हैकि 'जिनेन्द्रने—भगवान महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोमें शव्द विकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शव्दोमें गूँथा गया है। भद्रवाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रो परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर इस ग्रन्थमें) कथन किया है।

उक्त गाथाके पश्चात् ही जो दूसरी गाथा आती है। वह भी नीचे दी जाती है—

वारस अगवियाणं चउदस पुव्वग विउलवित्थरण।

सुयणाणि भद्दवाहु गमयगुरु भयवओ जयऊ ॥६२॥

इस गाथामें वारह अगो और चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रवाहुको कुन्दकुन्दने अपना गमक गुरु वतलाते हुए उनका जयकार किया है।

इस गाथासे यह विल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि पहली गाथामें जिन भद्रवाहु का उल्लेख है वे श्रुतकेवली भद्रवाहुके सिवाय दूसरे भद्रवाहु नही हो सकते। किन्तु श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारका सा० का मन्तव्य इसके विपरीत है। उक्त दूसरी गाथाके सम्वन्धमें उन्होने लिखा[1] है—इस परसे यह कहा जा सकता है कि पहली गाथा (न० ६१) में जिन भद्रवाहुका उल्लेख है वे द्वितीय भद्रवाहु न होकर भद्रवाहु श्रुतकेवली ही हैं और कुन्दकुन्दने अपनेको उनका जो शिष्य वतलाया है वह परम्परा शिष्यके रूपमे उल्लेख है परन्तु ऐसा नही है। पहली गाथामें वर्णित भद्रवाहु श्रुतकेवली मालूम नही होते, क्योकि श्रुतकेवली भद्रवाहुके समयमें जिन कथित सूत्रमें ऐसा कोई खास विकार नही हुआ था। जिसे

१. अनेकान्त, वर्ष २, कि० १, पृ० १२।

उक्त गाथामें 'सद्दवियारो हुओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहियं' इन शब्दो द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रवाहुके समयमें वह स्थिति नही रही थी—कितना ही श्रुत ज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भापासूत्रोमें परिवर्तित हो गया था। इससे ६१वी गाथा के भद्रवाहु द्वितीय ही जान पडते हैं। ६२वी गाथामें उसी नामसे प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रवाहुका अन्त्य मंगलके तौर पर जयघोष किया है और उन्हें साफ तौरसे गमक गुरु लिखा है। इस तरह दोनो गाथाओमें दो अलग-अलग भद्रवाहु-ओका उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और वुद्धिगम्य जान पडता है।

हमें खेद है कि हम मुख्तार साहवके उक्त अभिप्रायसे सहमत नही हैं। दोनो गाथाएँ परस्परमें संवद्ध है। पहली गाथामें कुन्दकुन्दने अपनेको जिन भद्रवाहुका शिष्य वतलाया है दूसरी गाथाके द्वारा उन्हीकी विशेषताओका स्पष्टीकरण करते हुए जयकार किया है जिससे पाठकको कोई भ्रम न हो। विवाह किसी औरका हो और गीत किसी दूसरेके गाये जायें, ऐसा नही होता। पाठकको यह सन्देह हो सकता था कि श्रुतकेवली भद्रवाहुके शिष्य कुन्दकुन्द कैसे हो सकते है क्योकि दोनोंके वीचमें सुदीर्घ कालका अन्तर है। इस सन्देहको मिटानेके लिए उन्होने 'गमक गुरु' विशेपण भद्रवाहु श्रुतकेवलीके साथ लगा दिया। असलमें दूसरी गाथा पहली गाथामें आगत अन्तिम चरण 'सीसेण य भद्दवाहुस्स' की भाष्य गाथा जैसी है। उसमें शिष्य और भद्रवाहु दोनोका स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि भद्रवाहुसे मतलव श्रुतकेवली भद्रवाहुसे है और वे मेरे गमक गुरु है इसलिए मैं उनका शिष्य हूँ।

रही भापा सूत्रोंमें विकार होनेकी वात। गाथा ६१ का हमने जो अर्थ दिया है वह मुख्तार साहवका ही किया हुआ है। मुख्तार सा० ने अपने जिस लेखमें विकार वाली वात कही है उसीमें उक्त अर्थ भी किया है। उस अर्थसे ऐसा कोई भाव व्यक्त नही होता जैसा मुख्तार सा० ने लिया है। गाथा और उसका अर्थ विल्कुल स्पष्ट है। भगवान महावीरने जो कहा वह भाषासूत्रोमें शब्द विकारको प्राप्त हुआ अर्थात् उसने ग्रन्थात्मक श्रुतका रूप धारण किया।

श्रुतसागरने अपनी टीकामें 'सीसेण य भद्रवाहुस्स'का जो अर्थ किया है उससे भी यही प्रकट होता है कि उन्होने भी भद्रवाहुसे श्रुतकेवली भद्रवाहुका ही ग्रहण किया है।

इसके सिवाय श्रवणवेल गोलाके शिला[1] लेखोंमें भी उन्हें श्रुतकेवली भद्र-

---

१ श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रवाहुरितिश्रुत.। श्रुतकेवलिनाथेपु चरम परमो मुनि ॥४॥ 'श्री चन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्य.। ' ॥५॥ तस्यान्वये

वाहुके वंशमें हुआ वतलाकर श्रुतकेवली भद्रवाहुके शिष्य चन्द्रगुप्तके पश्चात् ही उन्हें स्थान दिया है। अत यह निस्सन्देह है कि कुन्दकुन्दने अपनेको श्रुतकेवली भद्रवाहुका शिष्य वतलाया है और उन्हें अपना गमकगुरु लिखा है।

'गमक' शब्दके वोधक, निश्चायक, प्रापक, सूचक आदि अनेक अर्थ है किन्तु श्रुतकेवली भद्रवाहुके साथ न तो कुन्दकुन्द स्वामीका साक्षात् सम्बन्ध था और न उनके सामने उनकी कोई कृति ही थी। अत उन्हे अपना गमक गुरु कैसे वतलाया यह चिन्त्य है।

इतिहासज्ञोंसे यह वात अज्ञात नही है कि श्रुतकेवली भद्रवाहु अपने शिष्य मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त तथा एक वड़े भारी साधु संघके साथ उत्तर भारतसे दक्षिण भारतकी ओर गये थे और श्रवणवेल गोला (मैसूर) नामक स्थानमें उनका स्वर्गवास हुआ था। आचार्य कुन्दकुन्दको यह वात ज्ञात थी। वह जानते थे कि दक्षिण भारतमें जो जैन तत्त्वज्ञानकी परम्परा चालु है वह श्रुतकेवली भद्रवाहुकी देन है। यद्यपि जैनधर्म दक्षिणमें भद्रवाहुकी दक्षिण यात्रासे पहलेसे वर्तमान था। यदि ऐसा न होता तो भद्रवाहु इतने वडे संघको उत्तरसे दक्षिण ले जानेका खतरा न उठाते। उन्हे विश्वास था कि दक्षिण भारतके जैनवन्धु उनके सघका हार्दिक स्वागत करेंगे। किन्तु अन्तिम श्रुतकेवली होनेके नाते वे भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट अंग ज्ञानके एक मात्र उत्तराधिकारी थे और उनके पश्चात् जो अगज्ञानकी प्रवृत्ति जारी रही उसके एक मात्र हेतु श्रुतकेवली भद्रवाहु थे। इस नातेसे कुन्दकुन्द स्वामीको भी जो ज्ञान प्राप्त हुआ वह भी परम्परासे श्रुतकेवली भद्रवाहुकी ही देन था। इसीसे समयसारकी प्रथम गाथामें उन्होने उसे 'श्रुतकेवली भणित' कहा है। वहाँ भी श्रुतकेवलीसे उनका आशय भद्रवाहु श्रुतकेवली ही से है। इसीसे उन्होने उन्हे अपना गमक गुरु लिखा है।

उनके इन उल्लेखोंसे भी इस वातकी पुष्टि होती है कि दक्षिण भारतमें जैनसघके साथ जाने वाले भद्रवाहु श्रुतकेवली भद्रवाहुके सिवाय दूसरे नही थे। अत जिनका यह कहना है कि वे भद्रवाहु दूसरे थे, उनका कहना समुचित नही है। अस्तु,

इस तरह श्रुतकेवली भद्रवाहुको कुन्दकुन्दने अपना गमक गुरु वतलाया है

भूविदिते वभूव य पद्मनन्दिप्रथमाभिधान ।'—शि० ले० न० ४०।

'यो भद्रवाहु श्रुतकेवलीना मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि ॥८॥ तदीय शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्त ॥९॥ तदीयवंशाकरत्त प्रसिद्धादभूददोपा यतिरत्नमाला। वभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुण्डोदितचण्डदण्ड ॥१०॥ —जै० शि० स० भा० १। पृ० २१०।

किन्तु उनका साक्षात् गुरु कौन था यह अज्ञात है। नन्दिसघकी पट्टावलीमें माघनन्दीके शिष्य जिनचन्द्रको उनका गुरु बतलाया है और श्रुतसागरने भी अपनी टीकाके सन्धिवाक्योमें ऐसा ही लिखा है।

विदेह यात्रा—कुन्दकुन्द स्वामीने विदेह क्षेत्रमें जाकर श्रीमन्दर स्वामी भगवान्के मुखकमलसे निसृत दिव्यध्वनिका पान किया था, इस घटनाका सबसे प्राचीन उल्लेख देवसेनने अपने दर्शनसारमें किया है जो वि०सं० ९९०में रचा गया है और जिसके सम्बन्धमें उन्होने यह लिखा है कि प्राचीन गाथाओका संकलन करके रचा गया है। अत कुन्दकुन्दके सम्बन्धमें इस तरहकी किंवदन्ती उससे भी बहुत पहलेसे प्रचलित थी यह स्पष्ट है। उनके सम्बन्धमें जो कथाएँ प्रचलित हैं उनमें भी इस घटनाका उल्लेख है। तथा टीकाकार जयसेन (१२वी शताब्दी) और श्रुतसागर सूरि (विक्रमकी १६वी शती)ने भी इसका उल्लेख अपनी टीकामें किया है। जयसेनने तो इसे प्रसिद्ध कथा कहा है। शुभचन्द्राचार्यने (१६वी शती) की पट्टावलीमें इसका उल्लेख है।

शिलालेखोमें यद्यपि इस घटनाका कोई उल्लेख नही है किन्तु कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धिका धारी बतलाया है और लिखा है कि समीचीन सयमके प्रभावसे उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त हुई थी। क्रिया विषयक ऋद्धिके दो भेद हैं—चारण और आकाश गामि। चारणऋद्धिके अनेक प्रकार है उनमें एक जंघाचारण है। भूमिसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें जघाओको जल्दी-जल्दी उठाते रखते हुए सैकडों योजन चले जाना जंघाचारण ऋद्धि है। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० १०५में लिखा[1] है कि अन्तरंगकी तरह बाह्य भी उनका रजसे अस्पष्ट है, ऐसा व्यक्त करनेके लिए ही मानो वे भूमितलकी धूलिसे चार अगुल ऊपर चलते थे। श्रुतसागरने भी उन्हें चार अगुल ऊपर आकाशमें गमन करनेकी ऋद्धिसे विशिष्ट बतलाया है। किन्तु शिलालेखोमें उनके विदेह जानेका कोई उल्लेख नही है। प्रत्युत एक शिलालेखमें पूज्यपादके सम्बन्धमें इस प्रकारका उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा[2] है—अनुपम औपधिऋद्धिके धारी तथा विदेहस्थ जिन (श्रीमन्दर स्वामी के दर्शनसे जिनका शरीर पवित्र हो गया है वे श्री पूज्यपाद मुनि जयवन्त हो। उस समय उनके पैरो, कवो ये हुए जलके

---

१ 'रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीश। रज. पद भूमितल विहाय चचार मन्ये चतुरगुलं म ॥१४॥'—जै० शि० स० भा० १।

२ 'श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौपधर्द्धि-र्जीयाद् विदेह-जिन-दर्शनपूतगात्र। यत्पादधौतजल संस्पर्श प्रभावात्कालायस किल तदा कनकीचकार ॥१७॥'—जै० शि० सं० भा० १, ले० नं० १०८।

स्पर्शके प्रभावसे लोहा सोना हो गया था' 'राजवलि कथे' में देवचन्द (१७७०-१८४१ ई०) ने भी पूज्यपादके सम्बन्में लिखा है कि अपने पैरोंमें औपधि लगाकर उसके प्रभावसे विदेह क्षेत्र गये थे। किन्तु कुन्दकुन्दने इस सम्बन्धमें कुछ भी नही लिखा। वे तो अपनेको मात्र श्रुतकेवली भद्रवाहुका ऋणी वतलाते हैं।

गिरनार पर्वत पर श्वे०दि० विवाद

शुभचन्द्राचार्यने (१५१६-५६ ई०) अपने पाण्डवपुराणमें कुन्दकुन्दका स्मरण इस प्रकार किया है।—

कुन्दकुन्दगणी येनोज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवताद् वादिता व्राह्मी पापाणघटिता कलौ ॥१४॥

'वे कुन्दकुन्दगणी रक्षा करें, जिन्होने कलिकालमें उर्जयन्तगिरिके मस्तक पर अर्थात् गिरनार पर्वतके ऊपर पापाण निर्मित व्राह्मीकी मूर्तिको वुलवा दिया।'

शुभचन्द्राचार्यकी गुर्वावली[1] के अन्तमें दो श्लोक इस प्रकार हैं—

पद्मनन्दी गुरुर्जातो वलात्कार-गणाग्रणी।
पापाण-घटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥
उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छ सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नम श्रीपद्मनन्दिने ॥६३॥

'वलात्कारगणके अग्रणी पद्मनन्दि गुरु हुए, जिन्होने उर्जयन्तगिरि पर पाषाण निर्मित सरस्वतीकी मूर्तिको वाचाल कर दिया। उससे सारस्वत गच्छ हुआ। अत उन पद्मनदी मुनीन्द्रको नमस्कार हो।'

कविवर वृन्दावन ने भी उक्त घटनाका उल्लेख एक छन्दके द्वारा किया है—

'सघ सहित श्री कुन्दकुन्द गुरु वन्दन हेत गए गिरनार।
वाद परयौ तह सशयमतिसो साखी वदी अविकाकार ॥'
'सत्यपन्थ निर्ग्रंथ दिगम्वर कही सुरी तह प्रगट पुकार,
सो गुरुदेव वसौ उर मेरे विघनहरन मगलकरतार ॥

इसमें वतलाया है कि एक वार कुन्दकुन्द स्वामी सघसहित वन्दनाके लिए गिरनार पर्वत पर गये। वहाँ श्वेताम्वरोसे उनका विवाद हो गया। दोनोने पर्वत पर स्थित अम्विकाकी मूर्तिको मध्यस्थ माना। देवीने प्रकट होकर कहा कि दिगम्वर निर्ग्रंथपन्थ ही सच्चा है।

---

१ जै० सि० भा०, भा० १, कि० ४, पृ० ५८।

गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंमें विवाद[1] होनेकी चर्चा श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है। १७वी शताब्दीमें धर्मसागर उपाध्याय-ने 'प्रवचन परीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है कि एक समय गिरिनार और शत्रुञ्जय तीर्थ पर दोनो सम्प्रदायोंमें झगडा हुआ। और उसमें शासन देवताकी कृपासे दिगम्बरोंकी पराजय हुई। रत्न मण्डल गणिकृत सुकृतसागर नामके ग्रन्थके 'पेथड तीर्थयात्रा द्वय' नामक प्रबन्धमें भी एक कथा है। श्रीरत्न मन्दिर गणिकृत उपदेश तरगिणी (पृ० १४८) में भी एक विवाद-का वर्णन है। उसके अनुसार दिगम्बरोसे श्वेताम्बरोंका विवाद एक महीने तक हुआ। अन्तमें अम्बिकाने 'उज्जितसेल सिहरे' आदि गाथा कहकर विवादकी समाप्ति कर दी। उसमें कहा है जो स्त्रियोंकी मुक्ति मानता है वही सच्चा जैन मार्ग है और उसीका यह तीर्थ है।

इस तरह दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें गिरनार पर्वतपर विवाद तो अवश्य हुआ प्रतीत होता है। किन्तु वह कुन्दकुन्द स्वामीके समयमें नही हुआ। बल्कि पद्मनन्दि नामके एक भट्टारकके समयमें हुआ है। और चूकि कुन्दकुन्दका भी नाम पद्मनन्दि था और वे दिगम्बर परम्पराके एक प्रभावक प्रधान आचार्य थे अत उनके नामके साथ उक्त विवाद जुड गया है।

सरस्वतीगच्छकी दिगम्बर पट्टावलीमें लिखा है—

'सवत् १३७५ दिन सु भट्टार्क प्रभाचन्दजीके आचार्य छो। सो गुजरातमें श्री भट्टार्कजी तो न छा अरु वै आचार्य ही छा। सो महाजन एक प्रतिष्ठा कौ उद्यम कियो। सो वै तो न आय पहुच्या। जदि आचार्यने सूरिमन्त्र दिवाय अर भट्टार्क पदवी गुजरातकी दीन्ही प्रतिष्ठा करिवा पाछै। तहा सू गुजरातमें पट्ट धारो। आचार्य सु भट्टार्क हुओ। नाम पद्मनन्दीजी दियौं।

इसी गच्छकी दूसरी पट्टावलीमें यह नोट दिया है—

'प्रभाचन्द्रजी कै आचार्य गुजरातमें छो। सो वठै एकै श्रावक प्रतिष्ठा नैं प्रभाचन्द्रजीनै बुलाया। सो वै नाया। तदि आचार्य नै सुरमत्र दे भट्टारक करि प्रतिष्ठा कराई तदि भट्टारक पद्मनन्दिजी हुआ। त्या पाषाणकी सरस्वती मुटैं बुलाई।'

इसी पट्टावलीसे दो श्लोक पीछै उद्धृत किये गये हैं जिनमें पद्मनन्दिको बलात्कारगणका अग्रणी बतलाया है और लिखा है कि उर्जयन्त गिरि पर उन्होने पाषाणकी सरस्वतीको वाचाल कर दिया।

---

१. जै० सा० इ०, पृ० ४६८ पर 'तीर्थोंके विवाद' शीर्षक लेख।

उक्त उल्लेखके अनुसार विक्रम सम्वत्की चौदहवी शताब्दीके अन्तमें अथवा पन्द्रहवीके पूर्वमें उक्त विवाद हुआ है।

देवगढ[1]की एक मूर्ति पर सम्वत् १४९३ का एक लेख है। जिससे प्रकट होता है उसकी प्रतिष्ठा मूलसंघ वलात्कारगण सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दाचार्य अन्वयके भट्टारक प्रभाचन्द्रके शिष्य पद्मनन्दि और पद्मनन्दिके शिष्य देवेन्द्रकीर्तिने कराई थी।

यह पद्मनन्दि सरस्वतीगच्छकी पट्टावलीके पद्मनन्दि जान पडते है क्योकि उनके गुरुका नाम प्रभाचन्द्र लिखा है। तथा मूर्ति लेखमें उन्हें 'वादि वादीन्द्र' लिखा है। सम्भवतया गिरिनार पर्वतके विवादमें विजय प्राप्त करनेके कारण ही उन्हें 'वादि वादीन्द्र' का विरुद दिया गया है। इनका समय भी पट्टावलीसे मिल जाता है। इन्हींसे वलात्कारगणकी सूरत शाखाकी भट्टारक परम्पराका आरम्भ हुआ है। उक्त विवादके जो उल्लेख ऊपर दिये गये हैं वे सब उक्त समयके पश्चात्के हैं। अत उक्त विवाद विक्रमकी पन्द्रहवी शताब्दीमे हुआ होगा इस लिये आचार्य कुन्दकुन्दसे उसका कोई सम्बन्ध नही है।

समय विचार—आचार्य कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें अब तक जिन विद्वानोने प्रकाश डाला है उनमें श्रीयुत नाथूरामजी[2] प्रेमी, पं० जुगलकिशोरजी[3] मुख्तार, डा० के० वी० पाठक[4], प्रोफेसर चक्रवर्ती[5] और डा० ए० एन० उपाध्ये[6]का नाम उल्लेखनीय है। डा० उपाध्येने उक्त विद्वानोके मतोंकी समीक्षा करके अपना एक मत निर्धारित किया है। नीचे उक्त विद्वानोंके मत सक्षेपमें दिये जाते है। इससे प्रकृत विषय पर ऊहापोह करनेमें सरलता होगी।

१. **प्रेमीजीका मत**—प्रेमीजीके विचारका मुख्य आधार इन्द्रनन्दिका श्रुतावतार है। श्रुतावतारमें लिखा है कि भगवान महावीरके पश्चात् ६२ वर्षमें तीन केवली हुए। उनके पश्चात् १०० वर्षोंमें पाँच श्रुतकेवली हुए। फिर १८३ वर्षोंमें ११ आचार्य दस पूर्वोके ज्ञाता हुए। फिर २२० वर्षोंमें ५ आचार्य ग्यारह अंगोंके ज्ञाता हुए फिर ११८ वर्षोंमें चार आचार्य एक अगके धारी

---

१ भ० स०, पृ० १६९।

२ जैं० हि० भा० १० पृ० ३७८ आदि।

३. र० श्रा० की प्रस्ता०, पृ० १५७ आदि।

४ समय प्राभृत (काशी सस्काण) की संस्कृत प्रस्तावनामें।

५ पञ्चास्तिकायके अग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावना।

६ प्रवचनसार (रा० जै० शा०) की प्रस्तावना।

हुए। इस तरह भगवान महावीरके निर्वाण (५२७ ई० पूर्व) के पश्चात् ६८३ वर्षों तक अग ज्ञानकी प्रवृत्ति रही। फिर चार आरातीय अगो और पूर्वोके एक देशके ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमसे अर्हद्वलि, माघनन्दि और धरसेन हुए। धरसेन महाकर्म प्रकृति प्राभृतके ज्ञाता थे। थोडी आयु शेप रहने पर उन्हे चिन्ता हुई कि मेरे पश्चात् इस महाकर्मप्रकृति प्राभृतका विच्छेद हो जायेगा। अत उन्होंने दो योग्य शिष्योको वुलाकर जो वादमें पुष्पदन्त और भूतवली नामसे प्रसिद्ध हुए, महाकर्मप्रकृति प्राभृत पढाया और उन्होने पट्खण्डागम सूत्रोंकी रचना की। इस तरह पट्खण्डागम सूत्रोकी उत्पत्ति वतलाकर श्रुतावतारमें कपाय प्राभृतकी उत्पत्तिका वृत्तान्त वतलाते हुए लिखा है कि गुणधर मुनीन्द्रने कपाय प्राभृतकी रचना करके नागहस्ती और आर्यमंक्षुको उनका व्याख्यान किया। आर्यमक्षु और नागहस्तीसे उन गाथा सूत्रोको पढकर यति वृपभ नामक आचार्यने उनपर छै हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि सूत्रोकी रचना की। यति वृपभसे उन चूर्णि सूत्रोका अध्ययन करके उच्चारणाचार्यने उनपर वारह हजार श्लोक प्रमाण उच्चारणा सूत्र नामक वृत्तिकी रचना की। इस प्रकार गुणधर, यतिवृपभ और उच्चारणाचार्यके द्वारा गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारणा सूत्रोके रूपमे कषाय प्राभृत निवद्ध हुआ। इन दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोको कुण्डकुन्द पुरमें पद्म-नन्दि मुनिने गुरु परम्परासे जाना और उन्होंने पट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डो पर वारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा।"

इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाणसे ६८३ वर्षोके पश्चात् हुए। श्री प्रेमी जीने धरसेन तथा उच्चारणाचार्य पर्यन्त अन्य आचार्योका कम से कम समय निर्धारित करके यह निष्कर्प निकाला है कि कुन्दकुन्द विक्रमकी तीसरी शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुए है।

इसके सिवाय प्रेमी जीका कहना है कि उर्जयन्त गिरिपर कुन्दकुन्दका श्वेताम्बरोके साथ विवाद हुआ था। कुन्दकुन्दके सुत्तपाहुडसे यह प्रकट होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैन संघमें श्वेताम्वर और दिगम्वर भेद हो चुका था। देवसेनके दर्शनसारके अनुसार विक्रमकी मृत्युसे १३६ वर्ष वीतने पर यह भेद हुआ। प्रेमी जीने इसे शालिवाहन शकाब्द मानकर १३६ + १३५ = २७१ विक्रम सम्वत्में सघ भेद माना है। और इस तरह यह काल भी श्रुतावतारके आधार पर निर्धारित किये गये कालके साथ मेल खाता है। अत प्रेमी जीके मतानुसार कुन्दकुन्दाचार्य विक्रमकी तीसरी शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुए हैं। तथा वीर निर्वाण सम्वत् ६८३ से पहले तो किसी भी तरह नही हुए।

डा० पाठकका मत

डा० पाठकको राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज तृतीयके दो ताम्रपत्र मिले थे

उनमेंसे एक शक सम्वत्[1] ७१९ का है और दूसरा शक सम्वत् ७२४ का है। उनमें कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्यके शिष्य पुष्पनन्दीका तथा उसके शिष्य का निर्देश है। इसपरसे डा० पाठकका कहना है कि जव प्रभाचन्द्र शक सम्वत् ७१९ मे वर्तमान थे तो उनके दादा गुरु तोरणाचार्य शक सम्वत् ६०० के लगभग हुए होंगे। और चूकि तोरणाचार्य शक स० ६०० में हुए थे अत. कुन्दकुन्दको जिनके अन्वयमें तोरणाचार्य हुए थे, १५० वर्ष पूर्व शक स० ४५० में रखा जा सकता है।

डा० पाठकने अपने उक्त अनुमानका समर्थन एक अन्य आधारसे किया है। चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मा महाराज शक सम्वत् ५०० में राज्यासन पर विराजमान थे। उन्होने वादामीको जीता और कदम्व राज वंश को नष्ट कर दिया। अत यह निश्चित हुआ कि कदम्व राज वशका शिवमृगेश वर्मा लगभग ५० वर्ष पूर्व शक स० ४५० के लगभग राज्य करता था। पञ्चास्तिकायकी कनडी टीकामें वालचन्द्रने और सस्कृत टीकामें जयसेनने लिखा है कि कुन्दकुन्द-ने यह ग्रन्थ शिवकुमार महाराजके प्रतिवोधनके लिये लिखा था। यह शिव-कुमार महाराज कदम्ववंशी शिवमृगेश वर्मा ही प्रतीत होते हैं। अत शिव-मृगेश वर्माके समकालीन होनेके कारण कुन्दकुन्दका समय शक सं० ४५० (५२८ ई०) आता है।

प्रो० चक्रवर्तीने डा० हार्नलेके द्वारा प्रकाशित सरस्वती गच्छकी दिगम्वर पट्टावलीके आधार पर कुन्दकुन्दके आचार्य पद पर आसीन होनेका काल ईस्वी

---

१ 'आसीद तोरणाचार्य कोण्डकुन्दान्वयोद्भव ।
स चैतद्विषये श्रीमान् शाल्मली ग्राममाश्रित ॥१॥
× × ×
तस्याभूत् पुष्पनन्दी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणी ।
तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रस्तस्येयं वसति· कृता ॥३॥

२ कोण्कोन्दोन्वयोदारो गणोऽभूद् भुवनस्तुत ।
तदैतद्विपयविख्यात शाल्मलीग्राममावसन् ॥१॥
आसीद तोरणाचार्यस्तप फलपरिग्रह. ।
तत्रोपशमसंभूतभावना पास्तकल्मश ॥२॥
पण्डित पुष्पनन्दीति वभूव भुवि विश्रुत ।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चन्द्रमा इव ॥३॥
प्रतिदिवसभवद्वृद्धिनिरस्तदोषो व्यपेतहृदयमल ।
परिभूतचन्द्रविम्वस्तच्छिष्योऽभूत् प्रभाचन्द्र ॥४॥

पूर्व ८ मानकर ईस्वी पूर्व ५२ के लगभग उनका जन्म होना माना है। आगे उन्होने डा० पाठकके मतका विरोध करते हुए पट्टावली प्रतिपादित समयका समर्थन अन्य साधनोंमे किया है। कथाओमें कुन्दकुन्दको दक्षिण देशका बतलाया है। अत प्रो० चक्रवर्तीने उसको आधार बनाकर इस बात पर जोर दिया है कि कुन्दकुन्द द्रविण सघके थे। मत्रलक्षण नामके एक अप्रकाशित ग्रन्थमे उन्होने एक सूचना प्राप्त की है कि दक्षिणमे मलय नामके देशके अन्तर्गत हेमग्राममें एक एलाचार्य नामके महान् साधु रहते थे वह द्रविण गणाधीश थे। प्रो० चक्रवर्तीका कहना है कि ये सब उल्लेख द्रविण देशमें खोजने पर मिल सकते हैं अत कुन्दकुन्द द्रविड देशके थे और उनका एक नाम एलाचार्य भी था। जैन परम्पराके अनुसार एलाचार्य प्रसिद्ध प्राचीन तमिल ग्रन्थ 'थिरुक्कुरल' के रचयिता थे। उन्होने इस ग्रथको रच कर अपने शिष्य तिरुवल्लुअरको दे दिया और उसने उसे मदुरा सघको भेंट कर दिया। एलालसिंह, जो तिरुवल्लुअरका साहित्यिक सरक्षक माना जाता है, एलाचार्यका दूसरा नाम था। कुरलका जैनधर्मी एलाचार्यके द्वारा रचा जाना अन्य तथ्योसे भी समुचित प्रतीत होता है। जैसे कुरलका धार्मिक वातावरण, वल्लुवोके द्वारा अपनाई गई कृषिकी सर्वोत्तम व्यवसायके रूपमें प्रशंसा, जमीदारी प्रथाका समर्थन, जिसने द्रविण देशमें जैन धर्मके प्रारम्भिक अनुयायी उत्पन्न किये।

प्रो० चक्रवर्तीका कहना है कि एलाचार्य अथवा कुन्दकुन्दको कुरलका रचयिता माननेमें कुरलके सम्भावित कालके साथ भी कोई असंगति नही आती, तथा पट्टावली प्रतिपादित समयको उससे बडा समर्थन मिलता है। द्रविड सघका प्रधान होनेके कारण कुन्दकुन्दने प्राचीन तमिल साहित्यके वल्लालोके लाभके उद्देशसे कुरलको तमिलमें ही रचा होगा, क्योकि वल्लाल लोग अहिंसा धर्मके कट्टर अनुयायी थे।

उक्त चर्चाके प्रकाशमें प्रो० चक्रवर्तीने शिवकुमार महाराजकी एकरूपता स्थापित करनेका प्रयत्न करते हुए डा० पाठकके उक्त मतको मान्य नही किया है। उनका कहना है कि एक तो कुन्दकुन्दके समयमे कदम्ब राजवंशका समय बहुत अर्वाचीन है, दूसरे इस बातका समर्थन करने वाले प्रमाणोका अभाव है कि कदम्ब प्राकृत भाषामे परिचित थे, जिसमें कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थ रचे हैं। डा० पाठकके मतके विपरीत प्रो० चक्रवर्तीने पल्लव राजवशके शिवस्कन्दको शिवकुमार महाराज मानने पर जोर दिया है क्योकि स्कन्द और कुमार शब्द एकार्थवाची हैं अत शिवस्कन्दका अर्थ होता है शिवकुमार। शिवस्कन्द युवमहाराज भी कहे जाते थे और युवमहाराज तथा कुमार महाराज एकार्थक हैं। अन्य परिस्थितियाँ भी इस एक रूपताकी पोषक हैं। पल्लवोकी राजधानी कजीपुरम् थी।

पल्लव 'थोण्ड मण्डलम् पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानोकी भूमि माना जाता है। इसकी राजधानीने अनेक द्रविड विद्वानोंको आकर्पित किया था। कजी-पुरम्के राजगण ज्ञानके सरक्षक थे। ईसाकी आरम्भिक शताब्दियोसे लेकर आठवी शताब्दी तक अर्थात् समन्तभद्रसे लेकर अकलक तक कजीपुरम्के चारो ओर जैनधर्मका प्रचार होता रहा है। अत यदि कंजीपुरम्के पल्लव राजा ईसा-की प्रथम शताब्दोंमे जैनधर्मके सरक्षक थे या जैनधर्मको पालते थे तो यह असभव नही है।

इसके सिवाय मयीडवोलु दानपत्रकी भाषा प्राकृत है। यह दानपत्र कंजी-पुरम्के शिवस्कन्द वर्माके द्वारा जारी किया गया था। इसके प्रारम्भमें 'सिद्ध' शब्दका प्रयोग है तथा मथुराके शिलालेखोंसे यह वहुत मिलता जुलता हुआ है। ये वातें वतलाती हैं कि इसके दाता राजाका झुकाव जैनधर्मकी ओर था। अन्य अनेक शिलालेखो आदिसे यह स्पष्ट है कि पल्लव राजाओंके राज्यकी भाषा प्राकृत थी। अत प्रो० चक्रवर्तीने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्दने जिस शिवकुमार महाराजके लिए प्राभृतत्रय लिखे थे वह वहुत सम्भवतया पल्लव वश-का शिवस्कन्द वर्मा है।

श्री जुगलकिशोरजी[1] मुख्तारने 'समन्तभद्र' विपयक अपने महानिवन्धमें आचार्य समन्तभद्रका समय निर्णय करनेकी दृष्टिसे कुन्दकुन्दाचार्यके समयके सम्वन्धमें भी विचार किया है। मुख्तार साहवने नन्दिसघकी पट्टावलीमें दिये गये समयको (वि० स० ९४(४९)-१०१) तो विश्वसनीय नही माना है क्योकि पट्टावलीकी हालत ऐसी नही है जिसे एक विश्वस्त आधार माना जा सके। अत उसे छोडकर आपने दूसरे मार्गसे कुन्दकुन्दका ठीक समय उपलव्ध करनेका प्रयास किया है।

प्रेमीजीकी तरह आपने भी इन्द्रनन्दि आचार्यके श्रुतावतारमें वर्णित दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोकी उत्पत्तिकी कथा तथा गुरु परिपाटीसे दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंको जानकर कुन्दकुन्दके द्वारा पट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डो पर वारह हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेकी वातको साधार मानकर यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्दाचार्य वीर निर्वाण सम्वत् ६८३ से पहले नही हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे हुए हैं यह स्पष्ट नही है। उसको स्पष्ट करते हुए आपने लिखा है—'यदि अन्तिम आचारागधारी लोहाचार्यके वाद होने वाले विनयधर आदि चार आरातीय मुनियोका एकत्र समय २० वर्षका और अर्हद्वलि,

---

१ रत्नकरड श्रा० की प्रस्ता०, पृ० १५८ से १८९ तक।

माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतवलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय १०–१० वर्षका ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नही है, तो यह सहज में ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीर निर्वाणसे ७६३ वर्ष वाद हुए हैं और यह समय उस समय (७७०) के करीव ही पहुँच जाता है जो विद्वज्जन वोधकसे उद्धृत किये गये पद्यमें दिया है और इसलिये इसके द्वारा उसका वहुत कुछ समर्थन होता है।

आगे मुख्तार साहवने शिवकुमार महाराज वाली चर्चा उठाकर डा० पाठकके मतको अमान्य किया है। और लिखा है कि 'प्रथम तो जयसेनादिका यह लिखना ही कि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्वोधनार्थ अथवा उनके निमित्त इस पञ्चास्तिकायकी रचना की, वहुत कुछ आधुनिक मत जान पड़ता है, मूलग्रन्थमें उसका कोई उल्लेख नही और न श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका परसे ही उसका कोई समर्थन होता है। दूसरे शिवकुमारका शिवमृगेश वर्माके साथ जो समीकरण किया गया है उसका कोई युक्तियुक्त कारण भी मालूम नही होता। उससे अच्छा समीकरण तो प्रो० ए० चक्रवर्तीका जान पडता है।'

आगे अपने प्रो० चक्रवर्तीके इस मतको भी मान्य नही किया है कि कुन्दकुन्दका एक नाम एलाचार्य था और वह कुरलके कर्ता हैं। क्योकि नन्दिसंघकी पट्टावली अथवा गुर्वावलीको छोडकर दूसरे किसी भी ग्रन्थसे अथवा शिलालेखसे यह मालूम नही होता कि एलाचार्य कुन्दकुन्दका नामान्तर था।

आगे आपने पट्टावलि प्रतिपादित समयकी विस्तारसे आलोचना की है। अन्तमें आपने भद्रवाहु शिष्य कुन्दकुन्दको दूसरे भद्रवाहुका शिष्य ठहराते हुए कुन्दकुन्दका समय वीरनिर्वाण ६०८ से ६९२ तक स्थापित किया है।

डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी विद्वतापूर्ण प्रस्तावनामें उक्त सभी विद्वानोके तोको देकर विचारके लिये ५ मुद्दे स्थापित किये हैं—

१. श्वेताम्वर दिगम्वर भेद उत्पन्न होनेके पश्चात् कुन्दकुन्द हुए।

२. कुन्दकुन्द भद्रवाहुके शिष्य हैं।

३ श्रुतावतारके अनुसार कुन्दकुन्दने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डो पर टीका लिखी।

४ जयसेन और वालचन्द्रके लेखानुसार कुन्दकुन्द शिवकुमार महाराजके समकालीन थे।

५. कुन्दकुन्द कुरलके रचयिता थे।

१ प्रथम मुद्दे पर विचार करते हुए डा० उपाध्येने लिखा है कि इस विषय में कि कुन्दकुन्द श्वेताम्बर दिगम्बर भेद उत्पन्न होनेके पश्चात् हुए हैं दो मत नही हो सकते। क्योकि उन्होने अपने ग्रन्थोमें मुनियोके वस्त्र परिधान तथा स्त्री मुक्तिका निषेध किया है और ये दोनो बातें श्वेताम्बर मानते हैं। उन्होने इस भेदकी उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्यके समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें (ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी) बतलाई है। अत लिखा है कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमें पाया जानेवाला श्वेताम्बरीय प्रवृत्तियोका निराकरण कुन्दकुन्दका समय निर्धारित करनेमें विशेष सहायक नही हो सकता।

दूसरे मुद्देके सम्बन्धमें विचार करते हुए डा० उपाध्येने बोधप्राभृत की अन्तिम दोनो गाथाओको एक साथ उद्धृत करके उनके कुन्दकुन्द रचित होनेकी यथार्थताको स्पष्ट किया है और कालक्रम निर्धारण करनेमें उनके उपयोगको न्याय्य माना है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि दूसरी गाथाके विशेषणोंसे स्पष्ट है कि प्रथम गाथामें स्मृत भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय अन्य नही हो सकते। तथा उनके शिष्यसे मतलब परम्परा शिष्यसे है।

कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य क्यों बतलाया? इस प्रश्नका समाधान करते हुए डा० उपाध्येने लिखा है कि दक्षिणको जो मुनिसघ गया था उसके प्रधान श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। अत भद्रबाहुके स्वर्गवासके पश्चात् उनके शिष्य और प्रशिष्य उन्हें महान् गुरुके रूपमें मानते रहे होगे। दक्षिणमें जो साधुगण थे उन्हें सब धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकारके रूपमें भद्रबाहुसे ही प्राप्त हुआ था। अत सुदूर दक्षिण देशके प्रधान आचार्य कुन्दकुन्दने उन्हें अपना गुरु मानकर अपनेको उनका शिष्य बतलाया तो यह कोई आश्चर्यकी बात नही है। किन्तु कुन्दकुन्दको श्रुतकेवली भद्रबाहुका साक्षात् शिष्य माननेमें अनेक रुकावटें हैं। प्रथम तो श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् होनेवाले अगधारियोमे कुन्दकुन्दका नाम नही है। दूसरे, लिखित या किम्वदन्तीके रूपमें जैन परम्परामे एक भी ऐसा उल्लेख नही मिलता जिससे कुन्दकुन्दके श्रुतकेवली भद्रबाहुके समकालीन होनेका किञ्चित् मात्र भी समर्थन होता हो। प्रत्युत उपलब्ध बातें उस कालके विरुद्ध ही जाती हैं।

तीसरे मुद्देके सम्बन्धमें डा० उपाध्येने श्रुतावतारके इस कथनके सम्बन्धमें कि कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दिने दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोका ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागमके तीन खण्डो पर टीका रची, लिखा है कि इस पर दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं—प्रथम, क्या कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दि हमारे कुन्दकुन्द ही है और दूसरा, क्या उन्होने वास्तवमें षट्खण्डागमके कुछ भाग पर टीका लिखी थी? डा० उपाध्येने इन दोनो प्रश्नोमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर स्वीकारात्मक और दूसरे-

का नकारात्मक दिया है। उन्होने लिखा है कि शिलालेखो आदिसे यह प्रकट है कि हमारे ग्रन्थकारका नाम पद्मनन्दि था और कुन्दकुन्दके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्द्रनन्दिने इसे स्पष्ट कर दिया है कि जन्मभूमिके नाम पर से वह कुन्द-कुन्द कहलाये। किन्तु पद्मनन्दिने पट्खण्डागम पर कोई टीका लिखी थी, अनेक कारणोंसे इस बातको असन्दिग्ध रूपमें स्वीकार नही किया जा सकता। ऐसी कोई टीका न तो वर्तमानमे उपलब्ध है न धवला और जयधवला टीकामें ही मैं उसके कोई चिन्ह प्राप्त करनेमे समर्थ हो सका। बादके साहित्यमें भी उस टीका का कोई उल्लेख प्रकाशमे नही आया। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके सिवाय किसी अन्य ग्रन्थमें भी इस बातका निर्देश नही मिलता कि कुन्दकुन्दने पट्खण्डागम पर कोई टीका लिखी थी। विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमे लिखा है कि कुन्दकीर्तिने कुन्दकुन्दाचार्यसे दोनो सिद्धान्तोका ज्ञान प्राप्त करके पट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोपर बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक शास्त्र रचा। प्रमाणोके अभावमें इसका निर्णय करना शक्य नही है कि दोनोंमेंसे किसने परिकर्मकी रचना की। जहाँ तक कुन्दकुन्दका प्रश्न है मैं उसके विषयमें असदिग्ध नही हूँ क्योकि कुन्दकुन्दमें मैं टीकाकारिताकी अपेक्षा सिद्धान्त विवेचकत्व ही विशेष पाता हूँ। यद्यपि दोनो श्रुतावतार एक विषयमें एक मत है कि कुन्दकुन्द के समयमे पट्खण्डागम वर्तमान था। किन्तु चूकि उनके दूसरे कथनमे भेद पाया जाता है अत कालनिर्णयमें सहायक होनेकी दृष्टिसे उसपर विशेष जोर नही दिया जा सकता। अत उक्त चर्चाके प्रकाशमें श्रुतावतारके कथनके आधार पर डॉ० उपाध्येने इस बात पर कि कुन्दकुन्द वीर नि० स० ६८३ के पश्चात् होने चाहिये, विशेष जोर देनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है।

चौथे मुद्दे्के सम्बन्धमे डॉ० उपाध्येने मुख्तार सा० की सम्मतिसे अपनी रजा-मन्दी प्रकट करते हुए डॉ० पाठकके एकीकरणसे प्रो० चक्रवर्तीके एकीकरणको समुचित बतलाया है। किन्तु उसके सम्बन्धमे एक कठिनाई यह बतलाई है कि पल्लव राजाओकी वशावली और कालपरम्परा अनिश्चित है। एक ही नामके अनेक राजाओका उल्लेख विभिन्न कालोमे पाया जाता है। शिवस्कन्द वर्माका नाम पल्लव वशावलीमें पाचवा है और उसके पहले एक स्कन्द वर्माका नाम है। तथा उनके शिलालेखोमें राज्य करनेके वर्षोका तो निर्देश है किन्तु किसी निश्चित सम्वत्का निर्देश नही है। अत पल्लव राजवशका आरम्भ भी कालक्रमकी दृष्टि-से अनिश्चित है। अन्तमें डॉ० उपाध्येने लिखा है कि यदि जयसेनके इस कथनका कि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके लिये ग्रन्थ रचा, कोई ऐतिहासिक मूल्य है तो पाठकके एकीकरणकी अपेक्षा शिवकुमार महाराजका शिवस्कन्द पल्लवनरेशके साथ एकीकरण अधिक सभाव्य है।

पाचवें मुद्दे पर विचार करते हुए डॉ० उपाध्येने प्रो० चक्रवर्तीके द्वारा जिस ढगमे कुन्दकुन्दको कुरलका कर्ता स्थापित किया गया है उसे प्रसिद्ध कुण्डवदर न्यायकी संज्ञा दी है । फिर भी उन्होने इस वातको स्वीकार किया है कि कुरल-में वहुतसे ऐसे जैन चिह्न मिलते है जिनकी सगति अन्य धर्मोसे नही वैठाई जा सकती । तथा जैन ग्रन्थ नीलकेशीका टीकाकार 'कुरल'को अपना पूज्य धर्म ग्रन्थ वतलाता है । आन्तरिक साक्षियोंके साथ ही यह वात सूचित करती है कि काफी सुदीर्घ कालसे जैन लोग कुरलके कर्ताको अपना धर्मानुयायी मानते आने है ।

जहाँ तक कुन्दकुन्दका प्रश्न है उनका नाम एलाचार्य था, इस विषयमें जो प्रमाण उपस्थित किये गये है वे पर्याप्त नही है । अत इसकी पुष्टिके लिए अभी प्रमाणोकी आवश्यकता है । और यदि यह प्रमाणित हो आता है तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुन्दकुन्द कुरलके रचयिता हैं और तव उन्हें ईसाकी प्रथम शताव्दीका विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है ।

अन्तमें डॉ० उपाध्येने जो निष्कर्ष निकाला है वह इस प्रकार है—

१ जैन पट्टावलिके अनुसार वह ईस्वी पूर्व प्रथम शताव्दीके उत्तरार्ध और ईसाकी प्रथम शताव्दीके पूर्वार्धमें हुए है ।

२ उनसे पूर्व पट्खण्डागमकी रचना हो चुकनेकी सभावना उन्हें दूसरी शताव्दीके मध्यके पश्चात्का वतलाती है ।

३ मकरीके ताम्रपत्रके अनुसार कुन्दकुन्दकी उत्तरावधि ईसाकी तीसरी शताव्दीका मध्य होना चाहिये ।

४ और यदि यह प्रमाणित हो जाता है कि कुन्दकुन्दका नाम एलाचार्य था और उन्होंने कुरलकी रचनाकी थी तथा वह पल्लवनरेश शिवस्कन्द वर्माके सम-कालीन थे तो उनके समयकी सीमा ईस्वी सन् की प्रथम दो शताव्दियाँ होनी चाहिए ।

प्राप्त सामग्रीकी इस लम्वी छान वीनके पश्चात् मेरा झुकाव इस विश्वासकी ओर है कि कुन्दकुन्दका समय इस्वी सन्का प्रारम्भ है । इस तरह डॉ० उपाध्येने पट्टावली प्रतिपादित समयको ही प्रकारान्तरसे स्वीकार किया है ।

कुन्दकुन्दके समय निर्धारणके जितने भी आधार हो सकते हैं उन सभीकी चर्चा तथा ऊहापोह पूर्व विद्वानोके द्वारा हो चुका है यह ऊपर दिये गये उनके मतोंसे प्रकट है । जहाँ तक डाक्टर पाठकके मतका प्रश्न है वह तो किसी भी तरहसे मान्य नही किया जा सकता क्योकि कुन्दकुदाचार्य इतने पीछेके आचार्य नही है । तोरणाचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयके थे अतएव यह नही कहा जा सकता कि वे उनके १५० वर्ष पूर्व ही हुए थे । आज भी जो मूर्तिलेख अंकित किये

जाते हैं उनमें कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख किया जाता है जब कि कुन्दकुन्दको हुए लगभग दो सहस्राब्द बीत रहे हैं। इसके सिवाय पूज्यपाद देवनन्दि प्रथम दिगम्बर जैन टीकाकार हैं जिन्होंने तत्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामकी टीका रची है। उनका समय विक्रमकी छठी शताब्दी है। डा० पाठकके शिवमृगेश वर्माका भी यही समय है और इसी समयमें वह कुन्दकुन्दका होना बतलाते हैं। किन्तु पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें (२-१०) मे पाँच गाथाएँ 'उक्त च' करके उद्धृतकी है और वे पाँचो गाथाएँ जिस क्रमसे उद्धृतकी गई है उसी क्रमसे कुन्दकुन्दकी 'वारस अणुवेक्खा'में वर्तमान हैं। तथा ये गाथाएँ अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थमें नही पाई जाती। अत. यह निश्चित है कि पूज्यपादने उन्हे कुन्दकुन्दकी 'वारसअणुवेक्खा'से उद्धृत किया है। इसके सिवाय पूज्यपादके समाधि[1] तंत्रमें अनेक श्लोक ऐसे हैं जो कुन्दकुन्दकी गाथाओंके ही छाया रूप हैं। इस तरह दोनों ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे पूज्यपाद सुपरिचित थे। अत कुन्दकुन्द उनसे पहले हो गये है यह निश्चित है।

कुन्दकुन्दके समयके विषयमें विचार करने वाले शेष चारो विद्वानोको दो भागोमें रखा जा सकता है। एक भागमें प्रो० चक्रवर्ती और डा० उपाध्ये आते हैं दूसरेमें श्री नाथूरामजी प्रेमी तथा प० जुगलकिशोरजी मुख्तार आते हैं।

---

१ जं मया दिस्सदे रूपं त ण जाणादि सव्वहा।
जाणग दिस्सदे णं त तम्हा जपेमि केणहं ॥२९॥—मो० पा०
'यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूप तत केन ब्रवीम्यहम् ॥१९॥—स० तं०।

× × ×

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जंमि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥—मो० पा०
व्यवहारे सुपुप्तो य स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुपुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥—स० त

× × ×

सुहेण भाविद णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबल जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए ॥६२॥—मो० पा०
अदु खभावितं ज्ञान क्षीयते दु.खसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दु खैरात्मान भावयेन्मुनि ॥—सं० त०

प्रो० चक्रवर्तीने पट्टावली प्रतिपादित समयको ठीक मानकर तथा उपलब्ध सूचनाओंको आधार बनाकर उनके द्वारा पट्टावली प्रतिपादित समयका ही समर्थन किया है। डा० उपाध्येने प्रो० चक्रवर्तीके उन आधारोको तो सुदृढ नही माना जिनके आधार पर उन्होने पट्टावली प्रतिपादित समयका समर्थन किया है, किन्तु मान्य उसी समयको किया है। इनमेंसे प्रो० चक्रवर्तीने तो श्रुतावतारमे वर्णित इतिवृत्तका स्पर्श ही नही किया। सभवतया उस समय उनकी दृष्टिमें वह आया नही होगा। किन्तु डा० उपाध्येने प्रो० चक्रवर्तीके आधारोकी तरह श्रुतावतार-की वार्ताकी भी समीक्षा कर डाली। यह तो उन्होने माना है कि श्रुतावतारमे कुन्डकुन्डपुरके जिस पद्मनन्दिका नाम आया है वह आचार्य कुन्दकुन्द ही हैं किन्तु कुन्दकुन्दके द्वारा षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डो पर परिकर्म नामक ग्रन्थके रचे जानेवाली बात उन्हें मान्य नही है क्योकि षट्खण्डागमकी टीका धवलामें तथा कसायपाहुडकी टीका जयधवलामें परिकर्मका कोई उल्लेख उन्हें नही मिला और न अन्यत्रसे ही उन्हें उसके सम्बन्धमें कोई सूचना मिली। तथा विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें चूकि कुन्दकुन्दके शिष्य कुन्दकीर्तिको उसको कर्ता बतलाया है, इससे डा० उपाध्येने इन्द्रनन्दिके कथनकी यथार्थतामें तो सन्देह किया और उसके आधार पर उसे अमान्य ठहरा दिया, किन्तु इस ओर ध्यान नही दिया कि षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोंके ऊपर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचे जानेकी बातको विबुध श्रीधर भी मान्य करता है। प्रश्न केवल यह रह जाता है कि कुन्दकुन्दने उसे रचा या उनके शिष्य कुन्दकीर्तिने रचा। कुन्दकुन्दके कोई कुन्दकीर्ति नामका शिष्य था, इसका कोई सकेत तक अन्यत्र नही मिलता और न दिगम्बर जैन गुरु परम्परामें कुन्दकीर्ति नामके किसी आचार्य या विद्वान्का ही सकेत मिलता है। डा० उपाध्येने कुन्दकुन्दकी जो कथा उद्धृतकी है उसमें कुन्दकुन्दके पिताका नाम कुन्द श्रेष्ठी और माताका नाम कुन्दलता लिखा है। जैसे कथा लेखकने कुन्दकुन्द नामके ऊपरसे उनके माता पिताके नाम कल्पित कर लिये, इसी तरह विबुध श्रीधरने या जहाँसे उसने यह लिया हो उसने कुन्दकुन्द नाम परसे उनके शिष्य कुन्दकीर्तिकी कल्पना कर ली। कथाके दोनो नामोंमें जितना और जैसा तथ्य है उतना और वैसा ही तथ्य विबुध श्रीधरके कुन्दकीर्तिमें है अत वह उपेक्षणीय है।

परिकर्म नामका एक महान् ग्रथ वीरसेन स्वामीके सामने वर्तमान था। धवला टीकामें उसके उद्धरण बहुतायतसे पाये जाते हैं। उसके सम्बन्धमें षट्-खण्डागमकी टीकाओ पर विचार करते समय पीछे विस्तारसे प्रकाश डाला जा चुका है और यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया कि उसके रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य होने चाहियें। अत इन्द्रनन्दिका यह लिखना कि दोनों सिद्धान्त

ग्रथ कौण्डकुन्द पुरमें पद्मनन्दिको प्राप्त हुए और उन्होने पट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डो पर परिकर्म नामका ग्रथ रचा यथार्थ है। अत कुन्दकुन्दके समय निर्धारणके लिये इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारका कथन ही दृढ आधार हो सकता है और इसलिये श्री प्रेमी जीने तथा मुख्तार साहबने जो उसको आधार बनाकर कुन्दकुन्दके समयका विचार किया हो वह समुचित प्रतीत होता है।

तिलोयपण्णत्तिसे लेकर श्रुतावतार पर्यन्त ग्रंथोमें महावीर निर्वाणसे लेकर अन्तिम एकागधारी लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष होते है। किन्तु नन्दी सघकी प्राकृत[1] पट्टावलीके अनुसार ५६५ वर्ष ही होते है इसका कारण यह है कि अन्यत्र पांच एकादशागधारियो और चार एकागधारियोका समय अलग अलग २२० और ११८ वर्ष बतलाया है। किन्तु इस पट्टावलीमें उनका समय क्रमश १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है। अर्थात् २२० वर्षके भीतर नौ ही आचार्य आ जाते हैं। इस तरह ११८ वर्ष शेष रहते है। साथ ही पाँच और चार आचार्योंका काल भी २२० और ११८ वर्षोंके स्थानमें १२३ और ९७ वर्ष उचित प्रतीत होता है।

इसके सिवाय तिलोयपण्णति आदिमें उक्त पांच आचार्योंके पश्चात् होने वाले आचार्योंको एक अगका धारी बतलाया है जब कि वे पाँच आचार्य ग्यारह अगोंके धारी थे। इस तरह अकस्मात् दस अगोके लोप होनेकी बात खटकती है। किन्तु पट्टावलीमें उन्हें क्रमश दस, नौ, आठ अंगोंका धारक बतलाया है। जो उचित प्रतीत होता है।

पट्टावलीके अनुसार शेष ११८ वर्षोंमें पाँच आचार्य एकागधारी हुए उनके नाम क्रमसे अर्हद्वलि, माघनन्दि, घरसेन, पुष्पदन्त और भूतवली थे। अत पट्टावलीके अनुसार वीर निर्वाणसे ६१४ वर्ष बाद धरसेनाचार्य हुए और भूतवली पर्यन्त ६८३ वर्ष पूर्ण हुए।

[2]धवलामें जोणीपाहुड नामक एक ग्रन्थका निर्देश है जो मंत्र तंत्रसे सम्बद्ध था। वि० स० १५५६में लिखी गई [3]बृहटिप्पणिका नामक ग्रन्थ सूचीमें इसे घरसेन कृत बतलाया है और उसका रचना काल वीरनिर्वाणसे ६०० वर्ष बाद बतलाया है। इससे भी पट्टावलीमें दिये गये कालकी पुष्टि होती है। सभव-

---

१ जै० सि० भा०, भाग १, कि० ४, पृ० ७३।

२. 'जोणिपाहुडे भणिद मत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागोत्ति घेतव्वो'

—पट् ख०, पु० १३, पृ० ३४९।

२. 'योनिप्राभृत वीरात् ६०० धारसेनम्। बृहटिप्प० जै० सा० स० भा० १।

तया पट्टासीन होनेसे पहले उन्होने इस ग्रन्थका निर्माण किया होगा। ६१४ से ६३३ वर्ष तक वह पट्टासीन रहे। उसके पश्चात् ३० वर्ष तक पुष्पदन्त और पुष्पदन्तके पश्चात् बीस वर्ष तक भूतवली पट्टासीन रहे। धवलाके अनुसार धरसेनने अपना अन्तिम समय निकट जानकर महाकर्म प्रकृति प्राभृतके विच्छेदके भयसे दो मुनियोको बुलवाकर उन्हे महाकर्म प्रकृति प्राभृत पढाया था। और उसके पश्चात् वे दोनो मुनि पुष्पदन्त और भूतवली नामसे ख्यात हुए। 'उनमेंसे पुष्पदन्त तो विंशति प्ररूपणाके सूत्रोंका निर्माण करनेके पश्चात् स्वर्गवासी हुए और शेष पट्खण्डागमकी रचना भूतवलिने की। अत वीरनिर्वाणमे ६३० वर्ष-के पश्चात् धरसेनाचार्यने उन्हे बुलवाकर महाकर्म प्रकृति प्राभृत पढाया होगा। उसके पश्चात् ही षट्खण्डागमकी रचना होना सभव है। पुष्पदन्त और भूतबलिकी कालावधिको दृष्टिमें रखते हुए वीरनिर्वाण ६५० के पश्चात् पट्-खण्डागमकी उत्पत्ति हुई होगी। अत वीरनिर्वाणकी सातवी शताब्दीके तीसरे चरणमें पट्खण्डागमकी रचना की परिसमाप्ति होना सभव प्रतीत होता है। इसके पश्चात् ही कुन्दकुन्दका होना सम्भव है।

किन्तु धवलामें दी गई पट्खण्डागमकी उत्पत्तिकी कथासे धरसेनके पश्चात् तीस वर्ष तक पुष्पदन्तका जीवित रहना सभव प्रतीत नही होता। क्योकि धरसेनसे महाकर्म प्रकृति प्राभृतका अध्ययन करके वर्षा काल तो दोनो ने अकलेश्वरमें विताया था। उसके पश्चात् पुष्पदन्ताचार्य वनवास देशको चले गये थे और उन्होने जिनपालितको दीक्षा देकर विंशति सूत्रोकी रचना करके तथा उसे पढाकर भूतवलीके पास भेज दिया था और जिनपालितसे उन्हे भूतवलीको यह ज्ञात हो गया था कि पुष्पदन्त अल्पायु है अत उन्होने तत्काल ग्रन्थ रचना कर डाली थी।

अत वीरनिर्वाण सम्वत् ६३०के लगभग यदि भूतवली पुष्पदन्तने महाकर्म-प्रकृति प्राभृतका पढा था तो पट्खण्डागमकी रचना ६५०के लगभग हो जाना ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

सरस्वती गच्छकी पट्टावली भद्रबाहु द्वितीयसे शुरू होती है। यह भद्रबाहु द्वितीय वही जान पडते है जो लोहाचार्यके पूर्वज थे और नन्दिसघकी पट्टावलीमे जिनका काल वीरनिर्वाण ४९२ से ५१५ तक बतलाया है। सरस्वती गच्छकी पट्टावलिमें इन भद्रबाहुके शिष्यका नाम गुप्तिगुप्त लिखा है तथा यह भी लिखा है कि इनका दूसरा नाम अर्हद्बलि था। और गुप्तिगुप्तके उत्तराधिकारी पट्टधरका नाम माघनन्दि लिखा है। ये अर्हद्बलि और माघनन्दि वे ही जान पडते है जिन्हें नन्दिसघकी प्राकृत पट्टावलीमे लोहाचार्यके पश्चात् रखा है। प्राकृत पट्टावलीमे

माघनन्दिके पश्चात् धरसेन और फिर क्रमश पुष्पदन्त और भूतबलिका नाम आया है। किन्तु सरस्वती गच्छकी पट्टावलीमें माघनन्दिके पश्चात् जिनचन्द्र और फिर कुन्दकुन्दका नाम आया है। यदि धरसेनके पूर्वज माघनन्दि और जिनचन्द्रके पूर्वज माघनन्दि एक ही व्यक्ति है तो कुन्दकुन्दके गुरु जिनचन्द्र धरसेनाचार्यके समकालीन होने चाहिये और तब कुन्दकुन्द भी पुष्पदन्त भूतबलि-के समकालीन ठहरते है।

इससे हम इसी परिणाम पर पहुँचते है कि षट्खण्डागमके आद्य भाग पर परिकर्म नामक ग्रन्थके रचयिता कुन्दकुन्द भूतबलि पुष्पदन्तसे अधिक समय पश्चात् नही हुए। अत उनका काल वीरनिर्वाण ६५० से ७०० तक (वि०स० १८० से २३० तक) मानना ही समुचित प्रतीत होता है।

सरस्वती गच्छकी पट्टावलीमें जो कुन्दकुन्द स्वामीका पट्टारोहण काल वि० स० ४९में लिखा है वह कई भूलोका परिणाम जान पडता है। प्रथम तो उसमें भद्रबाहु द्वितीयका पट्टारोहण काल वि०सं० ४ से २६ तक दिया है जबकि नन्दि-सघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वीरनिर्वाण ४९२ से ५१५ तक (वि०सं० २२ से ४५) होता है। यह १८ वर्षका अन्तर विक्रम सवत्की प्रवृत्तिके विषयमें मतभेदके कारण हुआ जान पडता है क्योकि पट्टावलीमें वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म माना है। १८ वर्षकी उम्रमें वह गद्दी पर बैठा था। अत उसमें राज्यकालसे विक्रम सवत्की प्रवृत्ति मानकर वैसा लिखा है। पट्टावलीमें लिखा भी है—'बहुरि[1] विक्रमके राजपद में वर्ष चत्वारि ४ पीछैं पूर्वोक्त भद्रबाहुकूँ आचार्यका पट्ट हुआ।'

इस तरह १८ वर्षका तो यह अन्तर रहा। तथा इस पट्टावलीमे गुप्तिगुप्त उपनाम अर्हद्बलिका पट्टासीन काल ९॥ वर्ष, माघनन्दिका ४॥ वर्ष माना है जबकि प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्बलिका २८ वर्ष और माघनन्दिका २१ वर्ष काल माना है। इस प्रकार पट्टासीन कालमें भी अन्तर होनेसे हमारे निर्धारित किये हुए कालमें और सरस्वती गच्छकी पट्टावलीके कालमें इतना अन्तर पड गया है। वैसे पट्टावलीसे कुन्दकुन्दके उक्त कालका समर्थन होता है।

एक अन्य आधारसे भी उक्त कालका समर्थन होता है। विद्वद्जन बोधकमें नीचे लिखे श्लोक[2] को उमास्वामीके समय वर्णनका प्रसिद्ध श्लोक लिखा है।

श्लोक इस प्रकार है—

---

१. इं० ए०, जि० २१, पृ० ५७ पर प्रो० हार्नले का लेख—'Three Pattavalies of the Digambaras'।

२ र० श्रा० की प्रस्ता०, पृ० १४७।

वर्षे सप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामि मुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥

इसमें बतलाया है कि उमास्वामी आचार्य वीरनिर्वाणसे ७७० वर्ष बाद हुए। अथवा ७७० वर्ष तक उनके समयकी मर्यादा है। पीछेसे 'कुन्दकुन्दस्तथैव च' लिखकर यह सूचित किया है कि कुन्दकुन्दका भी यही समय है अथवा कुन्दकुन्द भी इसी समयके भीतर हो गये हैं।

सरस्वती गच्छकी पट्टावलीमें तो कुन्दकुन्दके अनन्तर ही उमास्वामीका आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना लिखा है और उससे ऐसा प्रकट होता है मानों उमास्वामी कुन्दकुन्दके शिष्य थे। परन्तु श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें[1] उमास्वामीका कुन्दकुन्दसे ठीक बादमें उल्लेख न करके 'तदन्वये' और 'तदीयवंशे' शब्दोके द्वारा कुन्दकुन्दका वंशज प्रकट किया है। मुख्तार सा० कहना है कि यह वंशजत्व कुछ दूरवर्ती मालूम नही होता। हो सकता है कि उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य न होकर प्रशिष्य रहे हो और इसीसे 'तन्वये' आदि पदोके प्रयोगकी जरूरत पडी हो। इस तरह भी दोनो कितने ही अंशोमें समकालीन हो सकते है और उमास्वामीके समयकी समाप्तिको प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दके समयकी समाप्ति भी कहा जा सकता है। शायद यही वजह हो, जो उक्त पद्यमें उमास्वातिका समय बतलाकर पीछेसे 'कुन्दकुन्दस्तथैव च' शब्दोके द्वारा यह सूचित किया गया है कि कुन्दकुन्दका भी यही समय है।

उक्त श्लोकसे उमास्वातिका समय वि० स० ३०० या ३०० तक जाता है। और चूंकि वे कुन्दकुन्दके ही अन्वयमें होते हुए भी दोनोंके बीचमें दीर्घकालका अन्तर नही था अत कुन्दकुन्दका उक्त समय वि० स० १८०–२३० उचित ही है। यह समय डा० उपाध्येके द्वारा अनुमापित समय (ईस्वी सन् की प्रथम दो शताब्दी) के भी अनुकूल है।

कुन्दकुन्द और यतिवृषभ—

इन्द्र नन्दिके श्रुतावतारमें यह भी लिखा है कि कषाय प्राभृत ग्रन्थ भी कुन्दकुन्दको प्राप्त हुआ था तथा उस कषाय प्राभृतमें गुणधर रचित गाथा सूत्र, यतिवृषभ रचित चूर्णिसूत्र और उच्चारणाचार्य रचित उच्चारणावृत्ति सम्मिलित

---

१ 'अभूदुमास्वातिमुनिश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ। तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥७॥—जै० शि० सं० भा० १, ले० न० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०।

अभूदुमास्वातिमुनि पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी। सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीत शास्त्रार्थं जात मुनिपुगवेन ॥११॥—जै० शि० सं० भा० १, ले० न० १०८।

थे। इससे प्रकट होता है कि कुन्दकुन्द केवल यतिवृषभके ही पश्चात् नही हुए किन्तु यतिवृषभके चूर्णिसूत्रो पर उच्चारणा वृत्ति रचनेवाले उच्चारणाचार्यके भी पश्चात् हुए हैं।

चूर्णिसूत्रोके रचयिता आचार्य यतिवृषभके समयके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है। वर्तमानमे जो तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ उपलब्ध है उसके रचयिता भी यतिवृषभ ही थे। किन्तु उसमें कुन्दकुन्दके ग्रन्थोकी बहुत सी गाथाएँ ज्योकी त्यो पाई जाती हैं। उसके सम्बन्धमे भी पीछे लिखा जा चुका है। वे गाथाएँ ति० प० में कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे ली गई है। चूंकि ति०प० अपने मूलरूपमें उपलब्ध नही है, पीछेसे उसमें मिश्रण हुआ है तथापि उसमें जो भगवान महावीरके निर्वाण काल से लेकर एक हजार वर्ष तककी राजकाल गणना पाई जाती है उससे यह स्पष्ट है कि विक्रम सम्वत्‌की छठी शताब्दीसे पूर्व उसकी रचना नही हुई। जब कि कुन्दकुन्द उससे पहले हो चुके थे, यह निश्चित है। अत ति० प० के देखनेसे तो यतिवृषभ कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए है यही निश्चित होता है। किन्तु यतिवृषभ ने कसायपाहुडका अध्ययन आर्यमक्षु और नागहस्तीसे किया था। श्वेताम्बर पट्टावलीके अनुसार नागहस्तीका समय वीरनिर्वाणकी सातवी शताब्दी है। अत चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ कुन्दकुन्दके समकालीन सिद्ध होते हैं। इसलिये जहाँ तक गुणधर रचित कसायपाहुडकी कुन्दकुन्दको प्राप्ति होनेका प्रश्न है वहाँ तक तो उसमें कोई बाधा नही है। चूर्णिसूत्रोकी प्राप्ति भी सभव हो सकती है, किन्तु उच्चारणा वृत्ति वाली बात तो सगत प्रतीत नही होती। उच्चारणाचार्यका समय यद्यपि अनिर्णीत है तथापि वह यतिवृषभके समकालीन ज्ञात नही होते। क्योकि वीरसेन स्वामीने यद्यपि उच्चारणाचार्यकी वृत्तिके आधार पर ही जयधवलाटीकाकी रचना की है तथापि उन्होने चूर्णिसूत्रोकी तरह उच्चारणाको कषायप्राभृतका अगभूत नहीं माना। अत कुन्दकुन्दका उक्त समय यतिवृषभकी दृष्टिसे भी उचित ही प्रतीत होता है।

कुन्दकुन्दान्वय और मूलसघ—

कुन्दकुन्दान्वयका सबसे प्राचीन उल्लेख मर्करासे प्राप्त ताम्रपत्र[1] (९५) में मिलता है। इसमें गगवशी नरेश कोगुणि प्रथमसे लेकर अविनीत तककी वंशावली दी गई है। और लिखा है कि अविनीत महाराजसे देसिग (देसीय) गण कोण्डकुन्दअन्वयके गुणचन्द्र भटारके शिष्य अभयनन्दि भटार, उनके शिष्य शीलभद्र भटार उनके शिष्य जयणन्दि भटार, उनके शिष्य गुणनन्दि भटार, उनके शिष्य चन्द्रणन्दि भटारको तलवन नगरके श्री विजय जिनालयके मन्दिरके

१ जै० शि० स०, भा० २, पृ० ६३।

लिये वदणेगुप्पे नामका सुन्दर गाँव दानमें प्राप्त कर अकालवर्प पृथ्वी वल्लभके मत्रीने सवत्सर ३८८ के माघ महीनेकी शुक्ल पचमी सोमवारको स्वातिनक्षत्रके समय इसे भेंट किया।

इस ताम्रपत्रमें सवतका नाम नही दिया गया है, लेखका परिचय देने वाले वर्जेस महोदयने लेखके सम्वत्को विल्सन साहवके मेकेन्जी कलेक्शनके आधार पर शक सम्वत् माना है किन्तु ज्योतिप शास्त्रके आधार पर उक्त सवत् के दिन और नक्षत्रको ठीक नही वतलाया। तथा कुछ ऐतिहासिक अनुपपतिया भी है। अत उसे असली माननेमें[1] सन्देह किया जाता है।

किन्तु नोणमगलसे[2] प्राप्त ताम्रपत्र (९४) मे उक्त वशपरम्पराके साथ कोगुणिवर्मा अपर नाम अविनीतके द्वारा अपने कल्याणके लिये अपने वढते हुए राज्य के प्रथम वर्पकी फाल्गुन सुदी पचमीको, अपने उपाध्याय परमहित विजयकीर्तिकी सम्मतिसे मूलसघके चन्द्रनन्दि आदिके द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूरके जेनमन्दिरको दान देनेका निर्देश है। मर्कराके ताम्रपत्रमें भी अविनीतने चन्द्रनन्दि भटारको दान दिया है और उस चन्द्रनन्दिको मूलसंघका वतलाया है। किन्तु मर्कराके ताम्रपत्रमें उसे कुन्दकुन्दान्वय तथा देसियगणका वतलाया है। डा० गुलावचन्द्रने लिखा है कि कोण्डकुन्दान्वयके साथ देशीयगणका सर्वप्रथम प्रयोग लेख न० १५० (सन् ९३१ में) हुआ है और मर्कराके ताम्रपत्रमें अविनीतके साथ अकाल वर्पके मत्रीका उल्लेख है। अकाल वर्प राष्ट्रकूट नरेश था। इस परसे अनुमान किया जाता है कि मर्कराके ताम्रपत्रको उक्त राजाके कालमें पुन लिखा गया तभी उसमे कुन्दकुन्दान्वयके साथ देशीयगणके आचार्योंके नाम लिख दिये गये है। किन्तु मूल ताम्रपत्र प्राचीन हैं। और उसमें कुन्दकुन्दान्वयका निर्देश भी होना संभव है। क्योकि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रमकी दूसरी तीसरी शताब्दीमें हो गये हैं और कोण्डकुन्दपुरके निवासी होनेके कारण ही वह कुन्दकुन्दाचार्य नामसे ख्यात हुए। यद्यपि अरुङ्गलान्वय, श्रीपुरान्वय, और कित्तूरान्वयकी तरह कुन्द-कुन्दान्वयका भी अर्थ कुण्डकुन्दपुरसे निकला मुनिवश किया जा सकता है, किन्तु उत्तरकालमें कुन्दकुन्दाचार्यका प्रयोग जिस रूपमें पाया जाता है और प्राय सभी आचार्य परम्परायें अपनेको कुन्दकुन्दान्वयी वतलाती है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दान्वयका अर्थ आचार्य कुन्दकुन्दका अन्वय लिया गया है। और इसी अर्थमें उसका प्रयोग हुआ है। अत. मर्कराके मूल ताम्रपत्र-में यदि कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख रहा हो तो वह कोई असगत नही है। हाँ

---

१. जै० शि० स०, भा० ३, प्रस्ता० पृ० ४७ आदि।
२ जै० शि० सं०, भा० २, पृ० ६०।

कर्मपाहुड, १८ क्रियासारपाहुड, १९ क्षपणा (सार) पाहुड, २० लब्धि (सार) पाहुड, २१ लोयपाहुड, २२ नयपाहुड, २३. नित्यपाहुड, २४ नोकम्मपाहुड, २५ पचवर्गपाहुड, २६ पयड्ढपाहुड, २७. पयपाहुड, २८ प्रकृतिपाहुड, २९ प्रमाणपाहुड, ३० सलमीपाहुड, ३१ सथानपाहुड, ३२ समवायपाहुड, ३३. षट्दर्शनपाहुड, ३४ सिद्धान्तपाहुड, ३५ सिक्खापाहुड, ३६ स्थानपाहुड, ३७. तत्त्व (सार) पाहुड, ३८. तोयपाहुड, ३९ ओवातपाहुड (?), ४० उत्पादपाहुड, ४१. विद्यापाहुड, ४२ वस्तुपाहुड, ४३ विहिय या विहयपाहुड।

उद्देश्य तथा शैली—आचार प्रधान जैन परम्परामें अंगज्ञानके उत्तराधिकारी श्रमण ही होते थे। ससारसे विरक्त श्रमण रात-दिन ध्यान और अध्ययनमें ही तल्लीन रहते थे। उनमें ज्ञानके अर्जन तथा सरक्षणकी प्रवृत्तिका बाहुल्य था। वैदिक परम्परामें जो कार्य ब्राह्मणो का था वही कार्य जैन परम्परामें श्रमणो का था। आत्मार्थी मुमुक्षु श्रमण शास्त्राभ्यासके द्वारा एक ओर आत्मकल्याण करते थे और दूसरी ओर श्रुतकी रक्षा करते थे। उन्हीके द्वारा श्रावक और श्राविकाओको भी आचार और विचार विषयक बोध प्राप्त होता था। कुन्दकुन्दाचार्यने अपने ग्रन्थोकी रचना प्रधान रूपसे श्रमणोको लक्ष्यमें रखकर उन्हींके उद्देशसे की है। उनके द्वारा रचित पाहुड श्रमणाचार विषयक शिक्षासे ओतप्रोत हैं। श्रमणोके सम्बन्धमें कुन्दकुन्दने जितना लिखा है और जितना खुलकर प्रमादी श्रमणोकी आलोचना की है, किसी दूसरे ग्रन्थकारने न उतना लिखा है और न उतनी खुलकर आलोचना की है। सुत्तपाहुड, भावपाहुड, और मोक्खपाहुड तो उसीसे भरे है। समयसार और प्रवचन सार भी श्रमणोको तत्त्व ज्ञानका बोध करानेके लिये ही रचे गये है।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थोकी शैली सरल और स्पष्ट है उसमें दुरूह जैसी बात नही है। उन्होने जो कुछ कहा है बहुत सीधे सादे शब्दोमें कहा है। जैन अध्यात्म का मुकुटमणि समयसार उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अध्यात्म जैसे विषयका प्रतिपादन विविध दृष्टान्तोंके द्वारा इतनी सुगम रीतिसे किया गया है कि मोटीसे मोटी बुद्धि वाला भी उसे आसानीसे समझ सकता है। वह माताके दूधकी तरह सुपाच्य और अविकारी है। उसके अवलोकनसे आचार्य कुन्दकुन्दकी अगाध विद्वत्ता किन्तु सुगम प्रतिपादन शैलीका स्पष्ट परिचय मिलता है। प्रवचनसारका वस्तु निरूपण अवश्य ही तर्क प्रधान शैलीको लिये हुए है। किन्तु फिर भी दुरूह नही है। जहाँ समयसारसे उनके सांख्य दर्शन और उपनिषद् विषयक पाण्डित्यका पता चलता है वहाँ प्रवचनसारसे ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द न्याय-वैशेषिक दर्शनके भी पण्डित थे। और

वौद्धोके विज्ञानाद्वैतवाद तथा शून्यवाद भी उनसे अज्ञात नही थे। इस स्व-पर समयज्ञताके कारण ही वे जैन तत्त्व ज्ञानका परिमित शब्दोके द्वारा परिमार्जित शैलीमें निरूपण कर सके और उनका वही निरूपण आगेके लिये आधार शिला वना।

भाषा—डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावना[1]के अन्तमें प्रवचनसारकी भाषाके सम्वन्धमें विस्तारसे विचार किया है और विभिन्न मतोकी समीक्षा भी की है।

कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोकी तरह प्रवचनसारकी भाषा भी प्राकृत है। किन्तु उसमें श्वेताम्वर आगमोकी अर्ध मागधी भाषाके वहुतसे रूप पाये जाते है, और सस्कृतका भी गहरा प्रभाव है, साथ ही उसका पालनपोषण सौरसेनीकी पृष्ठ भूमिमें हुआ है। इससे पिशलने उसे 'जैन सौरसेनी' नाम दिया है। डा० जेकोवी ने श्वेताम्वरोके आगमोत्तर कालीन साहित्यकी प्राकृतको, जो अर्धमागधी और महाराष्ट्रीका मिश्रित रूप है, जैन महाराष्ट्री कहा है। पिशलका उक्त नाम-करण इससे पूर्णतया मेल खाता है। किन्तु कुछ जर्मन विद्वान 'जैन सौरसेनी' नामसे सहमत नही है। १९२८में डा० शुव्रिगने देहलीमें जो भाषण दिया था उसमें उन्होने अपने एक शिष्यकी 'मूलाचार' तथा अन्य प्रमुख दिगम्वर ग्रन्थोंके सम्वन्धमेंकी गई खोजोका हवाला देते हुए अन्तमें कहा था कि भविष्य वतलायेगा कि पिशलके द्वारा प्रस्तावित जैन सौरसेनी नाम कहाँ तक उचित है। 'डा० शुव्रिगके एक शिष्य डा० वाल्टर डेनेक (Denocke) ने १९२२में 'दिगम्वर टेक्सटस्' शीर्षकसे एक महा निवन्ध लिखा था। उसमें डा० डेनेकने वट्टकेरके मूलाचार, कुमारकी कार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा कुन्दकुन्दके छप्पाहुड (षट् प्राभृत), समयसार और पञ्चास्तिकाय आदि दिगम्वरीय प्राकृत ग्रन्थोकी भाषाके सम्वन्धमें चर्चा की है। उनकी चर्चाका एक मात्र विषय इन ग्रन्थोकी भाषा है। और उसमे उन्होने जो उदाहरण दिये हैं वे अधिकतर षट् प्राभृतसे लिये गये है। उन्होने लिखा है कि इन ग्रन्थोंकी भाषा अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौर-सेनीसे प्रभावित है। उन्होने जो उदाहरण दिये हैं उनमेंसे कुछ उदाहरणोंसे वह सस्कृतके प्रभावको भी स्वीकार करने में आगा पीछा नही कर सकेंगे। उन्होने छप्पाहुड तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षासे कुछ अपभ्रश रूप दिये है, किन्तु प्रवचनसारसे उन्होने एक भी अपभ्रश शव्दका उदाहरण नही दिया। डा० उपाध्येके मतानुसार अकेले कुन्दकुन्दके छप्पाहुडमें अपभ्रश शव्दोका अधिक रूपमें पाये जानेका कारण यह है कि छप्पाहुड सरल है अत उसका पठन पाठन

---

१ पृ० १२१–१२३।

कुन्दकुन्दान्वयके साथ देसियगण तथा उसके आचार्योंका नाम पीछेसे जोड दिया गया हो, यह संभव है।

मर्कराके पश्चात् शक सम्वत् ७१९ और ७२४ (वि० स० ८५४ और ८५९) के ताम्रपत्रोमे कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख मिलता है। यह वही ताम्रपत्र हैं जिनके आधार पर डा० पाठकने कुन्दकुन्दका समय शक सम्वत् ४५० के लगभग माना है।

उधर मर्करासे प्राप्त ताम्रपत्र (९४) में चन्द्रनन्दिको मूलसंघका बतलाया है। यह वही चन्द्रनन्दि है जिसे ताम्रपत्र (९५) में कुन्दकुन्दान्वयका बतलाया है। अत कुन्दकुन्दान्वय और मूलसघका निर्देश लगभग समकालीन मिलता है। एक ताम्रपत्रमें चन्द्रनन्दिको मूलसघका बतलाना और दूसरेमें कुन्दकुन्दान्वय का बतलाना (जिसकी स्थिति अभी सुनिश्चित नही है किन्तु सभाव्य है) कुन्दकुन्दान्वय और मूलसघको समानार्थक नही तो परस्परमें सम्बद्ध अवश्य प्रकट करता है।

वट्टकेराचार्य विरचित मूलाचारका उल्लेख तिलोयपण्णत्ति (८।५३२) में पाया जाता है। मूलाचारका मतलब मूलसंघका आचार होता है। अत उसकी रचनासे पूर्व अवश्य ही मूलसघ स्थापित हो चुका था। मूलसघका मूल आचार मुनियोंके अट्ठाईस मूल गुण और नग्न दिगम्बरत्व है। उसीका प्रतिपादन और समर्थन सबसे प्रथम कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमे मिलता है। अत कुन्दकुन्दान्वयकी तरह यदि मूलसघके उद्गमके प्रधान कुन्दकुन्द रहे हो तो वह कोई ऐसी बात नही है जिसे स्वीकार करनेमें कोई बाधा हो।

ग्रन्थ रचना—ऐसी किम्वदन्ती है कि कुन्दकुन्दाचार्यने ८४ पाहुडोकी रचनाकी थी। 'पाहुड' शब्द प्राचीन द्वादशागसे सम्बद्ध है। बारहवें अग दृष्टि-वादके अन्तर्गत चौदह पूर्वोमें 'पाहुड' नामक अवान्तर अधिकार थे। जैसे 'महाकर्मप्रकृति पाहुड' अथवा 'कसायपाहुड'। इनमेंसे पहला महाकर्मप्रकृति पाहुड द्वितीय अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत था उसीसे षट्खण्डागमकी उत्पत्ति हुई है। तथा दूसरा कसायपाहुड ज्ञान प्रवाह नामक पांचवें पूर्वके अन्तर्गत दसवें वस्तु-अधिकारमें तीसरा पाहुड था। उसीको गुणधराचार्यने कसायपाहुडमें उपसहृत किया।

आचार्य कुन्दकुन्दने भी अपने ग्रन्थोका नाम 'पाहुडान्त' रखा है। जैसे उन्होने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य घोषित करके न केवल उनके प्रति अपनी गहरी आस्थाको प्रकट किया है बल्कि इस बातको भी प्रमाणित किया है कि उन्हें गुरु परम्परासे श्रुतका जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह श्रुत-

केवली भद्रबाहुकी देन था। उसी तरह उन्होने अपने ग्रन्थोंके नाम पाहुडान्त रखकर प्राचीन श्रुत परिपाटीके प्रति अपनी आस्थाको प्रकट करनेके साथ ही साथ अपने ग्रन्थोको भी उसीका अगभूत दर्शाया है। कुन्दकुन्दके पश्चात् रचे गये ग्रन्थोमें पाहुडान्त नाम क्वचित् ही पाया जाता है। कसायपाहुड[1] पर चूर्णि-सूत्रोंके रचयिता आचार्य यतिवृषभने 'जह्मा पदेहि पुद (फुड) तह्मा पाहुड' ऐसी पाहुड शब्दकी निरुक्ति की है। अर्थात् पदोमे स्फुट है—व्यक्त है इसलिये उसे पाहुड कहते है। 'पाहुड' प्राकृत शब्द है उसका सस्कृत रूप प्राभृत' होता है। कसायपाहुडकी जयधवला टीकाके रचयिता वीरसेन स्वामीने प्राभृत शब्दकी निरुक्ति इस प्रकारकी है—'प्रकृष्ट[2] अर्थात् तीर्थङ्करोंके द्वारा जो आभृत् अर्थात् प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा जिनका विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्योंके द्वारा जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है, अथवा परंपरा रूपसे लाया गया है वह प्राभृत है। प्राभृत शब्दकी ये निरुक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोमें सुघटित होती है। उन्होने जो कुछ कहा है वह तीर्थङ्करोके द्वारा प्रस्थापित किया गया है, तथा श्रुतकेवली भद्रबाहु जैसे आचार्योंके द्वारा धारण किया गया और लाया गया है। तथा कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्यके द्वारा व्याख्यान किया गया है। अत उनके ग्रन्थोका पाहुडान्त नाम यथार्थ है।

दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत, सूत्रप्राभृत, बोधप्राभृत, भावप्राभृत, मोक्षप्राभृत, लिंगप्राभृत, शीलप्राभृत, रयणसार, बारह अणुवेक्खा, समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और नियमसार, अभी तक कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित इतने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके सिवाय जो अन्य ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित कहे जाते है किन्तु अनुपलब्ध है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१ आचारपाहुड[3], २ आलाप-पाहुड, ३ अंग (सार) पाहुड, ४ आराधना (सार) पाहुड, ५ बंध (सार) पाहुड, ६ बुद्धि या बोधि पाहुड, ७ चारणपाहुड, ८ चूलिपाहुड, ९ चूर्णि-पाहुड, १० दिव्वपाहुड, ११ द्रव्य (सार) पाहुड, १२ दृष्टिपाहुड, १३ इयन्त-पाहुड, १४ जीवपाहुड, १५ जोणि (सार) पाहुड, १६. कर्मविपाकपाहुड, १७

१ क० पा०, भाग १, पृ० ३२६।

२ 'प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृत प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृत धारित व्याख्यानमानीतमिति वा प्राभृतम्।'—क० पा०, भा० १, पृ० ३२५।

३ प्रवचनसारकी डा० उपाध्ये लिखित अग्रेजी प्रस्तावनासे यह सूची दी गई है। इनमे अनेक नाम कल्पित प्रतीत होते है।

अधिक होता आया है, प्राचीन समयमें उनके पढनेके लिये टीकाएँ भी आवश्यक नही थी। छप्पाहुड पर सम्भवतया एक ही टीका लिखी गई है, जो उपलब्ध है और जिसके रचयिता श्रुतसागर (वि० १६वी शती) है। इसी लिये छप्पाहुडमें यत्र तत्र अपभ्रंश शब्द पाये जाये जाते हैं। अत डा० उपाध्येने दिगम्बर ग्रन्थोकी प्राकृत भाषाके लिये पिशलके द्वारा सुझाए गये नामको बिल्कुल उपयुक्त माना है और केवल परिवर्तनके लिये उसमें कुछ परिवर्तन करना अनावश्यक बतलाया है।

अध्यात्मवादका उद्गम और प्रसार

पहले लिख आएँ है आचार्य कुन्दकुन्द जैन अध्यात्म और जैन तत्त्वज्ञान दोनों के ही पुरस्कर्ता है। और यद्यपि ये दोनो ही विषय द्रव्यानुयोगके अन्तर्गत आते हैं। किन्तु दोनो के दृष्टिकोणमें भेद होनेसे यहाँ दोनोका पृथक्-पृथक् कथन किया जाता है। सबसे प्रथम अध्यात्मको लेते है।

आत्माको आधार मानकर जो चिन्तन और आचरण किया जाता है उसे अध्यात्म कहते हैं। आज भारतीय धर्मोकी ऐसी कोई भी परम्परा उपलब्ध नही है जिसमें आत्माको एक या दूसरे नामसे स्वीकार न किया गया हो। वेद जैसे प्राचीनतम साहित्यमें आध्यात्मिक जिज्ञासा और बोधके सूचक उद्गार मिलते हैं प्राचीन उपनिषदोंमे तो आध्यात्मिक जिज्ञासा और विचारणा विविधरूपोमें मिलती है। पूर्व पीठिकामें उसपर विस्तारसे प्रकाश डाला जा चुका है यहाँ उसका आभास दिया जाता है।

कठ उपनिषदमें नचिकेता और यममें सवादके द्वारा आत्माका क्या स्वरूप है, क्या वह मृत्युके बाद जीवित रहता है? यदि जीवित रहता है तो कहाँ चला जाता है, इत्यादि प्रश्नो पर प्रकाश डाला गया है। आरुणि उद्दालक ऋषिके पुत्र नचिकेता नामक बालकने यमराजके द्वारा प्रदत्त तीसरे वरकी याचना करते हुए कहा—

> येय प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
> एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाह वराणामेष वरस्तृतीय ॥२०॥

'भगवान्' मृत मनुष्यके सम्बन्धमें यह एक बडा सन्देह फैला हुआ है। कुछ लोग तो कहते हैं कि मृत्युके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते है, नही रहता। इस विषयमें आप अपना अनुभव बतलाईये'।

यमराजने बालक नचिकेताको लौकिक अभ्युदयोका प्रलोभन देकर उसे आत्म-विषयक जिज्ञासासे विरत करना चाहा किन्तु नचिकेता किसी प्रलोभनमें नही

आया। तब यमराजको उसकी जिज्ञासा शान्त करनी पडी। 'न तो यह आत्मा जन्म लेता है और न मरता है। न यह किसीमे उत्पन्न होता है और न किसीको उत्पन्न करता है। यह नित्य और शाश्वत है। शरीरका नाश होनेपर भी उसका नाश नही होता। तथा—'यह आत्मा न तो प्रवचनमे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है। जो इसके पीछे पड जाता है वही उसे प्राप्त कर सकता है।' अन्तमें यमराज आत्माका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्त महत परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥१५॥

'यह आत्मा शब्द रहित है, स्पर्श रहित हैं, रूप रहित है, रस रहित है, गन्ध रहित है, नित्य, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। उसे जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे छुटकारा पा जाता हैं'।

छान्दोग्य उपनिषद प्राचीनतम उपनिषदोमे माना जाता है। इसमे भी आत्म-जिज्ञासा विषयक अनेक संवाद है। जिनसे प्रकट होता है कि उस समय तक वैदिक ऋषि आत्माको नही जानते थे। और उसके जाननेके लिये वे क्षत्रियोंके पास जाते थे।

तृतीय खण्डमें लिखा है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय जनोकी सभामें गया। उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—कुमार! क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है। उसने कहा—हाँ, भगवन्। क्या तुझे मालूम है कि इस लोकसे जानेपर प्रजा कहाँ जाती है? नही, भगवन्! क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोकमें कैसे आती है। नही भगवन्!

इस तरह पाँच प्रश्नोका उत्तर श्वेतकेतुने नही में दिया। तब प्रवाहणने उसे फटकारते हुए कहा—तो फिर ऐसा क्यों कहता है कि मुझे शिक्षा दी गई है। जो इन बातोंको नही जानता वह अपनेको शिक्षित कैसे कह सकता है?

तब बेचारा श्वेतकेतु अपने पिताके पास आया। पिताने सब बातें सुनकर कहा—इन प्रश्नोका उत्तर तो मैं भी नही जानता। तब उसका पिता राजा जैवलि के पास गया और कहा कि आपने मेरे पुत्रके प्रति जो बात प्रश्न रूपसे कही थी वही मुझे बतलाइये। तब राजाने ऋषिसे कहा—गौतम, पूर्वकालमें तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नही गई। इसीसे सम्पूर्ण लोकोमें इस विद्याके द्वारा क्षत्रियोका ही अनुशासन होता रहा है।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि आत्मविद्याके सामने वेदविद्याका महत्त्व उस समय मर चला था। सप्तम अध्यायमें लिखा है कि नारद जी सनत्कुमारजी के पास गये और बोले—मुझे उपदेश दीजिये। सनत्कुमार जीने कहा—तुम क्या

जानते हो सो बतलाओ। नारद जी बोले—भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। इनके सिवाय इतिहास पुराणरूप पाचवा वेद, व्याकरण, गणित, निधिशास्त्र, तर्क शास्त्र, नीति, देवविद्या ब्रह्मविद्या आदि सब जानता हूँ। किन्तु मैं केवल मन्त्रवेत्ता हूँ आत्मवेत्ता नही हूँ। मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पारकर लेता है परन्तु मैं शोक करता हूँ। मुझे शोकसे पारकर दीजिये। तब सनत्कुमार जीने कहा—तुम जो कुछ जानते हो वह केवल नाम है। तब नारदने पूछा—भगवन् क्या नामसे भी अधिक कुछ है। नारद जी इस तरह पूछते गये और सनत्कुमार जी उत्तर देते गये। अन्तमें जाकर सनत्कुमारजी-ने कहा—आत्मदर्शनसे ही सबकी प्राप्ति हो जाती है।

इस तरह मंत्रवेत्ता ब्रह्मर्पियोका ज्यों-ज्यो आकर्पण राजर्पियोकी आत्मविद्या-की ओर बढता गया त्यो-त्यों उनकी यज्ञोके प्रति अरुचि भी बढती गई। इसका उदाहरण मुण्डकोपनिषद्[१]मे देखनेको मिलता है। उसमें यज्ञरूप अट्ठारह नौकाओ-को अदृढ बतलाते हुए कहा है कि 'उनके द्वारा संसार समुद्रसे पार होना तो दूर रहा, इस लोकके वर्तमान दुःखरूप छोटी-सी नदीको पार करके स्वर्ग तक पहुँचनेमे भी सन्देह है। जो मूर्ख लोग उन्हे ही कल्याणका मार्ग समझ कर उनकी प्रशसा करते है वे बारम्बार, जरामरणको प्राप्त होते हैं।'

इसीसे उपनिषदोको वेदान्त भी कहते हैं। उन्होंने एक तरहसे वेदोका अन्त कर दिया था। उपनिषदोंमें वर्णित अध्यात्मवादको उपनिषदो जितना ही प्राचीन समझ लेना भ्रान्त है उसका स्रोत सुदूरवर्ती भूतकालमेंसे बहता आया है। सिन्धु घाटीसे प्राप्त अवशेष इस बातके साक्षी हैं कि उस समय योगका प्रचार था। योगका अध्यात्मसे सम्बन्ध है। जैनोकी मान्यताके अनुसार, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव योग और अध्यात्मके जनक थे। उपनिषदोंके कालमें वारा-णसीमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भी योगी थे और उनसे २५० वर्ष बाद हुए भगवान् महावीर ने तो १२ वर्षो तक कठोर तपश्चर्या की थी। ये सब क्षत्रिय थे और उन्हें क्षत्रियोकी आत्मविद्या उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त हुई थी। जैन शास्त्रो[२]

१ 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभि-वन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ॥७॥—मुण्डको०।

२ 'बम्हणेण गोदमगोत्तेण सयलदुस्सुदिपारएण जीवाजीवविसयसंदेहविणासणट्ठ-मुवगमवड्ढमाण-पादमूलेण इदभूदिणावहारिदो। उत्तं च—गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेयसडगवि। णामेण इदभूदित्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ॥—षट्खं०, पु० १, पृ० ६४-६५।

के अनुसार भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम वेद-वेदागमें पारंगत थे किन्तु उन्हे जीवके विषयमे सन्देह था और उसी सन्देहको दूर करनेके लिए वह भगवान् महावीरके समीप गये और उनके शिष्य बन गये।

आवश्यक निर्युक्तिमें भगवान् महावीरके ग्यारह गणधरोके द्वारा भगवान् महावीरके पास जाकर अपनी शंका निवृत्ति करके उनके शिष्य बननेका कथन विस्तारसे किया है। उन गणधरोके मनमें जिन विषयोको लेकर शकाएँ थी वे इस प्रकार है—

१ जीव[1], २ कर्म, ३ जीव और शरीरका ऐक्य, ४ भूत, ५ इस भव और परभवका सादृश्य, ६ बन्ध और मोक्ष, ७ देव, ८ नारकी, ९. पुण्य और पाप, १० परलोक और ११ निर्वाण।

भगवान् महावीरने इन सभी शकाओका समाधान किया। ये सभी विषय अध्यात्मसे सम्बद्ध है। जीव अथवा अथवा आत्माको शरीर और भूतोसे भिन्न एक स्वय सिद्ध अविनाशी तत्त्व मान लेने पर उसका कर्मसे सम्बन्ध और उससे छुटकारेका प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है। उसीके साथ शेष बातें भी सम्बद्ध है। अत तात्त्विक जैन ग्रन्थोमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य और पाप इन नौ पदार्थोंके श्रद्धान और ज्ञानको ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहा है और उन्हें तत्त्वार्थ सज्ञा भी दी है। अर्थात् ये ही तत्त्वभूत अर्थ हैं जिनको जानना मोक्षार्थीके लिये आवश्यक है। जो इन्हें नही जानता वह सारभूत वस्तु तत्त्वको नही जानता।

इन नौ पदार्थोंके मूलमें दो ही तत्त्व हैं—एक जीव और एक अजीव। इन दोनोंके मिलन और छुटकारेको लेकर ही शेष तत्त्व उत्पन्न हुए।

नौ पदार्थोंका विवेचन

जैन दर्शनमें मूलतत्त्व दो ही माने गये हैं—एक जीव और एक अजीव। जीव चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य अथवा चेतनाके दो प्रकार है—ज्ञान और दर्शन। अत ज्ञानदर्शन स्वरूप चैतन्यमय जीव है। वह जीव अथवा आत्मा अपने शरीर प्रमाण है। जिस शरीरमें वह बसता है उसीमें व्याप्त होकर रहता है। तथा वह कर्मोका कर्ता भी है और उनके फलका भोक्ता भी है। यद्यपि वह अमूर्तिक है किन्तु जड कर्मोंसे संसार अवस्थामें संयुक्त होनेसे मूर्तिक कहा जाता है।

---

१. 'जीवे कम्मे तज्जीव, भूअ, तारिसय बंध मुक्खे य।
देवा नेरइया वा पुन्ने परलोअ निव्वाये ॥५९६॥—आ० नि०।

अजीवके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमेंसे पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है शेष अमूर्तिक है। ससार अवस्थामें जीव जिन जड कर्मोसे बँधा है वे पौद्गलिक है।

ससारी जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियासे आकृष्ट होकर पौद्गलिक कर्मोका जो जीवमें आगमन होता है उसे आस्रव कहते है। और जीवके काग-द्वेष रूप परिणामोका निमित्त पाकर जीवसे कर्मोका वन्ध होनेको वन्ध कहते है। व्रत सयम आदिके द्वारा नवीन कर्मवन्धके रोकनेको सँवर कहते है। और पूर्वबद्ध कर्मोके एक देश क्षयको निर्जरा कहते है। शुभ कर्मोको पुण्य और अशुभ कर्मोको पाप कहते हैं। संक्षेपमें नौ पदार्थोका यह स्वरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्दने इन नौ पदार्थोके स्वरूपका विवेचन दो प्रकारसे किया है। एक प्रकारका नाम निश्चयनय है और एक प्रकारका नाम व्यवहार है। यो तो द्रव्यानुयोग विषयक प्राय. सभी जैन ग्रन्थोमें उक्त तत्त्वोका विवेचन थोडा वहुत पाया जाता है किन्तु वह सारा विवेचन व्यवहार मूलक है। निश्चय-नय मूलक विवेचन केवल आचार्य कुन्दकुन्दने अपने समय पाहुडमें किया है। अन्य किसी जैन ग्रन्थमे वह विवेचन नही मिलता। अत समयपाहुड जैन अध्यात्म-का एकमात्र मौलिक ग्रन्थ है।

समयपाहुड या समयसार—आचार्य कुन्दकुन्दने प्रथम और अन्तिम गाथा-में अपनी इस कृतिको समयपाहुड नाम दिया है किन्तु यह समयसारके नामसे ख्यात है। इसका कारण यह है कि समयप्राभृतके टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि[1]-तथा श्री जयसेनाचार्य[2]ने अपनी टीकाके प्रारम्भिक पद्यमें समयसार नामसे ही इसे अभिहित किया है।

समय

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पञ्चास्तिकाय[3] (गा० ३)में लिखा है कि 'जिनेन्द्रदेवने पाँच अस्तिकायोंके (जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश) समवायको समय कहा है। उसीको लोक कहते हैं।' और समयपाहुड[4]

---

१ 'भवतु समयमार व्याख्ययैवानुभूते' ॥३॥

२ 'वक्ष्ये समयसारस्य वृत्ति तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥१॥'

३ 'समवाओ पंचण्ह समउत्ति जिणुत्तमेहि पण्णत्त।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं॥३॥'—पञ्चास्ति०।

४ जीवो चरित्तदंमणणाणट्ठिद त हि ससमय जाण।
पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं॥२॥—स० प्रा०।

में समयके दो भेद किये है—स्वसमय और परसमय। जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मस्वभावमें स्थित है वह स्वसमय है और जो जीव पौद्गलिक कर्मजन्य भावोमें स्थित है वह परसमय है। इस तरह जीव अथवा आत्माको ही समय कहा है। इस गाथाकी टीकामें अमृतचन्द्रसूरिने 'सम्' उपसर्ग पूर्वक अय् धातुसे 'समय' शब्दकी निष्पत्ति की है। 'सम्' अर्थात् एक-रूपसे 'अयति' (सबको एक साथ) जानता है वह समय अर्थात् जीव या आत्मा है।

पञ्चास्तिकायमें पाँचों द्रव्योंके समवायको समय कहा है और समयसारमें आत्माको ही समय कहा है। क्योंकि पञ्चास्तिकायमें मुख्य रूपसे पाँचो द्रव्यो-का कथन है और समयसारमे केवल जीवतत्त्वका ही मुख्य रूपसे कथन है।

इससे यह फलित होता है कि प्रत्येक द्रव्य 'समय' पद वाच्य है जैसा कि अमृतचन्द्राचार्यने समयसार (गा० ३)की टीकामें लिखा है। उन्होने लिखा है कि यहाँ 'समय' शब्दसे सभी पदार्थ कहे गये है। क्योकि सभी द्रव्य 'सम्' एक रूपसे अपने गुणपर्यायोको 'अयति' प्राप्त करते है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार पञ्चास्तिकायमें जो समय शब्दका अर्थ किया है वह भी ठीक घटित हो जाता है और समयसारमें जो समयका अर्थ जीव किया है वह भी घटित होता है।

किन्तु समय शब्दका यह अर्थ जो कुन्दकुन्दाचार्यने किया है, अन्यत्र दृष्टि-गोचर नही होता। इतर मतोकी तो बात ही क्या, श्वेताम्बर साहित्यमें भी यह अर्थ नही पाया जाता। अनुयोगद्वार सूत्रमें तथा यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रमें वक्तव्यताके तीन भेद किये है—स्वसमय वक्तव्यता, परसमय वक्तव्यता, और तदुभय वक्तव्यता। यहाँ स्वसमयका अर्थ स्वमत और परसमयका अर्थ परमत ही है। सिद्धसेन दिवाकरने अपने सन्मति तर्कमें भी समयके स्वसमय और परसमय भेद किये हैं। किन्तु यहाँ भी उसका अर्थ स्वमत और परमत या जैन-सिद्धात और इतरसिद्धात ही है। अत समयका अर्थ आत्मा कुन्दकुन्दाचार्यने ही किया है उसी समयका कथन समयसार में है।

उस समय अथवा आत्माके दो रूप हैं—एक शुद्ध रूप और एक अशुद्ध रूप। अपने शुद्ध गुणपर्याय रूप परिणत शुद्ध आत्मा स्वसमय है और पौद्गलिक कर्म-बन्धनसे बद्ध अशुद्ध पर्याय रूप परिणत आत्मा परसमय है।

कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें स्वसमय रूप आत्माका प्रधान रूपसे कथन किया है। वह कहते हैं कि पर सम्बन्धसे रहित स्व स्वरूपमें स्थित आत्मा लोकमे सर्वत्र सुन्दर प्रतीत होता है। अत उसके बन्धकी कथा कहनेमे विसंवाद उत्पन्न हो सकता है। किन्तु काम भोग और बन्धकी कथा तो लोगोको श्रुत (सुनी-

कुन्दकुन्दने भी शुद्धनयको भूतार्थ या सत्यार्थ कहा है और व्यवहारनयको अभूतार्थ या असत्यार्थ कहा है। क्योंकि शुद्धनय वस्तुके पारमार्थिक शुद्ध स्वरूप-को ग्रहण करता है और व्यवहारनय वस्तुके अपारमार्थिक अशुद्ध स्वरूपको ग्रहण करता है।

जैन मान्यताके अनुसार पहले मूल द्रव्य छै बतलाये है। उनमेंसे चार द्रव्य तो अपने अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित रहते हुए अपना कार्य करते रहते हैं। किन्तु जीव और पुद्गलद्रव्य परस्परमें सबद्ध होकर ससारकी प्रक्रियाके जनक अनादि-कालसे बने हुए हैं। पुद्गलसे भिन्न जीवकी उपलब्धि तो सासारिक दशामें किसी भी इन्द्रियके द्वारा नही होती। अत उसके स्वरूपके विषयमें लोगोको भ्रम होना स्वाभाविक है। उसी भ्रमके कारण जीवका पुद्गलसे भिन्न स्वतत्र अस्तित्व तक विवादग्रस्त रहा है। वृहदारण्यक[1] उपनिषदमें याज्ञवल्क्य मैत्रेयीसे कहते हैं कि 'यह परमात्मतत्त्व विज्ञानघन ही है यह इन भूतोसे ही प्रकट होकर उन्हीमे लीन हो जाता है। परलोक या पुनर्जन्म नही है ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ।

अद्वैतवादी एक ही मूलतत्त्वको मानकर उसीमेंसे जड और चेतनकी सृष्टि मानते हैं। और परिणामवादको स्वीकार करके जड चेतनका भेद तथा पुनर्जन्म आदि घटाते है। तथा संसारको स्वप्नवत् मिथ्या कहते हैं। साख्यदर्शन जडतत्त्व और चेतन तत्त्वको सर्वथा भिन्न मानते हुए भी जड तत्त्वको तो परिणामी मानता है किन्तु चेतन तत्त्वको कूटस्थ-अपरिणामी मानता है। अत उनके यहाँ चेतन कर्ता नही है, केवल भोक्ता है। कर्ता केवल जड तत्त्व है। आत्मा तो स्वभावसे शुद्ध ही है। वह अपरिणामी होनेसे ससार दशामें भी विकृत नही होता। ससार तथा मोक्ष दोनो दशाओमें एक जैसा सहज शुद्ध ही रहता है। उसपर पुण्य पापका किसी भी तरह असर नही पडता।

इस तरह साख्यके मतानुसार ससार और मोक्ष प्रकृति या प्रधान नाम वाले जड तत्त्वका होता है, क्योकि वह परिणामी है अत उसीमें भिन्न-भिन्न अव-स्थाएँ होना सभव है। आत्मा[2] तो न बधता है और न मुक्त होता है। प्रकृति ही बँधती और मुक्त होती है। प्रकृतिके ही ये दोनो बंध और मोक्ष उसके समीप-में वर्तमान आत्मामें आरोपित होते है।

---

१. विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसज्ञा अस्ती-त्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्य। —वृहदा० उ०, २।४।१२।

२. 'तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि ससरति कश्चित्।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥६२॥—साख्य० का०

इस तरह आत्म तत्त्वके स्वरूप, उसके कर्तृत्व-अकर्तृत्व, तथा वन्ध और मुक्तिके विषयमें मतभेद रहे हैं। अत प्रथम तो ससार अवस्थामें जडसे भिन्न आत्मतत्त्वकी उपलब्धि न होनेके कारण साधारण लोगोको आत्मतत्त्वकी प्रतीति नही होती। और प्रतीति हो भी जाये तो उक्त मतभेदोके कारण अनेक ऐसे धर्मोको भी जीवका समझ लिया जाता है जो वास्तवमें उमके नही होते। ऐसे धर्म व्यवहारनयमे जीवके कहे जाते है। अत व्यवहारनय अभूतार्थ कहा जाता है। और चूकि वे आगन्तुक धर्म जीवके स्वभावभूत नही है अत उनसे भिन्न जीवके शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करने वाला निश्चयनय भूतार्थ कहा जाता है।

यहाँ यह शका हो मकती है कि जव व्यवहारनय अभूतार्थ है तो वस्तुतत्त्वके निरूपणमे उसका आलम्वन क्यो लिया जाता है। इसका उत्तर देते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—जैसे अनार्य भाषाको अपनाये विना अनार्य पुरुषको अपनी वात समझाना शक्य नही है वैसे ही व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश देना शक्य नही है ॥८॥

अत जो परम भावदर्शी हैं उनके द्वारा तो शुद्ध आत्ततत्त्वका कथन करने वाला शुद्धनय ही जानने योग्य है। किन्तु जो अपरमभावमें स्थित हैं—वे व्यवहारनयके द्वारा ही उपदेश किये जानेके योग्य हैं ॥१२॥

अत माधक अवस्थामें वर्तमान मनुष्योके लिये व्यवहारनय उपयोगी है। इस लिये कुन्दकुन्दाचार्यने दोनो नयोकी अपेक्षासे आत्मतत्त्वका कथन किया है।

अधिकार भेद—समयसारको दस अधिकारोमें विभाजित किया गया है। यह विभाजन टीकाकारोका किया हुआ हो सकता है। वे दस अधिकार इस प्रकार है—१ जीव, २ अजीव, ३ कर्ता और कर्म, ४ पुण्य और पाप, ५ आस्रव, ६ सवर, ७ निर्जरा, ८ वन्ध, ९ मोक्ष और १० मर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार।

विषय परिचय

१ जीव अधिकार—इस अधिकारको प्रारम्भ करते हुए कहा है कि 'साधुको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका नित्य सेवन करना चाहिये। किन्तु निश्चयनयसे वे तीनो आत्मा ही है ॥१६॥ जैसे कोई धनार्थी मनुष्य राजाको जानकर उम पर श्रद्धान करता है और उसीके अनुकूल आचरण करता है। वैसे ही मोक्षार्थीको जीव रूपी राजाको जानना चाहिये, उमका श्रद्धान करना चाहिये और उसके अनुकूल आचरण करना चाहिये ॥१७-१८॥ जव तक यह जीव कर्म और नोकर्म (शरीरादि) मे मैं यह हूँ अथवा ये मेरे है ऐसी वुद्धि रखता है तव तक वह अप्रतिवुद्ध (अज्ञानी) होता है ॥१९॥

हुई), परिचित और अनुभूत है। किन्तु काम क्रोध, मोह, राग द्वेष आदि भावोंसे और मनुष्य देव आदि पर्यायोसे रहित आत्माकी बात तो लोगोने न सुनी, न जानी है। तब अनुभवकी तो बात ही दूर है। अत आचार्य कुन्दकुन्दने अपनी शक्ति और अनुभवके आधार पर आत्माके शुद्ध स्वरूप का कथन करनेकी प्रतिज्ञा समयसारके प्रारम्भमें की है।

व्यवहारनय और निश्चयनय—ग्रन्थका आरम्भ करते हुए आचार्य कुन्द-कुन्दने कहा है—'व्यवहारनयसे ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे जाते हैं। (किन्तु शुद्धनयसे) न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है, आत्मा केवल शुद्ध ज्ञायक है ॥७॥' आगे कहा है—'जो आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशिष्ट और असयुक्त देखता है वह शुद्धनय है' ॥१४॥ इसका मतलब यह हुआ कि जो नय आत्माको बद्ध, स्पृष्ट, अनियत, गुणोंसे विशिष्ट और कर्मोंसे सयुक्त देखता है वह व्यवहारनय है। चूकि व्यवहारनय आत्माके यथार्थ स्वरूपको नही देखता—पर जन्य बद्ध स्पष्ट आदि दशाको ही देखता है इसलिये अशुद्ध रूपका ग्राही होनेसे उसे अशुद्धनय भी कहते हैं, और शुद्ध रूपका ग्राही होनेसे निश्चयनयको शुद्धनय भी कहते हैं।

किन्तु आत्मामें ज्ञान दर्शन आदि गुण है यह कथन तो आत्माके ही स्वाभाविक गुणोको कहता है। इसे व्यवहारनयका विषय क्यो बतलाया ? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्यने द्रव्यको गुण-पर्यायात्मक कहा है और यह भी कहा है कि द्रव्यके बिना गुण नही और गुणोके बिना द्रव्य नही। किन्तु वस्तु रूपसे दोनोकी सत्ता वैशेपिकमतकी तरह पृथक् नही है। वस्तु वास्तवमें अखण्ड और अभिन्न है। अत आत्मामें ज्ञानादिक गुण हैं ऐसा कहनेसे सुनने वालेको अखण्ड वस्तुकी प्रतीति खण्ड रूपसे होती है। इस लिये यह भेद कथन व्यवहारनयका विषय है।

प्रमाणके भेदरूपसे नय दृष्टिका प्रतिपादन जैनदर्शनकी अपनी निजी विशेपता है और उसका उद्गम अनेकान्तवादमें से हुआ है। वस्तुको अनन्त धर्मोका अखण्ड पिण्ड मानने वाले अनेकान्तवादी जैन दर्शनके पुरस्कर्ताओने अनन्त धर्मा वस्तु तत्त्वके एक एक धर्मको ही पूर्ण वस्तु मानने वाले विभिन्न दृष्टि कोणोका समन्वय करते हुए एक धर्मके ग्राही ज्ञानको नय[1] कहा है। किन्तु वह ज्ञान तभी सुनय है जब वह उसी वस्तुमें वर्तमान अन्य धर्मोके प्रति सापेक्ष भाव

---

१ 'अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण, तदंशधी ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृति ।'—अष्टश० अष्टस० पृ० २९ ।

रखता है। यदि वह उसी एकाशको पूर्ण वस्तु मान वैठता है तो वह दुर्नय है। नयके मूलभेद दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। दार्शनिक ग्रन्थोमें इन्हीके भेद-प्रभेदोका निरूपण मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसार (२।२२) में द्रव्यार्थिकनयसे सव द्रव्योको अवस्थित और पर्यायार्थिकनयसे अनवस्थित कहा है। इस तरहसे उन्होने नयके दोनो मूल भेदोका निर्देश किया है। इन दोनोंके प्रभेदोका कोई उल्लेख उन्होंने नही किया।

तत्त्वार्थसूत्रमें (१—३३) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेदका तो कोई निर्देश नही है उनके नैगमादि भेदोका निर्देश है। सिद्धसेनके सन्मतितर्कमें (१ काण्ड) द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा उनके भेदोका कथन है। इस तरह जिन जैन ग्रन्थकारोने नयोका कथन किया है उन्होंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेदोका ही कथन किया है।

निश्चय और व्यवहारनयका कथन प्राय अध्यात्म विषयक ग्रन्थोमें विशेप रूपसे मिलता है। इसी लिये देवसेनाचार्यने अपनी आलापपद्धतिमें द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयोका कथन करके निश्चयनय और व्यवहारनयके भेद प्रभेदोका कथन करनेसे पूर्व लिखा[1] है कि 'अव अध्यात्म भापाके द्वारा नयोका कथन किया जाता है।'

कुन्दकुन्दाचार्यने जैसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदोका कोई निर्देश नही किया, वैसे ही निश्चयनय अथवा शुद्धनय और व्यवहारनयके भेद-प्रभेदोका भी उन्होंने कोई निर्देश नही किया। निश्चय और व्यवहारके भेद-प्रभेदोकी रचना उत्तरकालमें हुई प्रतीत होती है।

निश्चय भूतार्थ, व्यवहार अभूतार्थ—

कुन्दकुन्द स्वामीने समयसारमें कहा है—'व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। भूतार्थका अवलम्वन करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

औपनिपद दर्शनमें तथा वौद्धोके विज्ञानवाद और शून्यवादमें वस्तुओका निरूपण दो दृष्टियोंसे किया गया है। उनमेंसे एकका नाम परमार्थ दृष्टि है और दूसरीका नाम व्यवहार दृष्टि या सावृतिक दृष्टि है। पहली दृष्टि परमार्थ सत् है क्योकि वह उस दर्शनके द्वारा अभिमत परमार्थ वस्तु स्वरूपको वतलाती है। और दूसरी दृष्टि उससे विपरीत है वह वस्तुके व्यावहारिक अथवा काल्पनिक रूपको वतलाती है।

---

१ 'पुनरप्यध्यात्मभापया नया उच्यन्ते'—नय० सं०, पृ० १४७,।

जिसकी मति अज्ञानसे मोहित है वही जीवसे वद्ध शरीरादि पुद्गलोको और अवद्ध जमीन जायदाद स्त्री पुत्रादिको 'यह मेरे हैं' ऐसा कहता है ॥२३॥ सर्वज्ञने जीवको सदा चैतन्यमय देखा है। वह चैतन्यमय जीव पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता हैं जिसमे तुम कहते हो यह मेरा है ॥२४॥ यदि जीव पुद्गल रूप और पुद्गल जीवरूप हो सकता तो यह कहा जा सकता है कि मेरा पुद्-गल है ॥२५॥

इस पर यह शङ्काकी गई—'यदि जीव शरीर रूप नही है तो तीर्थङ्करो और आचार्योकी जो शरीरादि मूलक स्तुतियाँ पाई जाती है वे सब मिथ्या हो जाती हैं। अत आत्म शरीर है ऐसा मानना चाहिये ॥२६॥ तो इसका समाधान करते हुए कहा है—'व्यवहारनय जीव और शरीर को एक कहता है किन्तु निश्चयनयसे जीव और शरीर कभी भी एक नही है ॥२७॥ किन्तु मुनि जीवसे भिन्न पौद्गलिक शरीरकी स्तुति करके ऐसा मानता है कि मैने केवली भगवान-की स्तुति और वन्दना की ॥२८॥ किन्तु निश्चयनयसे यह वात युक्त नही है, क्योकि जो शरीरके गुण है वे केवलीके गुण नही हो सकते। निश्चयनयसे तो जो केवलिके गुणोकी स्तुति करता है वही केवलीकी स्तुति करता है ॥२९॥

इस तरहसे शरीरसे भिन्न आत्माकी स्वतत्र स्थितिको जानता हुआ ज्ञानी कहता है—मैं एक शुद्ध दर्शन ज्ञानमय अरूपी हूँ। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है ॥३८॥ इस तरह ३८ गाथाओंके साथ जीवाधिकार समाप्त होता है।

२. अजीवाधिकार—इस अधिकारका प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—आत्माको नही जाननेवाले कुछ मूढ अध्यवसान को और पौद्गलिक कर्मोको जीव कहते है ॥३९॥ कुछ नोकर्म (शरीरादि) को जीव कहते हैं। कुछ कर्मोके उदय को तो कुछ कर्मोके तीव्र मन्द अनुभागको जीव कहते हैं। कुछ कर्म और जीव दोनोको जीव कहते है। इस प्रकार दुर्बुद्धि लोग विविध रूपमे आत्माको कहते हैं। किन्तु निश्चयवादी उन्हें यथार्थवादी नही कहते ॥ ४०-४३॥ केवली भगवान्ने इन सब भावोको पौद्गलिक कहा है। अत उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है ॥४४॥ जिनेन्द्रदेवने इन अध्यवसानादि भावोको व्यवहारसे जीव कहा है ॥४६॥

आगे कुन्दकुन्दाचार्य[1]ने आत्माका स्वरूप वतलाते हुए उसे कठोपनिषद्[2]

---

१ 'अरसमरूवमगधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाण' ॥४९॥—सम० प्रा०।

२ 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महत. पर ध्रुव निचाय्य तन्मत्युमुखात्प्रमुच्यते' ॥१५॥—कठो०।

की ही तरह अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त और अशब्द तथा चेतनागुण वाला वतलाया है। आगे उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—जीवके न रूप है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न शरीर है, न सस्थान है और न सहनन (अस्थिवन्धन) है ॥५०॥ न जीवके न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न कर्म है, न नोकर्म है ॥५१॥ न जीवके वर्ग हैं, न वर्गणा है, न स्पर्धक है, न अध्यवसाय स्थान है, न अनुभाग स्थान है ॥५२॥ जीवके न कोई योग स्थान है, न वन्ध-स्थान है, न उदयस्थान है, न कोई मार्गणास्थान है ॥५३॥ न स्थितिवन्धस्थान है, न सक्लेशस्थान हैं, न विशुद्धिस्थान हैं, न सयमलब्धिस्थान है ॥५४॥ जीव-के न जीवस्थान है और न गुणस्थान है क्योकि ये सभी स्थान पुद्गल द्रव्यके परिणाम है ॥५५॥ व्यवहारनयसे ये रूपसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव जीव के है—निश्चयनय से नही ॥५६॥

जैसे किसी मार्गमें मनुष्योको लूटा जाता देखकर व्यवहारी लोग कहते है कि अमुक मार्ग लूटता है। किन्तु मार्ग तो किसीको नही लूटता ॥५८॥ वैसे ही जीवमें कर्मो और नोकर्मोके वर्णादिको देखकर व्यवहारसे जिनेन्द्रने ऐसा कहा है कि वर्णादि जीवके है ॥५९॥ यदि वर्णादि भावोको जीव रूप माना जायेगा तो जीव और अजीवमें कोई भेद नही रह सकता ॥६२॥ इस तरह ६८ गाथा पर्यन्त अजीव और जीवका भेद वतलाया है।

३ कर्ता और कर्म अधिकार—कर्मोके आनेको आस्रव कहते हैं। अत इस अधिकारको प्रारम्भ करते हुए आचार्यने कहा है—'जब तक यह जीव आत्मा और आस्रवके भेदको नही जानता तव तक अज्ञानी होता हुआ क्रोधादि करता है ॥६९॥ और क्रोधादि करनेसे उसके कर्मोका सचय होता है। इस प्रकार जीव-के कर्मोका वन्ध होता है ॥७०॥ किन्तु जव यह जीव आत्मा और आस्रवके भेद-को जान लेता है तव उसके वन्ध नही होता ॥७१॥ अत आस्रवोको अध्रुव, अनित्य, अशरण, दु ख रूप तथा दु ख फल वाले, किन्तु जीवसे निवद्ध जानकर ज्ञानी उनसे दूर रहता है ॥७४॥

आशय यह है कि आत्मा और ज्ञानगुणका तादात्म्य सम्वन्ध है अत उन दोनोमें कोई भेद नही है। अत आत्मा नि शङ्क होकर जानने देखनेमें प्रवृत्ति करता है। अत वह ज्ञान क्रियाका कर्ता कहा जाता है और ज्ञान क्रिया उसका कर्म, क्योंकि वह उसका स्वभाव है। किन्तु आत्माका क्रोधादि भावोके साथ सयोग सम्वन्ध है। क्योकि आत्मा भिन्न है और क्रोधादि भाव भिन्न है। किन्तु अज्ञानी उस भेदको न जानता हुआ क्रोधादि भावोमें भी उसी प्रकार नि शक प्रवृत्ति करता है जैसे ज्ञानादिमें करता है। और ज्ञानादिकी तरह

क्रोधादिको भी अपना स्वभाव मानकर राग द्वेप और मोहरूप प्रवृत्ति करता है। अत वह क्रोधादिका कर्ता आत्माको मानता है और क्रोधादिको आत्माका कर्म मानता है। इस तरह अनादि कालसे यह अज्ञान जन्य कर्ता-कर्मभावकी प्रवृत्ति चली आती है। जीवकी इस प्रवृत्तिका निमित्त पाकर स्वयं ही परिणमनशील पौद्गलिक कर्मका सचय हो जाता है और इस तरह जीव और पौद्गलिक कर्मोंका परस्पर अवगाह रूप सम्वन्ध हो जाता है। किन्तु जब यह आत्मा यह जान लेता है कि ज्ञान आत्मा जैसे एक वस्तुरूप है, उस तरह आत्मा और क्रोधादि भाव एक वस्तुरूप नही है। उसकी अज्ञान मूलक अनादि कर्ता कर्मप्रकृति रुक जाती है। उसके रुकने पर अज्ञान निमित्तक पौद्गलिक कर्मोका वन्ध भी रुक जाता है।

यही वात आगे कही है कि—'जीवके परिणामोका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते है। उसी तरह पुद्गल कर्मोका निमित्त पाकर जीव भी परिणमन करता है ॥ ८० ॥ न तो जीव कर्मके गुणोको करता है, उसी तरह कर्म भी जीवके गुणोको नही करता। किन्तु परस्परमें निमित्त नैमित्तक भाव होनेसे दोनोका परिणमन होता है ॥ ८१ ॥ इस कारणसे आत्मा स्वय अपने भावोका कर्ता है। पुद्गल कर्मकृत सव भावोंका कर्ता आत्मा नही है ॥ ८२ ॥ इस प्रकार निश्चयनयसे आत्मा अपना ही कर्ता है और अपने ही भावोका भोक्ता है ॥ ८३ ॥ इसलिये निश्चय नयसे जीव और कर्ममें जैसे कर्तृ कर्मपना नही है वैसे ही भोक्तृ भोग्यपना भी नहीं है। व्यवहार नयसे ही आत्मा और पौद्गलिक कर्ममें कर्तृ-कर्मभाव और भोक्तृ-भोग्यभाव कहा है ॥ ८४ ॥ आगे कहा है कि यदि आत्मा अपने भावोको और पौद्गलिक भावोको भी करता है तो आत्मा दो क्रियाओका कर्ता ठहरता है। किन्तु ऐसा मानने वाला मिथ्या-दृष्टि है ॥ ८६ ॥

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि भाव ये सव जीवरूप भी होते हैं और और अजीव रूप भी होते है ॥ ८७ ॥ पुद्गल कर्म रूप जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान है वह तो अजीव है। और उपयोग रूप जो मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति है वह जीव है ॥ ८८ ॥ मोहयुक्त उपयोग के मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम है ॥ ८९ ॥ इनमेंसे आत्मा जिस उपयोगरूप आत्म परिणामको करता है उसका वह कर्ता कहा जाता है ॥ ९० ॥ और उनके होने पर पुद्गल द्रव्य स्वय कर्म रूप होता है ॥ ९१ ॥ साराश यह है कि आत्मा मिथ्यात्वादि भावरूप परिणमन न करे तो वह कर्म का कर्ता भी नही हो। कर्मके कर्तापनेका मूल अज्ञान है। अज्ञानी अज्ञानवश पर-द्रव्यको अपने रूप और अपनेको परद्रव्य रूप करता है। अर्थात् 'मैं क्रोधरूप

हूँ' ऐसा मानता है। उसका ऐसा मानना अज्ञान है यह अज्ञान ही वन्धका कारण है ॥९६॥

आगे कहा है—व्यवहारसे आत्माको घटपट वगैरहका तथा कर्म नोकर्मका कर्ता कहा जाता है ॥९८॥ किन्तु जीव न घटका कर्ता है और न पट आदि शेष द्रव्योंका कर्ता है। किन्तु जीवके विकल्प और व्यवहाररूप जो उपयोग और योग है वे ही घटादिके उत्पादक हैं और जीव उन अपने योग उपयोगरूप भावोका कर्ता है ॥१००॥ ज्ञानावरण आदि कर्म पुद्गलके परिणाम है। उनका कर्ता आत्मा नही है। जो यह वात जानता है वह ज्ञानी है ॥१०१॥ किन्तु जीवके अज्ञानभावका निमित्त मिलनेपर पौद्गलिक स्कन्ध कर्मरूप होते हैं। यह देखकर उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि जीव कर्मका कर्ता है ॥१०५॥ जैसे युद्ध तो सैनिक करते हैं और कहा जाता है कि राजा युद्ध करता है ॥१०६॥

आगे कहा है वन्धके चार कारण कहे जाते है—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ॥१०९॥ किन्तु ये सब भाव पुद्गलकर्मोंके उदय से होते है, अत जड हैं। इन जड भावोंसे यदि कर्म वँधते है तो उसका भोक्ता जीव कैसे हो सकता है ॥१११॥ उक्त प्रत्यय जड है यह वतलाते हुए कहा है कि जीव-से जैसे उसका उपयोग (ज्ञान-दर्शन) अभिन्न है वैसे क्रोध नही है। ज्ञान जीवरूप है और क्रोवादि भाव जडरूप हैं। यदि ज्ञानकी तरह क्रोधादि भावोको भी जीवरूप माना जायेगा तो जड और चेतन एक हो जायेंगे। अत क्रोधादिरूप पौद्गलिक भावोमे किये गये कर्मोंका जीव न कर्ता है और न भोक्ता है। आगे कहा है कि—यदि पुद्गल कर्मके रूपमें स्वय जीवसे वद्ध नही होता और न स्वय कर्म रूपसे परिणत होता है तो वह अपरिणामी ठहरता है ॥११६॥ और कार्मणवगणाएँ यदि कर्मरूपसे परिणमन नही करती तो साख्यदर्शनकी तरह ससार के अभावका प्रसग उपस्थित होता है ॥११७॥ यदि कहा जाये कि जीव पुद्गल द्रव्यका कर्मरूपसे परिणमन कराता है तो जो स्वय अपरिणामी है उसे जीव कैसे परिणमा सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना है कि जीव कर्मरूप परिणमन कराता है मिथ्या ठहराता है ॥११९॥

इसी तरह पुद्गलको परिणामी वतलाकर आगे कहा है—यदि जीव स्वय कर्मसे नही वँधा है और न स्वय क्रोवादि रूप परिणमन करता है तो वह अपरि-णामी ठहराता है ॥१२१॥ और यदि जीव स्वयं क्रोवादिभाव रूपसे परिणमन नही करता तो साख्य दर्शनकी तरह ससारके अभावका प्रसंग आता है ॥१२२॥ यदि कहा जाये कि पौद्गलिककर्म क्रोध जीवको क्रोध रूप परिणमाता है तो जो जीव अपरिणामी है क्रोध उसका परिणमन कैसे करा सकता है? ॥१२३॥

यदि तुम्हारा मत है कि जीव स्वय क्रोध रूप परिणमन करता है तो क्रोध कर्म जीवको क्रोध रूप परिणमता है यह कथन मिथ्या है ॥१२४॥ अन्तमें यही निष्कर्ष निकलता है—आत्मा जिस भावको कर्ता है वह उस भावका कर्ता होता है। ज्ञानीके भाव ज्ञानमय होते है और अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होते हैं ॥१२६॥

आगे कहा है कि पुद्गलका परिणाम जीवसे भिन्न है और जीवका परिणाम पुद्गलसे भिन्न है। कर्म जीवसे वद्ध है या अवद्ध ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है कि जीवमें कर्म वद्ध और स्पृष्ट है, यह व्यवहार नयका कथन है। कर्म जीवमे अवद्ध और अस्पृष्ट है, यह शुद्ध नयका कथन है ॥१४१॥ जीवसे कर्म वद्ध है और जीवसे कर्म अवद्ध है वे दोनो ही नयपक्ष हैं किन्तु समयसार पक्षातिक्रान्त है। अर्थात् नयपक्ष रहित आत्मसवेदीके अभिप्रायसे तो जीवका स्वरूप इन विकल्पो से रहित चिदानन्दमय है।

वह अधिकार वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। १४४ गाथापर्यन्त ७६ गाथाओमे इसकी समाप्ति होती है।

४ पुण्य-पाप अधिकार—व्यवहारी मनुष्य शुभकर्म या पुण्यकर्मको अच्छा और अशुभ अथवा पापकर्मको वुरा समझते है। किन्तु दोनों ही वन्धरूप हैं। अत जो शुभकर्म ससारमें जीवको रोके रखता है वह अच्छा कैसे हो सकता ॥१४२॥ जैसे लोहेकी साकल भी पुरुषको वाधती है और सोनेकी साकल भी वावती है। इसीतरह शुभ-अशुभ कर्म भी जीवको वाधते है ॥१४६॥ अत ग्रन्थकार कहते हैं कि जो वुरे शुभ-अशुभ कर्म है उनमे राग मत करो और उनका समर्ग मत करो। वुरोंके समर्ग और रागसे जीवकी स्वाधीनता का विनाश हो जाता है ॥१४७॥

रागी कर्मसे वंधता है, विरागी कर्म वधनसे छूटता है, यह जिन भगवानका उपदेश है। अत शुभाशुभ कर्मोमे अनुराग मत करो॥१५०॥ आगे कहा है—

स्व-स्वभावमें स्थित मुनि निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥१५१॥ किन्तु स्व-स्वभाव में जो मुनि स्थित नही है, वह जो तप करता है, व्रत पालता है वह सव वालतप और वालव्रत है ॥१५२॥ परमार्थसे वहिर्भूत जो व्यक्ति हैं वे मोक्षके कारणको नही जानते और अज्ञानवश उस पुण्यको चाहते हैं जो ससारका कारण है ॥१५४॥

इस तरह उन्नीस गाथाओंके द्वारा इस अधिकारमें पापकी तरह पुण्यको भी हेय वतलाया है। वह अधिकार १६३वी गाथाके साथ पूर्ण होता है।

५ आस्रव अधिकार—इस अधिकारके प्रारम्भमें मिथ्यात्व, अविरत, योग और कषायको ज्ञानावरणादि कर्मोंका कारण वतलाया है। ये मिथ्यात्वादि जड भी

होते हैं और चेतन भी होते है। जडको द्रव्य-प्रत्यय कहते हैं और चेतनको भाव-प्रत्यय कहते है। द्रव्यप्रत्ययरूप मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेपर जब जीव रागादि रूप परिणमन करता है तो कर्मबधन होता है। इसलिये अज्ञानमय रागादिभाव ही आस्रवके कारण होनेसे आस्रव है। वे भाव अज्ञानीके ही होते हैं, ज्ञानीके नही होते। अत ज्ञानीके आस्रव नही होता।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यथाख्यातचारित्ररूप अवस्थासे नीचेकी दशामें रागका सद्भाव अवश्य रहता है और राग बन्धका हेतु है तब ज्ञानी निरास्रव कैसे है? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि जब तक ज्ञान, दर्शन और चरित्र अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें नही पहुँचते तबतक ज्ञानीके अबुद्धिपूर्वक रागका उदय है वह अनुमानसे जाना जाता है, क्योकि यदि ऐसा न होता तो ज्ञानादि गुण जघन्य अवस्थामें क्यों पाये जाते? अत पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध होता है। किन्तु जब ज्ञानादि गुण अपनी पूर्णावस्थाको प्राप्त हो जाते है तब साक्षात् ज्ञानीभूत आत्माके कर्मका आस्रव नही होता॥१७५॥

इस तरह १८० गाथापर्यन्त १७ गाथाओमें आस्रव अधिकार पूर्ण होता है।

६ सवर अधिकार—सवरका उपाय भेदविज्ञान है। अत प्रथम तीन गाथाओके द्वारा भेद-विज्ञानकी रीति बतलायी है। लिखा है—ज्ञान ज्ञानमें है, क्रोधादि भाव क्रोधादि रूप ही है। न क्रोध ज्ञानमें है और न ज्ञान क्रोधमें है। यही बात ज्ञान और कर्म-नोकर्मके विपयमें भी जाननी चाहिये॥१८१-१८२॥ जब जीवको इस प्रकारका अविपरीत ज्ञान होता है तब शुद्धोपयोगी, आत्माका ज्ञान ज्ञानमय ही रहता है और रागादि भावरूप नही होता। अत इसके राग द्वेष मोहका अभावरूप सवर होता है॥१८३॥

आगे दृष्टान्त द्वारा उसको स्पष्ट करते हुए कहा है—जैसे सोना अग्नि से तप्त होनेपर भी स्वर्ण भावको नही छोडता उसी तरह कमके उदयसे सतप्त ज्ञानी अपने ज्ञानीपनेको नही छोडता, ऐसा ज्ञानी जानता है। किन्तु अज्ञानी आत्मस्वभावको नही जानता हुआ आत्माको रागादि रूप ही जानता है॥१८४-१८५॥ जो जीव शुद्ध आत्माका अनुभव करता है उसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है और जो अशुद्ध आत्माका अनुभव करता है उसे अशुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है॥१८६॥

आगे तीन गाथाओंके द्वारा संवरका प्रकार बतलाते हुए कहा है—जो आत्माको आत्माके द्वारा पुण्य और पापरूप योगसे हटकर अपने दर्शन ज्ञानात्मक स्वरूपमें स्थित होता है और परवस्तुकी इच्छा नही रखता, तथा समस्त परिग्रहसे मुक्त होकर अपनी आत्माका ध्यान करता है, कर्म और नोकर्मको अपना नही मानता। वह आत्माका ध्यान करता हुआ शुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्म-

द्रव्यमें तन्मय होकर शीघ्र ही कर्मबन्धनसे मुक्त आत्माको प्राप्त कर लेता है ॥१८७-१८९॥

इस तरह बारह गाथाओके द्वारा सवरका कथन किया गया है। यह अधिकार १९२वी गाथा के साथ समाप्त होता है।

७ निर्जरा अधिकार—इस अधिकारको प्रारम्भ करते हुए कहा है कि सम्यग्दृष्टि इन्द्रियोंके द्वारा जो चेतन और अचेतन द्रव्योंको भोगता है उसका वह भोग निर्जरा (बधे हुए कर्मोंका छूटना) का कारण है ॥ १९३ ॥ द्रव्यका उपभोग करनेपर नियमसे सुख अथवा दु ख होता है। उस सुख अथवा दु खका उदय होनेपर जीव उसका अनुभवन करता है और इस तरह वह निर्जराको प्राप्त होता है ॥१९४॥ जैसे विषवैद्य विष खाकर भी नही मरता। उसी तरह ज्ञानी पुद्गल कर्मोंके फलको भोगते हुए भी कर्म संबद्ध नही होता ॥१९५॥ जैसे अरुचिपूर्वक मद्यपान करनेवाला मनुष्य नशेमे ग्रस्त नही होता वैसे ही अरुचिपूर्वक द्रव्यका उपभोग करता हुआ भी ज्ञानी कर्ममे बद्ध नही होता ॥१९६॥ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी विषयोका सेवन करते हुए भी सेवन नही करता और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी नही सेवन करते हुए भी विषयोका सेवक बना रहता है ॥१९७॥ इस अन्तरका कारण बतलाते हुए कहा है—

जिनेन्द्रदेवने कर्मोंके उदयका विपाक अनेक पकारका बतलाया है। किन्तु वह सब मेरा स्वभाव नही है, मैं तो एक ज्ञायक रूप हूँ ॥१९८॥ राग पौद्गलिक कर्म है। उसका उदय होनेपर राग होता है। अत वह मेरा स्वभाव नही है। मैं तो एक ज्ञायक भावरूप हूँ ॥१९९॥ इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्माको ज्ञायक भावरूप जानता है और तत्त्वको जानता हुआ कर्मके उदयमे होनेवाले भावो को अपना नही मानता ॥२००॥

आगे कहा है—जिसके रागादि भावोका अणुमात्र भी अश वर्तमान है वह समस्त आगमोंका ज्ञाता होते हुए भी आत्माको नही जानता ॥२०१॥ और जो आत्माको नही जानता वह अनात्माको भी नही जानता। और जो आत्मा (जीव) और अनात्मा (अजीव) को नही जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ॥२०२॥

आगे ज्ञानी परवस्तुका ग्रहण क्यो नही करता और परिग्रहका त्याग क्यो कर देता है, इसका सुन्दर विवेचन किया है। आगे लिखा है—जैसे कीचडमें पडा हुआ स्वर्ण कीचडसे लिप्त नही होता वैसे ही ज्ञानी सब द्रव्योंसे विरक्त होनेके कारण कर्मोंके मध्यमें रहते हुए कर्मरूपी रजसे लिप्त नही होता ॥२१८॥ किन्तु अज्ञानी सब द्रव्योंसे अनुरक्त रहता है अत कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है। जैसे कर्दममें

पडा हुआ लोहा ॥२१९॥ इसी तरह दृष्टांतोके द्वारा ज्ञानीको भोगते हुए भी कर्मसे निर्लिप्त वतलाया है।

आगे गाथा २२८ से २३६ तक सम्यग्दृष्टिके नि शङ्कित आदि आठ अगोंका कथन किया है। २३६वी गाथाके साथ ही निर्जराधिकार पूर्ण हो जाता है।

८ बन्ध अधिकार—जैसे कोई मनुष्य अपने शरीरमें तेल लगाकर और धूलसे भरी हुई भूमिमें खडा होकर शस्त्रोके द्वारा व्यायाम करता है ॥२३७॥ ताड, केला, वाँस वगैरहके वृक्षोको शस्त्रोसे छेदन-भेदन करता है। सचेतन और अचेतन द्रव्योंका उपघात करता है ॥२३८॥ इस तरह अनेक अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा छेदन-भेदन करते हुए उस मनुष्यके शरीरमें जो धूल चिपक जाती है, निश्चयसे उसका कारण क्या है, यह विचार करो ॥२३९॥ उसके शरीरमें तेल लगा हुआ है निश्चयसे उसीके कारण उसके शरीरमें धूल चिपट जाती है अन्य शारीरिक चेष्टाओके कारण नही ॥२४०॥ इसी तरह मिथ्यादृष्टि जीव अनेक चेष्टाओको करता हुआ अपने उपयोगमें जो राग-द्वेष करता है उसीसे वह कर्मरूपी धूलिसे लिप्त होता है ॥२४१॥

यदि वही मनुष्य शरीरमें लगे तेलको विल्कुल दूर करके उसी धूलभरे स्थानमें शस्त्राभ्यास करे ॥२४२॥ अनेक वृक्षोका छेदन-भेदन करे तो उसका शरीर धूलसे लिप्त नही होता, इसका कारण वास्तवमें क्या है ॥२४३-२४४॥ उसके शरीरमें जो तेल नही लगा है उसीके कारण उसका शरीर व्यायाम करनेपर भी धूलसे लिप्त नही होता। इसी तरह सम्यग्दृष्टि अनेक शारीरिक, मानसिक और वाचनिक क्रियोमें प्रवृत्ति करते हुए भी उपयोगमें रागादिभाव नही करता, इसलिये वह कर्मसे लिप्त नही होता ॥२४६॥

इस तरह प्रथम ही दस गाथाओके द्वारा वन्धके कारणका विवेचन दृष्टान्तपूर्वक किया है। आगे अध्यवसानको वन्धका कारण वतलाते हुए जो विचार प्रस्तुत किया गया है वह वहुत ही महत्त्वपूर्ण एव विचारणीय है। लिखा है—

'जो ऐसा[1] मानता है कि मैं अन्य प्राणियोकी हिसा करता हूँ और अन्य प्राणी मेरी हिंसा करते हैं वह मूढ अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है ॥२४७॥ जीवोंका मरण उनकी आयुके क्षयसे होता है। तू किसीकी आयुको हर नही सकता। तव तू किसीको कैसे मार सकता है ॥२४८॥ इसी तरह अन्य जीव तेरी आयुको नही हर सकते तव वे तुझे कैसे मार सकते है ॥२४९॥ जो ऐसा

---

१ जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहि सत्तेहिं। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥—स०प्रा०।

मानता है कि मैं अन्य जीवोंको जिलाता हूँ या अन्य जीव मुझे जिलाते हैं। वह मूढ अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है ॥२५०॥ आयुके उदयसे जीवन होता है। न तू किसीको आयुका दान दे सकता है और न दूसरे तुझे आयुका दान दे सकते हैं। तब कैसे तू दूसरोको जिलाता है और कैसे दूसरे तुझे जिलाते हैं ॥२५१-२५२॥ जो ऐसा मानता है कि मैं दूसरोको दुःखी अथवा सुखी करता हूँ या दूसरे जीव मुझे दुःखी या सुखी करते है वह मूढ अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है ॥२५३-२५४॥ कर्मके उदयसे जीव दुःखी अथवा सुखी होते है। तू किसीको कर्म का दान नही दे सकता और न दूसरे जीव तुझे कर्मका दान दे सकते। तब कैसे तू दूसरोंको और दूसरे तुझे सुखी या दुःखी कर सकते हैं ॥२५५-२५६॥

कठो[1]पनिषदमें भी आत्माके अमरत्वका प्रतिपादन करते हुए कहा है—यदि मारनेवाला व्यक्ति अपनेको मारने में समर्थ मानता है और मारा जानेवाला व्यक्ति अपनेको मारा गया समझता है तो वे दोनो ही नही जानते—यह आत्मा न तो किसीको मारता है और न मारा जाता है। गीतामें भी युद्धसे विमुख अर्जुनके लिए श्रीकृष्णके द्वारा यही उपदेश दिलाया गया है। इससे आत्माके अमरत्वकी सिद्धि की गयी है। किन्तु समय-प्राभृतमें यह कथन बन्ध के प्रकरणमें यह बतलानेके लिए किया गया है कि न कोई किसीको मार सकता है, न कोई किसीको जिला सकता है, न कोई किसीको सुखी दुःखी कर सकता है। फिर भी इस प्रकारका जो भाव है वह भाव ही पुण्य और पाप कर्मों के बन्धका कारण होता है। आगे कहा है—

तेरी जो यह भावना है कि मै जीवोको दुःखी या सुखी करता हूँ, उन्हें मारता या जिलाता हूँ या दूसरे जीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं या मारते अथवा जिलाते हैं यही पुण्य और पापकर्मके बन्धका कारण है। अतः कहा है—जीवको मारो या मत मारो, मारनेका भाव होनेसे कर्म का बन्ध होता है। निश्चयनयसे यह बन्धका सार है ॥२६२॥ जीवोंके अच्छे या बुरे भाव वस्तुको लेकर ही होते हैं किन्तु वस्तु बन्धका कारण नही है, बन्धका कारण जीवके अपने शुभ अशुभ भाव हैं ॥२६५॥

जो मुनि इस प्रकारके भाव नही करते वे शुभाशुभ कर्मोंसे लिप्त नही होते ॥२७०॥

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, परिणाम ये सब

---

१ 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥—कठो०, २।

शब्द एकार्थक हैं ॥२७१॥ इस प्रकार निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है। जो मुनि निश्चयनयका अवलम्बन लेते हैं वे निर्वाणको पाते हैं ॥२७२॥

इस अधिकारमें ५१ गाथाएँ हैं और गाथा २८७ के साथ यह अधिकार समाप्त होता है।

९ मोक्ष अधिकार—समस्त कर्म बन्धनसे आत्माके छूट जानेका नाम मोक्ष है। अत प्रारम्भमे कहा गया है कि जैसे कोई आदमी बहुत काल से बन्धनमें पडा हुआ है और वह यह बात जानता है। किन्तु जानते हुए भी जब तक वह उस बन्धनको नही काटता तब तक वह उससे मुक्त नही हो सकता। इसी तरह कर्म बन्धनके स्वरूपको जाननेसे मुक्ति नही मिल सकती ॥२८८-२९०॥ इसी तरह बन्धकी चिन्ता करनेसे भी बन्धनसे छूटकारा नही मिल सकता ।२९१॥ मोक्ष तो बन्धनको काटने पर ही मिल सकता है ॥२९२॥ और उसको काटनेका उपाय है बन्धका और आत्माका स्वभाव जानकर बन्धसे विरक्त होना ॥२९३॥ प्रज्ञा द्वारा आत्मा और कर्मबन्धको भिन्न-भिन्न जानकर आत्माको ग्रहण करना और बन्धको छोडना यही मोक्षका उपाय है ॥२९५॥ ऐसा कौन ज्ञानी है जो शुद्ध आत्माके स्वरूपको जानते हुए भी कर्मके उदयसे होने वाले भावोको 'यह मेरे है' ऐसा कहेगा ॥३००॥ जो चोरी आदि अपराधोंको करता है वह पकडे जानेके भयसे सशङ्क होकर इधर-उधर घूमता है ॥३०१॥ किन्तु जो निरपराध होता है वह नि शङ्क होकर देशमें घूमता है। उसे पकडे जानेकी चिन्ता कभी नही होती ॥३०२॥

आगे आचार्यने अपराधका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित ये सब शब्द एकार्थ वाची हैं। जो आत्मा 'राध' अर्थात् शुद्धात्माकी आराधनासे अपगत—रहित है वह अपराधी है।

जैनाचारमें मुनिको दोषोका परिमार्जन करनेके लिए प्रतिक्रमण आदि करनेका विधान है। अत कोई कह सकता है कि अपराधकी शुद्धि तो प्रतिक्रमणादि करनेसे होती है, शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे अपराधका शोधन कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें कुन्दकुन्दाचार्यने प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि इन आठोको विषकुम्भ कहा है ॥३०६॥ और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धिको अमृत कुम्भ कहा है ॥३०७॥ इसका आशय यह है कि प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमणसे रहित जो तीसरी अवस्था है वह है शुद्ध आत्मामें लीनता, उसीसे आत्मा निर्दोष होता है ॥३०८॥ इस तरह मोक्षाधिकार पूर्ण होता है इसमें बीस गाथाएँ है।

१० सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार—यह अधिकार पूर्व अधिकारोमें प्रतिपादित कथनका निचोडरूप है। इसमे सर्वप्रथम दृष्टान्तपूर्वक चार गाथाओंके द्वारा

आत्मामें परद्रव्यके कर्तापनेका अभाव बतलाया है। लिखा है—

जो द्रव्य अपने जिन गुणोंको लिये हुए उत्पन्न होता है वह अपने उन गुणोसे अभिन्न होता है। जैसे स्वर्ण कडा आदि पर्यायोमे अभिन्न होता है ॥३०८॥ आगममें जीव और अजीवके जो परिणाम बतलाये है, जीव और अजीव अपने उन परिणामोंसे अभिन्न है ॥३०९॥ अत आत्मा किसीसे उत्पन्न नही होता अत वह किसीका कार्य नही है। और किसीको वह उत्पन्न नही करता इसलिये न किसीका कारण है ॥३१३॥ कर्मकी अपेक्षा कर्ता और कर्ताकी अपेक्षा कर्म होता है।

साराश यह है कि जीवका अजीवके साथ कार्यकारण भाव नही है। अत न अजीव जीवका कर्म है और न जीव जड कर्मका कर्ता है। किन्तु यह जीव अनादिकालसे जड और चेतनके भेदको न जाननेके कारण जडके साथ आत्माका एकत्वाध्यवसाय करके, जडके निमित्तसे उत्पन्न होता और नष्ट होता है और जड भी चेतनके निमित्तसे उत्पन्न होता और नष्ट होता है॥ इस तरह इन दोनोंमें यद्यपि कर्ता कर्मपना नही है तथापि परस्परमें निमित्त नैमित्तिक भाव होनेसे दोनोका बन्ध होता है और उससे ससार होता है। इसी कारण उन दोनोंमें कर्ताकर्मव्यवहार माना जाता है ॥३१२-३१३॥

जब तक यह आत्मा जडके निमित्तसे होनेवा' रागादि भावोंमें ममत्वभाव नही छोडता तबतक वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और असंयमी रहता है ॥३१४॥ किन्तु जब उसे छोड देता है तो ज्ञाता दृष्टा मुनि मुक्त हो जाता है ॥११५॥

आगे कहा है कि जैसे निश्चय दृष्टिसे आत्मा कर्मोका कर्ता नही वैसे ही उनका भोक्ता भी नही है। आगे कहा है कि लोकमें माना जाता है कि विष्णु इस देव मानुष तिर्यञ्च और नारक पर्यायोका कर्ता है। उसी तरह यदि श्रमण (जैन) भी ऐसा कहते है कि आत्मा उक्त पर्यायोका कर्ता है तो लोक और श्रमणोके सिद्धान्तमें कोई भेद नही रहता। क्योकि लोगोके मतसे विष्णु कर्ता है और श्रमणोके मतसे आत्मा कर्ता है॥ ऐसी स्थितिमें इस सचराचर जगतका कर्ता माननेवाले लोक और श्रमणोंमें से किसीको भी मोक्ष प्राप्त होना सभव दिखाई नही देता ॥३२१-३२३॥ आशय यह है कि जिसकी परद्रव्यमें कर्तृत्व बुद्धि है वह मिथ्यादृष्टि है।

आगे साख्यमतका अनुसरण करते हुए जो श्रमणाभास आत्माको अकर्ता जड कर्मको ही कर्ता मानते है तेरह गाथाओके द्वारा उनके मतका निरूपण और उसपर दोषापादन करते हुए लिखा है—

कर्म ही जीवको अज्ञानी करते है और कर्म ही जीवको ज्ञानी करते है। कर्म ही उसे सुलाते और जगाते हैं। कर्म ही जीवको सुखी और दुखी करते हैं। कर्म ही जीवको मिथ्यादृष्टि और असयमी करते है। कर्म ही जीवको भ्रमण

कराते हैं। जितना शुभाशुभ है वह सब कर्मोंके द्वारा ही किया जाता है। चूकि कर्म ही सब कुछ करते-वरते, और देते-लेते हैं, अत सभी जीव अकर्ता ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें पुरुष-वेद कर्म-स्त्रीकी अभिलाषा करता है और स्त्री-वेद कर्म-पुरुषकी अभिलापा करता है ऐसा आचार्योका कथन है और शास्त्रमें लिखा है। अत आपके मतमें कोई भी जीव अब्रह्मचारी नही ठहरा, क्योंकि कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है ॥३३२–३३७॥

तथा जिस कर्मके उदयसे एक जीव दूसरे जीवका घात करता है और एक जीव दूसरे जीवके द्वारा घाता जाता है वह परघातनाम कर्म है। अत आपके मतमें कोई भी जीव घातक नही ठहरता, क्योंकि कर्म ही कर्मको घातता है। इस प्रकार जो श्रमण साख्यमतका अवलम्बन लेकर इस प्रकार कथन करते हैं उनके मतसे प्रकृति ही कर्त्री है और सब आत्मा अकारक ठहरते है। यदि कहा जाय कि और सब काम तो प्रकृति करती है, आत्मा केवल आत्माको करता है तो यह कहना भी मिथ्या है। आत्मा तो नित्य असख्यात प्रदेशी है। वह उससे न छोटा हो सकता है और न बडा। यदि कहा जाय कि आत्मा ज्ञायक स्वभाव है और ज्ञायकभाव सदा ज्ञानस्वभाव रूप ही रहता है तो आत्मा स्वय अपना कर्ता नही ठहरता ॥३४२-३४४॥

आगे कहा है—जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि जो करता है वह नही भोगता, वह मिथ्यादृष्टि आर्हत मतानुयायी नही हैं ॥३४७॥ जिसका सिद्धान्त है कि अन्य कर्ता है और अन्य भोगता है वह भी मिथ्यादृष्टि है और अर्हत-मतानुयायी नही है ॥३४८॥ आगे ग्रन्थकारने दृष्टान्त द्वारा जीवके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका निश्चय और व्यवहारदृष्टिसे कथन किया है।

आगे कहा है कि जीवके जो गुण हैं वे जीवमें ही है, अन्य द्रव्योमें नही है। अत सम्यग्दृष्टि विषयोंमें राग नही करता ॥३७०॥ अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न नही करता। अत सभी द्रव्य स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं ॥३७२॥

निन्दा और स्तुतिवचन रूप पुद्गल ही परिणत होते हैं। किन्तु उन्हें सुनकर यह जीव रुष्ट और सतुष्ट होता है कि मुझे इसने ऐसा कहा है ॥३७३॥ परन्तु शब्द तो पौद्गलिक हैं उनका गुण तुमसे भिन्न है। अत पौद्गलिक शब्दोने तुझे कुछ भी नही कहा, तू अज्ञानी बनकर क्यों रुष्ट या संतुष्ट होता है ॥३७४॥ इस तरहसे सभी इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष करनेकी प्रवृत्तिको अज्ञान बतलाया है।

आगे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और आलोचनाका स्वरूप चार गाथाओंमे (३८३–३८६) बतलाया है।

चेतनाके दो भेद हैं—ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना। ज्ञानके सिवाय अन्य वस्तुमें मैं इसका करता हूँ इस प्रकारकी चेतना कर्म चेतना है। और ज्ञानके सिवाय अन्यमें इसका मैं अनुभविता हूँ इस प्रकारकी चेतनाको कर्मफल चेतना कहते हैं ये दोनो अज्ञान चेतनाके ही भेद हैं। यह अज्ञान ही संसारका वीज है। यही वात गाथा ३८७-३८९ में वतलायी है। आगे पन्द्रह गाथाओंके द्वारा ज्ञानको ज्ञेयोंसे भिन्न वतलाया है। यथा—शास्त्र ज्ञान नहीं हैं क्योंकि शास्त्र कुछ भी नही जानता। अत शास्त्र भिन्न है और ज्ञान भिन्न है। शब्द ज्ञान नही हैं क्योंकि शब्द कुछ भी नही जानता। अत शब्द अन्य है और ज्ञान अन्य है। इस तरहसे अनेक उदाहरणोंके द्वारा ज्ञानको ज्ञेयोंसे भिन्न वतलाकर अन्तमें कहा है—'चूँकि आत्मा सदा जानता है अत. वह ज्ञायक होनेसे ज्ञानी है और ज्ञान ज्ञायकमे अभिन्न है ॥४०३॥ अत ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। ज्ञान ही सयम है ज्ञान ही द्वादशागसूत्र रूप है। ज्ञान ही धर्माधर्म है और ज्ञान ही प्रव्रज्या है॥४०४॥ ज्ञान न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ छोडता है। क्योकि ग्रहण करना और छोडना इसका स्वभाव नही है। वह तो केवल जानता मात्र है।

आगे कहा है—अनेक प्रकारके साधु-लिगो और गृहस्थ-लिगोको धारण करके मूढजन कहते हैं कि यह लिग मोक्षका मार्ग है ॥३०८॥ किन्तु लिग मोक्षका मार्ग नही है क्योंकि लिग शरीराश्रित होता है और शरीरसे निर्मोही अर्हन्त लिग-को त्यागकर दर्शन ज्ञान और चारित्रकी आराधना करते हैं ॥४०९॥ अत लिग मोक्षका मार्ग नही है किन्तु दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षका मार्ग है ॥४१०॥ इसलिये साधु और गृहस्थोंके द्वारा गृहीत लिगमें ममत्व छोडकर दर्शन ज्ञान चारित्रमें अपनेको लगा ॥४११॥ जो साधुलिगो और गृहस्थलिगोंमें ममत्व करते है वे समयसारको नही जानते ॥४१२॥ व्यवहारनय साधुलिग और गृहस्थलिग दोनोंको मोक्षमार्गमें स्वीकार करता है। किन्तु निश्चयनय मोक्षमार्गमें किसी भी लिगको स्वीकार नही करता ॥४१४॥

इस तरह ४१५ गाथाओंमें समयसार पूर्ण होता है। यह गाथा सख्या अमृत-चन्द्रसूरिकी टीकाके अनुसार है जयसेनाचार्यकी टीकाके अनुसार समयसारकी पद्यसख्या ४३९ है।

समयसारमें यो तो गाथाएँ ही है, किन्तु ४ अनुष्टुप् भी हैं।

पूज्यपाद देवनन्दि

विक्रमकी छठी शताब्दीमें पूज्यपाद देवनन्दि नामके एक समर्थ जैनाचार्य हो गये हैं। यह सिद्धान्त शास्त्र, व्याकरण शास्त्र और वैद्यक शास्त्रमें निष्णात थे और इन्होंने इन तीनों ही विषयोंपर संस्कृत भाषामें ग्रन्थ रचना की है। इनके

जीवनादिके सम्बन्धमें आगे प्रकाश डाला जायगा। इनकी अध्यात्मविषयक दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। उनमेंसे एकका नाम है इष्टोपदेश और दूसरीका नाम है समाधितन्त्र।

इष्टोपदेश[1]—यह ५१ संस्कृत पद्योंका एक छोटा-सा आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह 'यथानाम तथा गुण' है। इसके अन्तिम पद्यमें ग्रन्थकारने कहा है कि बुद्धि-मान भव्यजीव इस इष्टोपदेशको अच्छी तरहसे पढकर मान और अपमानमें समभावको रखे और आग्रहको छोडकर वनमें अथवा ग्रामादिमें रहे। वह अनु-पम मुक्तिलक्ष्मीको प्राप्त करता है।

ग्रन्थके पचास पद्य संस्कृत अनुष्टुप् छन्दमें है। एक-एक पद्य एक-एक मणिकी तरह बहुमूल्य है। संस्कृत बडी परिमार्जित और सरल है किन्तु उसमें जो उपदेश भरा हुआ है वह अमूल्य है। ५०वें पद्यमें कहा है—'जीव अन्य है और पुद्गल अन्य है' इस वाक्यमें सब तत्त्वोंका संग्रह हो जाता है। इसके सिवाय जो कुछ कहा जाता है वह इसीका विस्तार है'।

उसी विस्तारको करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—'शरीर, मकान, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु ये सब अपनी आत्मासे भिन्न स्वभाववाले हैं। अज्ञानी इन्हें अपना मानता है ॥८॥ रात्रिके समय नाना देशों और दिशाओंसे आकर पक्षीगण वृक्षों-पर बसेरा लेते हैं और दिन निकलनेपर अपने-अपने कार्यवश विभिन्न देशों और दिशाओंको चले जाते हैं। वही दशा संसारकी है ॥९॥

जो निर्धन इसलिए धनका संचय करता है कि मैं इसके द्वारा धर्म कार्य करूँगा। वह स्नान करनेकी भावनासे अपने शरीरको कीचडसे लिप्त करता है ॥१॥

भोगोंकी निन्दा करते हुए लिखा है—आरम्भमें संताप देनेवाले, और प्राप्त हो जानेपर अतृप्तिको उत्पन्न करनेवाले तथा अन्तमें जिनको त्यागना अतिकष्ट साध्य होता है ऐसे भोगोंको कौन बुद्धिमान् चाहेगा ॥१७॥

शरीरकी निन्दा करते हुए लिखा है—जिसके संसर्गसे पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं जो सदा भूख रोग आदि व्याधियोंका घर है, उस शरीरकी स्वस्थताके लिए प्रार्थना करना व्यर्थ है।

---

१ इष्टोपदेश प० आशाधर रचित संस्कृत टीकाके साथ प्रथमवार श्री माणिक-चन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित 'तत्त्वानुशासनादिसंग्रह' में प्रकाशित हुआ था। तथा हिन्दी टीकाके साथ वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर) से प्रकाशित हुआ है।

आगे आत्माका स्वरूप और उसका ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हुए कहा है यह आत्मा स्वसंवेदनसे स्पष्ट अनुभवमें आता है। यह स्वशरीर प्रमाण, अविनाशी है, अत्यन्त सुखका भण्डार है तथा लोक और अलोकका ज्ञाता दृष्टा है ॥२१॥

इन्द्रियोको वशमे करके एकाग्र चित्तसे आत्माका आत्मामे आत्माके द्वारा ध्यान करो ॥२२॥ अज्ञानकी उपासनासे अज्ञान मिलता है और ज्ञानीके समागमसे ज्ञान मिलता है। सो ठीक है जिसके पास जो होता है वह वही तो देता है ॥२३॥

इस तरहके आत्मभावनापूर्ण उपदेशोंसे यह इष्टोपदेश भरा हुआ है। यद्यपि इसमें निश्चय और व्यवहारमूलक कथन भेदका चित्रण नही है किन्तु सारा उपदेश कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित आत्मस्थितिरूप अध्यात्मकी ओर ही ले जाता है। कुन्दकुन्दके ग्रन्थोका उसपर स्पष्ट प्रभाव है। एक श्लोक तो उनकी गाथाकी छाया जैसा है। यथा—

एगो मे सासदो अप्पा णाणदसणलक्खणो।
सेसामे वाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥५९॥ भावश०

× × ×

एकोऽह निर्मम शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर।
वाह्या सयोगजा भावा मत्त सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥ इष्टोप०

समाधि तत्र[1]—ग्रन्थकारने अन्तिम पद्यमें इस ग्रन्थका समाधितत्र नाम दिया है। किन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपनी टीका-प्रशस्तिमें इसका नाम 'समाधि-शतक' दिया है। इसमें १०५ पद्य है अत इसे शतक सज्ञा देना अनुचित नही है। क्योकि भर्तृहरिके नीतिशतकमें ११० और वैराग्यशतकमें ११३ पद्य हैं और समन्तभद्रके जिनशतकमें ११६ हैं। अत १०५ पद्योंके होते हुए भी ग्रन्थको 'शतक' सज्ञा दी जा सकती है। किन्तु ग्रन्थकारने स्वय उसे समाधितत्र नाम ही दिया है। यथा—

मुक्त्वा परत्र परवुद्धिमह धिय च संसारदु खजननी जननाद्विमुक्त ।
ज्योतिर्मय सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥१०५॥

ग्रन्थके मगल-श्लोकके द्वारा भी ग्रन्थकारने अविनाशी अनन्त ज्ञानस्वरूप सिद्धात्माको नमस्कार करते हुए कहा है कि उस सिद्धात्माने आत्माको आत्मा

---

१ समाधितन्त्र निर्णयसागर प्रेस, वम्वईसे प्रथम गुच्छकके अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् वीरसेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर)से प्रभाचन्द्राचार्य कृत सस्कृत टीका और हिन्दी टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है।

रूप से और पर को पररूपसे जाना है। अर्थात् आत्माको आत्मरूपसे परको पररूप से जानना ही मोक्षका मार्ग है, यही आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है।

दूसरे श्लोकके द्वारा पूज्यपादने 'जिनको' नमस्कार किया है और उनके विशेपण रूपसे शिव, धाता (ब्रह्मा), सुगत (बुद्ध) और विष्णु पदोंका प्रयोग किया है। प्रकारान्तरसे समन्वयकी यह भावना कम से कम जैन-परम्परामें तो पूज्यपादकी ही देन प्रतीत होती है। उनसे पहलेके किसी ग्रन्थमें इस प्रकारका प्रयोग नही देखनेमें आता।

तीसरे श्लोकके द्वारा पूज्यपादने कैवल्यसुखकी प्राप्तिके इच्छुक जनोके लिए शुद्ध आत्माका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है और उसके लिए श्रुत, लिंग, समाहित अन्त करण और स्वानुभवको सहायक वतलाया है। यहाँ श्रुतसे उनका सकेत कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोकी ओर जान पडता है, क्योकि इस ग्रन्थका विषय ही नही, किन्तु अनेक पद्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोके शब्दश ऋणी प्रतीत होते हैं।

आत्माका वर्णन प्रारम्भ करते हुए पूज्यपादने आत्माके तीन भेद किये है—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तथा वहिरात्माको छोडकर अन्तरात्माके द्वारा परमात्माको अपनानेको कहा है। ठीक यही वात कुन्दकुन्दाचार्यने मोक्ष-प्राभृतमें कही है—

तिपयारो सो अप्पा परमंतरवहिरो हु देहीण।
तत्थ परो झाइज्जइ अतोवाएण चयहि वहिरप्पा ॥ मो० पा०
वहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिपु।
उपेयात्तत्र परम मव्योपायाद् वहिस्त्यजेत् ॥४॥ स० त०

जो शरीरादिको आत्मा मानता है वह वहिरात्मा है। चित्त (विकल्प) और रागादि दोपोंसे भी आत्माको जो भिन्न अनुभव करता है वह अन्तरात्मा है। और जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है। ये लक्षण भी कुन्दकुन्दके अनुकरण रूप ही है। तथा—

आगे ग्रन्थकारने वहिरात्मा किस प्रकार शरीरादिको आत्मा मानता है इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि स्त्री, पुत्र आदिमें ममत्ववुद्धिके होनेसे अविद्या नामका एक संस्कार दृढ हो जाता है जिसके कारण यह अज्ञानी लोक शरीरको ही आत्मा मानता है। यह कथन भी कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत की भी ११वी गाथाका ही ऋणी है। किन्तु इसमें अन्तर यह है मिथ्या ज्ञानके स्थानमें अविद्या नामक सस्कारका निर्देश किया है, यथा—

अविद्यासज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढ।

आगे भी अविद्या[1] और संस्कार शब्दोंका प्रयोग किया गया है। बौद्धोंके द्वादशाग प्रतीत्य-समुत्पाद सिद्धान्तका पहला अंग है—अविद्याप्रत्यया संस्कारा। यह उसीका प्रभाव प्रतीत होता है, क्योंकि पूज्यपादके समयमें बौद्धदर्शनका गहरा प्रभाव था। उस समय तक अनेक प्रख्यात बौद्ध दार्शनिक हो चुके थे।

आगे अन्तरात्माका स्वरूप बतलाते हुए आत्माको अतीन्द्रिय और अनिर्देश्य कहा है—

यदभावे सुषुप्तोऽह यद्भावे व्युत्थित पुन।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

आत्माके लिये यह अनिर्देश्य पद भी बौद्धोंके 'स्वलक्षणमनिर्देश्य' का स्मरण कराता है।

परमात्माके स्वरूपको अनुभव करनेकी प्रक्रिया बतलाते हुए कहा है—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षण पश्यतो भाति तत्तत्त्व परमात्मन. ॥३०॥

अर्थात् सब इन्द्रियोंको संयमित करके स्थिर अन्तरात्माके द्वारा क्षणभरके लिये अनुभव करनेवाले जीवको जो कुछ प्रतिभासित होता है वही परमात्माका स्वरूप है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिने अपने प्रमाणवार्तिकमें निर्विकल्प दर्शनकी भी यही प्रक्रिया बतलायी है। यथा—

सहृत्य सर्वतश्चिन्ता स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मति ॥२४॥

—३ परि

दोनों श्लोकोंके द्वितीयचरण 'स्तिमितेनान्तरात्मना' ध्यान देने योग्य है। धर्मकीर्ति तो पूज्यपादके पश्चात् हुए है यह निश्चित है। अत उक्तपद संभव है दिङ्नाग वगैरहका हो। जो हो। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि पूज्यपादने आत्मतत्त्वका वर्णन कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके आधारपर ही किया है। किन्तु अपने समयके बौद्धादि दर्शनोंके शब्दोंको जो उस समय विशेष रूपसे प्रचलित रहे होंगे, उन्होंने अपनाया है तथा बौद्धदार्शनिकोंने निर्विकल्पतत्त्वको जिस प्रकारसे अनिर्देश्य आदि बतलाया है, पूज्यपादने उस प्रक्रियाका अवलम्बन लेकर आत्मतत्त्वका प्रतिपादन किया है। आत्माका स्वरूप स्वसंवेद्य है, वचनोंके द्वारा उसे नहीं कहा जा सकता, इस बातका कथन करते हुए लिखा है—

---

१ 'अविद्याभ्याससंस्कारैरवश क्षिप्यते मन।
तदेव ज्ञानसंस्कारै स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥ स० तं०।
तद्ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामय रूप त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत् ॥५३॥ स० त०।

यद् वोधयितुमिच्छामि तन्नाह यदहं पुन ।
ग्राह्य तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य वोधये ॥५९॥

जिस स्वरूपको समझानेकी मैं इच्छा करता हूँ उसे मैं समझा नही सकता । क्योकि जो मेरा स्वरूप है उसे दूसरा अनुभव नही कर सकता । तव मैं दूसरोको क्या समझाऊ ? आत्मा ही आत्माको संसार में भ्रमण कराता है और आत्मा ही आत्माको निर्वाण प्राप्त कराता है, अत परमार्थसे आत्माका गुरु आत्मा ही है, दूसरा नही है—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थत ॥७५॥

कुन्दकुन्दाचार्यकी ही तरह पूज्यपाद स्वामीने भी मुक्तिके लिये पापकी तरह पुण्यको और पुण्यवन्धके कारण व्रतोंको भी त्याज्य वतलाया है तथा लिंग और जातिके भी आग्रहको त्यागनेका उपदेश दिया है । यथा—

अपुण्यमव्रतै पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्यय ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

× × ×

लिङ्ग देहाश्रित दृष्ट देह एवात्मनो भव ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहा ॥८७॥
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भव. ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहा ॥८८॥

इस तरह समाधितंत्रमें शरीरादिसे भिन्न एकमात्र आत्मतत्त्वकी उपासना का वहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है । प्रत्येक श्लोक एक रत्नकी तरह वहुमूल्य है । साहित्यकी दृष्टिसे भी रचना अनमोल है ।

जोइन्दु-योगीन्दु

जैन-परम्परामे जोइन्दु या योगीन्दु एक महान् अध्यात्मवेत्ता हो गये हैं । किन्तु उनकी जीवनीके सम्वन्धमें कोई वर्णन नही मिलता । उनके ग्रन्थोमें भी उनके जीवन तथा स्थानके वारेमें कोई निर्देश नही मिलता । उनके द्वारा रचित परमात्म-प्रकाशमें उनका नाम 'जोइन्दु' आता है यथा—

भावि पणविवि पंचगुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ ।
भट्ट पहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥८॥

अर्थात् शुद्ध भावसे पञ्चपरमेष्ठियोंको नमस्कार कर भट्ट प्रभाकर अपने परिणामोको निर्मल करके श्री योगीइंदु जिनसे प्रार्थना करता है ।

परमात्म-प्रकाशके टीकाकार ब्रह्मदेवने अपनी सस्कृत टीकामें 'श्री जोइंदु

जिणाउ'का अर्थ 'श्रीयोगीन्द्रदेव नामा भगवान्' किया है। जयसेनने समयसारकी टीकामें तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम्' करके परमात्मप्रकाश का एक पद्य (१-६८) उद्धृत किया है। श्रुतसागरने कुन्दकुन्दके चरित्त पाहुड (गा० १५) की टीकामें 'उक्त च योगीन्द्रनाम्ना भट्टारकेण' करके परमात्मप्रकाश से एक पद्य (१।१२१) उद्धृत किया है और इसी नामसे वह प्रसिद्ध हुए है। एक ग्रन्थ योगसार नामक है। शब्दो तथा भावोकी समनताके कारण वह भी जोइंदु की रचना माना जाता है। किन्तु उसके अन्तिम पद्यमें ग्रन्थकार कर नाम 'जोगिचन्द' आता है। यथा—

संसारह भय-भीयएण जोगिचद मुणिएण।
अप्पा सवोहण कया दोहा इक्कमणेण ॥१०८॥

'जोइंदु का सस्कृत रूपान्तर 'योगीन्दु' होता है जिसका अर्थ होता है 'योगीचन्द्र'। चन्द्रान्त नामोका अनेक ग्रन्थकारोने इन्दुके साथ प्रयोग किया है। यथा शुभचन्द्रका शुभेन्दु, प्रभाचन्द्रका प्रभेन्दु। अत' डा० ए० एन० उपाध्ये का वह सुझाव सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि परमात्म-प्रकाशके रचयिता का नाम योगीन्द्र नही, किन्तु योगीन्दु था। वह नाम योगसार में दिये गये जोगिचंद नामसे एकदम मिलता है।

रचनाएं—परम्परासे आगे लिखे ग्रन्थ योगीन्दु रचित कहे जाते हैं—परमात्म-प्रकाश (अपभ्रंश), योगसार (अपभ्र०), नौकार श्रावकाचार (अप०), अध्यात्म-सन्दोह (सं०), सुभाषित तत्र (सं०), और तत्त्वार्थटीका (स०)। इनके सिवाय दोहापाहुड (अप०), अमृताशीति (स०) और निजात्माष्टक (प्राकृत) को भी योगीन्दुके साथ जोडा गया है। इनमेंसे अध्यात्म-सन्दोह और सुभाषित-तत्र नामक ग्रन्थोंके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नही है तथा तत्त्वार्थटीका के रचयिताका नाम योगदेव है। योगदेव योगीन्दु से भिन्न व्यक्ति हैं। टीकाकी प्रशस्तिमें इन्होंने अपनेको प० बन्धुदेवका शिष्य बतलाया है।

डा० उपाध्ये[1] ने उक्त ग्रन्थोके कर्तृत्व पर विस्तारसे विचार करके अन्तमें यही निष्कर्ष निकाला है कि जिस परम्पराके आधारपर परमात्म-प्रकाश और योगसारके सिवाय शेष ग्रन्थोंको योगीन्दुरचित कहा जाता है, वह प्रामाणिक नही है। अत वर्तमानमें परमात्म-प्रकाश और योगसार वे दो ग्रन्थ ही जोइंदु रचित सिद्ध होते हैं।

---

१ परमात्म-प्रकाश (रा० शा० मा०) की प्रस्तावना, पृ० ५७-६३।

परमात्म प्रकाश—यह ग्रन्थ भट्ट प्रभाकरके निमित्तसे लिखा गया है यह बात आदि और अन्तमें ग्रन्थकारने स्वयं स्वीकार की है। तथा मध्यमें भी कई स्थलोपर भट्ट प्रभाकरको सबोधन करते हुए कथन किया गया है। प्रभाकर भट्ट प्रख्यात मीमासक भी होगया है जो कुमारिलका समकालीन था। किन्तु यह भट्ट प्रभाकर उससे भिन्न होना चाहिए। ग्रन्थकारने लिखा[1] है—पण्डित जनोको इस ग्रन्थमें पुनरुक्ति दोष नही देखना चाहिए, क्योंकि भट्ट प्रभाकरके कारण मैंने उसी बातको वारवार कहा है। अत भट्ट प्रभाकर परमात्माके स्वरूपको जाननेका इच्छुक कोई मुमुक्षु योगी था। यद्यपि इस ग्रन्थसे ऐसा प्रतीत होता है। इसीसे यह ग्रथ मुख्य रूपसे मुनियोको लक्ष्य करके रचा गया है। तथापि साधारणजनोके लिए भी यह अत्यन्त हितकर है। क्योकि ग्रन्थकारने ग्रन्थके अन्तमें कहा है—'जो मुनि भाव पूर्वक इस परमात्म प्रकाशका चिन्तन करते हैं वे समस्त मोहको जीतकर परमार्थको जानते है। अन्य भी जो भव्य जीव इस परमात्म प्रकाशको जानते हैं वे भी लोक और अलोकका प्रकाश करनेवाले प्रकाश (ज्ञान) को प्राप्त करते हैं। ॥२०४-२०५॥

शैली और भाषा—ग्रन्थकी शैली बहुत सरल है। इसका प्रथम कारण तो भट्ट प्रभाकर ही जान पडता है। उसको समझानेके लिए इसे सरल शैलीमें रचा गया जान पडता है। एक ही बातको वारंवार कहा गया है जिससे श्रोता समझ जायें। इसीसे शायद इसमें पारिभाषिक शब्दोका भी बाहुल्य नही है। इसकी भाषा सुगम अपभ्रंश है। अपभ्रश भाषाका सबसे पहले प्रकाशित[2] होनेवाला यही ग्रन्थ है। और सभवतया अबतक प्रकाशित अपभ्रश साहित्यमें यह सबसे प्राचीन भी है। सस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेवने परमात्म प्रकाशके दो भाग किये है। प्रथम अधिकारमें १२६ और दूसरेमें २१९ पद्य हैं। इनमें क्षेपक भी सम्मिलित है। ब्रह्मदेवने क्षेपकके भी दो भेद किये हैं—एक प्रक्षेपक जिसे

---

१ इत्थु ण लेवउ पडियहिं गुणदोसु वि पुणरुत्तु। भट्ट पभायर कारणइं मइं पुण-पुणु वि पउत्तु ॥२११॥ पर० प्र० २।

२ सन् १९०९ में देववन्दके बाबू सूरजभानु वकीलने हिन्दी अनुवादके साथ इस ग्रन्थको प्रथमबार प्रकाशित किया था। सन् १९१५ में इसका अग्रेजी अनुवाद आरासे प्रकाशित हुआ। सन् १९१६ में रायचन्द शास्त्र माला बम्बईने ब्रह्मदेवकी सस्कृत टीका और हिन्दी टीकाके साथ इसे प्रकाशित किया। १९३७ में उक्त शास्त्रमालाने डॉ० ए० एन० उपाध्यसे सम्पादित कराकर उसका दूसरा सस्करण प्रकाशित किया। उसकी प्रस्तावनाका उपयोग इस ग्रन्थके परिचयादिमें किया गया है।

मूलमें सम्मिलित कर लिया गया है और दूसरा स्थल सस्यावाह्य प्रक्षेपक, जो मूलमें सम्मिलित नही किया गया है। तदनुसार प्रथम अधिकारमें मूल पद्य ११८, प्रक्षेपक ५ और स्थ० वा० प्र० ३ हैं। दूसरे अधिकारमें मूल पद्य २१४ और स्थ० वा० प्र० ५ हैं। किन्तु जिन आठ पद्योको उन्होने मूलमें सम्मिलित नही किया उनकी भी उन्होंने टीका की है।

मलधारी वालचन्द्रने परमात्म प्रकाशपर कन्नडमें एक टीका लिखी है। उन्होने लिखा है कि मैंने ब्रह्मदेवकी टीका मे सहायता ली है किन्तु उनके मूलमें ब्रह्मदेवके मूलमे ६ पद्य[1] अधिक हैं।

छन्द—ब्रह्मदेवके मूलके अनुसार परमात्म प्रकाशमें सब ३४५ पद्य हैं। उनमें ५ गाथाएँ, एक स्रग्धरा और एक मालिनी है किन्तु इनकी भाषा अपभ्रंश नही है। तथा एक चतुष्पादिका और शेष ३३७ दोहे हैं जो अपभ्रंशमें हैं।

विषय परिचय—प्रारम्भके सात दोहोके द्वारा पच परमेष्ठीको नमस्कार करनेके पश्चात् भट्ट प्रभाकर जोइंदुसे निवेदन करता है—

मउ ससारि वसताहँ सामिय काल अणतु।
पर मइँ कि पि ण पत्तु सुहु दुक्ख जि पत्तु महतु ॥९॥
चउगइ दुक्खहं तत्ताह जो परमप्पउ कोई।
चउगइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥१०॥

'हे स्वामिन्' इस ससारमें रहते हुए अनन्त काल वीत गया। परन्तु मैंने कुछ भी सुख नही पाया। उल्टा महान दु ख ही पाया। अत चारों गतियोंके दु खोंसे सतप्त प्राणियोंके चारो गति सम्बन्धी दु खोंका विनाश करनेवाला जो कोई परमात्मा है उसका भी स्वरूप कहो।

इसके उत्तरमें जोइन्दु कहते हैं कि आत्माके तीन प्रकार हैं—मूढ, विचक्षण और ब्रह्म। जो शरीरको ही आत्मा मानता है वह मूढ है ॥१३॥ जो शरीरसे भिन्न ज्ञानमय परमात्माको जानता है वह विचक्षण या पण्डित है ॥१४॥ और जिसने कर्मोको नाश कर और शरीर आदि पर द्रव्योंको छोड कर ज्ञानमय आत्माको प्राप्त कर लिया है वह परमात्मा है ॥१५॥

कुन्दकुन्दाचार्य और पूज्यपादने आत्माके जिन तीन प्रकारोका कथन बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्माके नामसे किया है, जोइन्दुने उन्हीका कथन मूढ, पण्डित और ब्रह्म या परमात्माके नामसे किया है। कुन्दकुन्दकी ही तरह जोइदु भी नित्य, निरजन, ज्ञानमय परमानन्द स्वरूप परमात्माका स्वरूप इसप्रकार वतलाते हैं—

---

१. इनके लिए देखो—प० प्र० की प्रस्ता०, पृ० ९५।

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥१९॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सोजि णिरंजणु जाणु ॥२०॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥२१॥

जिसके न वर्ण है, न गंध है, न रस है, न शब्द है, न स्पर्श है, न जन्म है और न मरण है उसका नाम निरंजन है। जिसके न क्रोध है, न मोह है, न मद है, न माया है, न मान है, जिसके न स्थान है, और न ध्यान है उसे निरंजन जानो। जिसके न पुण्य है और न पाप है, और न हर्ष विषाद है तथा जिसके एक भी दोष नहीं है वही निरंजन परमात्मा है।

कुन्दकुन्द आचार्यने भी आत्माको इन सब भावोंसे रहित बतलाया है। किन्तु जोइन्दु योगाभ्यासके साधन प्राणायाम मण्डल और मुद्रा आदिसे भी आत्माको पृथक् बतलाते हुए कहते हैं—

जासु ण धारण धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु ।
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउँ अणंतु ॥२२॥

जिस परमात्माके न धारणा है, न ध्येय है, न यंत्र है और न मंत्र है। तथा जिसके न मण्डल है और न मुद्रा है उसे देव (परमात्मा) जानो।

बौद्ध महायान सम्प्रदायकी दो शाखाएँ थीं—मंत्रयान और वज्रयान। मंत्रयानमें मंत्रपदोंके द्वारा निर्वाणकी प्राप्ति मानी गई है। वज्रयानमें मंत्रों द्वारा तथा वज्र द्वारा निर्वाणका लाभ होता है। मंत्रयान तथा वज्रयानका साहित्य तंत्र कहलाता है। तंत्र साहित्यमें साधनाओंका भी समावेश है। साधनाओंमें मंत्रों मुद्राओं और ध्यानके द्वारा सिद्धियोंके अतिरिक्त सर्वज्ञता तथा निर्वाणके उपाय बताये गये हैं। सम्भवतया जोइन्दुका उक्त कथन तंत्रशास्त्रोंके उक्त साधनोंसे आत्माको भिन्न बतलाना प्रतीत होता है।

जैनधर्मके अनुसार आत्मा ही परमात्मा हो जाता है। अतः निश्चयनयसे आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। यही बात कुन्दकुन्दने मोक्ष प्राभृतमें कही है। जोइन्दुने भी लिखा है—'जैसा निर्मल ज्ञानमय देव मुक्तिमें निवास करता है वैसा ही पर ब्रह्म शरीरमें निवास करता है अतः दोनोंमें भेद मत कर ॥२६॥ यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि जोइन्दुने आत्माके लिये ब्रह्म शब्दका प्रयोग विशेष रूपसे किया है जो उल्लेखनीय है।

---

१ बौ० ध० द०, पृ० १७६-१७७।

आत्मा अथवा जीवके स्वरूप और आकारके विषयमें विभिन्न मतोका निर्देश तथा उन सब मतोको जैनदृष्टिसे मान्य करते हुए जोइन्दुने लिखा है—कोई जीवको सर्वगत कहते है। कोई जड कहते हैं। कोई जीवको शरीर प्रमाण कहते है और कोई उसे शून्य भी कहते हैं। ५०॥ ये चारो ही कथन ठीक है। कर्म बन्धनसे रहित आत्मा केवल ज्ञानके द्वारा लोकालोकको जानता है, इसलिये उसे सर्वगत कहते हैं ॥५२॥ आत्मज्ञानमें लीन जीव इन्द्रिय जनित ज्ञानसे रहित हो जाते हैं इसलिए उन्हें जड जानों, क्योंकि जड पदार्थ इन्द्रियज्ञानसे रहित होता है ॥५३॥ शरीरके बन्धनसे रहित हुआ शुद्ध जीव अन्तिम शरीर प्रमाण ही रहता है, न वह घटता है और न बढता है अत उसे जिनेन्द्रदेवने शरीर प्रमाण कहा है ॥५४॥ शुद्ध जीव आठो कर्मोंसे और अट्ठारह दोषोसे शून्य होता है इसलिए उसे शून्य कहते है ॥५५॥

कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसार (१।२६) में इसी प्रकार आत्माको सर्वगत बतलाया है। तथा पञ्चास्ति० (३६) मे कहा है कि आत्मा न किसीका कारण है और न कार्य। जोइन्दुने भी (५६) यही बात कही है। तथा जीव और कर्मके सम्बन्धको अनादि बतलाया है। अन्तमें सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—जो आत्माको आत्मा जानता है वह सम्यग्दृष्टि है ॥७६॥

इसतरह पहले अधिकारमें आत्माका बहुत ही सरल और सुन्दर वर्णन है। दूसरे अधिकारमें मोक्ष, मोक्षका फल और मोक्षके कारणका कथन किया गया है। प्रथम ग्यारह गाथा पर्यन्त मोक्ष और उसके फलका कथन है। पश्चात् मोक्षके कारणोका कथन है। जोइदुने भी कुन्दकुन्दकी तरह ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको मोक्षका कारण बतलाकर उन तीनोको निश्चय दृष्टिसे आत्म स्वरूप ही बतलाया है (२।१२)। आगे समभावकी बहुत प्रशंसा की है।

कुन्दकुन्दाचार्यने मोक्ष प्राभृतमें (२।३१) तथा पूज्यपादने समाधितत्र (७८) में व्यवहारमें सोनेवालेको आत्म कार्यमें जाग्रत और व्यवहारमें जाग्रतको आत्म-कार्यमें सुषुप्त बतलाया है। किन्तु जोइन्दुने गीताके[1] एक श्लोकका अनुसरण करते हुए लिखा है कि समस्त प्राणियोके लिए जो निशा है उसमे योगी जागत है और जिसमें सकल जगत जागता है उसको रात्रि मानकर योगी सोता है—

---

१ 'या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी। यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥ गी० २-६९। 'जा णिसि सवलहँ देहियहँ जोग्गिउ तहि जग्गेइ। जहि पुण जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मुणिवि सुवेइ—प० प्र० २।४६।

१ हेमचन्द्राचार्यने अपने अपभ्रश-व्याकरणके सूत्रोके उदाहरणमें थोडे बहुत परिवर्तनके साथ परमात्मा प्रकाशसे कुछ दोहे उद्धृत किये हैं तथा अन्य भी कुछ सामग्री ली है। जिससे यह प्रकट होता है कि हेमचन्द्र परमात्मप्रकाशसे परिचित थे। हेमचन्द्रका जन्म १०८९ ई० में हुआ था और स्वर्गवास ११७३ ई० में हुआ था। डा० उपाध्येका कहना है कि किसी भाषाके इतिहासमें यह कोई अनहोनी वात नही है कि साहित्यिक रूपमें अवतरित होनेके वाद ही उस भाषाके विशाल व्याकरणोंकी रचना की जाती है। अत इस कल्पनाके लिए कि हेमचन्द्रके द्वारा निवद्ध अपभ्रश ही उस समयकी प्रचलित भाषा थी, पर्याप्त साधनोका अभाव है। यह कहना अधिक युक्ति सगत प्रतीत होता है कि अपने व्याकरणके द्वारा उन्होने अपभ्रशके साहित्यिक रूपको निवद्ध किया है। और यह रूप उनके समयमें प्रचलित भाषाके पूर्वका अथवा उससे भी अधिक प्राचीन रहा होगा, क्योंकि व्याकरणका आधार केवल वोल चालकी भाषा नही होती। अत हेमचन्द्रसे कम से कम दो शताव्दी पूर्व जोइदुका समय मानना होगा।

२ प्रो० हीरालालजीने दोहा पाहुडकी प्रस्तावना (पृ० २२) में लिखा है कि हेमचन्द्रने रामसिंहके दोहा पाहुडसे कुछ पद्य उद्धृत किये है और रामसिंहने जोइदुके योगसार और परमात्म प्रकाशसे वहुतसे दोहे लेकर अपनी रचनाको समृद्ध वनाया है। अत जोइदु हेमचन्द्रके केवल पूर्ववर्ती ही नही हैं किन्तु उन दोनोंके मध्यमें रामसिंह हुए हैं।

३ देवसेन कृत तत्त्वसारके अनेक पद्य परमात्म प्रकाशके ऋणी प्रतीत होते है। उदाहरणके लिये यहाँ दो तीन पद्य दिये जाते हैं—

उदयहँ आणिविकम्मु मइँ ज भु जेवउ होइ।
त सइ आविउ खविउ मइँ सो पर लाहु जि कोइ॥१८३॥-पर० प्र० २।

ज होइ भु जियव्वं कम्म उदयस्स आणिय तवसा।
सय मागय च त जइ सो लाहो णत्थि संदेहो॥५०॥—त० सा०।

× × ×

विसयकसायहि मणसलिलु ण वि डहुलिज्जइ जासु।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु॥१५६॥-पर प्र २।

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्च पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ॥४०॥-त सा

इन दोनो पद्योका पूर्वार्ध तो शब्दश भी मेल खाता है। ऐसे और भी अनेक पद्य उपस्थित किये जा सकते हैं।

तत्त्वसारके रचयिता देवसेनने ही परमात्म प्रकाशका अनुसरण किया जान पडता है क्योकि उन्होंने अपनी अन्य कृतियोमें भी पूर्वाचार्योंका अनुसरण किया है। देवसेनने विक्रम सम्वत् ९९० मे (९३३ ई०) में अपना दर्शनसार रचा था। अत यह निश्चित है कि जोइदु उससे पहले हो गये हैं।

४ योगसारका ६५ वा दोहा इस प्रकार है—
विरला जाणहि तत्तु बुहु विरला णिसुणहि तत्तु।
विरला झायहि तत्तु जिय विरला धारहि तत्तु ॥६५॥
और कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी एक गाथा इस प्रकार है—
विरला णिसुणहि तच्च विरला जाणति तच्चदो तच्च।
विरला भावहि तच्च विरलाण धारणा होदि ॥२७९॥

का० अ० अपभ्रंश भाषामें नही लिखी गई है। अत वर्तमानकाल तृतीय पुरुषके बहुवचनके रूप 'णिसुणहि' और 'भावहि' उसमें जबरन घुस गये है। किन्तु योगसार में वे ही रूप ठीक हैं क्योकि उसकी भाषा अपभ्रश है। दोनो पद्योका आशय एक है। केवल दोहेको गाथाका रूप दे दिया गया है। और डॉ० उपाध्येके अनुसार का० अ० के रचयिता कुमार ने ही जोइंदुके दोहेको गाथाका रूप दिया है। अत उन्होंने जोइदुको कुमारसे प्राचीन माना है।

५ प्राकृत लक्षणके कर्ता चण्डने अपने सूत्र 'यथा तथा अनयो स्थाने' के उदाहरणमें निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

काल लहेविणु जोइया जिम-जिम मोहु गलेइ।
तिम-तिम दसणु लहइ जो णियमें अप्पु मुणेइ ॥

यह परमात्म प्रकाशके प्रथम अधिकारका ८५ वा दोहा है। दोनों में केवल इतना अन्तर है कि परमात्म प्रकाशमें 'जिम' के स्थानपर 'जिमु' तिमके स्थान पर 'तिमु' तथा 'जो' के स्थान पर 'जिउ' पाठ है। चण्डके समयके बारेमें अनेक मत हैं। उनमेंसे गुणेका मत है कि चण्ड उस समय हुए हैं जब अपभ्रंश भाषा केवल आभीरोंके बोलचाल की ही भाषा नही थी बल्कि साहित्यिक भाषा हो चुकी थी। अर्थात् ईसाकी छट्ठी शताब्दीके बादमें। इस प्रकार चण्डके व्याकरणके व्यवस्थित रूपका समय सातवी शताब्दी रखा जा सकता है। अत परमात्म-प्रकाश उससे प्राचीन होना चाहिये।

६ जो इंदुके परमात्म प्रकाशके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है उनका ग्रन्थ कुन्दकुन्दके मोक्ष प्राभृत और पूज्यपाद के समाधिशतक का ऋणी है। परमात्म प्र० (१।१२१-४) में जो आत्माके तीन प्रकारोका वर्णन है वह मोक्खपाहुड (४-८) मे बिल्कुल मिलता है। सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टिकी परि-

भाषाएँ भी (पर० प्र० १।७६–७७) कुन्दकुन्दके मो० पा० (१४–१५) में दी गई परिभाषाओ जैसी ही हैं। और ब्रह्मदेवने उक्त दोहोकी टीकामें मो० पा० की दोनो गाथाओंको उद्धृत भी किया है। इसी तरह और भी गाथाओ और दोहोंमें समानता है। यथा-मो० पा० २४ और प० प्र० १।८६। मो० पा० ३७ और प० प्र० २।१३। मो० पा० ५१ और प० प्र० २।१७६-१७७। आदि। मोक्ख पाहुड आदिकी सस्कृत टीकामें श्रुतसागर सूरिने प० प्रकाशके जो दोहे उद्धृत किये है उससे भी उक्त बात का ही समर्थन होता है। अत यह स्पष्ट है कि जोइन्दु कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं।

७ पूज्यपादके समाधि शतक और परमात्म प्रकाशके तुलनात्मक अध्ययनसे दोनोमें घनिष्ठ समानता प्रतीत होती है। समानताके निदर्शक कुछ उल्लेख इस प्रकार है—स० श० ४-५ और प० प्र० १।११-१४, स० श० ३१ और प० प्र० २।१७५, १।१२३ २, स० श० ६४-६६ और प० प्र० २।१७८-१८०, स० श० ७० और प० प्र० १।८०। दोनों ग्रन्थोंमें गहरा विचार साम्य भी है किन्तु शैलीमें अन्तर है। वैयाकरण होनेके कारण पूज्यपादके उद्गार सक्षिप्त, भापा परिमार्जित और भाव व्यवस्थित है। किन्तु योगीन्दुने उसी बातको विस्तारसे और सरल करके कहा है। फिर भी उनके कुछ दोहे समाधि शतकके श्लोकोके रूपान्तर जैसे प्रतीत होते हैं। यथा—

य. परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तत ।
अहमेव मयोपास्यो नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥३१॥-स० श०।
जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥१७५॥-प० प्र०

× × ×

जीर्णे वस्त्रे यथात्मान न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहे ऽप्यात्मान न जीर्णं मन्यते बुध ॥६४॥-स० श०
जिण्णि वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु।
देहि जिण्णि णाणि तहँ अप्प ण मण्णइ जिण्णु ॥१७९॥-प० प्र०

× × ×

नष्टे वस्त्रे यथात्मान न नष्ट मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहे ऽप्यात्मान न नष्टं मन्यते बुध ॥६५॥-स० श०
वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठ ॥१८०॥ प० प्र०

अत डॉ० उपाध्येने परमात्म प्रकाशको समाधि शतक और चण्डके प्राकृत लक्षणके मध्यकालकी रचना माना है। चूँकि पूज्यपादका समय ईसाकी पाचवी

शताब्दीके अन्तिम पादमे कुछ पूर्व है। और चण्डके प्राकृत लक्षणके व्यवस्थित रूपका समय ईसाकी सातवी शताब्दीके लगभग अनुमान किया गया है। अत डॉ० उपाध्येने जोइन्दुका समय ईसाकी छठी शताब्दी माना है।

किन्तु परमात्म प्रकाशकी एक गाथा (२।६०) तिलोय पण्णत्ति में (९-५८) ज्योंकी त्यो पाई जाती है केवल अन्तिम चरणमे थोडा अन्तर है।यथा—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ मोहो।
मइ मोहेण य पावं ता पुण्ण अम्ह मा होउ ॥६०॥-प० प्र०

ति० प० में अन्तिम चरण है 'तम्हा पुण्णो वि वज्जेज्जो'। दोनोके अभिप्रायमें कोई अन्तर नही है। प० प्र० के दूसरे अधिकारमें उक्त गाथा प्रकरण सगत है। ५३ वें दोहे से ६४ तक पुण्य और पाप दोनोको त्याज्य वतलाया है। उसीके मध्यमें उक्त गाथा है। कुल ५ गाथाएँ परमात्मप्रकाशमें हैं और वे सव अपभ्रशमें नही हैं। केवल दोहोकी भाषा अपभ्र श है।

उधर ति० प० नौवा अध्यायमें कुन्दकुन्दके समयसार प्रवचनसारकी अनेक गाथाएँ भरी हुई है। उन्हींके वीचमें उक्त गाथा भी है। अत उक्त गाथा प० प्र०से ही ति० प०में ली गई प्रतीत होती है।

प्रवचनसार गाथा १-७७का रूपान्तर पर० प्रकाश दोहा (१-५५) के रूपमें वर्तमान है। उक्त ६०वी गाथा भी प्रव० (१।७४—७५) का आशय लेकर ही वनाई गई जान पडती है। उन गाथाओमें कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि यदि पुण्यकर्म होता है तो वह देव पर्यन्त प्राणियोंको विपयोंकी तृष्णा उत्पन्न करता है। उस तृष्णाके वशीभूत हुए वे प्राणी तृष्णासे दुखी होकर जीवनपर्यन्त विपयसुखको भोगते रहते हैं और उसीकी इच्छा करते हैं।

इसी वातको जोइन्दुने प० प्र०में वडे सुन्दर ढगसे उक्त गाथामें कहा है कि पुण्यसे वैभव मिलता है। वैभव पाकर मद होता है मदसे वुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वुद्धिके भ्रष्ट होनेपर जीव पापका संचय करता है।

अत उक्त गाथा जोइन्दुकृत होनी चाहिये। ऐसी स्थितिमें प्रवचनसार ति० प०मे पूर्वका ठहरता है।

उक्त दोहेके आगे अशरण और एकत्व भावनासे सम्वद्ध (६८-७०) तीन दोहें है। आगे एक दोहे (९८) के द्वारा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानोके नाम गिनाये हैं। उससे आगे दोहा (९९-१०३) द्वारा सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म साम्पराय सयमका स्वरूप वतलाया है। यथाख्यातका स्वरूप छूट गया है। अन्तमें कहा है कि जो सिद्ध हो चुके है, जो सिद्ध होंगे और जो वर्तमानमें हो रहे हैं वे सव आत्मदर्शनसे ही सिद्ध हुए हैं ॥१०७॥

कुन्दकुन्दाचार्यकी[1] तरह ही जोइन्दुने भी लिखा है कि जो जीव पुण्य और पापको समान नही मानता वह मोहके वशीभूत होकर चिरकालतक भ्रमण करता है। इतना ही नही, किन्तु जोइन्दुने उस पापको अच्छा वतलाया है जो जीवको दुःख देकर उसे मोक्षकी तरफ लगाता है ॥५६॥ इसी प्रकरणमें पुण्यकी बुराई करनेवाली एक गाथा (२।६०) आती है जो तिलोय पण्णति (९।५२)में भी है। इससे आगेवाले दोहेमें आर्य शान्तिका मत आया है जिसमे लिखा है कि देव, शास्त्र और मुनिवरोंकी भक्तिसे पुण्य होता है, कर्मोंका क्षय नही होता ऐसा आर्य शान्ति कहते है ॥६१॥

कुन्दकुन्दकी तरह ही जोइन्दुने भी वन्दना, निन्दा, प्रतिक्रमण आदिको पुण्यका कारण वतलाकर एक मात्र शुद्ध भावको ही उपादेय वतलाया है। लिखा है—शुद्धोपयोगीके ही सयम शील और तप होता है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है तथा उसीके कर्मोंका क्षय होता है अत शुद्धोपयोग ही प्रधान है ॥६७॥

अरे जीव! जहाँ तेरा जी चाहे वहाँ जा और जो तेरी इच्छा हो, वह कर। किन्तु जव तक चित्तकी शुद्धि नही है, मोक्ष प्राप्त नही हो सकता ॥७०॥

आत्म ज्ञानसे विहीन योगियोका तीर्थ पर्यटन, चेला चेलियोका पालन पोषण सव निरर्थक है। जो जिनलिंग धारण करके भी परिग्रह रखते है उन्हें वमनका खानेवाला कहा है ॥९१॥ भिक्षामें मिष्ट भोजनकी कामना रखनेवाले नग्न भेष-धारी मुनियोकी भी भर्त्सना की है ॥१११-२॥

अन्तमें विषयोमें आसक्तिकी बुराई वतलाकर आत्माका ध्यान करनेपर जोर दिया है। दोनो अधिकारोका अन्तिम भाग अध्यात्मपूर्ण उपदेशोंसे भरा हुआ है।

योगसार[2]—यह एक १०८ दोहोका, जिनमें एक चौपाई और दो सोरठा भी सम्मिलित है, एक छोटा सुन्दर ग्रन्थ है। इसे परमात्म प्रकाशका सार कह सकते हैं, क्योकि जो परमात्म प्रकाशका विषय है वही योगसारका भी विषय है। इसके आरम्भमें भी आत्माके उक्त तीन प्रकारोका कथन उसी रीतिसे किया गया है और लिखा है कि यदि जीव तू आत्माको आत्मा समझेगा तो

---

१ 'ण हि मण्णदि जो एव णत्थि विसेसोत्ति पुण्ण पावाण। हिंडदि घोरमपार ससार मोहसंछण्णो। प्रव० सा० १-७७।
जो ण वि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ। सो चिरु दुक्खु सहतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ—प० प्र० २।५५।

२ योगसारका प्रकाशन भी हिन्दी अनुवादके साथ रायचन्द्र जैनशास्त्र मालासे हुआ है। परमात्म प्रकाशके अन्तमें उसीके साथ इसे जोड दिया गया है।

निर्वाण प्राप्त करेगा। किन्तु यदि पर पदार्थोंको आत्मा मानेगा तो ससारमें भटकेगा ॥१२॥

कुन्दकुन्दने[1] कर्मविमुक्त आत्माको परमात्मा बतलाते हुए उसे ज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा है। योगसारमें भी उसके जिन, बुद्ध, शिव आदि नाम बतलाये है। जोइन्दुने भी कुन्दकुन्दकी तरह निश्चय और व्यवहार नयोके द्वारा आत्माका कथन किया है। योगसारमे दोनो दृष्टियाँ विशेष रूपसे मिलती हैं।

लिखा है— श्रुतकेवलीने कहा है कि देव न देवालयमें है और न तीर्थोमें। देव तो शरीर रूपी देवालयमें है यह निश्चयसे जानो ॥४२॥ देव तो शरीर रूपी देवालयमें है और लोग उसे देवालयोंमे देखते हैं। यह देखकर मुझे हसी आती है ॥४३॥

योगसारके अध्ययनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि परमात्म प्रकाशकी तरह उसका विषय क्रमबद्ध नही है किन्तु यह एक सग्रह जैसा प्रतीत होता है। इसमें एक दोहा आता है—

विरला जाणहि तत्तु बुह विरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥६६॥

'विरले जन तत्त्वको जानते है, विरले ही तत्त्वको सुनते हैं, विरले ही तत्त्वका ध्यान करते है और विरले ही तत्त्वको धारण करते हैं।

इसका पूर्वापर सम्बन्ध बैठाया जा सकता है किन्तु अपने स्थानपर यह फिट नही बैठता। इसी दोहेका गाथा रूप कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गा० २७९) में पाया-जाता है।ति०प०के सम्बन्ध में पहले विस्तारसे प्रकाश डाला जा चुका है। उसका वर्तमान रूप सन्दिग्ध है। फिर भी उसमें जो भगवान महावीरके निर्वाणसे लेकर एक हजार वर्षकी काल गणना दी है उससे वह विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वकी रचना सिद्ध नही होती है। ऐसी स्थितिमें जोइन्दुके परमात्मप्रकाशको समाधिशतक और तिपण्णत्तिके मध्यकालकी रचना मानना चाहिये। सभव है कि जोइन्दु पूज्यपादके लघुसमकालीन हो अथवा उनके पश्चात् तुरन्त ही हुए हो। अत जोइन्दु विक्रमकी छठी शताब्दीके ग्रन्थकार होने चाहिये।

---

१ 'णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो। अप्पोविय परमप्पो कम्म-विमुक्को य होइ फुद्रो ॥१४९॥ ।—भा० प्रा०। णिम्मल णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बद्ध सिव सतु। सो परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणि णि भतु ॥९॥ यो० सा०।

अन्तिम दोहेमें लिखा है कि ससारके भयसे भीत जोगिचन्द मुनिने अपने सम्बोधनके लिए इन दोहोको रचा है।

जोइन्दु ओर जोगिचन्द नामोमें कोई अन्तर नही है। तथा परमात्म प्रकाश और योगसारके विषयमे ही समानता नही हैं, किन्तु पदो और शब्दोमें भी समानता है। दोनों ग्रन्थोंके मगलाचरणोके कुछ अन्तिम चरण एक है यथा—

जे जाया झाणग्गियए कम्मकलक डहेवि।
णिच्च णिरजणणाणमय ते परमप्प णवेवि ॥१॥—प० पु०
णिम्मलझाण परिट्ठया कम्मकलक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवे वि ॥१॥ यो० सा०।

दोनो ग्रन्थोका प्रारम्भ भी जिस दोहेसे हुआ है उसमें भी समानता है—

गउ ससार वसताहँ सामिय कालु अणंतु।
पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥९॥ प० प्र०
कालु अणाइ अणाइ जिउ भव सायरु जि अणतु।
मिच्छा दंसण मोहियऊ ण वि सुहु दुक्ख जि पत्तु ॥४॥

इस तरहकी समानता वहुतायतसे पाई जाती है। अत योगसार भी अवश्य ही परमात्म प्रकाशके कर्ताकी ही कृति है।

जैनसाहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

तृतीय अध्याय

अध्यात्म-विषयक टीका-साहित्य

द्वितीय अध्यायमें अध्यात्म-विषयक मूल-साहित्यका इतिवृत्त निवद्ध किया जा चुका है। इस अध्यायमें अध्यात्म-विपयक टीका-साहित्यका प्रतिपादन किया जायगा।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि टीकाकार होते हुए भी मूलग्रन्थ रचनेकी क्षमतासे युक्त है। समयसारकी टीकामें उन्होने 'कलश' नामसे जिन पद्योको ग्रथित किया है उत्तरकालमें उन पद्योका सकलन 'समयसार-कलश' नामसे ग्रन्थरूपमे अभिहित हुआ। अतएव अध्यात्म-विपयक टीका-साहित्य प्रमेयकी दृष्टिसे उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना मूल अध्यात्म-साहित्य।

इस अध्यायमें टीका-साहित्यके अतिरिक्त ऐसे लघुकाय ग्रन्थोका भी विवेचन रहेगा, जो उत्तरकालमें उक्त साहित्यके आधारपर लिखे गये हैं।

टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि

कुन्दकुन्दके समयसार, और पञ्चास्तिकायके टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि कुन्द-कुन्दाचार्यके सफल व्याख्याता और अध्यात्मवेत्ता थे। इनकी टीकाएँ ही इनकी विद्वत्ता, वाग्मिता और प्राञ्जल शैलीकी परिचायक है। इन्होने अपनी किसी भी कृतिमें अपने सम्वन्धमें कुछ भी नही लिखा। अत वे कव हुए और उनके गुरु आदि कौन थे, यह सव एक तरहसे अज्ञात है। केवल उनकी कृतियोसे ही उनके व्यक्तित्वको समझा जा सकता है।

जैनपरम्पराके आध्यात्मिक विद्वानोंमें कुन्दकुन्दके पश्चात् यदि किसीका नाम आदरके साथ लिया जा सकता है तो वे अमृतचन्द्र ही है। अत उन्होने अपनी टीकाओंके अन्तमें भी अपने उसी अध्यात्मभावका ही परिचय देते हुए लिखा[1] है—

---

१ 'स्वशक्ति समूचित वस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शब्दै ।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिददस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरे ॥'
—समयसार टीका तथा पञ्चा० टी० के अन्तमें यह पद्य है।

आगमकी यह व्याख्या अपनी शक्तिसे वस्तु तत्त्वको सूचित करनेवाले शब्दोंके द्वारा की गई है। अपने स्वरूपमें लीन अमृतचन्द्रके लिये कुछ भी करणीय नही है। अपने एक ग्रन्थके[1] अन्तमें लिखा है—'तरह-तरहके वर्णोंसे पद वन गये। पदोसे वाक्य वन गये और वाक्योंसे यह पवित्र शास्त्र वन गया। मैंने कुछ भी नही किया।' कुन्दकुन्दके समयसारमें जो आत्माको परवस्तुका अकर्ता वतलाया है, उसीका अनुसरण करते हुए अमृतचन्द्रने अपनी कृतियोंमेंसे अपने कर्तृत्वके भावका परिहार उक्त शब्दोंमें किया है। जो इस तरह अपनी कृतियोका कर्ता भी अपनेको नही वतलाता उससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह अपने सासारिक सम्वन्धोंके विषयमें कुछ प्रकट करेगा।

प० आशाधरने अनगार धर्मामृतकी टीकामें[2] अमृतचन्द्रसूरिका उल्लेख ठक्कुर पदके साथ किया है। ठक्कुरका हिन्दी रूप ठाकुर है। जागीरदारों और ओहदेदारोको ठाकुर कहते है। वे प्राय क्षत्रिय होते है। कुछ ब्राह्मण भी ठाकुर कहे जाते है। अत यह नही कहा जा सकता कि अमृतचन्द्रसूरि कौन ठाकुर थे। फिर भी इससे व्यक्त होता है कि वे किसी सम्मानित कुलके थे। इसके सिवाय उनके सम्वन्धमें और कुछ भी ज्ञात नही होता।

रचनाएँ—अमृतचन्द्रकी पाँच रचनाएँ वर्तमानमें उपलव्ध हैं। १ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय इसका दूसरा नाम 'जिनप्रवचनरहस्यकोश' भी है। इसमें श्रावकाचार-का वर्णन है। सस्कृत भाषामें आर्याछन्दमें इसकी रचना की गई है। २ दूसरी रचना है तत्त्वार्थसार। यह तत्त्वार्थसूत्रका एक श्लोकवद्ध रूप है। इन दो ग्रन्थोंके सिवाय तीन टीका ग्रन्थ हैं। समयसारकी टीकाका नाम आत्म-ख्याति है। प्रवचनसारकी टीकाका नाम तत्त्वदीपिका है। और पञ्चास्तिकायकी टीकाका नाम तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति है। इन तीनो टीकाओके अन्तमें अमृतचन्द्रने अपना नाम दिया है।

इनके सिवाय समयसार कलश नामसे भी अमृतचन्द्रकी एक कृति मिलती है और उसपर शुभचन्द्रकृत टीका भी है। किन्तु वास्तवमें वह कोई स्वतत्र कृति नही है किन्तु समयसारकी टीकामें आगत पद्योका एक संकलनमात्र है। वे पद्य अति सुन्दर और अध्यात्मरससे भरे हुए है। इसलिये किसीने उनका पृथक्

---

१ वर्णैं कृतानि चित्रैं पदानि तु पदैं कृतानि वाक्यानि। वाक्यै कृत पवित्र शास्त्रमिद न पुनरस्माभि ॥'—पु० सि०।

२ 'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकाया दृष्टव्यम्।'
—अन० ध० टी० पृ० ५८८

सकलन करके उसे समयसार कलश सज्ञा देदी है। अमृतचन्द्रकी उक्त पाँचो रचनाएँ सुललित सुन्दर संस्कृतमें है ।

कुन्दकुन्दाचार्यके प्राकृत भाषामें निवद्ध ग्रन्थोकी टीका रचनेसे यह तो स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र प्राकृत भाषाके भी विद्वान थे। किन्तु उन्होंने प्राकृतमें भी ग्रन्थरचनाकी हो ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। किन्तु डॉ० ए० एन० उपाध्येने लिखा[1] है कि समयसार टीकाकी कुछ प्रतियोंके अन्तमें एक प्राकृत गाथा पाई जाती है जो संभवतया अमृतचन्द्रकी रची हुई है। तथा मेघविजय गणीने कुछ प्राकृत गाथाओंको अमृतचन्द्रकी वतलाया है जो उनके द्वारा प्राकृतमें रचित श्रावकाचारकी वतलाई गई हैं।'

मेघविजयगणिने अपने युक्ति प्रवोध नाटककी सस्कृत टीकामें अमृतचन्द्रके नामसे पाँच गाथाओका उल्लेख किया है यह ठीक है। किन्तु उनमेंसे चार गाथाएँ कुन्दकुन्दके समयसार और प्रवचनसार की है। गणिजीने[2] मूलगन्य और उसकी टीकाको एक ग्रन्थ मानकर उमका कर्ता कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र दोनोको वतलाया है। श्रावकाचारके नामसे जो सस्कृत पद्य उद्धृत किये गये है वे सव पुरुषार्थ सिद्धयुपायके हैं। केवल एक गाथा ऐसी है जो ढाढसी गाथाओंमें पाई जाती है।

किन्तु गणिजीने उसे 'इतिहासे, श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोऽप्याह' कहकर उद्धृत किया है। उस गाथामें[3] कहा है—'कोई भी सघ, चाहे वह काष्ठा सघ हो मूलसंघ हो या निष्पिच्छ सघ हो, नही तारता। आत्मा ही आत्माको तारता है, अत आत्माका ध्यान करना चाहिये।' ढाढसी गाथाओंमें इस गाथाकी स्थिति भी ऐसी प्रतीत नही होती जिसपरसे यह सदेह किया जा सके कि उक्त गाथा वहाँ प्रक्षिप्त है। फिर गणिजीके द्वारा उसे श्रावकाचारकी वतलाना भी विचित्र है। गणिजीके पूर्ववर्ती श्री श्रुतसागरजीने अपनी षट्प्राभृत ठीका (पृ० १२)में भी एक गाथा उद्धृतकी है और लिखा है—'उक्त च 'ढाढसी गाथासु।' अत यह भी नही कहा जा सकता कि इन ढाढसी गाथाओकी प्रसिद्धि श्रावकाचारके नामसे कभी थी, न उनका विषय श्रावकाचार रूप ही है।

---

१ प्रव० सा० की प्रस्ता०, पृ० ९८। २ 'समयप्राभृतसूत्र वृत्ति समुदाय रूपस्य समयसारस्य कुन्दकुन्दाचार्य अमृतचन्द्रचार्याभ्या प्रणीतस्य ग्रन्थस'—यु० प्र० टी०, पृ० ३०।

२ 'सघो को वि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो। अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा हु झादव्वो ॥२०॥ ढा० गा० (तत्त्वानु० स०, पृ० १६४)।

इसके सिवाय गणिजीने[1] अमृतचन्द्रको मूल संघका अनुयायी लिखा है। तब वह काष्ठासघी आचार्यकृत ढाढसी गाथाओके कर्ता कैसे हो सकते है। हमारे विचारसे तो गणिजी का उक्त उल्लेख भ्रमपूर्ण ही है, उसका समर्थन उनके अन्य उल्लेखोसे भी होता है। कुन्दकुन्दकी गाथाओको उन्होने अमृतचन्द्रकी लिख दिया है और अमृतचन्द्रकी समयसार टीकामें उद्धृत एक गाथाको कुन्द-कुन्दकी[2] लिख दिया है। अत उनके उल्लेखोके आधारपर अमृतचन्द्रको किसी प्राकृत ग्रन्थका रचयिता नही माना जा सकता।

शैली—टीकाकार अमृतचन्द्राचार्यकी शैलीका प्राञ्जल रूप समयसारकी टीकामें देखनेको मिलता है। उन्होने गाथाके शब्दोका व्याख्यान न करके उसमें निहित आशयको ही अपने परिष्कृत गद्य पद्यात्मक टीकाके द्वारा व्यक्त किया है। उनकी भाषा भावोंके अनुरूप है। उसमें कृत्रिमताकी गध नही है। अध्यात्म विषयक उनका पाण्डित्य जितना गम्भीर और तलस्पर्शी है, उसको व्यक्त करने के लिये उनकी भाषा भी उसीके अनुरूप स्वाभाविक धाराके रूपमें प्रवाहित होती है। उनकी टीकामें आगत पद्य, जो समयसार कलशके नामसे बहु प्रचरित हैं, उनकी सरस सुबोध कवित्व शक्तिके जाज्वल्यमान उदाहरण है। उनकी रचना इतनी सरस है कि भावोको हृदयगम किये बिना भी उसके पाठमें आनन्द मिलता है। सचमुचमें अमृतचन्द्र आध्यत्मिक कवियोके मुकुटमणि हैं। उनके पद्य उतने दुरुह नही हैं जितनी दुरुह उनकी गद्य है। किन्तु दोनोही प्रकारकी रचनाओमें एकसा सौष्ठव पाया जाता है। उदाहरणके रूपमें यहाँ कुछ अंश दिया जाता है—

'इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्ष-क्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्तयवलम्बनजन्मा निर्मलविज्ञानघनान्तर्निमग्नपरापरगुरु-प्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यन्दिसुन्दरनन्दमुद्रितामन्दसविदा-त्मकस्वसवेदनजन्मा च य कमनापि मश्चात्मन स्वोविभवस्तेन समस्तेनाप्य यमेकत्वविभक्तमात्मान दर्शयेऽहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि।'

यह समयसारकी गाथा पाँचके पूर्वार्द्ध—'त एयत्तविभत्त दाएह अप्पणो सवि-हवेण की व्याख्या है। अब एक पद्यका नमूना भी देखिये—

उभयनयविरोधध्वसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहा ।

---

१ 'अमृताचन्द्राचार्यस्य मूलसघ यूथ्यत्वेन'—यु० प्र० टी०, ४-३१।

२ 'यदुक्त समयसारे कुन्दकुन्दाचार्येण'—'जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुहय'। वही, पृ० १५।

मपदि ममयसार ते पर ज्योतिरुच्चै—
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥५॥'

यह स्पष्ट है कि मूल समयमारसे उमकी टीका गहन है क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्यने जिस तत्त्वका प्रतिपादन बडी सरल रीतिसे किया है, अमृतचन्द्राचार्यने उमीका विवेचन अपने समयकी पाण्डित्यपूर्ण दार्शनिक शैलीमें किया है और इस तरहसे उन्होने कुन्दकुन्दके द्वारा प्रतिपादित अध्यात्मको दार्शनिक शैलीमें अवतरित करके कुन्दकुन्दके पश्चात् विकासको प्राप्त हुए दार्शनिक मन्तव्योंको भी उसमें ममन्वित करनेकी चेष्टा की है।

इतना ही नही कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें जो तत्त्व निहित थे किन्तु अस्पष्ट थे, उन्हें भी उन्होंने स्पष्ट करके जैनतत्त्वज्ञानको समृद्ध बनाया है।

विशेपताएँ—यह पहले लिख आये है कि अमृतचन्द्रने ही ममयसारको अवान्तर विभागोमें विभाजित किया है। इतना ही नही, किन्तु समयपाहुडको ममयसार नाम भी उनका ही दिया हुआ है, क्योंकि उन्होंने अपनी टीकाके आरम्भमें 'नम समयसाराय' तथा 'समयसार व्याख्ययैवानुभूते' लिखकर समयमार सज्ञा दी है और इसी नामसे वह सर्वत्र ख्यात भी है।

उन्होने इसे एक नाटकका रूप दिया है। और नाटककी तरह ही इसे अकोमें विभाजित किय है। प्रथम अकसे पहलेके आरम्भिक भागको 'पूर्वरग सज्ञा दी है। तथा जैसे नाटकमे पात्रोंका निष्क्रमण और प्रवेश दिखाया जाता है वैसे ही इसमें भी दिखाया गया है। प्रथम अक जीवाजीवाधिकारमें जीवको अजीवसे भिन्न बतलाया गया है। अत अन्तमें लिखा है—'जीवा-जीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रान्तौ' अर्थात् जीव और अजीव जुदे-जुदे होकर चले गये। और दूसरे कर्तृ-कर्म अधिकारके आरम्भमें लिखा है—'जीव और अजीव ही कर्ता और कर्मका वेप धारण करके प्रवेश करते हैं। तथा अन्तमें लिखा है—'जीव और अजीव कर्ता और कर्मका वेप छोडकर निकल गये। तीसरे पुण्य पाप अधिकारके आदिमें लिखा है—'एक ही कर्म पुण्य और पापके रूपमें दो पात्रोंका वेप धारण करके प्रवेश करता है।' और अन्तमें लिखा है—पुण्य और पापके रूपसे दो पात्रोंका वेप धारण करनेवाला कर्म एक पात्र रूप होकर निकल गया। अर्थात् कर्ममें पुण्य पापका भेद मिथ्या है। दोनोमें कोई अन्तर नही है। इसी तरह आश्रव, सवर, निर्जरा वन्ध और मोक्ष अधिकारमें उन-उन तत्त्वोको प्रवेश कराया और निकाला है।

यथार्थमें यह संसार एक रग-मच है जिसपर जीव और अजीव नाना रूप

धारण करके अभिनय कर रहे हैं। साख्यकारिकामें[1] प्रकृतिको नर्तकी बतलाया है और पुरुषको दर्शक। इसी तरह अमृतचन्द्रने भी इस ससारको रगभूमि मानकर प्रकृतिके स्थानापन्न पुद्गलको ही उसका सूत्रधार बतलाते हुए लिखा[2] है कि इस अनादि महान् अविवेकपूर्ण नाटकमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नटरूपसे आचरण करता है। यह जीव तो शुद्ध चैतन्यरूप धातुमय है।

अमृतचन्द्राचार्यने अपनी तीनो टीकाओमेंसे प्रवचनसार[3]की टीकामें केवल चार गाथाएँ उद्धृत की है। पञ्चास्तिकायकी[4] टीकामें भी चार गाथाएँ उद्धृत की हैं और समयसारकी टीकामें तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये तीनो गाथाएँ जयसेनाचार्यने भी अपनी टीकामें उद्धृत की हैं। इनमेंसे इन्होने दो गाथाएँ 'उक्तञ्च व्यवहारसूत्रे' लिखकर उद्धृत की हैं जो इस प्रकार हैं—

अपडिकमणं अपरिसरण अप्पडिहारो आधरणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा अगरुहाऽसोहीय विसकुभो ॥१॥
पडिकमणं पडिसरण परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुभो दु ॥२॥

ये दोनों गाथाएँ उन्होंने कुन्दकुन्दाचार्यकी आगेकी गाथाओंकी उत्थानिकाके रूपमें शङ्काके साथ उपस्थित की हैं। शङ्काकार कहता है कि प्रतिक्रमण आदिके विना अपराध-विशुद्धि नही होती। अत प्रतिक्रमणादिका न करना विषकुम्भ है और करना अमृतकुम्भ है। इसीके समर्थनमें वे दो गाथाएँ अमृतचन्द्रने उद्धृत की है जो उनके कथनानुसार व्यवहारसूत्रकी हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें व्यवहारसूत्र नामका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है किन्तु उसमें हमें ये गाथाएँ नही मिली। जयसेनने इन्हें 'तथाचोक्त चिरन्तनप्राय श्चित्तग्रन्थे' करके उद्धृत किया है, जो बतलाता है कि व्यवहारसूत्र प्राचीन प्रायश्चित्त-ग्रन्थ था। आगे कुन्दकुन्दने उक्त उद्धृत गाथाओके ठीक विपरीत कथन किया है और बतलाया है कि प्रतिक्रमण आदि करना विषकुम्भ और न करना अमृत कुम्भ है, उसका खुलासा अमृतचन्द्रने आत्मख्यातिमें किया है। कुन्दकुन्दकी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

---

१ 'रगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथात्मान प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥—सा० का०।

२. 'अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्य। रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरय च जीव ॥४४॥—स० प्रा० गा० ६८।

३ प्रव० सा० टी०, पृ० २२७-२२८, ३७२।

४. पञ्चा० टी०, पृ० २१२ तथा २५०–२५१।

पडिकमण पडिसरण परिहरण धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरुहा सोहि य अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥
अपडिक्कमण अप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदा अगरहा विसोहि य अमयकुंभो ॥

ये दोनों गाथाएँ ऊपर उद्धृत गाथाओंको लक्ष्यमें रखकर रची गई है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अमृतचन्द्र इस बातसे अभिज्ञ थे। इससे प्रकट होता है कि अमृतचन्द्राचार्यको समयसार आदि ग्रन्थोंका कितना गाधार परिज्ञान था।

समय—यह हम ऊपर लिख आये हैं कि अमृतचन्द्रने अपने विषयमें कुछ भी नही लिखा और न अन्यत्रसे उनके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त होती है। अत उनकी टीकाओंमें उद्धृत पद्योके द्वारा तथा अन्य ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले उनके पद्य आदिके आधारपर कई विद्वानोंने[1] उनका समय निर्णीत करनेका प्रयत्न किया है।

१ विक्रम सम्वत् १३०० में रचकर पूर्ण हुई अनगारधर्मामृतकी[2] टीकामें प० आशाधरने ठक्कुर अमृतचन्द्रविरचित समयसार टीकाका उल्लेख किया है। तथा उनके पुरुपार्थ सि० से एक पद्य भी उद्धृत किया है। अत यह निश्चित है कि अमृतचन्द्र आशाधरसे पहले हुए हैं।

२ श्रीयुत प्रेमजीने लिखा[3] है कि शुभचन्द्रने ज्ञानार्णव (पृ० १७७) में अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्धयुपायका 'मिथ्यात्व वेदराग' आदि पद्य उक्तञ्च' रूपसे उद्धृत किया है। इसलिये अमृतचन्द्र शुभचन्द्र से भी पहले के हैं। और पद्मप्रभ मलधारिदेवने नियमसार टीकामें (पृ० ७२) शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका एक श्लोक (४२, ४) उद्धृत किया है। इसलिए शुभचन्द्र पद्मप्रभसे पहलेके है। प्रेमीजीने पद्मप्रभका समय विक्रम की बारहवी सदी का अन्त और तेरहवी सदी का प्रारम्भ[4] बतलाया है। तथा शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका रचना काल विक्रमकी ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी अनुमान किया है। अत अमृतचन्द्र उससे पहले हुए है यह निश्चित है।

---

१ प्रव० सा० की प्रस्ता० (डॉ० उपाध्ये) पृ० १००-१०१। अनेकान्त, वर्ष ८, कि० ४-५, पृ० १७३-१७५। तथा जै० सा० इ०, पृ० ३०९-३१३।

२ 'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यम्—अन० ध० टी०, पृ० ५८८।

३ जै० सा० इ०, पृ० ३१०।

४. जै० सा० इ०, पृ० ४०६।

३ प० परमानन्दजीने[1] प्रकट किया है कि आचार्य जयसेनके धर्मरत्नाकरमें आचार्य अमृतचन्द्रके पुरुपार्थ सिद्धयुपायके वहुत से पद्य उद्धृत हैं। और ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन व्यावरके शास्त्रभण्डार की एक प्रतिमें उसका रचनाकाल वि० स० १०५५ दिया है। अत अमृतचन्द्र वि० सं० १०५५ से पहले हो गये है।

अमृतचन्द्रसूरिने प्रवचनसारकी टीकामें चार गाथाएँ उद्धृत की है। 'णिद्धा णिद्धेण' और 'णिद्धस्स णिद्धेण' ये दो गाथाएँ (गा० २।७४ की) टीकामें क्रमसे एक साथ उद्धृत है। और 'जावदिया वयणवहा' आदि तथा 'परसमयाण वयण' आदि दो गाथाएँ 'तदुक्तम्' करके क्रमसे एक साथ टीकाके अन्तमें (पृ० ३७२) उद्धृत है। पहलेकी दोनो गाथाएँ गोमट्टमार जीवकाण्डमें क्रमसे ६१२ तथा ६१४ नम्बरकी गाथाएँ है। और दूसरी दो गाथाएँ कर्मकाण्ड गोमट्टसारकी क्रमसे ८९४ और ८९५ नम्वर की गाथाएँ है। दूसरी दो गाथाओके सम्बन्धमें डा०[2] उपाध्येने लिखा है कि चूकि गो० कर्मकाण्डमें वे दोनो गाथाएँ उसी क्रमसे पाई जाती है और उनकी शाब्दिक समानता भी है अत इन दोनो वातोको देखकर यह सुझाव देने का लोभ होता है कि अमृतचन्द्रने उन्हें गोमट्टसारसे लिया होगा। किन्तु गोमट्टसार एक सग्रह ग्रन्थ है। और इसलिए इन गाथाओंके धवला और जय धवलामें पाये जानेकी सभावना है। इन दोनो में से पहली 'जावदिया वयणवहा' आदि गाथा सिद्धसेनके सन्मतितर्क (३ ४७) में भी पाई जाती है। किन्तु डॉ० उपाध्येने लिखा है कि यद्यपि अमृतचन्द्र सिद्धसेनके सन्मतितर्कसे परिचित थे किन्तु नीचे लिखे कारणोंसे उन्होने यह गाथा उससे उद्धृत नही की है। प्रथम तो, सिद्धसेनकी गाथाका रूप महाराष्ट्री है जवकि अमृतचन्द्रके द्वारा उद्धृतरूप सौरसेनी है। दूसरे अमृतचन्द्रने दोनों गाथाओको एक साथ उद्धृत किया है जवकि सिद्धसेनके ग्रथमें उनमें से एक ही पाई जाती है। अत डॉ० उपाध्येने अमृतचन्द्र का समय ईसाकी दसवी शताब्दीके लगभग माना है।

प० परमानन्दजीने अपने लेखमें डॉ० उपाध्येके उक्त मत की आलोचना भी की है जो उचित ही है क्योंकि जव वि० स० १०५५में वने हुए ग्रन्थमें आचार्य अमृतचन्द्रके पद्य उद्धृत है तो अमृतचन्द्र विक्रमकी ११वी सदीके पूर्वार्धमें रचे गये गोमट्टसारसे पद्य कैसे उद्धृत कर सकते हैं। किन्तु प्रवचनसारकी प्रस्तावना लिखते समय डॉ० उपाध्येके सामने धर्मरत्नाकर वाली वात नही थी। तथा अमृतचन्द्रके द्वारा प्रवचनसारकी टीकामें उद्धृत उक्त चार गाथाओमेंसे

---

१ अनेकान्त, वर्ष ८, पृ० १७३-१७५ तथा २००-२०३।

२ प्रव० सा०, की प्रस्ता०, पृ० १००–१०१।

प्रथम दो गाथाएँ षट्खण्डागम से उद्धृत की गई हैं यह भी ठीक है। किन्तु दूसरी दो गाथाओंमें से यद्यपि प्रथम गाथा सिद्धसेनके सन्मतितर्क की है किन्तु उसके साथ-वाली दूसरी गाथा गोमट्टसार कर्मकाण्डके सिवाय अन्यत्र नही मिलती । फिर भी धर्मरत्नाकर में अमृत चन्द्रके पद्योको उद्धृत देखकर यही माननेके लिए विवश होना पडता हैं कि गोमट्टसारमें भी वह गाथा कहींसे सगृहीत की गई होगी। अथवा यह भी सभव हैं कि गोमट्टसारमें उक्त दूसरी दोनो गाथाएँ अमृतचन्द्रकी प्रवचनसार टीकासे ही ली गई हों क्योंकि वह एक सग्रह ग्रन्थ है। और जब उसकी रचना अमृतचन्द्र के पश्चात् हुई है तो ऐसा होना असंभव नही है।

४ आचार्य अमितगतिने अपना श्रावकाचार भी धर्मरत्नाकर के समय के लगभग रचा है। अत हमने यह जाननेके लिए कि अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्धयु-पायका उसपर कुछ प्रभाव है या नही, उसका तुलनात्मक अध्ययन किया तो हम इस परिणामपर पहुँचे कि अमितगतिने पुरुषार्थसिद्धयुपाय देखा है। नीचे हम अपने मतके समर्थनमें कुछ प्रमाण उपस्थित कर देना उचित समझते हैं—

आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारके पाँचवे अध्यायसे श्रावको के व्रतो का कथन प्रारम्भ किया है। उन्होंने[1] पाँच उदुम्बर और तीन मकार के साथ रात्रि भोजनको भी त्याज्य वतलाया है। अमृतचन्द्राचार्यने पाँच उदुम्बर और तीन मकारको त्याज्य वतलाकर पाँच अणुव्रतोंके पश्चात् अहिंसाणुव्रत की पुष्टिके रूपमें रात्रिभोजनके त्यागपर जोर दिया है। और सोमदेवने[2] भी अपने उपासकाचारमें अहिंसाणुव्रतके कथनमें केवल एक श्लोकके द्वारा अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये और मूलव्रतोंकी विशुद्धिके लिये रात्रि भोजन का त्याग आवश्यक वतलाया है और रत्नकरड श्रावकाचारमें तो रात्रि भोजन त्याग प्रतिमाओंमें सम्मलित है। इस तरह रात्रि भोजन त्याग को दिये जाने वाले उत्तरोत्तर महत्त्वकी दृष्टिसे सबसे प्रथम रत्नकरंड श्रावकाचार का नम्बर आता है। उनके पश्चात् पुरुषार्थसिद्धयुपाय का नम्बर आता है। और उसके पश्चात् सोमदेवके उपासकाचारका नम्बर आता है। और पश्चात् अमितगतिके श्रावका-चार का नम्बर आता है। अत पुरुषार्थसि० न केवल अमितगतिके श्रावकाचारसे किन्तु सोमदेवके उपासकाचारसे भी पूर्वका होना चाहिये।

१, 'मद्यमांस-मधु-रात्रिभोजन क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा। कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥

—अमि०, श्रा०, अ० ५।

२. 'अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये। निशायां वर्जयेद् भुक्तिमिहामुत्र च दु ख-दाम् ॥' —सोम०, उ०, श्लोक ३३४।

अमृतचन्द्राचार्यने अपना पुरुषार्थ० मुख्यरूपसे तत्त्वार्थसूत्र और उसकी सवार्थसिद्धि टीका तथा तत्त्वार्थवार्तिक टीकाको आधार वनाकर लिखा है। इन दोनो टीकाओं[1] में रात्रि भोजन त्यागके छठे अणुव्रत होनेकी शका की है। और दोनोंमें ही उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रत की भावनाओ में किया है। उसीको आलम्बन वनाकर अमृतचन्द्राचार्यने पाँचो अणुव्रतोंके पश्चात् रात्रिभोजन त्याग व्रत का कथन किया है। और अकलंकदेवने उसके समर्थनमें जो युक्ति दी है उसी को पल्लवित किया है।

२. पु० सि० (श्लो० ६३) में मद्यमें वहुतसे जीवोकी उत्पत्ति वतलाई है वही कथन अमितगति ने भी उसी रूपमें किया है। तथा अमृतचन्द्र की ही तरह मद्यके लिए सरक शव्दका प्रयोग किया है, जो अन्य श्रावकाचारोंमें नहीं पाया जाता।

३ पु० सि० (श्लोक ६५) में प्राणिघात के विना माँस की उत्पत्ति नही वतलाई। अमितगतिने भी (५।१४) वैसा ही कथन किया है।

४ पु० सि० (श्लो० ७४) में आठोको त्याग करनेपर जिनधर्म देशनाका पात्र होता है ऐसा कहा है। अमितगतिने भी (५।७३) वैसाही कथन किया है।

५ पु० सि० (श्लो० ८३) में जीवोको घात करने वाले प्राणियोंको मारने का निषेध किया है। अमितगतिने भी (६।३३) वैसाही कथन किया है।

६ पु० सि० श्लो० (८६) में सुखी जीवोको मारने का निषेध किया है। अमित गतिने भी (६।४०) वैसा ही कथन किया है।

७ पु० सि० में (श्लो० ९२-९८) असत्यके चार भेद किये है और उनका स्वरूप कहा है। अमितगतिने भी ६।४९-५५ रूपान्तर करते हुए चार भेदो का कथन किया है। तथा चतुर्थ भेदके पु० सि० में जो गर्हित सावद्य और अप्रिय तीन भेद किये हैं, वही भेद अमितगतिने भी किये हैं।

८. अकलकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (७।९)में नीचे लिखा श्लोक उद्धृत किया है—

'यदेतत् द्रविण नाम प्राणा ह्येते वहिश्चरा ।
य तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥

अमृतचन्द्र ने इसे आर्याछन्दका रूप दिया है—

अर्था नाम य एते प्राणा एते वहिश्चरा पुसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

---

१ ननु च पष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् । न, भावनास्वन्तर्भावात्—सर्वा०, सि०, तत्त्वा०, वा० ७।१ ।

अमितगति ने उक्त आर्याको परिवर्तित करके यह रूप दिया है—

> यो यस्य हरति वित्त स तस्य जीवस्य जीवित हरति ।
> आश्वासकारं वाह्य जीवाना जीवित वित्तं ॥६१॥

व्रतोके अतिचारोंका कथन करनेवाले पु० सि० के पद्योंको ही अमितगति ने परिवर्तित करके लिखा है। यह दोनोकी तुलनासे स्पष्ट हो जाता है। नीचे दो एक उदाहरण देना अनुचित न होगा।

> प्रतिरूपव्यवहार स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
> राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥ पु० सि०
> व्यवहारकृत्रिमक स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
> ते मानवैपरीत्य विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥५॥
> —अमि० श्रा०, अ०, ७।

× × ×

> कन्दर्प कौत्कुच्य भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यं ।
> असमीक्षिताधिकरण तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९॥ पु० सि० ।
> असमीक्षितकारित्व प्राहुर्भोगोपभोगनैरर्थ्यम् ।
> कन्दर्पं कौत्कुच्य मौखर्यमनर्थदण्डस्य ॥१०॥ अमि० श्रा० ७।

× × × ×

९ पु० सि० (श्लो० १९६) में कहा है कि जो इन अतिचारो को छोडकर व्रतादि आचरण करते हैं वे पुरुषार्थसिद्धिको प्राप्त करते है। अमितगतिने (७।१७)में भी लिखा है कि जो इन सत्तर अतिचारोका परिहार करते है वे भुवनके उत्तमनाथ होते है।

इस तुलनासे स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र अमितगतिसे पहले हो गये हैं।

अमृतचन्द्र और देवसेन

डॉ० उपाध्ये ने लिखा कि अमृतचन्द्र देवसेनाचार्य (वि० स० ९९०) की आलापपद्धतिसे परिचित थे। चूँकि डॉ० उपाध्ये ने अमृतचन्द्रका समय ईसाकी दसवी शताब्दीकी समाप्तिके लगभग माना है अत उनका वैसा लिखना अनुचित नही है। किन्तु जव ईसाकी दसवी शताब्दीके अन्तमें हुए ग्रन्थकारोंके द्वारा अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे उद्धरण लिये जाने तथा उसका अनुसरण किये जानेकी वात निस्सन्देह है तव यह भी निस्सन्देह है कि अमृतचन्द्र उससे पूर्वमें हुए है और ऐसी स्थितिमें देवसेनकी आलापपद्धतिसे उनका परिचित होना भी विचारणीय हो जाता है।

जहाँ तक हमने अध्ययन किया है हमें अमृतचन्द्र आलापपद्धतिसे परिचित नही जान पडे। वल्कि देवसेन ही अमृतचन्द्रकी टीकाओंसे परिचित जान पडे है।

१ अमृतचन्द्राचार्यकी टीकाओमें हमें कुन्दकुन्दाचार्यकी तरह ही या तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका उल्लेख मिलता है या निश्चयनय अथवा शुद्धनय और व्यवहारनय अथवा अशुद्धनय का उल्लेख मिलता है। उन्होंने न तो निश्चयनयके शुद्ध और अशुद्ध भेदोका कही उल्लेख किया है और न व्यवहारनय के सद्भूत असद्भूत आदि भेदोका ही निर्देश किया है। जयसेनाचार्यकी टीकाओमें इन भेद-प्रभेदोका उल्लेख मिलता है। जयसेन तो निश्चयरूपसे आलापपद्धति-कारके पश्चात् हुए हैं। किन्तु अमृतचन्द्रके विषयमें ऐसा नही कहा जा सकता। अमृतचन्द्र आलापपद्धतिसे पहले हो गये हैं, क्योकि देवसेनकी आलापपद्धतिमें निश्चयनय और व्यवहारनयके भेद-प्रभेदोका जो कथन है, वह हमे अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा समयसारकी टीकामें प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थाके आधारपर रचा गया प्रतीत होता है। उससे पहलेके किसी ग्रन्थमें उन भेद-प्रभेदोंका कथन नही मिलता। जिनमे मिलता है वे सब ग्रन्थ आलापपद्धति के पश्चात के है।

अमृतचन्द्र और पाहुडदोहा

किन्तु अमृतचन्द्रने पञ्चास्तिकाय (गा० १४६) की टीकामें नीचे लिखी गाथा उद्धृत की है—

> 'अतो णत्थि सुईणं कालो थोवो वय च दुम्मेहा।
> तण्णवरि सिक्खियव्व ज जरमरण खइं कुणइ॥'

यह गाथा पाहुडदोहा में ९८वें नम्बर पर स्थित है। अन्य किसी ग्रन्थमें नही पाई जाती। अत यही कहना पडता है कि गाथा अमृतचन्द्रने पाहुडदोहा से ली है।

प्रो० हीरालालजी ने पाहुडदोहा की प्रस्तावना में उसका रचनाकाल सन् १००० ई० के लगभग अनुमान किया है क्योंकि उन्होंने सावयधम्म दोहाको देवसेन की रचना माना है और देवसेनने वि० स० ९९० में या ई० ९३३ में अपना दर्शनसार रचा था। सावयधम्म दोहाके दोहा नम्बर ३० और १२९ तथा पाहुड दोहा के दोहा नम्बर २१५ और ४३ समान है। प्रोफेसर साहवने यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वे दोनो दोहा पाहुडदोहामें सावयधम्मदोहासे लिये गये है। अत उन्होने पाहुड दोहाका उक्त रचनाकाल स्थित किया है।

किन्तु सावयधम्म दोहाका कर्तृत्व विवादग्रस्त रहा है, इसीसे प्रो० हीरा-लालजीने न तो 'सावयधम्म दोहा' पर उसके रचयिताका नाम दिया और न 'क' प्रतिमें पाये जानेवाले उस अन्तिम पद्यको ही मूलमें स्थान दिया, जिसमें 'देवसेनैं उवदिट्ठ' पद आता है जिसके आधारपर उन्होंने सावयधम्म दोहाको देवसेन रचित माना है। परमा० प्रका० की प्रस्तावनामें डा० ए० एन०

उपाध्येने उनके इस मतको मान्य नही किया है और लक्ष्मीचन्दको सावयधम्म दोहाका रचयिता माना है तथा उन्हें श्रुतसागर और ब्रह्मनेमिदत्त (१५२८ ई०) से अधिक प्राचीन वतलाया है।

सावयधम्म दोहामें वर्णित श्रावकाचारके तुलनात्मक परीक्षण से हमारा भी यही मत है कि सावयधम्म दोहा पाहुड दोहासे अर्वाचीन होना चाहिये। पाहुड दोहाका उल्लेख जयसेनने प्रवचनसारकी टीकामें 'दोहकसूत्र' नामसे किया है और एक दोहा उद्धृत किया है। किन्तु सावयधम्म दोहाका उल्लेख आशाधर तकने नही किया, जवकि उन्होंने धर्मामृतकी टीकामें अपने पूर्ववर्ती अनेकों श्रावकाचार विपयक ग्रन्थोका उल्लेख किया है तथा उनसे उद्धरण लिए है। अत. सावयधम्म दोहा आशाधरके सामने उपस्थित नही था ऐसा प्रतीत होता है। अतः आशाधरके पश्चात् और श्रुतसागरसे पूर्व उसकी रचना हुई हो यह संभव है। इसलिये देवसेन रचित होनेके आधारपर दोहा पाहुडको उसके पश्चात्‌की रचना नही माना जा सकता।

डॉ० उपाध्येने उसे जोइन्दु और हेमचन्द्रके मध्यकी रचना माना है। अव चूँकि अमृतचन्द्रने उससे एक गाथा उद्धृत की है अत पाहुड दोहा जोइन्दु और अमृतचन्द्रके मध्यमें किसी समय रचा गया होना चाहिए। और अमृतचन्द्र अमित गतिसे पहले हो गये हैं यह हम ऊपर वतला ही आये है। तथा देवसेनकी आलापपद्धतिसे भी यह परिचित नही थे यह हम लिख आये है।

अमृतचन्द्र और तत्त्वानुशासन

इस सम्बन्धमें एक वात और भी उल्लेखनीय है। देवसेनने अपनी आलाप पद्धतिमें कुछ श्लोक और गाथाएँ भी दी है। उनमेंसे एक गाथा तो कुन्द-कुन्दके ग्रन्थोंमें पाई जाती है। शेप पद्य भी सम्भव है—अन्य ग्रन्थोंसे उद्धृत किये गये हों। उनमेंसे एक श्लोक इस प्रकार है—

'अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्याया प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥१॥'

यह श्लोक रामसेन रचित तत्त्वानुशासनका ११२वाँ श्लोक है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थका उल्लेख जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी टीकामें (पृ० २१२ तक २५३) कई वार किया है। अत यह निश्चित है कि तत्त्वानुशासन जयसेनाचाय (ईसाकी १२वीं शताव्दीका उत्तरार्ध) से पहलेका है। अव यदि उक्त श्लोक देवसेनने तत्त्वानुशासन से लिया है तो तत्त्वानुशासन देवसेनसे पहले का ठहरता है। इसमें मुख्य रूपसे ध्यानका वर्णन है और इसीसे जयसेनाचार्यने इसे ध्यान ग्रन्थ कहा है। यह एक उच्चकोटि का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचनाका मुख्य आधार

कुन्द-कुन्दके ग्रन्थ, उनपर अमृतचन्द्रकी टीका तथा अकलकदेवका तत्त्वार्थ-वार्तिक आदि ज्ञात होते है। ज्ञानार्णवके साथ तुलना करनेसे एकका दूसरेपर कोई प्रभाव ज्ञात नही होता। रत्नकरडश्रावकाचारका 'सद्दृष्टि ज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु' यह पद इसके ५१वें श्लोकका पूर्वार्ध है। यो तो पूरा ग्रन्थ संस्कृतके अनुष्ठुप् श्लोकोमें है किन्तु वीचमें कही-कही आर्यावृत्त भी पाये जाते हैं। एक आर्या इस प्रकार है—

> स च मुक्ति हेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
> तस्मादभ्यसन्तु ध्यान सुधिय सदाप्यपास्यालस्य ॥३३॥

द्रव्य सग्रहकी नोचे लिखी गाथा विल्कुल इसका रूपान्तर जैसी है—

> दुविह पि मोक्ख हेउं झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा।
> तम्हा पयत्तचित्ता यूय झाण समब्भसह ॥४७॥

अत यदि उक्त श्लोक तत्त्वानुशासनसे आलापपद्धतिमें लिया गया है तब तो अमृतचन्द्र और देवसेनके वीचमें काफी कालका अन्तराल होना सभव है। किन्तु यदि ऐसा नही है तो भी यह निश्चित है कि अमृतचन्द्र देवसेनसे पूर्ववर्ती हैं। अत अमृतचन्द्रकी उत्तरकालावधि वि० स० ९५० के लगभग समझना चाहिए। और पूर्वावधि अकलकदेवके पश्चात् समझना चाहिए क्योकि तत्त्वार्थसारकी रचनामें अमृतचन्द्रने अकलकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकका विशेष उपयोग किया है। और उसकी वार्तिको को ही श्लोकोका रूप दे डाला है। यथा—

निमित्तान्तरानपेक्ष सज्ञा कर्म नाम ॥१॥ सोयमित्यभिसम्वन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना ॥२॥ अनागतपरिणामविशेप प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्य ॥३॥ त० वा०।

> या निमित्तान्तर किञ्चिदनपेक्ष्य विधीयते।
> द्रव्यस्य कस्यचित् सज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम् ॥१०॥
> सोऽयमित्यक्षकाष्ठादे सम्वन्धेनान्यवस्तुनि।
> यद् व्यवस्थापनामात्र स्थापना साभिधीयते ॥११॥
> भाविन परिणामस्य यत्प्राप्ति प्रति कस्यचित्।
> स्याद् गृहीताभिमुख्यं हि तद्द्रव्य ब्रुवते जिना' ॥१२॥ त० सा०।

इस तरहके उदाहरणोकी वहुतायत है। अत यह निश्चित है कि अमृत-चन्द्र अकलकदेवके पश्चात् हुए है। अकलकदेवके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी आठवी शताब्दीके पश्चात् नही जा सकती। अत विक्रमकी नौवी और दसवी शताब्दीके अन्तरालमें अमृतचन्द्रका होना सुनिश्चित है। वहुतकुछ सभव तो

यही प्रतीत होता है कि वे दसवी शताब्दीमें हुए हैं। क्योंकि तत्त्वार्थसारके दो नयोंके लक्षणवाले श्लोक विद्यानन्दिकी तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकसे मिलते हैं।

१ तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नय ।

× × ×

तथा प्रस्थादि सकल्प तदभिप्राय इष्यते ॥१९॥ त० श्लो०, (पृ २६९)

× × ×

अर्थसकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नय ।
प्रस्थोदनादिजस्तस्य विषय परिकीर्तित ॥४४॥ त० सा०

२ सग्रहेण गृहीतानामर्थाना विधिपूर्वक ।
योवहारो विभाग स्याद् व्यवहारो नय स्मृत ॥५८॥
त० श्लो० ४ २७१ ।

× × ×

सग्रहेण गृहीतानामर्थाना विधिपूर्वक ।
व्यवहारो भवेद्-यस्माद् व्यवहारनयस्तु स ॥४६॥ त० सा० ।

देवसेन का[1] तत्त्वसार

मुनिनाथ देवसेनके प्राकृत गाथाओंमें रचित तत्त्वसार नामका एक छोटा सा सुन्दर ग्रन्थ है। इसमें केवल ७४ गाथाएँ है।

यह तत्त्वसार कुन्दकुन्दके समयसार आदिसे प्रभावित होकर रचा गया प्रतीत होता है। इसमें तत्त्वके दो भेद किये हैं एक स्वगत और एक परगत। अपनी आत्मा स्वगत तत्त्व है और पच परमेष्ठी परगत तत्त्व हैं। स्वगत तत्त्वके भी दो भेद हैं—एक सविकल्प और एक अविकल्प। सविकल्प तत्त्व सास्रव होता है और अविकल्प तत्त्व निरास्रव होता है। ३-५। इनमें से जो अविकल्प तत्त्व है वही मोक्षका कारण होनेसे सारभूत है। अत निर्ग्रन्थ होकर उसीका ध्यान करनेकी प्रेरणा की गई है ॥९॥

शंका और आकाक्षाके वशीभूत कुछ मार्ग भ्रष्ट विषयासक्त मनुष्य कहते है कि यह काल ध्यानके योग्य नही है। किन्तु आज भी रत्नत्रयके धारी आत्मा ध्यानके द्वारा स्वर्गमें जाते हैं और स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१४-१५॥ ये दोनों गाथाएँ कुन्दकुन्दके मोक्खपाहुडका अनुकरण मात्र हैं। यथा—

चरियावरिया वद समिदि वज्जया सुद्ध भावपब्भट्ठा ।
केई जपति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

---

१. मा० जै० ग्र० बम्बईमे तत्त्वानुशासनादिसग्रहके अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इदत्तं।
लोयतियदेवत्त तत्थ चुआ णिव्वदि जंति ॥७७॥-मो० पा०

× × ×

संकाकखागहिया विसयपसत्था सुमग्गपब्भट्ठा।
एव भणति केई ण हु कालो होइ कालस्स (झाणस्स) ॥१४॥

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जति सुरलोय।
तत्थ चुआ मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाण ॥१५॥-त० सा०।

जिस तरहसे कुन्दकुन्दाचार्यने आत्माका वर्णन निषेधरूपमें किया है कि आत्माके मार्गणा स्थान नही, गुणस्थान नही, वर्णादि नही (स० प्रा० गा० ५०–५५) वैसे ही तत्त्वसार में भी सक्षेपसे आत्माका कथन किया गया है (गा० १९-२१)। तथा आत्मा और कर्मका सम्वन्ध दूध और पानीकी तरह वतलाकर (गा० २३) ध्यानके द्वारा उन दोनोको भिन्न करनेका उपदेश दिया है। तथा व्यवहारनय और निश्चयनयके द्वारा वस्तुका स्वरूप वतलाकर लिखा है कि जो दोनो नयो के द्वारा वस्तु स्वभावको जानता है उसका मन रागद्वेष और मोह से चचल नही होता ॥ (गा० ३९)।

आगे कहा है कि जो आत्मा है वही ज्ञान है, वही दर्शन है और वही चारित्र है। तथा निश्चयनयसे वह सव शुद्ध चैतन्यमय है (गा० ५७)। उसीका ध्यान करनेसे मोहका नाश होता है। और जैसे राजाके मर जानेपर सेना स्वयं ही नष्ट भ्रष्ट हो जाती है वैसे ही मोहनीयकर्मके नष्ट होने पर समस्त घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं (गा० ६५) घातिकर्मोंके नष्ट हो जानेपर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् समस्त कर्मोंको क्षयकरके जीव सिद्ध हो जाता है और लोकके अग्रभागमें निवास करता है (गा० ६६-६७)।

इस तरह कुन्दकुन्दाचार्य की ही शैलीमें इस तत्त्वसारकी रचना की गई है।

रचना काल—इसके रचयिता मुनिनाथ देवसेन हैं। यह वही देवसेन है जिन्होंने विक्रम सवत् ९९०मे धारा नगरीके पार्श्वनाथ चैत्यालयमें दर्शनसारकी रचना की थी। आराधनासार तथा नयचक्र भी इन्हीके वनाये हुए है। दर्शनसार (गा० ४३)में इन्होने लिखा है 'यदि पद्मनन्दिनाथ (कुन्दकुन्दाचार्य) सीमन्धर स्वामीसे प्राप्त दिव्यज्ञानके द्वारा विशेष वोध न देते तो श्रमण सन्मार्गको कैसे जानते?' इससे कुन्दकुन्द स्वामीमें उनकी गहरी आस्था प्रकट होती है। किन्तु अमृतचन्द्राचार्य का उनपर कोई प्रभाव परिलक्षित नही होता। जिससे प्रकट होता है कि अमृतचन्द्रके साहित्यसे वह परिचित नही थे। और इसका कारण यही प्रतीत

होता है कि चूंकि अमृतचन्द्र उनके ममयके लगभग ही हुए थे इस लिये उनके सामने उनका साहित्य नही आ सका था।

स्वरूप सम्बोधन पचविंशति

स्वरूप सम्बोधन नामका एक छोटा सा प्रकरण ग्रन्थ है जो संस्कृतके २५ अनुष्टुप श्लोकोंमें रचा गया है। इसके अन्तिम पद्यमें 'स्वरूप सम्बोधन पञ्चविंशति' पद आता है। जिससे प्रकट होता है कि इसका नाम स्वरूप सम्बोधन है और चूंकि इसकी श्लोक संख्या २५ है अतः उसके अन्तमें पञ्चविंशति पद जोड दिया गया है जैसे 'पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका'।

जैसा कि इसके नामसे प्रकट होता है इसमें अध्यात्म शैलीमें आत्मस्वरूपका सबोध कराया गया है।

इसकी शैली अमृतचन्द्राचार्य रचित समयसार कलशके पद्यो से मिलती है।

इसका प्रथम मगल श्लोक है—

मुक्तामुक्तैकरूपो य कर्मभि संविदादिना।
अक्षय परमात्मान ज्ञानमूर्ति नमामि तम् ॥१॥

यह श्लोक काशीस्थ भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी सस्थासे प्रकाशित समयप्राभृतमें अमृतचन्द्रकी टीकाके अन्तमें छपा हुआ है। किन्तु समयसार कलशके सगृहीत पद्योमें नही पाया जाता। यह मंगल श्लोक अमृतचन्द्रकी रचनासे विल्कुल मेल खाता है। अन्य भी श्लोकोकी प्राय यही शैली है।

किन्तु इस ग्रन्थके रचयिताके सम्बन्धमें मतभेद पाया जाता है। स्व० डॉ० विद्याभूषणने[1] अकलक रचित ग्रन्थोंमें इसका निर्देश किया है। लघीयस्त्रयादि सग्रहमें इसका प्रकाशन भट्टाकलकके नामसे हुआ है। मूडबिद्रीके जैनमठमें[2] इस ग्रन्थकी ताडपत्रीय अनेक प्रतियाँ है। उन सबमें इसके कर्त्ताका नाम आचार्य अकलंकदेव लिखा हुआ है।

सप्तभगी तरगिणी (पृ० ७९)में इसका तीसरा श्लोक 'तदुक्त' अकलकदेवै' करके उद्धृत है। इस तरह इसके अकलकदेव कृत होनेके प्रमाण उपलब्ध है। किन्तु डॉ० ए० एन० उपाध्येने[3] अपने एक लेखमें प्रकट किया था कि कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन मठमें स्वरूप सम्बोधनकी एक कनड़ी टीका मौजूद है उसमें नयसेनके शिष्य महासेनको उसका कर्ता वतलाया है। तथा नियमसारकी सस्कृतटीकामें

---

१ हि० मि० इं० ला०, पृ० २६।

२ क० ता० जै० ग्र० सू०, पृ० ३१।

३ भा० इं० प०।

उसके रचयिता पद्मप्रभ मलधारी देवने 'उक्तञ्च षण्णवति पाषण्डि विजयोपार्जित विशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवै' तथा 'तथा चोक्तं श्री महासेन पण्डित देवै' लिखकर स्वरूप सम्बोधनका १२वा तथा चौथा श्लोक उद्धृत किया है।

किन्तु इस सम्बन्धमें विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि मूडविद्रीके जैनमठमें जो इसकी अनेक प्रतियाँ हैं उनमेंसे अनेक प्रतियोमें संस्कृत तथा कन्नड-टीका भी है। कन्नड ग्रन्थ सूचीमें स्वरूप सम्बोधन पञ्चविंशतिकी प्रतियोंके नीचे जो नोट दिये गये है उनसे यह बात प्रकट होती है। पृ० ३१ पर ग्रन्थ न० २६ के नीचे लिखा है—कन्नड टीकाकार नयसेनके शिष्य महासेन तथा श्रोता सिद्धान्त चक्रवर्ती वासुपूज्य सिद्धान्तदेवके शिष्य पद्मरस है। ग्रन्थ न० १०१ के नीचे लिखा है—वृत्तिकार प० नयसेनके शिष्य पद्मसेन है। ग्रन्थ न० १६२ के नीचे लिखा है—इसमें पण्डित महासेनकृत कन्नडवृत्ति है। यह वृत्ति सूरस्तगणीय वासुपूज्य सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य पद्मरसके वास्ते पण्डित महासेन द्वारा रची गई। पृ० ३२ पर ग्रन्थ नं० ३१६ के नीचे लिखा है—'इसमें नयसेनके शिष्य महासेनकृत संस्कृत टीका तथा सिद्धान्त मुनि वासुपूज्यके शिष्य पद्मरसकृत कन्नड टीका है। ग्रन्थ न० ५१४ के नीचे लिखा है—इसमें पद्मरसकृत कन्नड टीका और साथ ही साथ संस्कृत टीका भी है। ग्रन्थ न० ५२९ के नीचे लिखा है। इसमें केशववर्यकृत कन्नड टीका है। ग्रन्थ न० ५५२ के नीचे एक संस्कृत टीकाका प्रारम्भिक पद्य भी दिया है जो इसप्रकार है—

स्वरूपसम्बोधनाख्यग्रन्थस्यानम्य तन्मुनिम्।
रचितस्याकलङ्केन वृत्तिं वक्ष्ये जिन नमिम्॥

यह संस्कृत टीका किसकी रची हुई है यह उसमें नही लिखा। ग्रन्थ न० ३१६ में जो संस्कृत टीका है उसका रचयिता नयसेनके शिष्य महासेनको बतलाया है। यदि उक्त श्लोक उसी टीका है तो कहना होगा कि टीकाकार महासेन भी, जिन्हें मूलग्रन्थका कर्ता मान लिया गया है, अकलकदेवको ही स्वरूप सम्बोधनका कर्ता मानते थे। और महासेन मूलग्रन्थके कर्ता नही थे वल्कि उसके टीकाकार थे। यदि स्वरूप सम्बोधन अकलकदेवकी ही कृति है, जिसकी उक्त उल्लेखोंसे अधिक सभावना प्रतीत होती हैं और वे अकलक प्रसिद्ध अकलक ही है तो स्वरूप सम्बोधन विक्रमकी ७वी ८वी शताब्दीकी रचना ठहरता है। और उस स्थितिमें अमृतचन्द्रके द्वारा उसकी शैलीका अनुकरण किया जाना सर्वथा सभव है।

शायद टीकाकार महासेनको मूलकार समझकर तो पद्मप्रभदेवने नियमसारकी टीकामें स्वरूप सम्बोधनके पद्योको उनके नाममें उद्धृत नही कर दिया। किन्तु महासेनके साथ लगाये गये विशेषणोंसे ज्ञात होता है 'कि पद्मप्रभ महासेनसे

परिचित थे। किन्तु उपलब्ध महासेनोंमेंसे कोई नयसेनका शिष्य नही है। प्रेमीजीने पद्मप्रभका समय विक्रमकी तेरहवी शताब्दी निश्चित किया है, अत उससे पहले स्वरूप सम्बोधन बन चुका था।

पद्मनन्दिकृत निश्चयपञ्चाशत्

अमृतचन्द्र सूरिने कुन्द-कुन्दके समयसारपर आत्मख्यातिको रचकर अध्यात्मकी जो गंगा प्रवाहित की, उसने उनके पश्चात् होनेवाले अनेक जिन ग्रन्थकारोको अध्यात्मकी ओर आकृष्ट किया, उनमें एक आचार्य पद्मनंदि भी थे। पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाके नामसे उनका एक उपदेश प्रधान ग्रन्थ अति प्रसिद्ध है जिसमें पच्चीस प्रकरण सगृहीत हैं। उन्हींमेंसे एक प्रकरणका नाम निश्चय पञ्चाशत् है।

यह ६२ श्लोकोका प्रकरण समयसार और उसकी आत्मख्याति टीकाके आधारपर रचा गया है। इसमें आत्मख्यातिके अन्तर्गत समयसार कलशाके कई श्लोक भी उद्वृत पाये जाते है। समय सारके सुदपरिचिदाणुभूदा आदि गाथा ४ को लेकर नीचे लिखा पद्य रचा गया है—

श्रुतपरिचितानुभूत सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम्।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धि ॥६॥

इसी तरह समयसारके 'ववहारो भूदत्थो' आदि गाथा ११ को सस्कृतमें रूपान्तरित करके लिखा है—

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनय।
शुद्धनय आश्रिता ये आप्नुवन्ति यतय पद परमम् ॥९॥

इसीतरह इसके प्रारम्भिक पद्योंमें अमृतचन्द्राचार्यके पुरुपार्थ सिद्धचुपायके श्लोकोकी झलक भी प्रतीत होती है। तथा श्लोकोमें आत्मख्यातिकी झलक स्पष्ट है।

इस ग्रन्थके अन्तर्गत अन्य भी कई प्रकरण ऐसे है जिनमें लेखककी अध्यात्म दृष्टि सन्निहित है। उसमें एक प्रकरणका नाम 'एकत्व सप्ततिका है। इस प्रकरणके इसी नामसे अनेक पद्य पद्मप्रभ मलधारि देवने अपनी नियमसार टीकामें उद्धृत किये है। एकत्व सप्ततिमें चैतन्य स्वरूप आत्माको ही सब कुछ बतलाते हुए यहाँ तक लिखा है कि वही महती विद्या है। वही मंत्र तंत्र और जन्म जरा रूपी रोगोंकी औपधि है ॥४९॥ उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माकी उपासनाका उपाय है एक मात्र साम्य भाव। साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध, और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाचक हैं ॥६४॥

इस तरह ये छोटे-छोटे प्रकरण बहुत ही सुन्दर सरल संस्कृतमें रचे गये हैं और उनमें सारभूत तत्त्व भर दिया गया है।

समय विचार—आचार्य पद्मनन्दिने पहले प्रकरणके अन्तमें अपने गुरु वीर नन्दि को नमस्कार किया है। जिससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि उनके गुरूका नाम वीरनन्दि था। जम्वूद्वीप पण्णत्तिके कर्ताका नाम भी पद्मनन्दि है किन्तु उनके गुरुका नाम वलनन्दि और प्रगुरुका नाम वीरनन्दि है। अत इन दोनोका ऐक्य सभव प्रतीत नही होता। पद्मनन्दि नामके अन्य भी अनेक आचार्य होगये हैं जिनका निर्देश जम्वूद्वीप पण्णत्तिके कर्ताका समयविचार करते हुए पहले किया जा चुका है। अत पद्मनन्दी आचार्यके नामके आधारपर समय निर्णय कर सकना तो अशक्य ही है।

१ यह निश्चित है कि यह पद्मनन्दी अमृतचन्द्र (विक्रमकी दसवी शती) के पश्चात् हुए है। क्योकि उनके उक्त प्रकरणोपर उनके ग्रन्थोका प्रभाव है। अत उनकी पूर्वावधि विक्रमकी दसवी शतीका अन्तिम भाग समझना चाहिए।

२ जयसेनाचार्यने अपनी पञ्चास्तिकायकी टीका (४ २३५) में नीचे लिखा पद्य तथा चोक्तमात्माश्रितनिश्चयरत्नत्रयलक्षण, लिख कर उद्धृत किया है—

'दर्शनं निश्चय पुसि वोध स्तद्वोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योग शिवाश्रय ॥'

पद्मप्रभ मलधारिदेवने यही पद्य नियमसारकी टीका (४ ४७) में 'तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ' लिखकर उद्धृत किया है। उक्त पद्य पद्मनन्दिकी एकत्व सप्तति का १४वाँ श्लोक है। अत यह निश्चित है कि उक्त पद्मनन्दि जयसेनाचार्यसे पहले हुए हैं। डॉ० उपाध्येने जयसेनका समय ईसाकी वारहवी शताब्दीका उत्तरार्ध निश्चित किया है। इसे पद्मनन्दिकी उत्तरावधि मानना चाहिए। अत पद्मनन्दि विक्रमकी दसवी शताब्दीके अन्तसे लेकर विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके आरम्भ तकके कालमें किसी समय हुए हैं।

पद्मप्रभ मलधारीने भी अपनी नियमसार टीकाके प्रारम्भमें अपने गुरु वीरनन्दिको नमस्कार किया है। श्री प्रेमीजीने[1] इसपरसे पद्मप्रभ और पद्मनन्दिके एक ही गुरुका शिष्य होनेकी संभावना करके दोनोके समकालीन होनेका अनुमान किया है तथा एक शिलालेखके आधारपर पद्मप्रभ और उनके गुरु वीरनन्दिको वि० स० १२४२ में विद्यमान वतलाया है।

किन्तु पद्मप्रभसे पूर्व जयसेनाचार्यने पद्मनन्दि की एकत्व सप्ततिसे पद्य उद्धृत किया है। और पद्मप्रभने जयसेनकी टीकाओको देखा था, यह उनकी टीकाके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है। अत पद्मनन्दि और पद्मप्रभके मध्यमें जयसेनाचार्य हुए हैं यह निश्चित है।

---

१ जै० सा० ई०, पृ० ४०७।

जयसेनने अपनी पचास्तिकायटीकाके आरम्भमें (९.८) वीरनन्दिके आचारसारसे दो पद्य (४।९५-९६) उद्धृत किये हैं। और वीरनन्दिने अपने आचारसार पर एक कन्नड टीका लिखी थी जो उन्होंने वि० स० १२१० में पूर्ण की थी। अत आचारसार उमसे कुछ पहले रचा गया था यह निश्चित है। और प्रेमीजी के कथनानुसार पद्मप्रभ और उनके गुरु १२४२ वि० सं० में विद्यमान थे। तो कहना होगा कि विक्रमकी १३वी शताब्दीके प्रारम्भमें आचारसार रचा गया, और उमके प्रथम चरणके अन्तमें जयसेनाचार्यने अपनी टीकाए रची और द्वितीय चरणके अन्तमें पद्मप्रभने नियमसारकी टीका रची। अत पद्मनन्दिने अपनी एकत्वसप्तति आचारसारके समकालके लगभग तो अवश्य रची होनी चाहिये। ऐसी स्थितिमें उनका पद्मप्रभ मलधारी देवके गुरु वीरनन्दिका शिष्य होना सम्भव प्रतीत नही होता है। आचारसारके कर्ता वीरनन्दिके शिष्य होनेमें भी कोई प्रमाण उपलब्ध नही है।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पद्मनन्दि अमितगतिके पश्चात् हुए हैं। उनकी पद्म-पचवि०के क्रियाकाण्ड चूलिका नामक अधिकारमें एक पद्य इस प्रकार है—

मनोवचोऽङ्गैः कृतमङ्गिपीडनं
प्रमोदित कारितमत्र यन्मया।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रय
तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृत मम ॥११॥

अमितगति सूरि रचित 'द्वात्रिंशतिका' के नीचे वाले पद्यकी झलक इस पद्यमें मिलती है।

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिन
प्रमादत सचरता इतस्तत।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥

अमित गतिने विक्रम सम्वत् १०७३ में अपना पच सग्रह रचा था। अत पद्मनन्दि विक्रमकी बारहवी शताब्दीमें हुए है।

टीकाकार जयसेन

आचार्य जयसेनने भी अमृत चन्द्रकी तरह आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय नामक ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखी हैं और तीनो टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

जयसेनने समयसारकी टीकामें अमृतचन्द्रके नामका उल्लेख किया है और उनकी टीकासे कुछ पद्य भी यथास्थान उद्धृत किये है। अत यह सुनिश्चित है कि जयसेनके सन्मुख अमृतचन्द्रकी टीका थी। फिर भी जयसेनकी टीकाकी शैलीमें अमृतचन्द्रसे भिन्नता हैं तथा मूल ग्रन्थकी गाथासख्यामें भी अन्तर है। अमृतचन्द्रके अनुसार समयसारकी गाथा सख्या ४१५ है किन्तु जयसेनके अनुसार ४४५ है।

अमृतचन्द्र जैसे मनीषीकी टीकाके सामने रहते हुए भी जो जयसेनाचार्यने अतिरिक्त गाथाओको अपनी टीकामें सम्मिलित किया और विशिष्ट पाठोको स्थान दिया, इसका कारण यह तो होगा ही कि उनके सामने मूल ग्रन्थकी अधिक गाथावाली तथा विशिष्ट पाठवाली प्रति रही है। किन्तु इससे उनकी स्वतत्र विचारशीलता तथा पाण्डित्य भी प्रकट होता है। जयसेन प्रथम प्रत्येक गाथाके पदोका शब्दार्थ देते हैं। पीछे 'अयमत्राभिप्राय' आदि लिखकर उसका स्पष्टीकरण करते हैं। अत उन्होने अपनी टीकाओंको जो 'तात्पर्यवृत्ति' नाम दिया है वह यथार्थ प्रतीत होता है। उनकी टीकामे प्राय समस्त मूल ग्रन्थ शब्दश समाविष्ट है।

उनकी टीकामें उद्धरणोकी भी विशेषता है जिससे प्रकट होता है कि अध्यात्मवित् होते हुए भी वह ग्रन्थावलोकनके प्रेमी थे। समयसारकी टीका[1]में अनेक प्राकृत गाथाएँ तथा श्लोक उद्धृत हैं। गाथाएँ सिद्धभक्ति, मूलाचार, परमात्मप्रकाश, गोमट्टसार आदिकी हैं। किन्तु कुछ गाथाएँ ऐसी भी है जो उपलब्ध ग्रन्थोंमें नही मिलती। इसी तरह अनेक श्लोको के भी मूलस्थानका पता नही चलता। स्वयभूस्तोत्र, रत्नकरड श्रावकाचार तथा इष्टोपदेशके भी श्लोक उद्धृत है। एक श्लोक पञ्चास्तिकायके[2] नामसे उद्धृत किया है। यह सस्कृतका पञ्चास्तिकाय कब किसने बनाया कुछ ज्ञात नही।

कुन्दकुन्दके तीनो प्राभृतों पर रचित टीकाओंके सिवाय इन जयसेनाचार्यकी अन्य किसी कृतिका पता नही चलता।

समय विचार—प्रवचनसारके तात्पर्यवृत्तिटीकाके पश्चात् एक छोटी सी प्रशस्ति मुद्रित है जिसे टीकाकारकी प्रशस्ति बतलाया है। किन्तु वह प्रशस्ति टीका-

---

१ पृ० ११२, ११३, १६७, १७०, १९४, २०९, २१०, २११।

२ तत्र शुद्धपारिणामिकस्य बधमोक्षस्य कारणरहितत्व पञ्चास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते—'मोक्ष कुर्वन्ति मिश्रौपशमिक क्षायिकाभिधा। बन्धमौदयिको भावो निष्क्रिय पारिणामिक।'—सम० सा०, पृ० २०९।

कारसे सम्बद्ध होनेपर भी स्वय टीकाकारके द्वारा नही रची गई है, किन्तु उनके किसी शिष्यादिके द्वारा रची गई। प्रशस्तिमें कुल आठ श्लोक है, किन्तु बीचमें अर्थ स्पष्ट न हो सकनेसे त्रुटित प्रतीत होती है। उसके प्रथम श्लोकमें कुमुदेन्दुको नमस्कार किया है। आगे लिखा है कि मूलसघमे श्रीवीरसेन नामक निर्ग्रन्थ तपस्वी मुनि हुए। उसके पश्चात् गणी श्रीसोमसेन हुए। उनके शिष्य तपस्वी जयसेन है।

इससे जयसेनाचार्यके गुरु और प्रगुरुका नाम ज्ञात हो जाता है। किन्तु वे कब हुए यह ज्ञात नही होता। और इसके निर्णयके लिए जयसेनके द्वारा अपनी टीकाओंमें उद्धृत पद्योंका ही सहारा लेना पडता है। यह हम ऊपर लिख आये है कि जयसेनाचार्यने अपनी टीकाओंमें बहुत से श्लोक और गाथाएँ अन्य ग्रन्थोंसे उद्धृत की है। कुछ गाथाओंके तो स्थलोंका पता लग जाता है किन्तु श्लोकों का तो पता ही नही लगता और उद्धृत श्लोकोकी सख्या अधिक है। कुछ ग्रन्थो का भी नामोल्लेख किया है—यथा द्रव्य सग्रह, तत्त्वानुशासन, चारित्रसार, त्रिलोकसार, लोकविभाग आदि।

१ इनमेंसे चारित्रसारकी रचना चामुण्डरायने की है। और त्रिलोकसार इन्हीके समकालीन नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने रचा है। चामुण्डरायने अपना चामुण्डराय पुराण श० स० ९०० अर्थात् वि० सं० १०३५ में समाप्त किया था। अत निश्चित है कि जयसेन विक्रमकी ११ वी शताब्दीके पूर्वार्धसे पहले नही हुए।

२ उन्होने अपनी पञ्चा० टी० (पृ० ८) में दो पद्य उद्धृत किये है जो वीरनन्दिके आचारसार (४-९५, ९६) के हैं। कर्नाटक कवि चरितेके अनुसार इन वीरनन्दि ने अपने आचारसार पर एक कन्नड टीका सन् १०७६ (वि० स० १२११) में लिखी थी। अत निश्चित है कि जयसेन विक्रमकी बारहवी शताब्दीके पश्चात् हुए है।

डॉ० उपाध्येने लिखा[१] है कि नयकीर्तिके शिष्य बालचन्द्रने कुन्दकुन्दके तीनो प्राभृतो पर कन्नडमें टीका लिखी है और उनकी टीकाका मुख्य आधार जयसेनकी टीकाएं हैं। उनकी टीका रचनाका काल ईसाकी तेरहवी शताब्दी का प्रथम चरण है। अत जयसेनने अपनी टीकाए ईसाकी बारहवी शताब्दी के उतरार्धमें अर्थात् विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके पूर्वार्ध में रची हैं।

प्रभाचन्द कृत टीका

स्व० रायबहादुर हीरालाल कृत मध्य प्रदेश और बरारके सस्कृत और

१ प्रव-सा०, की प्रस्ता०, पृ० १०४।

प्राकृत ग्रन्थोके कैटलागमें कारजाके बलत्कारगणके भण्डारमें प्रभाचन्द्रकृत समयसार टीकाका नाम दिया हुआ है। प्रवचनसारकी अग्रेजी प्रस्तावनामें डॉ० उपाध्येने प्रवचनसारकी प्रभाचन्द्र कृत प्रवचनसरोज भास्कर नामकी सस्कृत टीकाका उल्लेख किया है और लिखा है कि प्रवचनसारके इस सस्करणके सम्पादनमें उसका उपयोग किया है। उन्होने यह भी सभावना की है कि प्रभाचन्द्रने कुन्दकुन्दके शेष दोनो ग्रन्थों पर भी अर्थात् समय प्राभृत और पञ्चास्तिकाय पर भी टीकाए रची होगी।

प्रवचनसरोज भास्करके कर्ता प्रभाचन्द्रका समय निर्णीत करते हुए डॉ० उपाध्येने[1] श्रुत मुनिकी प्राकृत भावत्रिभगीकी प्रशस्तिका उल्लेख किया है। श्रुत मुनिने प्रभाचन्द्रको अपना शास्त्रगुरु बतलाया है और उन्हे 'सारत्रयनिपुण' लिखा है। श्रुतमुनिने अपने परमागमसारकी[2] प्रशस्तिके अन्तमें भी प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हुए उन्हें सारत्रयमें निपुण कहा है—वे सारत्रय हैं, समयसार प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय। अत इन्ही प्रभाचन्द्र को प्रवचन सरोज भास्करका कर्ता उन्होने माना है। श्रुतमुनिने परमागमसार को शक स० १२६३ (ई० सन् १३४१) में समाप्त किया था। अत प्रभाचन्द्रको उन्होंने ईसाकी १४वी शताब्दी के प्रथमचरणमें हुआ बतलाया है। यदि यही प्रभाचन्द्र समयसार की उक्त टीकाके रचयिता हैं तो उनका समय भी यही होना चाहिये।

पूज्यपाद के समाधितत्रपर भी प्रभाचन्द्र नामके अचार्यकी एक टीका[3] है जो प्रकाशित हो चुकी है। वह टीका मूल ग्रन्थके श्लोकोंके पदोंको लेकर उनकी व्याख्या रूप है। जैसे प्रसन्न और लघुकाय मूल श्लोक है वैसी ही प्रसन्न और लघुकाय टीका भी है। उससे श्लोकोका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

टीकाके अन्तमें प्रशस्ति रूपसे एक पद्य है जिसमें टीकाकारने अपना सक्षिप्त नाम प्रभेन्दु मात्र दिया हैं। उसके सिवाय अपने सम्बन्धमें कुछ भी नही लिखा। उसके पश्चात् अन्तिम वाक्य है—'इति श्रीपण्डित प्रभाचन्द्रविरचिता समाधितत्र टीका समाप्ता।

इस टीकाके सम्पादक प० श्री जुगल किशोरजी मुख्तारने अपनी प्रस्तावनामें

---

१ प्रव-सा० की प्रस्ता०, पृ० १०८-१०९।

२ जै० ग्र० प्र० स०, १ भाग, पृ० १९१।

३ यह टीका वीर सेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर) से प्रकाशित हुई है। और इसके सम्पादक पं० जुगलकिशोर मुख्तार हैं।

लिखा है कि वह टीका उन्ही प्रभाचन्द्रकी है जिन्होने समन्तभद्रके रत्नकरड श्रावकाचारकी टीका बनाई है। इसके लिये उन्होंने दोनो टीकाओ मे कुछ वाक्यादि उद्धृत करके उनकी समानताकी पुष्टि की है। रत्नकरडश्रावकाचार की अपनी विद्वतापूर्ण विस्तृत प्रस्तावनामें मुख्तार साहबने प्रभाचन्द्र नामके अनेक आचार्यों भट्टारको और मुनियोका सक्षिप्त परिचय दिया है तथा रत्नकरण्ड टीकाके कर्ता प्रभाचन्द्रको विक्रमकी १३वी शताब्दीका विद्वान सिद्ध किया है। चूकि मुख्तार सा० के मतानुसार समाधितत्रकी टीका भी उन्ही प्रभाचन्द्रकी है। अत उन्होने इसको विक्रमकी तेरहवी शताब्दीकी रचना वतलाया है। किन्तु मूडविद्रीके[1] जैनमठमें इस टीकाकी ताडपत्रीय प्रतिके अन्तमें लिखा है—'श्री जयसिह देव राज्ये श्रीमद्धारा निवासिना परापर परमेष्ठि-प्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन समाधिशतक टीका कृतेति।' यह वही प्रसिद्ध वाक्य है जो आवश्यक परिवर्तनके साथ प्रभाचन्द्र विरचित 'प्रमेयकमल मार्तण्ड, गद्यकथाकोश' आदि ग्रन्थोके अन्तमें पाया जाता है। प्रमेयकमल मार्तण्ड में 'भोजदेवराज्ये' है। किन्तु न्याय कुमुदचन्द्रके अन्तमें 'जयसिहदेवराज्ये' है। जयसिह देव भोज देवके उत्तराधिकारी थे और भोजदेवकी मृत्युके वाद ई० १०५६–५७ में मालवाके सिहासनपर वैठे थे। इन्ही दोनोंके समयमें प्रसिद्ध नैयायिक और दार्शनिक प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रोदय नामके ग्रन्थोकी रचना की थी। समाधितत्र टीकाकी ताडपत्रीय प्रतिमें पाये जानेवाले उक्त वाक्यसे तो यही प्रतीत होता है कि उक्त टीका उन्ही प्रभाचन्द्रकी है। उसमें एक जगह[2] उक्त दोनों ग्रन्थोका उल्लेख भी है। न्यायाचार्य प० महेन्द्र कुमारजी ने प्रमेयकमलमार्तण्डकी प्रस्तावनामें समाधितत्र टीका को तथा प्रवचनसरोज भास्करको भी उन्ही प्रभाचन्द्रकी कृति माना है। प्रवचन सरोज भास्कर तो हमारे सामने उपस्थित नही है। और समाधितत्र टीकामें ऐसे कोई सवल प्रमाण नही है जिनके आधार पर निश्चित रूपसे यह कहा जा सकता हो कि यह टीका प्रमुक प्रभाचन्द्रकृत ही है।

टीकाकार पद्मप्रभ मलधारिदेव

कुन्दकुन्द रचित नियमसारको हमने द्रव्यानुयोगके तत्त्वार्थ विभागके अन्त-

---

१ क० ता० ग्र० सू०, पृ० २९।

२ 'ये पुनर्योगसाख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरत प्रत्याख्याता।'—

स० त० टी०, पृ १५।

र्गत रखा है। इसीसे यहाँ उसका परिचय नही दिया है। किन्तु उसके टीकाकार पद्मप्रभ मलधारीदेवने अमृतचन्द्राचार्यकी शैलीमें ही उसकी टीका की है। इसी लिये उसका उल्लेख इस प्रकरण में किया जाता है।

पद्मप्रभदेव ने इस टीकामे अमृतचन्द्रके अनेक पद्योको ही उद्धृत नही किया है किन्तु उन्हीकी शैलीको अपनाकर टीकाके अन्तर्गत अनेक पद्य भी वीच-वीच में रचे हैं। जयसेन की अपेक्षा पद्मप्रभ ने अमृतचन्द्रकी शैलीको अधिक अपनाया है, उन्ही की तरह सुललित गद्यात्मक शैलीमें टीकाका निर्माण किया है।

किन्तु जयसेनाचार्यकी तरह ग्रन्थान्तरोसे उद्धरण वहुतायतसे दिये है। इस तरहसे उन्होने कुन्दकुन्दाचार्यके अपने पूर्ववर्ती दोनो टीकाकारोका अनुसरण किया है। उन्होने अपनी टीकामें पद्य उद्धृत करते हुए समन्तभद्र, पूज्यपाद, योगीन्द्रदेव, विद्यानन्दि, गुणभद्र, अमृतचन्द्र तथा सोमदेव पण्डित, वादिराज, महासेन नामके आचार्योका तथा समयसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, उपासकाध्ययन, अमृताशीति, मार्गप्रकाश, प्रवचनसारव्याख्या, समयसारव्याख्या एकत्व सप्तति, तत्त्वानुशासन, श्रुतविन्दु नामके ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। इसमें मार्ग प्रकाश नामक ग्रन्थका अन्यत्र उल्लेख नही मिलता।

पद्मप्रभने अपनेको सुकविजनपयोज मित्र, पञ्चेन्द्रिय प्रसर वर्जित, और गात्रमात्रपरिग्रह लिखा है। यह जयसेनके पश्चात् विक्रमकी तेरहवी शताव्दीके मध्यमें हुए है। और जयसेनके लघु समकालीन प्रतीत होते हैं।

अन्य टीकाएँ—मल्लिषेण नामके एक आचायने भी समयसारादि पर टीका रची थी और वह जैनमठ श्रवणवेलगोला में है, ऐसा मैसूर कुगके संग्रह में लिखा है। सी० पी० और वरारके सस्कृत प्राकृत ग्रन्थोके कैटलाग में (५ ६६३-६७१) मल्लिषेण आचायकृत पञ्चास्तिकाय और-प्रवचनसार पर टीका होनेका निर्देश है, किन्तु समयसार पर भी मल्लिषेणने टीका लिखी थी इसका समर्थन अन्यत्रसे नही होता। पीछे हम देख आये है, कि टीकाकारोने कुन्दकुन्दके प्राय तीन प्राभृतों पर टीकाए रची है। अत संभव है, मल्लिषेणने भी तीनो प्राभृतोपर टीका रची हो। यह मल्लिषेण कौन हैं और कव हुए है, विना किसी आधारके कुछ कहना सभव नही है।

इष्टोपदेश टीका[1]

विक्रमकी तेरहवी शताव्दीमें[2] आशाधर नामके एक महान ग्रन्थकार हो गये

१ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वम्वईसे 'तत्वानुशासनादि सग्रह' के अन्तर्गत।

२ आशाधरका विस्तृत परिचय जानने के लिए देखें—जै० सा० इ०, पृ० ३४ आदि।

है। उन्होने प्रत्येक विषय पर अपनी लेखनी चलाई है और लगभग बीस ग्रन्थोकी रचनाओको जन्म दिया है। वे न केवल जैनशास्त्रोमें ही निष्णात थे, बल्कि इतर शास्त्रोमें भी उनकी अव्याबगति थी। जैनधर्मका उनका अध्ययन तो बडा-विशाल था। उनके टीकाग्रन्थोको देखनेसे पता चलता है कि उन्होंने अपने समयके उपलब्ध तमाम जैनग्रन्थोका तलस्पर्शी अवगाहन किया था। उनकी टीकाएं जैन और जैनेतर ग्रन्थोके उद्धरणोसे भरपूर है। अपने ग्रन्थोकी अन्तिम प्रशस्तियो में उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया है।

वे मूलमें माडलगढ (मेवाड) के निवासी थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणो से त्रस्त होकर मालवाकी राजधानी में आकर बस गये थे। वे बघेरवाल जातिके वैश्य थे।

उनके द्वारा रचित ग्रन्थोमें से एक 'अध्यात्म रहस्य' नामका ग्रन्थ था जो अभीतक अप्राप्य है। इसके नामसे प्रकट है कि यह अध्यात्मविषयका मार्मिक ग्रन्थ होना चाहिए। उसके सिवाय प्रकृत विषयसे सम्बद्ध ग्रन्थोमें उन्होने पूज्यपादके इष्टोपदेशपर एक टीका लिखी है, जो प्रकाशित हो चुकी है।

इस ग्रन्थकी श्लोकसख्या ५१ है। जैसा मूलग्रन्थ छोटा-सा है तदनुरूप ही उसकी टीका भी है। किन्तु प० आशाधर जी ने उसके अन्तर्गत मूल श्लोकोकी संख्याके लगभग ग्रन्थान्तरों से पद्य उद्धृत किये हैं। उद्धृत[1] पद्योमें से कुछ पद्य कुन्दकुन्दाचार्यके पञ्चास्तिकाय, अकलकदेवके लघीयस्त्रय, गुणभद्र के आत्मानुशासन, गोम्मटसार जीवकाण्ड, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, अमृतचन्द्रकी आत्मख्याति टीका, पुरुषार्थसिद्धयुपाय और तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थोंसे दिये गये हैं और इस दृष्टिसे छोटी-सी टीका भी काफी समृद्ध है।

श्लोकके पदोका अर्थ करके उसका व्याख्यान किया गया है तथा शिष्यके द्वारा शका उठाकर उसके समाधान द्वारा प्रकृत विषयको स्पष्ट किया गया है।

टीकाकार ब्रह्मदेव

अध्यात्मशैलीके टीकाकारोंमें ब्रह्मदेवका नाम उल्लेखनीय है। उनके दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध हैं, एक परमात्मप्रकाश-टीका और एक बृहद्द्रव्यसग्रह टीका। अपनी टीकाओमें उन्होने अपने सम्बन्धमें कुछ भी नही लिखा। केवल बृहद्द्रव्य-सग्रहकी अन्तिम पुष्पिकामें उनका नाममात्र आया है। परमात्मप्रकाशकी टीकाके अन्तमें उसका भी अभाव है।

बृ० द्र० स० की भूमिकामें प० जवाहरलालजीने लिखा था कि ब्रह्म उनकी

---

१. तत्त्वानुशासनादिसग्रह—पृ० ३३, ३०, ३६, ४३, ४१, ५२, ४८, ४९।

उपाधि है जो वतलाती है कि वे ब्रह्मचारी थे और देव उनका नाम है । यद्यपि कई ग्रन्थकारोंने अपने नामके प्रारम्भमें ब्रह्म शब्दका उपयोग उपाधिके रूपमें किया है, यथा—आराधना-कथाकोशके कर्ता ब्रह्म नेमिदत्तने, श्रुतस्कन्धके रचयिता ब्रह्म हेमचन्द्रने तथा अनेक ग्रन्थोके रचयिता ब्रह्म श्रुतसागरने। किन्तु ब्रह्मदेवमें ब्रह्म नाम उपाधिसूचक प्रतीत नही होता। किन्तु ब्रह्मसेन, ब्रह्मसूरि आदि नामोंकी तरह यह पूरा नाम ही प्रतीत होता है। फिर भी यह सभव है कि वे भी ब्रह्मचारी ही हों।

ब्रह्मदेवजी जैनसिद्धान्तके तो अच्छे ज्ञाता थे ही, इतर दर्शनोके भी ज्ञाता थे। उनकी विद्वत्ताका प्रभाव वृहद्द्रव्यसग्रहकी टीकामें प्रतिफलित हुआ है। उसमे उन्होंने कतिपय गाथाओंके व्याख्यानमें जैनसिद्धान्तकी वहुत-सी वातोकी सुन्दर जानकारी करायी है। यथा—गाथा १०की व्याख्यामें समुद्घातका, गाथा १३की व्याख्यामें गुणस्थानों और मार्गणाओका, गाथा १४ के व्याख्यानमें सिद्धोके गुणोका, गाथा ३५ के व्याख्यानमे वारह अनुप्रेक्षाओंका और उनमेंसे भी लोकानुप्रेक्षाके अन्तर्गत तीनों लोकोका वहुत ही विस्तारसे कथन किया है। इसी तरह कुछ सैद्धान्तिक चर्चाएँ भी महत्त्वपूर्ण है। यथा—गाथा ५के व्याख्यानमें मतिज्ञान के परोक्षत्व और साव्यवहारिक प्रत्यक्षकी चर्चा की है, गाथा ४४ की व्याख्यामें दर्शनोपयोगकी प्रचलित व्याख्या सामान्यावलोकनका निर्देश करके 'अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते' लिखकर घवलामें प्रतिपादित सैद्धान्तिक व्याख्या की है, और फिर इन दोनो व्याख्याओका दृष्टिभेदसे समन्वय भी किया है। गाथा ५० की व्याख्यामें सर्वज्ञके विरोधमें पूर्वपक्ष भट्ट चार्वाकका वतलाया है जो भट्ट मीमासकका होना चाहिए था।

इस टीकामें दो ऐसे ग्रन्थोंका नाम आया है जो अनुपलब्ध हैं। उनमेंसे एकका नाम पञ्चपरमेष्ठी[1] और दूसरेका पञ्चनमस्कार वतलाया है। गाथा १३की टीकामें 'गुणजीवापज्जती'[2] आदि गाथाको उद्धृत करके लिखा है—'इस गाथाके द्वारा जो कथन किया है वही घवल, जयघवल महाधवल नामक तीनो ग्रन्थोंका वीजपद है।' इससे प्रकट होता होता है कि ब्रह्मदेवजीने इन ग्रन्थोका नाममात्र ही सुना था। स्वय उनके अवलोकनका सौभाग्य उन्हें प्राप्त नही हुआ था।

परमात्मप्रकाशवृत्ति—परमात्मप्रकाशकी टीकामें वृहद्द्रव्यसग्रहकी टीकाकी तरह सैद्धान्तिक चर्चाएँ नही है। इसका कारण यह भी है कि परमात्म प्रकाश एक

१ 'विस्तरेण पञ्चपरमेष्ठीग्रन्थकथितक्रमेण, अतिविस्तरेण तु सिद्धचक्रादि-देवार्चनविधिरूपमत्रवादसम्बन्धि-पञ्चनमस्कारग्रन्थे चेति'—वृहद्द्र० स० टी० गा० ५४।

२ इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूप धवल-जयधवलप्रवन्धाभिधानसिद्धान्तत्रय-वीजपदं सूचितम्।'—वृहद्द्र० स०, टी०, गा० १३।

भावनात्मक ग्रन्थ है, उसमें किन्ही सैद्धान्तिक तत्त्वोंका प्रतिपादन नही है। फिर भी जहाँ अवसर मिल सका, ब्रह्मदेवजी सम्बद्ध विषयकी चर्चासे विरत नही रह सके।

यथा, गाथा २।१७ के व्याख्यानमें यह शका की है कि यहाँ आपने कहा कि निश्चय सम्यक्त्व वीतराग चारित्रका अविनाभावी होता है। किन्तु निश्चय सम्यक्त्व तो गृहस्थ अवस्थामें भी रहता है परन्तु वहाँ वीतराग चारित्र नही रहता। अत पूर्वापर विरोध आता है। 'तत्र परिहारमाह' लिखकर उसका परिहार भी किया गया है।

गाथा २।३३ के व्याख्यानमें प्रभाकरभट्ट शका करता है—यहाँ आपने कहा है कि जो शुद्धात्माका ध्यान करते हैं, वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं। किन्तु [1]चारित्रसार वगैरहमें कहा है कि द्रव्य-परमाणु, भाव-परमाणुका ध्यान करनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अत हमारा इसमें सन्देह है। इसी तरह यथास्थान शंका-समाधान किये गये है जो तात्त्विक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है।

शैली—ब्रह्मदेवजी ग्रन्थके प्रारम्भमें ही उसकी विषयसूची दे देते हैं कि 'इत्यादि गाथाएँ इन-इन विषयोसे सम्बद्ध हैं।' यह क्रम उनकी दोनों टीकाओंमें वर्तमान है। दोनो ही टीकाओंके[2] आरम्भमें उन्होने शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ,

---

१ "चारित्रसारादौ पुनर्भणित द्रव्यपरमाणु भाव परमाणु वा ध्यात्वा केवलज्ञान-मुत्पादयन्तीत्यत्र विषये अस्माक सन्देहोऽस्ति। अत्र श्रीयोगीन्द्रदेवा परिहारमाहु। तत्र द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्व ग्राह्यम् न च पुद्‌गलद्रव्यपरमाणु। तथा चोक्त सर्वार्थसिद्धि-टिप्पणके—द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्व भावपरमाणुशब्देन भाव-सूक्ष्मत्वमिति।"—पर० प्र० टी०, पृ० १६९।

२ 'अत्र पदखण्डनारूपेण शब्दार्थ कथित। शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्थोऽप्युक्त। इदानी मतार्थ कथ्यते आगमार्थ' पुन 'अस्त्यात्मानादि-वद्ध' इत्यादि प्रसिद्ध एव। शुद्धनयाश्रित जीवस्वरूपमुपादेय शेषं च हेय इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यववोद्धव्य.। एव शब्द-नय-मतागम भावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्य।'—वृ० स० टी०, गाथा० २।
'एव पदखण्डनारूपेण शब्दार्थ कथितः। नयविभागकथनरूपेण नयार्थो भणित। वौद्धरादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोऽपि निरूपित। एव गुण-विशिष्टा सिद्धा मुक्ता सन्तीत्यागमार्थ प्रसिद्ध। अत्र नित्यनिरञ्जनज्ञान-मयरूप परमात्मद्रव्यमुपादेयमिति भावार्थ.। अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागम-भावार्थो व्याख्यानकाले यथासभव सर्वत्र ज्ञातव्य।

—प० प्रका०, टी० पृ० ७-८।

आगमार्थ और अन्तमें भावार्थ कहनेकी पद्धतिको स्वीकार किया है और प्राय तदनुसार ही गाथाओंका व्याख्यान किया है।

इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि दोनो टीकाओके कर्ता ब्रह्मदेव जी ही हैं। यह बात इसलिए लिखनेकी आवश्यकता हुई कि परमात्मप्रकाशकी टीकामें टीकाकारका नाम नही है, किन्तु हिन्दी-टीकाकार दौलतरामजी परमात्मप्रकाशकी सस्कृतवृत्तिको ब्रह्मदेवरचित कहते हैं।

परमात्मप्रकाशकी टीकाके अन्तमें ब्रह्मदेवजीने लिखा है—इस ग्रन्थमें अधिकतर पदोकी सन्धि नही की गयी है और सुखपूर्वक बोध करानेके लिए वाक्य भी जुदे-जुदे रखे गये हैं। अत विद्वानोको इस ग्रन्थमें लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष्य, विशेषण, वाक्यसमाप्ति आदि दूषण नही देखने चाहिए।'

इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मदेवजीने अपनी यह टीका सरल सस्कृतमें लिखी है जिससे साधारण ज्ञाता भी उसका लाभ उठा सके। वृ० द्रव्यसग्रहकी टीकामें इस तरहकी कोई बात नही लिखी है, क्योकि उसकी रचना इस दृष्टिसे नही की गयी है।

ब्रह्मदेवजीकी इन टीकाओंसे उनके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नही होता, अत उनके समयका निश्चय करनेके लिए ग्रन्थमें उद्धृत ग्रन्थान्तरोके पद्यो आदिका ही सहारा लेना पडता है।

ब्रह्मदेवजीमें भी ग्रन्थान्तरोसे पद्य उद्धृत करनेकी अभिरुचि जयसेनाचार्यकी जैसी ही प्रतीत होती है। जयसेनकी पञ्चास्तिकाय-टीकाओंके साथ उनकी टीकाओका मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने अपनी टीकाओमे जयसेनका अनुकरण किया है। जयसेनाचार्यने[1] भी टीकाके आदिमें शब्दार्थ,

---

१. 'एवं शब्दार्थ कथित। नयार्थोऽप्युक्त।' मतार्थोऽप्युक्त। इन्द्रशत-वन्दिता इत्यागमार्थ प्रसिद्ध एव' इति भावार्थ। अनेन प्रकारेण शब्द नयमतागम भावार्थ। मगल णिमित्तहेऊ ॥१॥ वक्खाणउ व्याख्यातु। स क कर्ता। आइरिओ आचार्य किं। सत्थ शास्त्र-पच्छा पश्चात्। किं कृत्वा पूर्वं। वागरिय व्याकृत्य व्याख्याय। कान्। छप्पि' षडपि मगलणिमित्त-हेऊ परिणाम णाम तह य कत्तार। मगलनिमित्तहेतु परिमाणनामकर्तृत्वाधि-काराणीति।'—पञ्चा० टी०, पृ० ४-५। 'उक्त च—मगलणिमित्तहेउ ॥१॥ वक्खाणउ व्याख्यातु। क सक ? आयरिओ आचार्य। सत्थ शास्त्र, 'पच्छा' पश्चात् किं कृत्वा पूर्वं ? वागरिय् व्याकृत्य व्याख्याय। कान् ?छप्पि षडपि अधिकारान्। कथभूतान् ? मगल णिमित्त।'—वृहद्, स० टी०, पृ० ६-७।

नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थका कथन करनेका निर्देश किया है। तथा मगलादिकी चर्चामें मगल णिमित्त हेऊ आदि गाथा उद्धृत करके उनका व्याख्यान किया है। तदनुसार ही द्रव्यसग्रहकी टीकाके आरम्भमें ब्रह्मदेवजीने किया है। अन्य भी कई समानताएँ[1] ऐसी है जिनमें शब्दश अनुकरण किया गया है। अत यह निश्चित है कि ब्रह्मदेवजीने जयसेनका पूरा-पूरा अनुकरण किया है। जयसेन ईसाकी वारहवी शताब्दीके उत्तरार्धके लगभग हुए है, अत ब्रह्मदेव वारहवी शताब्दीसे वादके होने चाहिए।

किन्तु इस विषयमें एक प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मदेवजीने ही जयसेनाचार्यका अनुसरण किया है और जयसेनाचार्यने ब्रह्मदेवजीका अनुसरण नही किया, इसमें क्या प्रमाण है? क्योकि ब्रह्मदेवकी टीकामें जयसेनजी अथवा उनकी टीकाका कोई स्पष्ट उल्लेख नही है।

दोनों टीकाओके मिलानसे यह वात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रह्मदेवजीने ही जयसेनाचार्यका अनुसरण किया है। उदाहरणके लिए द्रव्यसग्रह गाथा ५७ की टीकामे ब्रह्मदेवजीने पञ्चास्तिकाय गाथा १४६ तथा समयसार गाथा २१७ की जयसेनाचार्यकृत टीकाका अनुसरण करके दोनोंमें उद्धृत पद्योंको अपने ढगसे जमाया है। साथ ही एक उद्धरण[2] भी पचास्तिकायकी टीकाका पाया जाता है। अत यह निश्चित है कि ब्रह्मदेवजीने जयसेन अनुसरण किया है।

द्रव्यसग्रहकी गाथा १३ की टीकामें एक वाक्य इस प्रकार है—

'स्वाभाविकानतज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्य हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीत पर किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। य पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टि सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेश-रागादिरहित-स्वाभाविक सुखानुभूतिलक्षणेसु, वहिर्विषयेषु पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्ति लक्षणेषु वर्तते स पञ्चमगुणस्थानवर्ति श्रावकः स्यात्।'

---

१ 'चारित्रसारादौ ग्रन्थे भणितमास्ते। छद्मस्थतपोधना द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यात्वा केवलज्ञानमुत्पादयन्ति। तत्परद्रव्यालंवनरहित कथ घटत इति। परिहारमाह—द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्व ग्राह्यं भावपरमाणुशब्देन च भावसूक्ष्मत्व न च पुद्गलपरमाणव। इदं व्याख्यानं सर्वार्थसिद्धिटिप्पणके भणितमास्ते।'—पञ्चास्ति० टी०, पृ० २१९।

२ 'तयाचोक्त पञ्चास्तिकाये'—पर्यायार्थिकनयेन, 'अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो', द्रव्यार्थिकनयेन पुन।'—पर० प्र० टी०, पृ० ६ तथा पञ्चास्ति० टी०, पृ० ४३।

आशाधरजीके सागार धर्मामृतका एक श्लोक इस प्रकार है—

'भूरेखादिसदृक्कपायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया
हेय वैषयिक सुख निजमुपादेय त्विति श्रद्धधत् ।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवाऽऽत्मनिन्दादिमान्
शर्माक्ष भजते रुजत्यपि पर नोत्तप्यते सोऽप्यघैः ॥१३॥

उक्त गद्य तथा पद्यमें जो शब्द तथा अर्थसादृश्य है वह अकस्मात् प्रतीत नही होता । अवश्य ही इन दोनों में से किसी एक ने दूसरेका अनुसरण किया है। प० आशाधरजीका समय तो सुनिश्चित है उन्होने अपने सागारधर्मामृतकी टीका वि० स० १२९६ में समाप्त की थी । अब यदि आशाधरजीन ब्रह्मदेवजी की टीकाको देखकर उक्त पद्य रचा है तो ब्रह्मदेवजी विक्रमकी तेरहवी शतीके मध्यके विद्वान् होने चाहिए और इस तरह वे जयसेनजी और आशाधरजीके अन्तरालमें हुए हैं । किन्तु यदि ब्रह्मदेवजीने आशाधरजीके सागारधर्मामृतके उक्त पद्यके ऊपरसे सम्यग्दृष्टिका उक्त स्वरूप लिखा है तो वह आशाधरजीके पश्चात् विक्रमकी चौदहवी शताब्दीके पूर्वार्धमें होने चाहिए ।

डॉ०[1] उपाध्येने लिखा है कि जैसलमेरके भण्डारमें ब्रह्मदेवकी द्रव्यसग्रह वृत्तिकी एक प्रति मौजूद है जो वि० स० १४८५ में माण्डवमें लिखी गई है। अत इतना निश्चित है कि ब्रह्मदेवजी उससे पहले हुए हैं ।

परमात्मप्रकाशपर कुक्कुटासन-मलधारी बालचन्द्रकी एक कन्नड टीका उपलब्ध है । डॉ०[2] उपाध्येने लिखा है कि उसके प्रारम्भिक उपोद्घातसे यह स्पष्ट है कि उस टीकाका मुख्य आधार ब्रह्मदेवकी वृत्ति है । क्योकि बालचन्द्रने लिखा है कि ब्रह्मदेवकी टीकामें जो विषय स्पष्ट नही हो सके हैं, उन्हें प्रकाशित करनेके लिये उन्होंने यह टीका रची है ।यह स्पष्टोक्ति बतलाती है कि उन्होने ब्रह्मदेवका अनुसरण किया है । किन्तु इन बालचन्द्रका समय भी निश्चित नही हो सका है ।

अध्यात्मरसिक उपाध्याय यशोविजयजी

श्वेताम्बर-परम्परामें निश्चयनय और व्यवहारनय तो मान्य हैं। किन्तु कुन्द-कुन्दने समयसारमें जो निश्चयनयसे आत्मस्वरूपका प्रतिपादन किया है उस ढगका प्रतिपादन श्वेताम्बर-साहित्यमें नही मिलता । इससे अध्यात्मरसिक श्वेताम्बर विद्वानोका कुन्दकुन्दके समयसारकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है। ऐसे ही विद्वानोंमें प० बनारसीदास थे। वह हिन्दीभाषाके श्रेष्ठ कवि थे । जैन-परम्परामें हिन्दीभाषाका उन जैसा श्रेष्ठ कवि दूसरा नही हुआ । उनका जन्म जौनपुरमें वि०स० १६४३मे हुआ था । किन्तु व्यापारके निमित्त वे आगरा आकर रहने लगे

---

१ २ पर० प्र० की प्रस्ता०, पृ० ७१ ।

थे। आगरेमें एक अर्थमल्ल नामके अध्यात्मरमिक सज्जनके साथ कविका परिचय हो गया। उनकी प्रेरणासे कविने कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसारकी रायमल्लकृत वालाववोध टीकाका मननपूर्वक स्वाध्याय किया। उसे पढकर उनकी व्यवहारपरसे श्रद्धा उठ गयी और उन्हे सर्वत्र निश्चयनय ही निश्चयनय दिखाई देने लगा। इसमें उनके साथी तीन मित्र और भी थे। उनके नाम थे चन्द्रभानु उदयकरण और थानमल। चारो कोंठरीमें नगे हो जाते थे और अपनेको दिगम्वर मुनि समझ लेते थे। वि० स० १६९२ तक यही दशा रही।

उसके पश्चात् आगरेमें प० रूपचन्दका समागम हुआ। उन्होंने उनसे गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंको पढनेकी प्रेरणा की। उनके पढनेस कवि और उनके साथियोकी परिणति स्याद्वादरूप हुई और एकान्तवादका लोप हो गया। तव १६८३ में समयसारपर अमृतचन्द्राचार्य रचित आत्मख्याति टीकामें आगत सस्कृत पद्योके आधारपर 'समयमार नाटक' नामका हिन्दीपद्योंमें अपूर्व ग्रन्थ रचा। उसका प्रचार तथा आदर श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनों सम्प्रदायोमें खूव है।

तवसे आगरेमें वनारसीदासजीके अनुयायियोकी एक शैली प्रचलित हो गई जिसके अनुयायी आध्यात्मिक कहे जाते थे। उन्होंने लोगोंको अपनी ओर आकृष्ट किया। विपक्षियोंने उसे वनारसीदासका आध्यात्मिक मत नाम दे दिया।

फलस्वरूप उसके वढते हुए प्रभावको रोकनेके लिए श्वेताम्वराचार्य यशोविजय उपाध्यायने उसके खण्डनमें आध्यात्मिकमत-खण्डन और आध्यात्मिकमत[1]-परीक्षा नामके ग्रन्थोंकी रचना की और मेघविजय उपाध्यायने प्राकृत गाथाओंमें वाणारसीय दिगम्वरमत खण्डनमय [2]युक्तिप्रवोध नामके ग्रन्थकी रचना की और उसपर सस्कृतमें टीका भी रची।

श्री यशोविजयजी श्वेताम्वर तपागच्छके थे और अकवर वादशाहके प्रतिवोधक हीरविजय सूरिके शिष्य उपाध्याय कल्याणविजय उनके शिष्य लाभविजय उनके शिष्य जीतविजयके गुरुभाई नयविजयके शिष्य थे। इन्होने तीन वर्ष तक काशीमें रहकर न्यायशास्त्रका अभ्यास किया था। पीछे चार वर्षतक आगरामें रहकर विद्याभ्यास किया था। इन्होने प्राकृत, सस्कृत और गुजरातीमें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है तथा न्याय, योग, अध्यात्म, दर्शन, धर्म, कथाचरित

---

१ आध्यात्मिकमत-परीक्षा (टीका सहित), देवचन्द लालचन्दभाई सूरतसे, प्रकाशित हुई है।

२ युक्तिप्रवोध, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्वर-सस्था, रतलामसे प्रकाशित हुआ है।

आदि सभी विषयोपर अपनी लेखनी चलायी है। इनकी प्रतिभा अपूर्व थी। इनके बहुतमे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है।

जैनधर्मप्रसारक सभा भाव नगरकी ओरसे यशोविजय-ग्रन्थमाला नामके सग्रह ग्रन्थमें दस ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनके नाम है—अध्यात्मसार, देव-धर्म-परीक्षा, अध्यात्मोपनिषद्, आध्यात्मिकमत-खण्डन सटीक, यतिलक्षण समुच्चय, नयरहस्य, नयप्रदीप, नयोपदेश, जैनतर्क-परिभाषा और ज्ञानबिन्दु। अन्तके नय रहस्य आदि प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

इनमेंसे नयोपदेशमें[1] उपाध्यायजीने दिगम्बरोके निश्चयनयको जगत्का उसी प्रकार हितकारी नही बतलाया जैसे विषकी रसायन सबके लिए हितकर नही होती। जैसे चक्रवर्तीका भोजन थोडोका उपकारक और बहुतोंका अपकारक होता है वैसे ही निश्चयनय थोडोंका उपकारी और बहुतोका अपकारी है। निश्चयनयमें न कोई शिष्य है और न कोई गुरु, न क्रिया और न क्रियाका फल है, और न कोई दाता है और न कोई भोक्ता। ऐसे निश्चयनयका उपदेश पुरुषोंके मिथ्यात्वका ही कारण होता है।

इसतरह उपाध्यायजीने दिगम्बरोंके निश्चयनयको उन्हीके योग्य बतलाया है जो उसे पचा सकनेकी शक्ति रखते हो।

किन्तु श्री उपाध्याय यशोविजयजीने जहाँ एक ओर दिगम्बरोके निश्चयनयकी भर्त्सना की वहाँ दूसरी ओर भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके समयसारको अपने अध्यात्म-विषयक प्रकरणोंमें आत्मसात् करनेकी भी चेष्टा की। उनके अध्यात्मसार और अध्यात्मोपनिषद् नामक ग्रन्थोमें समयसारकी अनेक गाथाओका सस्कृतमें रूपान्तर मिलता है।

---

१ 'शुद्धा ह्येतेषु सूक्ष्मार्था अशुद्धा स्थूलगोचरा।
फलत शुद्धता त्वाहुर्व्यवहारे न निश्चये ॥७४॥
क्रियाक्रियाफलौचित्य गुरु शिष्यश्च यत्र न।
देशना निश्चयस्यास्य पुसा मिथ्यात्वकारणम् ॥७५॥
परिणामे नया सूक्ष्मा हिता नापरिणामके।
न वाति परिणामे च चक्रिणो भोजन यथा ॥७६॥
आमे घटे यथा न्यस्त जल स्वघटनाशकृत्।
तथाऽपरिणते शिष्ये रहस्य नयगोचरम् ॥७७॥
तेनादौ निश्चयोद्ग्राहो नग्नानामपहस्तित।
रसायनीकृतविषप्रायोऽसौ न जगद्धित ॥७९॥
—नयोपदेश

अध्यात्मसार—इस ग्रन्थमें २० अधिकार है । उनके नाम है—माहात्म्याधिकार १, अध्यात्मस्वरूप २, दभत्याग ३, भवस्वरूपचिन्ता ४, वैराग्यसंभव ५, वैराग्यभेद ६, वैराग्यविषय ७, ममतात्याग ८, समता ९, सदनुष्ठान १०, मन -शुद्धि ११, सम्यक्त्व १२, मिथ्यात्याग १३, असद्ग्रहत्याग १४, योग १५, ध्यान १६, ध्यानस्तुति १७, आत्मनिश्चय १८, जिनमतस्तुति १° और अनुभवाधिकार । सम्पूर्ण ग्रन्थ सस्कृतमें अनेक छन्दोंमें निर्मित है ।

अध्यात्मका माहात्म्य वतलाते हुए लिखा है कि 'अध्यात्मशास्त्रसे उत्पन्न हुए सन्तोपके सुखमें मग्न पुरुष इन्द्र, कुवेर और राजाको कुछ नही समझते ॥१०॥ कामसेवनका रस तभी तक रहता है जवतक कामसेवन किया जाता है । भोजनका सुख भी भोजन करनेतक ही रहता है । किन्तु अध्यात्म-शास्त्रका अनुशीलन करनेपर जो सुख प्राप्त होता है, उसकी कोई अवधि नही है ॥२१॥ अत अध्यात्मशास्त्रको वारवार पढना चाहिये और उसके अनुसार आचरण करना चाहिये तथा उसे सुपात्रको ही देना चाहिये' ॥२४॥

दूसरे अधिकारमें अध्यात्मका स्वरूप वतलाते हुए लिखा है—'मोहके अधिकारसे छूटे हुए मनुष्य आत्माके आश्रयसे जो शुद्ध आचरण करते है उसे जिनदेवने अध्यात्म कहा है ॥२॥ जैसे सामायिक सव चारित्रोमें अनुस्यूत रहता है वैसे ही अध्यात्म सव योगोमें अनुगत माना गया है ॥३॥ शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया ये दोनों अध्यात्मरूपी रथके चक्र हैं ॥१२॥ यह पञ्चमगुण स्थानसे लेकर माना गया है ॥१३॥ वैसे उपचारसे पहले भी रहता है ॥ अशुद्ध भी क्रिया सदाशय होनेसे शूद्ध क्रियाकी हेतु होती है । जैसे रसायनके योगसे ताम्वा स्वर्ण हो जाता है ॥१६॥ अत मार्गमें प्रवेश करानेके लिये मिथ्यादृष्टिमें भी द्रव्यसम्यक्त्वका आरोप करके व्रत देते है ॥१७॥ दभत्याग आदि अधिकारोंमें अध्यात्मके लिए उपयोगी आचार और विचारोका वडा ही सुन्दर और भावपूर्ण विवेचन किया है और साख्यादि मतोंके विचारोकी पर्यालोचना की है ।

आत्मनिश्चय नामक अट्ठारहवें अधिकारमें समयसारमें दर्शित दिशाके द्वारा उसीके शब्दोंमें आत्मतत्त्वका विनिश्चय करते हुए समयसारकी अनेक गाथाओको सस्कृतरूप दिया है ।

लिखा है—आत्मज्ञान ही मुक्तिदाता है, अत सदा आत्मज्ञानके लिए ही प्रयत्न करना चाहिये ॥१॥ आत्माके जान लेनेपर जाननेके लिए कुछ भी वाकी नही रहता और उसको न जानकर वाकीका जानना निरर्थक है ॥३॥ आत्मको जाननेके लिये नवो तत्त्वोको जानना चाहिए, क्योकि अजीवादि तत्त्व आत्माके प्रतियोगी हैं ॥३॥ अत एकत्व और पृथक्त्वसे युक्त आत्मज्ञान ही हितकर

है ॥५॥ आत्माको ज्ञानदर्शन और चारित्रलक्षणवाला कहा है ॥६॥ जैसे रत्नकी प्रभा रत्नसे भिन्न नही है वैसे ही आत्मासे ज्ञान दर्शन और चारित्र भिन्न नही है ॥७॥ व्यवहारनय लक्ष्य और लक्षणमें भेद मानता है, निश्चयनय नही ॥८॥

यह कथन समयसार गाथा ५ और ७ का ऋणी है। आगे लिखा है—व्यवहारी शरीर और आत्माको एक मानता है, किन्तु निश्चयको यह वात सह्य नही है। जैसे उष्ण अग्निके योगसे घृतमें उष्णताका भ्रम होता है वैसे मूर्त शरीरके योगसे आत्मामें मूर्तताका भ्रम होता है ॥३६॥ जिसमें न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है, न आकार है, वह कैसे मूर्त हो सकता है ॥३७॥ मूर्तता पुद्गलका गुण है और आत्मा ज्ञान गुणवाला है। अत आत्मा पुद्गलोंसे भिन्न है ॥४८॥

इसी तरह आत्मा न पुण्य है और न पाप है। पुण्य पाप तो पौद्गलिक है ॥५९॥ लोग पुण्यकर्मको शुभ और पापको अशुभ कहते है। किन्तु जो जीवको ससारमें भटकाता है वह शुभ कैसे हुआ—

'पुण्य कर्म शुभ प्रोक्तमशुभ पापमु यते।
तत्कथ तु शुभ जन्तून् यत् पातयति जन्मनि ॥१६॥'

यह समयसारके पुण्यपाप द्वारकी प्रथम गाथाका ही रूपान्तर है—

कम्ममसुह कुसील सुहकम्म चावि जाणह सुसील।
किह तं होदि सुसील ज ससार पवेसेदि ॥१४५॥

इस अधिकारमें समयसारके अनुसार आत्माके स्वरूपका वर्णन करके भी उपाध्यायजीने दिगम्बरोंको वेलाग नही छोडा। वीचमें लिख ही दिया—

ये तु दिक्पटदेशीया शुद्धद्रव्यतयात्मन ।
शुद्धस्वभावकर्तृत्व जगुस्तेऽपूर्ववुद्धय ॥८७॥

'जो दिगम्बर शुद्धद्रव्यरूपसे आत्माको शुद्ध स्वभावका कर्ता मानते हैं उनकी वुद्धि अपूर्व है।' क्योंकि सिद्धसेन दिवाकरने सन्मति नामक ग्रन्थमें द्रव्यार्थिकनयको शुद्धसग्रहको विषय करनेवाला कहा है ॥८८॥ उनके मतसे आत्मा भावोंका कर्ता नही है, केवल कूटस्थ द्रष्टामात्र रहता है ॥८९॥

समयसारमें अन्तमें कुन्दकुन्दने कहा है कि जिनका लिंगमें ममत्व है वे समयसारको नही जानते।

पाखडिलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व वहुप्पयारेसु।
कुव्वति जे ममत्त तेहिं ण णाय समयसार ॥४१३॥

उपाध्यायजीने इसका अनुवाद इस प्रकार दिया है—

पापडिगणलिंगेपु गृहिलिंगेपु ये रता ।
न ते समयमारम्य ज्ञातारो वालवुद्धय ॥१८१॥

इमीको आधार वनाकर उपाध्यायजीने आगे लिखा है—'जो भावलिंगमें रत हैं, वे गृहस्थ हों या मुनि, मुक्त हो जाते हैं ॥१८२॥ तथा दिगम्वरोके नग्नताके आग्रहको कदाग्रह आदि वतलाया है। किन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने उम गाथासे आगेकी ४१४वी गाथामें कह दिया है कि व्यवहारनय मोक्षमार्गमें दोनो लिंगोको मान्य करता है, किन्तु निश्चयनय किसी भी लिंगको नही पसन्द करता।

अध्यात्मोपनिषद्—इसके प्रारम्भमें भी उपाध्यायजीने अध्यात्मका लक्षण कहा है—'आत्माको लेकर जो पाँच आचारोका पालन किया जाता है। उसे अध्यात्म कहते हैं ॥२॥ इम ग्रन्थमें केवल चार अधिकार हैं—१ शास्त्रयोगशुद्धि, २ ज्ञानयोगशुद्धि, ३ क्रियायोगशुद्धि और ४ साम्ययोगशुद्धि।

पहले अधिकारमें वतलाया है कि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेका साधन शास्त्र हैं। और ऐमा शास्त्र सर्वज्ञ वीतराग-उपदिष्ट ही हो सकता है। अत योगियोको शास्त्रचक्षु होना चाहिए। यथा—

चर्मचक्षुर्भृत सर्वे देवाश्चावधिचक्षुप ।
सर्वतश्चक्षुष सिद्धा योगिन शास्त्रचक्षुप ॥१६॥

यह श्लोक कुन्दकुन्दके प्रवचनमारकी नीचे लिखी गाथाकी ही छाया है—

आगम चक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्व भूदाणि ।
देवा य ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥३४॥

दूमरे अधिकारमें ज्ञानयोगकी शुद्धिका कथन है। लिखा है—जो अन्यसे भिन्न आत्माको चिन्मात्र लक्षणके द्वारा जानता है वही ज्ञान उत्तम है ॥१५॥

परमात्माके स्वरूपको शुद्धानुभवसवेद्य वतलाकर समयसारकी ही तरह परमात्माको गुणस्थानों और मार्गणाओसे अछूता वतलाया है तथा लिखा है कि जो कर्मोंकी उपाधिसे होनेवाले भावोको आत्माका मानता है वह परमात्माके स्वाभाविक रूपको नही जानता।

इम प्रकरणमें भी समयसारकी अनेक गाथाओंको संस्कृतमें अनूदित किया गया है—

यथा भृत्यैः कृतं युद्ध स्वामिन्येवोपचर्यते ।
शुद्धात्मन्यविवेकेन कर्मस्कन्धोर्जित तथा ॥३०॥

को छोडकर देव हो जाता है। यहाँ जीवत्वका न तो उत्पाद होता है और न विनाश ॥ १७ ॥ किन्तु उस जीवकी मनुष्य पर्याय नष्ट होती है और देवपर्याय उत्पन्न होती है ॥ १८ ॥ इस तरह सत् जीवका न विनाश होता है और न उत्पाद ॥ १९ ॥ इस तरह द्रव्योका सामान्य कथन करके आगे उनका विशेष कथन किया है।

जीव—गा० २७में जीवको चेतयिता, उपयोगवाला, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, शरीर प्रमाण, आकार वाला, मूर्त और कर्म सयुक्त वतलाया है और गा० २८–२९ में लिखा है कि वह जीव कर्म मलसे मुक्त होकर लोकके अन्तमें जाकर विराजमान हो जाता है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अतीन्द्रिय अनन्त सुखको भोगता है।

गाथा ३० से गाथा २७ मे कहे हुए जीवत्व, चेतयिता आदि जोवकी विशेषताओका व्याख्यान प्रारम्भ किया गया है। उनसे जीवके सम्वन्ध में जैन सम्मत सभी विशेषताओका परिज्ञान हो जाता है। उसीमें जीवके उपयोग—ज्ञान दर्शन गुणों-का व्याख्यान करते हुए गाथा ४४ से ५२ तक द्रव्यसे गुणोंके भेदाभेद-का सयुक्तिक प्रतिपादन किया गया है। लिखा है—यदि द्रव्य गुणोसे भिन्न है और गुण द्रव्यसे भिन्न है तो द्रव्य अनन्त हो जायेंगे और द्रव्यका अभाव हो जायेगा ॥४४॥ द्रव्य और गुणोमें अनन्यत्व है, अन्यत्व और विभक्तत्व नही है ॥४५॥ जैसे वनके योगसे धनी होता है वैसे ज्ञानके योगसे ज्ञानी नही होता ॥४७॥ यदि ज्ञानीसे ज्ञानको भिन्न माना जायेगा तो दोनो जड हो जायेंगे ॥४८॥ शायद कहा जाय कि ज्ञान गुणके साथ समवाय सम्वन्व होनेसे जीव ज्ञानी कहा जाता है। किन्तु ऐसा माननेसे जीव स्वभावसे अज्ञानी ठहरता है ॥४९॥ दूसरी वात यह है कि द्रव्य और गुणोका अस्तित्व एक होनेके कारण उनमें जो सहवर्तीपना है वही तो समवाय है। समवाय नामका कोई स्वतत्र पदार्थ नही है। अत द्रव्य और गुणोमें स्वभावसे अयुतसिद्धि वतलाई है ॥५०॥ पहले गाथा १५ में द्रव्य दृष्टिसे कहा था कि भावका विनाश नही होता और अभाव का उत्पाद नही होता। गा० ५४ में पर्याय दृष्टिसे कहा है कि इस तरह सत् जीवका विनाश होता है और असत्की उत्पत्ति होती है। ये दोनो कथन परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होते हुए भी अविरुद्ध है क्योकि दोनो कथन दो विभिन्न दृष्टियो से किये गये हैं।

कर्तृत्व—५७ मे जीवके कर्तृत्व गुणका कथन प्रारम्भ होता है। गाथा ५८ में कहा है कि कर्मके विना जीवके औदयिक औपशमिक आदि भाव नही होते। अत ये भाव कर्मकृत हैं। इसपर शकाकी गई कि यदि जीवके औदयिक आदि भाव कर्मकृत है तो जीव कर्मोका कर्ता ठहरता है। किन्तु जीव तो अपने भावोंके

सिवाय किसीका भी कर्ता नही है ॥५९॥ इसका उत्तर दिया गया—जीवके औदयिक आदि भाव कर्मोंके निमित्तसे होते है । और कर्म जीवके भावोके निमित्त-से होते है । किन्तु परमार्थसे न तो कर्म जीवके भावोका कर्ता है और न जीवके भाव पौद्‌गलिक कर्मोंके कर्ता है ॥६०॥ कर्म अपने कर्ता स्वयं है और जीव भी अपने भावोका स्वय कर्ता है ॥६२॥ तव पुन प्रश्न हुआ कि यदि कर्म कर्मका कर्ता है और जीव अपने भावोका कर्ता है तो कर्मके किये हुए कर्मोंका फल जीव क्यो भोगता है और कर्म अपना फल कैसे देता है ॥६३॥ इसके उत्तरमें कहा गया है कि—यह लोक पुद्‌गलोंसे खचाखच भरा हुआ है ॥६४॥ उसके बीचमें रहनेवाला जीव अपने भावोको करता है और उसके भावोका निमित्त पाकर पौद्‌गलिककर्म स्वभावसे ही जीवके कर्मरूप हो कर उससे बँध जाते है ॥६५॥ जव उनका विपाक काल आता है तो जीवको उनका फल भोगना पडता है ॥६७॥ अत कर्म निश्चयसे केवल अपना कर्ता है और व्यवहारसे जीवके भावोका कर्ता है । इसी तरह आत्मा भी निश्चयसे अपने भावोंका कर्ता है और व्यवहारसे कर्मोंका कर्ता है । किन्तु भोक्ता तो अकेला जीव ही है क्योंकि वह चेतन है ॥६८॥

पुद्‌गल—गाथा ७४ से ८२ तक पुद्‌गल द्रव्यका कथन किया गया है । गाथा ७६ में पुद्‌गलके छै भेद वतलाये हैं । किन्तु उन छै भेदोको वतलानेवाली गाथा जयसेनकी टीकामें तो है किन्तु अमृत चन्द्रकी टीकामें नही है । गाथा ७७, ७८, ८० और ८१ के द्वारा परमाणुका स्वरूप वतलाया है । 'सव स्कन्धोंका जो अन्त है वही परमाणु है । वह परमाणु शाश्वत है, अशव्द रूप है, एक और अविभागी है तथा मूर्तिक है ॥७७॥ वह परमाणु पृथ्वी, जल अग्नि और वायुका कारण है अर्थात् एक जातीय परमाणुसे ही चारो उत्पन्न होते है, परिणमनकी विचित्रताके कारण किसीमें कोई गुण व्यक्त होता है तो किसीमें अव्यक्त ॥७८॥ उसमें एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श रहते हैं । उसीसे शव्दकी निष्पत्ति होती है । अर्थात् शव्द पौद्‌गलिक है ॥८१॥ अन्तमें लिखा है—'इन्द्रियोके द्वारा जो कुछ भोगनेमें आता है, तथा इन्द्रिय, शरीर, मन, कर्म आदि जो भी मूर्तिक पदार्थ है वे सव पुद्‌गल हैं ॥८२॥'

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य—गाथा ८३ से ८९ तक धर्मद्रव्य और अधर्म-द्रव्यका स्वरूप वतलाया है । इन दोनों द्रव्योमें न रस है, न रूप है, न वर्ण है, न गन्ध है और न स्पर्श है । दोनो समस्त लोकमें व्याप्त है । नित्य है । धर्मद्रव्य जीव और पुद्‌गलोकी गतिमें वैसे ही निमित्त है जैसे मछलियोके लिये जल । और अधर्मद्रव्य उनके ठहरनेमें वैसा ही निमित्त है जैसे पृथ्वी । उन दोनोंके सद्भावसे ही जीवो और पुद्‌गलोकी गति और स्थिति होती है । और उन्हीके

कारण आकाशके लोक और अलोक विभाग कायम है। किन्तु ये दोनो द्रव्य न तो स्वय गतिशील हैं और न अन्य द्रव्योंकी गतिके प्रेरक है। इन दो द्रव्योकी इस रूपमें मान्यता जैन दर्शनके सिवाय किसी अन्य दर्शनमें नही है।

आकाश द्रव्य—जो सब जीवोको सब पुद्गलोको तथा अन्य सबको अवगाह देता है वह आकाश है ॥९०॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि द्रव्य तो केवल लोकमे ही पाये जाते है। किन्तु आकाश तो अनन्त है। वह लोकमें भी पाया जाता है और उससे बाहर भी पाया जाता है ॥९१॥

९२ गा० से ९५ गाथा तक इस आशकाका समाधान किया गया है कि गति और स्थितिका कारण यदि आकाश ही को माना जाये तो क्या हानि है? इस आशकाका समाधान इस आगमिक मान्यताके आधार पर किया गया है कि जीवका स्वभाव उर्ध्व गमन है और मुक्त जीव ऊपर जाकर लोकके अग्रभागमें रुक जाता है। लिखा है कि यदि आकाश गमन और स्थितिका कारण है तो सिद्ध जीव ऊपर जाकर लोकके अग्रभागमें ही क्यो ठहर जाते हैं ॥९२॥ चूंकि जिनेन्द्र देवने सिद्धो का स्थान ऊपर लोकके अग्रभागमें बतलाया है अत आकाश यदि गति और स्थितिका कारण हो तो लोक आलोकका भेद नही रह सकता।

आकाश, काल, जीव, धर्म अधर्म अमूर्तिक हैं, केवल पुद्गल मूर्तिक है। अकेला जीव द्रव्य चेतन है ॥९७॥ जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं ॥९८॥

काल द्रव्य—गाथा १०० और १०१ में काल द्रव्यका स्वरूप बतलाया है।

इस तरह प्रथम श्रुतस्कन्ध अथवा महाधिकारमें छै द्रव्योका कथन है। दूसरेमें नौ पदार्थोंका कथन है। वे नौ पदार्थ है—जीव अजीव, पुण्य पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

गाथा १०९ से १२३ तक जीवके भेद प्रभेदोका कथन है। मूल भेद दो है—ससारी और मुक्त। ससारी सशरीर होते हैं और मुक्त अशरीर होते हैं ॥१०९॥ ससारीके भी दो भेद हैं स्थावर और त्रस। स्थावर जीवोंके पाँच भेद है—पृथिवी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन सबके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। इसलिये ये सब एकेन्द्रिय होते हैं ॥११२॥ शंख, सीप, लट वगैरह जीव दो इन्द्रिय होते हैं क्योकि वे स्पर्श और रसको ही जानते हैं ॥११४॥ बिच्छु, चीटी, जू, खटमल वगैरह जीव स्पर्श, रस और गन्धको जानते है इसलिये वे तीन इन्द्रियवाले होते है ॥११५॥ डास, मच्छर, मक्खी, भौंरा, आदि स्पर्श, रस, गन्ध, और रूप को जानते है इसलिये वे सब चौइन्द्रिय है ॥११६॥ मनुष्य, देव, नारकी, पशु, पक्षी, वगैरह स्पर्श, रस,

गन्ध, रूप और शब्दको जानते है इसलिये वे पञ्चेन्द्रिय हैं ॥११७॥ आगे लिखा है—इन्द्रिया जीव नही है, और न पृथिवी आदि रूप जो शरीर है वही जीव है। किन्तु उसमें जो जानने देखने वाला है वही जीव है ॥१२१॥ जीव सबको जानता देखता है, सुखकी इच्छा करता है, दु ख से डरता है। हित अथवा अहित करता है और उसका फल भोगता है ॥१२२॥

जो सुख दुखका अनुभव नही करता, न हितमें प्रवृत्ति करता है और न अहितसे डरता है, उसे श्रमण अजीव कहते हैं ॥१२५॥ ससार चक्रका वर्णन करते हुए लिखा है-ससारी जीव राग द्वेप रूप परिणाम करता है। परिणामोंसे कर्मवन्ध होता है। कर्मका उदय होनेसे नरक आदि गतियोंमें जन्म लेना होता है। जन्म लेनेसे शरीर मिलता है। शरीरमें इन्द्रिया होती है। इन्द्रियोसे वह विपयोंको भोगता है। उससे राग द्वेप होता है। इस तरह ससारका चक्र चला करता है ॥१२९-१३०॥

कर्म मूर्तिक है—चूंकि कर्मका फल सुख दुख विपयके द्वारा मिलता है और विषय मूर्तिक है। उस विषयको जीव मूर्तिक इन्द्रियोंके द्वारा भोगता है। अत कर्म मूर्तिक हैं ॥१३३॥

पुण्यास्रव और पापास्रव—जिसके चित्तमें दया भाव है, कालिमा नही है, प्रशस्त राग है उसके पुण्यकर्मोका आस्रव होता है ॥१३५॥ प्रमादी आचरण, कलुषता, विपयोंमें लोलुपता आदि होनेसे पाप कर्मका आस्रव होता है ॥१३९॥

सवर—इन्द्रिय, कषाय और सज्ञाओका निग्रह करनेसे पापका आना रुक जाता है ॥१४१॥ जिस सुख दुखमें सम भाव रखने वाले भिक्षुके सव द्रव्योंमें राग द्वेप और मोह नही रहता, उसके न पुण्य कर्मका आस्रव होता है और न पाप कर्मका आस्रव होता है ॥१४२॥

निर्जरा—जो सवरको करके तपस्या करता है। आत्माको जानकर उसका ध्यान करता है उसके वहुतसे कर्मो की निर्जरा होती है ॥१४४-१४५॥

वन्ध—यदि यह जीव कर्मके उदयसे होने वाले राग द्वेष रूप परिणामोको करता है तो वह पौद्गलिक कर्मोसे वधता है ॥१४७॥ योगके द्वारा जीव कर्मोको ग्रहण करता है और योग मन वचन और कायसे होता है। तथा भावके निमित्तसे जीव कर्मोका वध करता है और वे भाव राग द्वेष और मोह रूप होते हैं ॥१४९॥

मोक्ष—जव ज्ञानीके कर्मवन्धके कारण भूत राग द्वेष और मोहरूप भाव नही होते तो उसके कर्मोका आस्रव नही होता। आस्रवके अभावमें कर्मका वन्ध नही होता। तव वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अतीन्द्रिय सुखको भोगता है ॥१५४-१५१॥ इस तरह जो सवरसे युक्त होता है, सब कर्मोकी निर्जरा करता है वह वेदनीय, आयु नाम और गोत्र कर्मका भी अभाव करके मुक्त हो जाता है ॥१५३॥

इस तरह नौ पदार्थोका स्वरूप वतलाकर मोक्षके मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका कथन किया है।

वर्म आदिका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अगो और पूर्वोको जानना सम्यग्ज्ञान है। तपस्या करना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग है ॥१६०॥ और निश्चयनयसे उन तीनोंमे समाहित आत्मा ही मोक्षका मार्ग है ॥१६१॥ आगे लिखा है—यदि कोई ज्ञानी अज्ञानवश ऐसा मानता है कि अर्हतादिकी भक्तिसे मोक्ष होता है तो वह परसमयरत है ॥१६५॥ क्योंकि अरहतादिकी भक्तिसे पुण्य कर्मका वन्ध होता है, कर्मोका क्षय नही होता ॥१६६॥ जिसके चित्तमें परवस्तुके प्रति अणुमात्र भी राग है वह समस्त आगमोंका ज्ञाता होनेपर भी आत्माके यथार्थ स्वरूपको नही जानता ॥१६७॥ अत. मुमुक्षुको नि सग होकर और ममत्वको त्यागकर सिद्धोंकी भक्ति करना चाहिये। उसीसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है ॥१६९॥

२ प्रवचनसार

पञ्चास्तिकायकी तरह प्रवचनसारके भी दो मूल पाये जाते है। एक अमृतचन्द्रकी टीकाके साथ पाया जाता है और एक जयसेनाचार्यकी टीकाके साथ पाया जाता है। अमृतचन्द्रके अनुसार प्रवचनसार तीन श्रुतस्कन्धोंमें विभाजित है। प्रथममें ज्ञानतत्त्वका, दूसरेमें ज्ञेय तत्त्वका और तीसरेमें चरण तत्त्वका विवेचन है। तथा तीनोमें क्रमसे ९२, १०८ और ७५ गाथाएँ हैं। इस तरह अमृतचन्द्रके अनुसार प्रवचनसारकी गाथा संख्या २७५ है।

जयसेनने भी अमृतचन्द्रके द्वारा अपनाये गये तीन विभागोको स्वीकार करते हुए उन्हें महाधिकार सज्ञा दी है। किन्तु उनमें गाथा सख्या क्रमसे १०१, ११३ और ९७ है। इस तरह जयसेनके अनुसार प्रवचनसारकी गाथा सख्या ३११ है।

ग्रन्थके तीन विभाग कुन्दकुन्द द्वारा किये गये हो सकते है। अन्तके तीसरे विभागके आदिमें जिनेन्द्र ऋषभदेवको नमस्कार किये जानेसे उस विभाग-का पृथक्त्व स्पष्ट ही है। दूसरे विभागके आदिमें जयसेनवाले पाठमे नमस्का-रात्मक गाथा है वह गाथा अमृतचन्द्राचार्यवाले पाठमें नही है। फिर भी विपयकी दृष्टिसे दोनोका पृथक्त्व व्यक्त होता है।

यद्यपि अन्तिम गाथामें 'पवयणसार' नाम प्रकारान्तरसे दिया गया है किन्तु पञ्चास्तिकायकी तरह न तो इसमें स्पष्ट रूपसे ग्रन्थका नामोल्लेख ही किया गया है और न उसके रचनेकी प्रेरणा आदिका ही कोई निर्देश किया गया है।

इस ग्रन्थका प्रारम्भ गाथा पंचकसे होता है। प्रथम गाथामें धर्मतीर्थके

कर्ता वर्द्धमानको, दूसरी गाथामें शेप तीर्थङ्करोंको, तीसरी गाथामें मनुष्यलोकमें वर्तमान अरहन्तोको नमस्कार किया गया है। चौथी-पाँचवी गाथामें कहा है कि अरहतो, सिद्धो, गणधरो (आचार्यों), अध्यापक वर्गों (उपाध्यायो) और सब साधुओको नमस्कार करके, उनके विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान आश्रमको प्राप्त करके मैं सम्यभावको धारण करता हूँ जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

इस तरह ग्रन्थकारने अपने व्याजसे सराग चारित्रमें स्थित श्रमणोंको वीतराग चरित्रमें स्थिर करनेके लिये इस ग्रन्थकी रचना की प्रतीत होती है। आगे गाथा ६ में कहा है कि दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। गाथा ७ मे कहा है कि चारित्र धर्म है और धर्म साम्यभावका नाम है। तथा मोह और क्षोभ से रहित आत्माके परिणामको साम्य कहते हैं। अत ग्रन्थकारने वीतराग चरित्ररूप साम्यभावको ही धर्म कहा है। वही उपादेय है।

गाथा ९ में जीवके भाव तीन प्रकारके बतलाये हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। गाथा ११ में कहा है कि धर्माचरण करनेवाला आत्मा यदि शुद्ध भाव करता है तो उसे मोक्ष मिलता है और यदि शुभ भाव करता है तो उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। और यदि अशुभ भाव करता है तो ससारमें दु ख उठाना पडता है ॥१२॥

शुद्धोपयोग और उसका फल—शुद्धोपयोगका फल उस अनुपम अनन्त अविनाशी सुखकी प्राप्ति है जो सुख विषयोसे प्राप्त न होकर आत्मासे ही उत्पन्न होता है ॥१३॥ तथा वह शुद्धोपयोगी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्मोंको नष्ट करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है ॥१५॥ उसे केवलज्ञानी कहते हैं। उसके शारीरिक सुख दु ख नही होते ॥२०॥ वह केवली विश्वके पदार्थोंको हमलोगोकी तरह क्रमसे नही जानते। अत वह द्रव्योंकी सब पर्यायोको प्रत्यक्ष जानते हैं ॥२१॥ कोई भी वस्तु उनसे अज्ञात नही रहती ॥२२॥

इसका कारण उन्होंने यह बतलाया है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है। उपनिषद् वगैरहमें आत्माको सर्वगत (व्यापक) कहा है। कुन्दकुन्दने भी उसे ज्ञानरूपसे व्यापक बतलाते हुए लिखा है—आत्मा ज्ञान के बराबर है और ज्ञान ज्ञेयोंके बराबर है। ज्ञेय समस्त लोकालोक है। अत ज्ञान सर्वगत है ॥२३॥ जो आत्माको ज्ञान प्रमाण नही मानते उसके मतसे आत्मा ज्ञानसे या तो बडा हुआ या छोटा हुआ ॥२४॥

यदि आत्मा ज्ञानसे छोटा है तो आत्माके बिना अचेतन ज्ञान पदार्थोंको कैसे जान सकता है। यदि आत्मा ज्ञानसे बडा है तो ज्ञानके बिना आत्मा कैसे जान

सकता है ।।२५।। गीता[1] (९।४)में श्रीकृष्णने अपनेको सर्वजगतमें व्याप्त वतलाया है तथा सर्व भूतोंको अपनेमें स्थित वतलाया है। कुन्दकुन्दने जिनवर वृषभको ज्ञान रूपसे सर्वगत वतलाया है और जगतके सव पदार्थोंको विषय रूपसे जिनवर वृषभके ज्ञानगत वतलाया है ।।२६।।

किन्तु इसका यह मतलव नही हैं कि ज्ञान अर्थोंके पास जाता है या अर्थ ज्ञानमे आ जाते हैं। जैसे चक्षु रूपसे आविष्ट नही होती और न रूप ही चक्षुमें प्रविष्ट होता है। फिर भी चक्षु रूपको जानती है। वैसे ही ज्ञानी न तो ज्ञेयोसे आविष्ट होता है और न ज्ञेय ही ज्ञानमें प्रविष्ट होते है। फिर भी ज्ञानी विना-इन्द्रियोंकी सहायताके अशेष जगतको जानता है ।।२८-२९।। जो जानता है वह ज्ञान है। ज्ञानके योगमे आत्मा ज्ञायक नही है (जैसा वैशेषिक मानते है)। आत्मा ही स्वय ज्ञान रूप परिणमन करता है ।।३५।। अत जीव ही ज्ञान रूप है या ज्ञान जीव रूप है और ज्ञेय भूत, भविष्यत् और वर्तमानके भेदसे तीन प्रकार का है ।।३६।। जितनी भूत और भावि पर्यायें है वे सव सर्वज्ञके ज्ञानमें वर्तमानकी तरह प्रति भासित होती हैं ।।३७।। यदि सवज्ञका ज्ञान अतीत और अनागत पर्यायोको नही जानता तो कौन उसे दिव्य ज्ञान कहेगा ।।३९।। जो ज्ञान सप्रदेशी, अप्रदेशी, मूर्त, अमूर्त, अतीत, अनागत आदि सवको जानता है उसी ज्ञानको अतीन्द्रिय कहते हैं ।।४१।।

इस तरहमे कुन्दकुन्दने सर्वज्ञताका वडे विस्तारसे सयुक्तिक समर्थन किया है। और आगे जैन आगमोंके 'जे एग जाणइ से सव्व जाणइ। जे सव्व जाणइ से एग जाणइ', (आचाराग १-३-४-१२२) के अनुसार लिखा है 'जो त्रिलोक और त्रिकाल-वर्ती पदार्थोंको एक एक साथ नही जानता वह समस्त पर्याय विशिष्ट एक द्रव्य (आत्मा)को भी नही जान सकता ।।४८।। तथा जो अनन्त पर्याय सहित एक द्रव्य (आत्मा)को नही जानता वह सव द्रव्योको एक साथ कैसे जान सकता है ।।४९।। जैन (जिनसम्वन्धी) ज्ञान त्रिकालवर्ती तथा त्रिलोकवर्ती नाना प्रकारके विचित्र पदार्थोंको एक साथ जानता है। अहो, ज्ञानका माहात्म्य अद्भुत है ।।५१।।

इन्द्रिय सुखका साधन इन्द्रिय ज्ञानको हेय वतलाते हुए लिखा—इन्द्रियोके विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द रूप पौद्गलिक द्रव्य हैं। इनको भी इन्द्रिया एक-एक करके जानती हैं ।।५६।। फिर वे इन्द्रिया पर हैं आत्म रूप नही हैं।

---

१ 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाह तेष्ववस्थित ।।४।।—गीता० अ० ९।

२. सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा। णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ।।२६।।—प्र० सा०।

उनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आत्माका प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे कह सकते हैं॥५६॥ जो परकी सहायतासे ज्ञान होता है उसे परोक्ष कहते है और जो केवल जीवके द्वारा जाना गया हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ॥५८॥ ऐसा ज्ञान ही सुख रूप होता है ॥५९॥ अत केवल ज्ञान सुख स्वरूप है।

इन्द्रिय जन्य सुख हेय है—

गाथा ६३ आदिसे इन्द्रिय जन्य सुखको हेय वतलाकर सुखको आत्माका ही गुण वतलाया है। लिखा है—इन्द्रियोके द्वारा इष्ट विषयोको प्राप्त करके यह आत्मा स्वय ही सुख रूप परिणमन करता है ॥६५॥ और जब आत्मा स्वय सुख रूप है तो विषय उसमें क्या कर सकते हैं ॥६७॥ जैसे सूर्य स्वभावसे ही तेजस्वी और उष्ण होता है उसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी भी ज्ञानस्वरूप और सुख स्वरूप होते हैं ॥६८॥

आगे इन्द्रियसुख सम्पन्नोमें सर्वोपरि देवताओंको भी दु खी वतलाकर लिखा है जो सुख परकी सहायतासे प्राप्त होकर पुन छूट जाता है, कर्मवन्धका कारण है, घटता वढता रहता है, ऐसा इन्द्रियोंसे प्राप्त होने वाला सुख दु ख रूप ही है ॥७६॥

इस तरहका सुख शुभोपयोगसे प्राप्त होता है। अत इन्द्रिय सुखके साधन शुभोपयोगको भी हेय वतलाकर शुद्धोपयोगके लिए ही यत्न करनेका उपदेश दिया है, क्योंकि शुद्धोपयोगके द्वारा ही मोहको नष्ट किया जा सकता है।

दूसरे ज्ञेय तत्त्वाधिकारमें पञ्चास्तिकायकी तरह ही कतिपय विशेषताओंको लिये हुए द्रव्योका कथन है। इसमें गाथा ८ से १२ तक उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका वर्णन है। तीनोंका परस्परमें अविनाभाव वतलाकर उन्हें द्रव्यसे अभिन्न वतलाया है। तथा तीनोंको एकक्षणवर्ती वतलाया है।

गाथा १३ आदिसे सत्ता और द्रव्यमें गुणगुणी भाव वतलाकर सत्ताको द्रव्यसे अभिन्न वतलाया है। और इस तरह गुण-गुणीमें वैशेषिकके द्वारा माने गये भेदका निरास किया है। गाथा २३ में सप्तभगीका कथन है। इसमें पञ्चास्तिकायसे विशेषता यह है कि पञ्चास्तिकायमें अवक्तव्यको चतुर्थभग वतलाया है। इसमें उसे तीसरा भग वतलाया है। आगे चलकर इन दोनोंका उल्लेख विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थोंमें मिलता है।

गा० ३१ आदि में चेतनाके ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना, इन तीन भेदोंका तथा उनके स्वरूपका कथन है। इस तरह चौतीस गाथाओके द्वारा द्रव्य सामान्यका वर्णन करके आगे द्रव्योंके छहों भेदोंका क्रमसे विशेष कथन किया गया है। फिर गाथा ५३ से जीवका विशेष कथन है। उसमें कहा है—'न

मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वचन हूँ, न उनका कारण हूँ, न उनका कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ और न अनुमन्ता हूँ ॥ ६८ ॥ शरीर, मन, वचन पुद्गलद्रव्यरूप हैं। और पुद्गलद्रव्य परमाणुओका पिण्ड है ॥ ६९ ॥

फिर परमाणुका अन्य परमाणुके साथ कैसे वन्ध होता है इसका विवेचन है। परमाणुमें पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष गुण ही परमाणुको परमाणुके साथ वन्ध करानेमें कारण होते हैं।

तव यह प्रश्न हुआ कि स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ वन्ध हो सकता है किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है उसके साथ पौद्गलिक कर्मोंका वन्ध कैसे होता है ॥८१॥ तो उसके उत्तरमें कहा गया कि यद्यपि आत्मामें रूपादि गुण नही हैं, किन्तु वह उन्हें जानता देखता है और जान देख कर उनसे राग द्वेष करता है, इस लिये कर्मोंसे वद्ध होता है॥ इस तरह आगे वन्ध तत्त्वका उपयोगी विवेचन है जिसका निष्कर्ष यह है कि—'रागीके कर्मोंका वन्ध होता है और विरागी कर्मवन्धन से छूट जाता है ॥ ८७ ॥

आगे इसमें भी समयसारकी ही तरह आत्माको अपने भावोंका कर्ता और पौद्गलिक भावोंका अकर्ता वतलाया है ॥ ९२ ॥ तथा अन्तमें चूँकि शुद्ध नयसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है अत उसीको प्राप्त करनेका उपदेश किया गया है।

तीसरे अधिकारमें श्रमणोंके आचारका वर्णन है। प्रारम्भमें ही श्रमण वननेके इच्छुक जनको क्या करना चाहिये और कैसे प्रव्रज्या लेनी चाहिये इसका कथन है। गाथा ८ में श्रमणोंके २८ मूल गुण वतलाये है। वे है—पाच महाव्रत, पाच समितिया, पाचो इन्द्रियोंका निरोध, केशोका लोच, छ आवश्यक कर्म, अचेल, स्नान न करना, पृथ्वी पर सोना, दन्तधावन न करना, खडे होकर भोजन करना और एक वार, दिनमें भोजन करना। श्वेताम्वरसाहित्यमे इन मूल गुणोकी कोई चर्चा नही है।

आगे श्रमणको कैसे रहना चाहिये, सयमका छेद होने पर कैसे उसका सवारण करना चाहिये, श्रमण किसे कहते हैं आदि सभी आवश्यक एव उपयोगी वातोका इसमें कथन है।

३ नियमसार

नियमसार पर पद्मप्रभ मलधारी देवकी सस्कृत टीका है। उन्होने इस ग्रन्थको कुन्दकुन्द रचित वतलाया है। साथ ही इसका विषय वर्णन तथा प्रतिपादन शैली कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंसे विल्कुल मेल खाती है। अत इसके कुन्दकुन्द रचित होनेमें रंच मात्र भी सन्देहको स्थान नही है।

टीकाकारके अनुसार इसकी गाथा संख्या १८७ है। जिन्हे उन्होंने बारह श्रुत स्कन्धोमें विभाजित किया है। उन श्रुत स्कन्धोके नाम इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहार चरित्र, निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, निश्चय प्रायश्चित, परम समाधि, परम भक्ति, निश्चय आवश्यक, शुद्धोपयोग।

जैसे कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारकी प्रथम गाथामें सिद्धोको नमस्कार करके समय पाहुडको कहनेकी प्रतिज्ञा की हैं, वैसे ही नियमसारकी प्रथम गाथामें वीर जिनको नमस्कार करके नियमसारको कहनेकी प्रतिज्ञा की है। उधर समयसारको श्रुतकेवलीभणित कहा है, इधर नियमसारको केवली और श्रुतकेवलीके द्वारा भणित कहा हैं।

आगे गाथा २, ३, ४ में कहा है कि जिन शासनमें मार्ग और मार्गके फलका कथन किया है। मोक्षके उपायको मार्ग कहते है और उसका फल निर्वाण है ॥ २ ॥ तथा नियमपूर्वक जो किया जाये उसे नियम कहते हैं। वह नियम है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, मोक्षके उपायको नियम कहते हैं और उसका फल है परमनिर्वाण। इन तीनोंका ही कथन इस ग्रन्थमें है। अत इसका नाम नियमसार है।

सम्यग्दर्शन—सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हुए अर्थ, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्दर्शन कहा हैं। तथा क्षुधा तृषा आदि दोषोसे रहित परमात्माको आप्त कहा है। और उनके मुखसे निकले हुए वचनोको आगम तथा आगममें कहे हुए पदार्थोको तत्त्वार्थ कहा है। वे तत्त्वार्थ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, और आकाश। (गा० ५–९)

जीवका लक्षण उपयोग है। उपयोग दो प्रकारका होता है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोगके भी दो प्रकार है—स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान। जो ज्ञान इन्द्रियादिको सहायताके विना होता है वह स्वभाव ज्ञान है। मतिज्ञान आदि विभावज्ञान हैं। दर्शनोपयोगके भी स्वभाव और विभावकी अपेक्षा दो भेद हैं। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन विभावरूप है। केवल दर्शन स्वभाव रूप है ॥ १०–१४।

पर्याय भी दो प्रकारकी होती है—स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्च और देव पर्याय विभाव पर्याय है। कर्मोपाधि निरपेक्ष पर्यायोंको स्वभाव पर्याय कहते है ॥१५॥

पुद्गल द्रव्यके वर्णनमें स्कन्धके छै भेद बतलाये है—अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म। परमाणुको अविभागी और इन्द्रिय-

द्वारा अग्राह्य वतलाया है ॥२०-२९॥ इसी तरह आगे धर्मादिद्रव्योका कथन किया है।

आगे लिखा है कि केवल एक आत्मा ही उपादेय है जो कि कर्मजन्य गुण-पर्यायोंसे भिन्न है। शेप सब हेय है ॥३८॥ उसी शुद्ध आत्माका वर्णन समयसार की ही तरह यहाँ भी किया गया है ॥३९-५०॥ आगे व्यवहार चारित्र और निश्चयचारित्रका कथन है।

चारित्र—व्यवहार चारित्र मे अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंका, तथा पाँच समितियो और तीन गुप्तियोका वर्णन है ॥५६-६८॥ आगे दो गाथाओसे निश्चयरूप तीन गुप्तियोंका वर्णन है। फिर पाँच गाथाओसे (७१-७५)पच परमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) का स्वरूप वतलाया है। आगे निश्चय चारित्रका कथन है।

सवसे प्रथम आत्माको सव परभावोसे भिन्न चिन्तन करनेका उपदेश है—मैं मार्गणा, गुणस्थान, जीवस्थानरूप नही हूँ। न मैं उनका कर्ता, कारयिता या अनुमन्ता हूँ ॥ न मैं मनुष्य, देव, नारकी या तिर्यञ्चरूप हूँ। न उनका कर्ता, कारयिता या अनुमन्ता हूँ ॥ न मैं वाल, वृद्ध या तरुण हूँ। और न उनका कर्ता, कारयिता या अनुमन्ता हूँ ॥ न मैं राग, द्वेष या मोहरूप हूँ। न मैं उनका कर्ता कारयिता या अनुमन्ता हूँ ॥ न मैं क्रोध, मान, माया या लोभ रूप हूँ। न मैं उनका कर्ता, कारियता या अनुमन्ता हूँ ॥

इस प्रकारका भेद ज्ञान हो जानेपर जीव मध्यस्थ होकर चारित्रका लाभ करता है। उस चारित्रको दृढ करनेके लिये प्रतिक्रमण आदि किये जाते है।

अव आगे आचार्यने प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, कायोत्सर्ग, परमसमाधि, सामायिक, परम भक्ति इन छै आवश्यकोंका निश्चयनयसे स्वरूप वतलाया है।

मूलाचारमें[1] सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये छै आवश्यक वतलायें है। दिगम्बर परम्पराके साहित्यमें ये ही छै आवश्यक प्रचलित है। श्वेताम्वर परम्परामें भी ये ही छै भेद मान्य हैं। इनमें आलोचना नही है। तथा परम भक्तिके स्थानमें स्तुति और वन्दना हैं।

---

१ सामाइय चउवीसत्थय, वदणय पडिक्कमण। पच्चक्खाण च तहा काओ-सग्गो हवदि छट्ठो ॥१५॥—मूलाचा०, अ० ७।

इस तरह मूलाचारमें नियमसारसे अन्तर पाया जाता है। किन्तु आवश्यक[1] निर्युक्ति' पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा दोनोंमें एक ही है। सभव है वह गाथा प्राचीन हो और दोनो ग्रन्थकारोंने उसे किसी प्राचीन परम्परासे ग्रहण किया हो।

'आवश्यक' शब्दकी जो व्युत्पत्ति नियमसार तथा मूलाचारमें दी है वह श्वेताम्बरसाहित्यमें[2] नही मिलती। वहाँ आवश्यकका प्रचलित अर्थ ही पाया जाता है—जिसका करना जरूरी हो। किन्तु उक्त दोनों ग्रन्थोंमें जो अन्यके वशमें नही है वह 'अवश' है और उसका जो कर्म है वह आवश्यक है। अर्थात् आत्माधीन व्यक्तिके करणीय कर्मको आवश्यक कहते है।' यह अर्थ बहुत ही उपयुक्त है। श्वेताम्बर साहित्यमे निश्चयदृष्टिका कथन न होनेसे शायद वहाँ यह लक्षण नही पाया जाता। अस्तु।

प्रतिक्रमणसम्बन्धी पाठोको आचार्यने वचनमय प्रतिक्रमण कहा है और उनके पाठको स्वाध्याय कहा है ॥१५३॥ और कहा है कि यदि शक्ति हो तो ध्यानमय ही प्रतिक्रमणादि करना चाहिये। यदि शक्ति न हो तो उसका श्रद्धान ही करना चाहिये।

केवल ज्ञान और केवल दर्शन—नियमसारके अन्तमें गाथा १५८ से आचार्य कुन्दकुन्दने केवल ज्ञान और केवल दर्शनके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण चर्चा आरम्भ की है। लिखा है—व्यवहारनयसे केवली भगवान सबको जानते देखते हैं। किन्तु निश्चयनयसे केवल ज्ञानी आत्माको जानते देखते हैं ॥१५८॥ जैसे सूर्यमें प्रकाश और प्रताप एक साथ रहते है वैसे ही केवल ज्ञानीमे ज्ञान और दर्शन एक साथ रहते है ॥१५९॥

आगममें ज्ञानको पर प्रकाशक, दर्शनको स्व प्रकाशक तथा आत्माको स्वपर प्रकाशक माना है। कुन्दकुन्द स्वामीने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि यदि ऐसा मानते हो तो ज्ञानसे दर्शन भिन्न ठहरता है क्योंकि आगममें दर्शनको पर प्रकाशक नही कहा है ॥१६१॥ इसी तरह आत्माको पर प्रकाशक माननेसे भी

---

१ 'ण वसो अवसो अवसस्स कम्म आवस्सयति बोधव्वा। जुत्तित्ति उवाप्रति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ति ॥—नि० सा० १२२ गा०। मूला चा०-७।१४।

२ आवस्सय अवस्सकरणिज्ज धुव निग्गहो विसोही य। अज्झयणछक्क वग्गो नाओ आराहणा मग्गो ॥८७२॥ समणेण सावएण य अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा। अतो अहो निसिस्स उ तह्मा आवस्सय नाम ॥८७३॥—विशे० भा०।

आत्मासे दर्शन भिन्न ठहरता है ॥१६२॥ अत व्यवहारनयसे जैसे ज्ञान और आत्मा पर प्रकाशक हैं वैसे ही दर्शन भी परप्रकाशक है ॥१६४॥ तथा निश्चयनयसे ज्ञान और आत्मा स्वप्रकाशक है अत दर्शन भी स्वप्रकाशक है। इस तरह ज्ञान, दर्शन और आत्मामें निश्चयनय और व्यवहार नयसे भेदाभेदका कथन किया है।

आगे पुन कहा है—यदि कोई ऐसा कहता है कि केवली भगवान आत्मस्वरूपको जानते हैं, लोकालोकको नही जानते तो इसमें क्या दोष है ॥१६६॥ इसका उत्तर देते हुए कहा है कि—'जो मूर्त अमूर्त, चेतन अचेतन, स्व और पर, सबको जानता है, वही ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है ॥१६७॥

पुन शका की है कि—यदि कोई ऐसा कहता है कि केवली भगवान लोकालोकको जानते है, अपनेको नही जानते, तो इसमें क्या दोष है ॥१६९॥ इसके उत्तरमें कहा है कि—ज्ञानस्वरूप जीव है इसलिये आत्मा निश्चयसे आत्माको जानता है। यदि वह आत्माको नही जानता तो ज्ञान आत्मासे अलग ठहरता है ॥१७०॥ अत आत्मा ज्ञान है और ज्ञान आत्मा है। इसलिये ज्ञान और दर्शन दोनों स्वपर प्रकाशक हैं ॥१७१॥

केवलज्ञानी इच्छापूर्वक नही जानते देखते, न इच्छापूर्वक चलते-फिरते और बोलते हैं। इसलिये उनकी ये क्रियाएँ बन्धकी कारण नही है ॥१७२-१७५॥ जब केवलीके आयुकर्मका क्षय होता है तो शेप कर्मोंका भी क्षय हो जाता है। उसके पश्चात् वे शीघ्र ही एक समयमे लोकके अग्रभागमें जाकर स्थिर हो जाते हैं ॥१७६॥

गाथा १७७ से १८३ तक निर्वाणका कथन है। निर्वाण जन्म जरा और मरणसे रहित है। अक्षय और अविनाशी है, पुण्य पाप और पुनरागमनसे रहित है। वहाँ आत्मामें केवलज्ञान, केवलसुख, केवलवीर्य, केवलदर्शन, तथा अमूर्तिकत्व और सप्रदेशत्व रहते हैं।

जहाँ तक धर्मद्रव्य है वही तक जीव और पुद्गल जा सकते हैं। अत मुक्त जीव लोकके अग्रभाग तक जाकर ही ठहर जाता है।

दसण पाहुड—दसण पाहुण या दर्शन प्राभृतमें ३६ गाथाएँ हैं। इसमें सम्यग्दर्शनका वर्णन है। व्यवहारनयसे जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। और निश्चयनयसे आत्माका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन। (गा० २०) यह सम्यग्दर्शन मोक्षकी पहली सीढी है ॥२१॥ जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है। उसे निर्वाणकी प्राप्ति नही हो सकती ॥३॥ सम्यग्दर्शनसे

भ्रष्ट साधु कितना ही कठोर तपश्चरण करें, करोडो वर्ष बीतनेपर भी उन्हें बोधिलाभ नही हो सकता ॥४॥

असयमीको नमस्कार नही करना चाहिये। असयमी नग्न भी हो तो भी नमस्कार नही करना चाहिये ॥२६॥ न तो शरीर वन्दनीय है, न कुल और न जाति। गुण ही वन्दनीय है। जो गुणहीन है वह श्रमण हो अथवा श्रावक हो, वन्दनीय नही है ॥२७॥ इत्यादि कथन किया है।

कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य पाहुडोंमें तथा बारह अणुवेक्खा, दशभक्ति वगैरहमें तत्त्वसे अधिक, आचारका प्रतिपादन है। अत उनके सम्बन्धमें चरणानुयोग वषयक साहित्यमें प्रकाश डाला जायगा।

आचार्य गृद्धपिच्छ और उनका तत्त्वार्थ सूत्र

श्रवणवेलगोलाके शिलालेख न० ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० में आचार्य कुन्दकुन्दके स्मरणके पश्चात् नीचे लिखा श्लोक पाया जाता है—

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥७॥

अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयमें गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति मुनीश्वर हुए। तत्कालीन अशेष पदार्थोंका जानकार उनके समान दूसरा नही है।

श्रवणवेलगोलाके ही शिलालेख न० १०५ और १०८ में इन्ही उमास्वातिको तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाया है। यथा—

श्रीमानुमास्वातिरय यतीशस्तत्वार्थसूत्र प्रकटीचकार ।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यताना पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥१५॥
—शि० नं० १०५।

अभूदुमास्वातिमुनि पवित्रे वशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृत येन जिनप्रणीत शास्त्रार्थजात मुनिपुगवेन ॥११॥
—शि० नं० १०८।

'ऐपिग्राफिया कर्णाटिका' की ८वीं जिल्दमें प्रकाशित नगर ताल्लुकेके ४६वें शिलालेखमें भी उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता तथा श्रुतकेवलिदेशीय बतलाया है यथा—

'तत्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीय वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ।"

शुभचन्द्राचार्यने अपनी गुर्वावलीमें भी कुन्दकुन्दके पश्चात् उमास्वातिका स्मरण करते हुए उन्हें तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाया है। यथा—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वप्रकटीकृतसन्मना ।
उमास्वातिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥५॥
—जै० सि० भा० १, कि० ४, पृ० ५१ ।

उक्त शिलालेखोंसे प्रकट होता है कि कुन्दकुन्दाचार्यके पश्चात् उनके अन्वय में उमास्वाति नामके आचार्य हुए और उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रकी[1] रचना की ।

किन्तु दिगम्बर जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता उमास्वामी नामसे ही प्रसिद्ध हैं । मूल तत्त्वार्थसूत्रकी जो लिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं उनके अन्तमें प्राय यह श्लोक पाया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

इसमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम उमास्वामी बतलाया है और उन्हें गृद्ध-पिच्छसे युक्त कहा है । अर्थात् वह गृद्धके पखोंकी पीछी रखते थे । इसीसे श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें उन्हें गृद्धपिच्छाचार्य कहा है ।

विक्रमकी सोलहवी शताब्दीके टीकाकार श्रुतसागरने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें भी तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताका नाम उमास्वामी लिखा है । तथा औदार्य चिन्तामणि नामके अपने व्याकरण ग्रन्थमें 'श्रीमानुमाप्रभुरनन्तर पूज्यपाद' लिखकर 'उमा' के साथ 'प्रभु' शब्द लगाकर उमास्वामी नामको और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है ।

श्री मान् प० जुगल किशोरजी मुख्तारने यह संभावना व्यक्त की है कि

---

1 तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता के विषयमें लिखे गये साहित्यका विवरण इस प्रकार है—प० सुखलाल जी द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखित समन्त भद्र नामक निबंधके अन्तर्गत उमास्वाति विषयक काल विचार, भा० ज्ञा० पीठसे प्रकाशित सर्वार्थ सिद्धिकी प० फूलचन्द्रजी लिखित प्रस्तावना । प० कैलाशचन्द्र लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना । अनेकान्त वर्ष १, में 'तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता कुन्दकुन्द' पृ०१९८, 'उमास्वाति या उमास्वामी' पृ० २६९, तत्त्वार्थसूत्र की उत्पत्ति पृ० २७० । अने०, वर्ष ३, में—'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' पृ० ३०४, ६२३, ३०७ १२१ । अनेकान्त वर्ष ४, में—पृ० १७, २४९, २८३ । अने०, वर्ष ५ में—'तत्त्वार्थसूत्रका अन्त परीक्षण पृ० ५१ । अने०, वर्ष ९, स्वोपज्ञ भाष्य, पृ० ६४१, उमास्वातिका सभाष्य तत्त्वार्थ जै० सा० इ० पृ० ५२१-५४७। तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा—जै० सि० भा०, वर्ष १२ कि० १-२ ।

उमास्वातिकी जगह 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागरका निर्देश किया हुआ है क्योंकि आपने लिखा है कि विक्रमकी १६वी शताब्दीसे पहलेका ऐसा कोई ग्रन्थ अथवा शिलालेख आदि अभीतक मेरे देखनेमें नही आया जिसमें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताका नाम उमास्वामी लिखा हो।

श्रुत सागरजीने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमे[1] उमास्वामीकी स्वामिसज्ञा क्यो थी, इसके सम्बन्धमें नीतिसारके कुछ श्लोक उद्धृत किये है। उनमे एक श्लोक इस प्रकार है—

'तत्त्वार्थसूत्र व्याख्याता स्वामीति परिपठ्यते'

इसमें तत्त्वार्थ सूत्रके व्याख्याताको स्वामी कहा है। शायद इसीपरसे श्रुतसागरजीने तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताको उमास्वामी नाम देना उचित समझा हो, क्योंकि उमाके साथ स्वाति नामकी सगति नही वैठती।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें एक मात्र उमास्वाति नाम ही सर्वमान्य है। श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रका जो पाठ प्रचलित है उसपर एक भाष्य भी है जिसे स्वोपज्ञ माना जाता है। उसकी अन्तिम प्रशस्तिमें भी ग्रन्थकारका नाम उमास्वाति दिया है और लिखा है कि स्वाति उनके पिताका नाम था।

श्री प० सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी भूमिकामे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि उमास्वाति दिगम्बर परम्पराके नही थे किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके थे। 'उमास्वाति दिगम्बर परम्पराके नही थे' ऐसा निश्चय करनेके लिए उन्होंने नीचे लिखी दलीले दी हैं—

१ प्रशस्तिमें सूचितकी हुई उच्च नागर शाखा या नागर शाखाके दिगम्बर सम्प्रदायमे होनेका एक भी प्रमाण नही पाया जाता है।

२ काल किसीके मतसे वास्तविक द्रव्य है, ऐसा सूत्र (५।३८) और उसके भाष्यका वर्णन दिगम्बर पक्ष (५।३९) के विरुद्ध है। केवलीमें (९।११) ग्यारह परीषह होनेकी सूत्र और भाष्यगत सीधी मान्यता एव भाष्यगत वस्त्र-पात्रादिका स्पष्ट उल्लेख भी दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध है। सिद्धोमें लिंग द्वार और तीर्थद्वारका भाष्यगत वक्तव्य दिगम्बर परम्परासे उल्टा है।

३ भाष्यमें केवल ज्ञानके पश्चात् केवलीके दूसरा उपयोग मानने न माननेका जो मन्तव्य भेद (१।३१) है वह दिगम्बर ग्रन्थोंमें नही दिखाई देता।

तथा उमास्वातिको श्वेताम्बर परम्पराका सिद्ध करनेके लिए पडितजीने नीचे लिखी दलीलें दी है—

---

१ 'ससारिणा ग्रहण पूर्वं कृत स्वामिना उमास्वामिना। स्वामीति सज्ञा कथम्? उक्तं हि आचार्यादीना लक्षणम्—।'—त० वृ०, पृ० ८७।

१ प्रशस्तिमे उल्लिखित उच्चनागरी शाखा श्वेताम्वर पट्टावलीमें पाई जाती है।

२ अमुक विपय सम्वन्धी मतभेद या विरोध वतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्वर आचार्य नही पाये जाते जिन्होने दिगम्वराचार्योकी तरह भाष्यको अमान्य किया हो।

३ जिसे उमास्वातिकी कृति रूपसे माननेमें शकाका अवकाश नही, जो पूर्वोक्त प्रकारसे भाष्य विरोधी (?) है, ऐसे प्रशम रति ग्रन्थमें मुनिके वस्त्र पात्रका व्यवस्थित निरूपण देखा जाता है, जिसे श्वेताम्वर परम्परा निर्विवाद रूपसे स्वीकार करती है।

४ उमास्वातिके वाचक वशका उल्लेख और उसी वशमें होनेवाले अन्य आचार्योंका वर्णन श्वेताम्वर पट्टावलियों पन्नवणा और नन्दीकी स्थविरावलीमें पाया जाता है।

इस तरह पण्डितजीने भाष्य, उसकी अन्तिम प्रशस्ति तथा प्रशमरतिके आधारपर उमास्वातिको श्वेताम्वर परम्पराका सिद्ध किया है और दिगम्वर परम्पराका होनेका निषेध किया है। मूल सूत्रोके आधारसे वह कोई ऐसे सवल प्रमाण उपस्थित नही कर सके जिनसे उनका रचयिता श्वेताम्वर परम्पराका ही सिद्ध होता हो। प्रत्युत सूत्रोमें कई ऐसी वातें हैं जो श्वेताम्वर परम्पराके प्रतिकूल और दिगम्वर परम्पराके अनुकूल है। उनकी चर्चा आगे की जायेगी।

किन्तु श्वेताम्वर परम्परामें तत्वार्थ सूत्रके कर्ताका नाम एक मात्र उमास्वाति ही पाया जाता है। श्वेताम्वर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका जो मूल पाठ प्रचलित है उसपर एक भाष्य भी है जिसे स्वोपज्ञ माना जाता है। उसके अन्तमें एक प्रशस्ति भी है जिसमें ग्रन्थकारने अपना पूर्ण परिचय दिया है। उसमें उसने अपना नाम उमास्वाति दिया है। वह प्रशस्ति इस प्रकार है—

वाचकमुख्यस्य शिवश्रिय प्रकाशयशस प्रशिष्येण।
शिष्येण घोपनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविद ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्न प्रथितकीर्ते ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीपणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनाऽर्घ्यम् ॥३॥
अर्हद्वचन गुरुक्रमेणागत समुपधार्य।
दु खार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्य स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

अर्थात्—जो वाचक मुख्य शिवश्रीके प्रशिष्य, ग्यारह अगधारी घोषनन्दि क्षमणके शिष्य और वाचनामे (विद्या ग्रहणकी दृष्टिमे) महावाचक क्षमण मुण्डपादके प्रशिष्य तथा 'मूल' नामके वाचकाचार्यके शिष्य थे, जिनका जन्म न्यग्रोधिकामें हुआ था, जो उच्चनागर शाखाके थे और श्रेष्ठनगर कुसुम पुरमें विहार करते थे, उन उमास्वातिने गुरुपरम्परामे प्राप्त अर्हद् वचनोंको भले प्रकार अवधारण करके, लोगोको दु खोंसे पीडित और दुरागमोंमे हतवुद्धि देखकर, प्राणियोंकी अनुकम्पासे प्रेरित होकर यह तत्त्वार्था विगम नामक स्पष्ट शास्त्र रचा अथवा तत्त्वार्थाधिगमनामक रचे शास्त्रको स्पष्ट किया ।

इस प्रशस्तिमें ग्रन्थकार उमास्वातिने अपने दीक्षा गुरु तथा दीक्षा प्रगुरुका नाम, दीक्षा गुरुकी योग्यता, विद्या गुरु तथा विद्या प्रगुरुका नाम, अपना गोत्र पिता तथा माताका नाम, जन्म स्थानका नाम, ग्रन्थ रचनाका स्थान नाम अपनी शाखा आदि सभी कुछ तो दे दिया है । फिर भी उनके विषयमें जैन परम्परामे जो तथोक्त भ्रान्ति फैली वह आश्चर्य जनक है । और उसमे अनेक प्रकारके सन्देहोंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

यह तथोक्त भ्रान्ति दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्तृत्वको लेकर है । यद्यपि श्रवण वेलगोलाके उक्त शिला लेखोमें जो प्राय १२वी शताब्दीके लगभगके हैं, गृद्धपिच्छसे युक्त उमास्वातिको तत्वार्थ सूत्रका कर्ता वीतलाया है तथापि उससे पूर्वके प्राचीन साहित्यमें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताके रूपमें अथवा अन्य किसी रूपमें उमास्वातिका कोई उल्लेख नही मिलता । यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रको सर्वाधिक प्रतिष्ठा दिगम्बर परम्परामें प्राचीनकालसे पाई जाती है और सबसे प्राचीन टीका भी दिगम्बराचार्य पूज्यपादकी तत्त्वार्थ सूत्रपर उपलब्ध है तथापि सूत्रकारके नामका कोई निर्देश उसमें नही है ।

यहाँ यह वतला देना उचित होगा कि दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रके उक्त स्वोपज्ञ भाष्य और उसकी अन्तिम प्रशस्तिका कोई निर्देश नही मिलता ।

श्रवणवेलगोलाके उक्त शिलालेखोमें गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति को तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता वतलाया है, यह हम ऊपर लिख आये है । किन्तु उससे पूर्वके साहित्यिक उल्लेखोंमें तत्त्वार्थ सूत्र कर्ताके रूपमें अथवा अन्य किसी रूपमें उमास्वातिका कोई नाम नही है । दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रकी सवसे प्राचीन टीका पूज्यपादकी सर्वार्थ सिद्धि है । उसमें टीकाकारने न तो अपना ही नाम दिया है और न सूत्रकारका ही नाम दिया है । उमक

आरम्भिक उत्थानिकासे केवल इतना ही प्रकट होता है कि किसी स्वहितैषी भव्यकी जिज्ञासाके फलस्वरूप किसी निर्ग्रन्थाचार्यने तत्त्वार्थ सूत्रको रचा है। यह निर्ग्रन्थाचार्य कौन थे यह उससे ज्ञात नही होता। सर्वार्थसिद्धिके पश्चात् रची गई तत्त्वार्थवार्तिकमें भी अकलकदेवने सूत्रकारका कोई नामादि नही दिया। तत्त्वार्थवार्तिकके पश्चात् रची गई तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें विद्यानन्दिने भी सूत्रकारका नामोल्लेख तो स्पष्ट रूपसे नही किया। किन्तु 'एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता' लिखकर तत्त्वार्थ सूत्रको गृद्धपिच्छाचार्य कृत बतलाया है। विद्या[1]नन्दिके ही समकालीन श्रीवीरसेन स्वामीने तो अपनी धवला[2] टीकामें स्पष्ट रूपसे तत्त्वार्थ सूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकी कृति कहा है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है। विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके आचार्य श्री वादिराज सूरिने अपने पार्श्वनाथचरितके प्रारम्भमें गृद्धपिच्छ नामके आचार्य को सबसे प्रथम नमस्कार किया है। यथा।

अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छ नतोऽस्मि तं।
पक्षीकुर्वन्ति य भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णव ॥१६॥

अर्थात्—मैं महान गुणोके आधार उन गृद्धपिच्छको नमस्कार करता हूँ, निर्वाणके लिये उडनेके इच्छुक भव्य जीव जिनको अपना पख बनाते हैं।

इसमें यद्यपि गृद्धपिच्छको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता नही बतलाया। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रके प्रथम सूत्रमें ही 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' लिखकर मोक्षके मार्गका ही प्रधान रूपसे कथन किया गया है। अत मोक्षार्थियोके द्वारा उनकी उस कृति को अपनाना स्वभाविक है। उसी का कथन साहित्यिक भाषामें उक्त श्लोकमें किया गया है। अत विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दी तक दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ नामसे ख्यात थे। तथा वे बहुत प्राचीनी माने जाते थे, क्यों कि वादिदेवने पूज्यपाद देवनन्दि और समन्तभद्रसे भ पहले उनका स्मरण किया है।

उक्त कालके पश्चात् विक्रमकी बारहवी तेरहवी शताब्दीके शिलालेखोमें हम गृद्धपिच्छ नामके दो आचार्योका उल्लेख पाते हैं। उनमेंसे-एक हैं कुन्द-कुन्द और दूसरे हैं उमास्वाति। किन्तु उनमेंसे तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता गृद्ध पिच्छाचार्य-

१ विद्यानन्दिकी आप्त परीक्षाकी स्वोपज्ञवृत्तिमें 'तत्त्वार्थसूत्रकारै उमास्वामि प्रभृतिभि' पाठ भी (वा० ११९) सनातन जैनग्रन्थ माला काशीसे मुद्रित प्रतिमें मिलता है। किन्तु लिखित अनेक प्रतियोमें यह पाठ नही पाया जाता। इसकी चर्चाके लिये देखें—अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ४०६।

२ 'तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिद तच्चत्थसुत्ते वि 'वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य' इति दव्वकालो परूविदो —षट्ख०, पु० ४, पृ० ३१६।

उमास्वातिको ही बतलाया है, कुन्दकुन्दाचार्यको नही। इस तरह उपर शिला-लेखो मे पूर्व दिगम्बर परम्परामे उमास्वातिको तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलानेवाला कोई उल्लेख हमें नही मिलता। इसपरसे यह सन्देह होसकता है कि गृद्धपिच्छाचार्यका का नाम उत्तरकालमें श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके रूपमें प्रसिद्ध भाष्यकार उमास्वातिके साथ तो नही जोड़ दिया गया है। दिगम्बर परम्पराके तो उक्त प्राचीन उल्लेख गृद्धपिच्छ आचार्यको ही तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाते हैं।

किन्तु इस सम्बन्धमे एक बात और भी उल्लेखनीय है। यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्यका उल्लेख तो प्राचीन शिलालेखोंमें मिलता है परन्तु पद्मनन्दिका, जो कौण्ड-कुन्दपुरके निवासी होनेके कारण कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ख्यात हुए, उल्लेख भी नौवी-दसवी शताब्दीके साहित्यमें ही प्रथम बार मिलता है। इस तरह कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्र कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य ये दोनो लगभग समकालमें ही साहित्यिक उल्लेखोंमें अवतरित होते है, यद्यपि ये दोनो ही प्राचीन हैं।

शिलालेखो तथा टीकाकार जयसेन और श्रुतसागरके उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दका एक नाम गृद्धपिच्छाचार्य भी था। शायद इसीसे 'अर्हत्सूत्र-वृत्ति नामक तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें, जिसके रचयिता भट्टारक राजेन्द्रमौलि हैं, तत्त्वार्थ सूत्रको स्पष्टतया कुन्दकुन्दाचार्यकी कृति कहा है। यह राजेन्द्रमौलि मूल सघ सरस्वतीगच्छके भट्टारक तथा सागत्यपट्टके अधीश्वर थे। इनका समय ज्ञात नही है।

श्री प० जुगल किशोरजी मुख्तारने उक्त बात प्रकट करते हुए तत्त्वार्थसूत्रके एक श्वेताम्बर टिप्पणीकारकी टिप्पणी भी इस सम्बन्धमें[2] प्रकाशित की थी। टिप्पणीके अन्तमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्तृत्वविषयमें दुर्वादापहार नाम कुछ पद्य देते हुए लिखा है—

---

१ यह ग्रन्थ बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें है। इसका प्रारम्भ इस प्रकारसे होता है—'अथ अर्हत्सूत्रवृत्तिमारभे। तत्रादौ मगलाद्यानि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथ्यन्ते। तदस्माक विघ्नघाताय अस्मदाचार्यो भगवान् कुन्दकुन्दमुनि स्वेष्टदेवतागुणोत्कर्षकीर्तनपूर्वकं तत्स्वरूपवस्तुनिर्देशात्मक च शिष्टाचारविशिष्टेष्टजीववाद सिद्धान्तीकृत्य तद्गुणोपलब्धिफलोपयोग्यवन्दनानुकूलव्यापारगर्भं मगलमाचरति—
अन्तमें लिखा है—'मूलसघबलात्कारगणे गच्छे गिरा शुभे। राजेन्द्रमौलि-भट्टार्क सागत्यपट्टराडिमा। व्यरचीत् कुन्दकुन्दाचार्यकृत सूत्रार्थ दीपिकाम्'—अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १९९।

२ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १९८।

य. कुन्दकुन्दनामा नामान्तरितो निरुच्यते कैश्चित् ।
ज्ञेयोऽन्य एव सोऽस्मात् स्पष्टमुमास्वातिरिति विदितात् ॥

टिप्पणी—तर्हि कुन्दकुन्द एवैतत् प्रथम कर्त्तेति सशयापहाय स्पष्ट ज्ञापयाम य कुन्दकुन्दनामेत्यादि । 'अय च परतीर्थिकै कुन्दकुन्द इडाचार्य पद्मनन्दी उमास्वातिरित्यादि नामान्तराणि कल्पयित्वा पठ्यते सोऽस्मात् प्रकरणकर्तुरुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्न सकाशादन्य एव ज्ञेय किं पुन पुनर्वेदयाम ।"

इसमें कहा है, कुन्दकुन्द, इडाचार्य (एलाचार्य) पद्मनन्दि और उमास्वाति ये एक ही व्यक्तिके नाम कल्पित करके जो लोग इस ग्रन्थका असली अथवा आद्यकर्ता कुन्दकुन्दको वतलाते हैं वह ठीक नही, वह कुन्दकुन्द हमारे इस तत्त्वार्थ सूत्रकर्ता प्रसिद्ध उमास्वातिसे भिन्न ही व्यक्ति है ।

इससे प्रकट होता है कि दिगम्वर लोग कुन्दकुन्दको तत्त्वार्थ सूत्रका असली आद्य कर्ता मानते थे । किन्तु कुन्दकुन्दका एक नाम उमास्वाति भी था और इस तरह कुन्दकुन्द और उमास्वाति एक ही व्यक्ति थे, ऐसी मान्यताका कोई सकेत दिगम्वर परम्परामें हमारे देखने में नही आया ।

इस तरह दिगम्वर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताके रूपमें उमास्वाति गृद्धपिच्छाचार्यका उल्लेख, गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्दके शिष्यके रूपमें श्रवणवेलगोला आदिके शिलालेखोंमें ही मिलता है ।

श्वेताम्वर परपम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्तृत्वको लेकर तो मामूली सी भ्रान्ति फैली है । किन्तु उसके कर्ता आचार्य उमास्वातिकी स्थिति अवश्य ही चिन्त्य है । श्वेताम्वर सम्प्रदायकी पट्टावलियोमें सवसे प्राचीन कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्र स्थविरावली हैं । उनका सकलन वी० नि० स० ९८० (वि० स० ५१०) में किया गया माना जाता है । किन्तु उनमें उमास्वाति का नाम नही है । नन्दिसूत्रमें तो वाचकाचार्योकी वशावली दी हुई है, फिर भी उसमें न उमास्वातिका नाम है और न उनके गुरुजनोंमेंसे ही किसीका नाम है, जिन्हें उमास्वातिने वाचक मुख्य, महावाचक और वाचकाचार्य वतलाया है ।

पिछले समयकी रची हुई पट्टावलियोमें यद्यपि उमास्वातिका नाम आता है किन्तु उनमें भी एकवाक्यताका अभाव है । दुषमाकाल श्रमणसघ स्तोत्र[1] (वि० की तेरहवी शताब्दी) में हारिल और जिनभद्रके वाद उमास्वातिका नाम आता है । और जिनभद्रगणिने विशेषावश्यक भाष्य वि० स० ६६६ में पूर्ण किया था ।

---

१ 'सिरि सच्चमित्त हारिल जिणभद्द वदिमो उमासाई ।'

—पट्टा० स०, पृ० १६ ।

बतलाया है। यापनीय इन्हें धर्मका साधन नही मानते थे। अपराजित[1] सूरिने केवल कमडलु और पीछीको सयमका उपकरण माना है। तथा शीतसे पीड़ित साधुको वायुके प्रवेशसे रहित स्थान देनेको लिखा है किन्तु वस्त्र दानका रच मात्र भी विधान नही किया है। अत भाष्यकार तो वस्त्रपात्रवादी श्वेताम्बर होने चाहिए। किन्तु जिसने भाष्य बनाया है उसीने तत्त्वार्थ सूत्रको भी बनाया है, यह बात विवादग्रस्त है। यदि केवल सूत्रोको सामने रखकर सूत्रकारकी परम्पराका विचार किया जाये तो वह किसी सम्प्रदाय विशेषके पक्षपाती न होकर एक शुद्ध तात्त्विक जैनमात्र प्रतीत होते है। इसीसे उनके द्वारा रचित तत्त्वार्थ-सूत्रको दोनो परम्पराओने अपनाया जबकि भाष्य एक परम्पराका ही होकर रह गया।

क्या भाष्य और सूत्रोका कर्ता एक ही है ?

दिगम्बर परम्परामे मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी प्रतियाँ बहुतायतसे उपलब्ध होती है तथा मूलसूत्रोंके पठनपाठनका भी प्रचार अधिक है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी प्रतियाँ क्वचित् ही उपलब्ध होती है और उसके मूलमात्रका प्रचार भी कम ही रहा है। दिगम्बर परम्पराके आचार्योंने भी केवल मूल तत्त्वार्थ सूत्र पर ही अपनी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ रची थी। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके टीकाकारोंने सभाष्य तत्त्वार्थ सूत्र पर ही अपनी टीकाएँ रची है। इस तरहसे श्वेताम्बर परम्परामें भाष्य सूत्रोंके साथ एक ग्रन्थके रूपमें ही माना जाता रहा है। दिगम्बर परम्परामे मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी जो प्रतियाँ पाई जाती हैं, उनके आदि और अन्तमें अनेक गाथाएँ तथा श्लोक भी पाये जाते हैं, किन्तु वे तत्त्वार्थ सूत्रके अग नही हैं, क्योंकि किसी भी टीकाकारकी टीकामे उनका सकेत तक नही पाया जाता। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके आदिमें उत्थानिका परक तथा अन्तमें उपसहार परक अनेक संस्कृत कारिकाएँ पाई जाती हैं। वे कारिकाएँ भाष्यकी अगभूत है या तत्त्वार्थ सूत्रकी अंगभूत हैं, यह विचारणीय है। प० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने अनेकान्त वर्ष ३, कि १ में मूलतत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी एक सटिप्पण प्रतिका परिचय कराया था। उनके परिचयके अनुसार उस प्रतिमें सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके शुरूमें जो ३१ सम्बन्ध कारिकाएँ पाई जाती हैं, और अन्तमें ३२ पद्य तथा प्रशस्तिके ६ पद्य पाये जाते है, वे सब कारिकाएँ एव पद्य इस सटिप्पण प्रतिमें ज्योंके त्यो पाये जाते है और उस परसे ऐसा मालूम होता है कि टिप्पणकारने उन्हें मूल तत्त्वार्थाधिगम सूत्रका ही अग समझा है।

---

१ सयम सध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्र कमडलु-पिच्छमात्र'—भ० आ० टी०, गा० १६२।

शुरूमे पाई जानेवाली सम्बन्ध कारिकाओंमेंसे एक इसप्रकार है—

'तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं सङ्ग्रह लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिदमर्हद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥

इसमें तत्त्वार्थाधिगम नामक लघुग्रन्थको रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। टीकाकार श्री देवगुप्तने 'लघुग्रन्थम्' का अर्थ 'श्लोकशतद्वयमात्र' किया है। इससे प्रतीत होता है ये सम्बन्ध कारिकाएँ मूलसूत्रकी ही अगभूत होनी चाहिये। क्योंकि मूलसूत्रोका प्रमाण दोसौ श्लोकमात्र सभव है। भाष्यका प्रमाण तो उससे वहुत अधिक है।

किन्तु इन कारिकाओकी स्थिति ऐसी है कि यदि उन्हें इस सूत्रग्रन्थसे अलग कर दिया जाये तो—उसकी अखण्डतामें उससे कोई क्षति नही पहुँचती। श्री प० सुखलालजीने भाष्य सम्मत तत्त्वार्थ सूत्रके मूलसूत्रोंका जो गुजराती तथा हिन्दीमें अनुवाद किया है उसमे केवल सूत्र ही है और सम्भवतया श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रकी इस प्रकारकी पहली टीका हैं। प० जी इन कारिकाओंको भाष्यका अग भी मानते हैं।

उक्त सम्बन्ध कारिकाओके पश्चात् मूलसूत्र ग्रन्थ प्रारम्भ होता है। प्रथम सूत्रका अन्य कोई उत्थानिका वाक्य नही। भाष्यका आरम्भ प्रथम सूत्रकी व्याख्याके रूपमें होता है। भाष्यमें आगे आनेवाले सूत्रोका [1]पूर्वनिर्देश होनेसे यह तो स्पष्ट ही है कि भाष्यकारके सामने पूरा सूत्रग्रन्थ मौजूद था, अथवा भाष्यकी रचनासे पूर्व सूत्रग्रन्थ रचा जा चुका था।

इतना प्राथमिक कथन करनेके पश्चात् हम अपने प्रकृत विषयपर आते है। श्री प० सुखलालजीने भाष्य स्वय उमास्वातिकृत है यह बात नीचे लिखे प्रमाणोमे निर्विवाद सिद्ध बतलाई है—

१ भाष्यकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन की है। उसमें स्वोपज्ञता सूचक उल्लेख[2] पाये जाते हैं।

२ भाष्यगत अन्तिम कारिकाओंमेंसे आठवी कारिकाको हरिभद्राचार्यने शास्त्रवार्ता समुच्चयमें उमास्वाति कर्तृक रूपसे उद्धृत किया है।

---

१ उक्तमवगाहनमाकाशस्य'—(३-१)। 'उक्त भवता-मानुषस्य स्वभाव मार्दवार्जव चेति। तत्र के मनुष्या।' (३-१४) की उत्थानिका।

२ 'शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मान विभज्य सूत्रकार-भाष्यकाराकारेणैवमाह'—(सिद्ध० टी०, भा० १, पृ० ७२)। सूत्रकारादविभक्तोऽपि भाष्यकार'—वही, पृ० २०५।

धर्मसागर उपाध्यायकृत तपागच्छपट्टावली[1] (वि० स० १६४६) में जिनभद्रके पश्चात् विबुधप्रभ, जयानन्द और रविप्रभका नाम देकर उनके पश्चात् उमास्वातिको युगप्रधान बतलाया है। तथा उनका समय वी० नि० स० ११९० (वि० स० ७२०) लिखा है। पट्टावलीसारोद्धारमें[2] भी उमास्वातिका समय वी० नि० स० ११९० लिखा है। किन्तु उसमें उमास्वातिके बाद जिनभद्रको बतलाया है। लोकप्रकाशमें (वि० स० १७०८) विनय विजयगणिने जिनभद्रके पश्चात् उमास्वातिको बतलाया है।

धर्मसागरने तो यद्यपि तपागच्छ पट्टावलीमें उमास्वातिका नाम रविप्रभके बाद युगप्रधान रूपमें दिया है जिनका निर्देश ऊपर किया गया है। किन्तु, आर्य महागिरिके शिष्य बहुल (बलि), बलिस्सहमेंसे बलिस्सहके शिष्य स्वातिको ही तत्त्वार्थसूत्र[3] वगैरहका कर्ता बतलाया है।

इससे प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके लेखक भी उमास्वातिके समय तथा परम्परा आदिके सम्बन्धमें अधेरेमें रहे हैं और उन्होंने बहुत पीछे उन्हें अपनी परम्परामें बैठानेका प्रयत्न किया है। फिर भी पं० सुखलालजीने उन्हें भाष्यके आधारपर श्वेताम्बर परम्पराका ही सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

तथा भाष्यमें भी अनेक ऐसे प्रसग हैं जो श्वेताम्बर आगमोंके साथ मेल नही खाते।

चूंकि उमास्वातिने अपने भाष्यकी प्रशस्तिमें अपने जिन गुरुओ और प्रगुरुओंके नाम दिये हैं, वे न तो दिगम्बर परम्परामें मिलते हैं और न श्वेताम्बर परम्परामें। अत श्री नाथूराम जी प्रेमीका ऐसा विचार है कि वे इन दोनोके अतिरिक्त किसी तीसरे सम्प्रदायके थे और वह शायद यापनीय सम्प्रदाय हो। अपनी सभावनाकी पुष्टिमें उन्होने भाष्य और प्रशस्तिके प्रकाशमें कुछ प्रमाण भी दिये हैं जो कुछ सभावनाओपर अवलम्बित है। अत उनके आधारपर उमास्वातिको यापनीय नही माना जा सकता।

भगवती आराधनाके टीकाकार श्री अपराजित सूरिने जो कि यापनीय थे, अपनी टीकामें तत्त्वार्थ सूत्रसे अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं। किन्तु उनके द्वारा उद्धृत सूत्र प्राय वे ही हैं जो दोनो सूत्र पाठोंमें समान रूपसे पाये जाते हैं। इसके

१. 'श्री० वी० नवत्यधिकैकादशशत ११९० वर्षे श्री उमास्वातिर्युगप्रधान।'
—पट्टा० स०, पृ० १५२।

२ पट्टा० स०, पृ० १५२।

३ 'आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुलबलिस्सहौ यमलभ्रातरौ, तस्य बलिस्सहस्य शिष्य स्वाति तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव सभाव्यन्ते।'
—पट्टा० स०, पृ० ४६।

अपवाद रूपमें भी कुछ सूत्र है। यथा—'शुक्ले[1] चाद्ये पूर्वविद ' यह सूत्र दिगम्बर परम्पराके पाठानुसार है। वहाँ उसका नम्बर (९–३७) है। भाष्य सम्मत पाठमें यह सूत्र दो सूत्रोंमे (शुक्ले चाद्ये ॥९-३९॥ और 'पूर्वविद ' ॥९-४०॥) विभाजित है। किन्तु अपराजित सूरिने इसे एक सूत्रके रूपमें ही उद्धृत किया है।

इसी तरह एक और सूत्र उद्धृत है—'आज्ञापायविपाक[2]संस्थानविचयाय धर्म्यम्'। यह भी दिगम्बर सूत्र पाठके ही अनुसार है। भाष्य सम्मत पाठमें 'धर्म्यम' के आगे अप्रमत्त सयतस्य (९-३७) पाठ अधिक है। इस तरहमे अपराजित सूरिने दिगम्बर सूत्र पाठको ही अपनाया है। उसका अपवाद केवल एक है और वह है भाष्य सम्मत[3] सूत्र (८-२६)। अपराजित[4] सूरिने इस सूत्रको तो उद्धृत नही किया है किन्तु पुण्य प्रकृतियोंकी गणना उसीके अनुसार की है।

किन्तु इसके सिवाय उन्होने केवल भाष्य सम्मत अन्य किसी सूत्रका उल्लेख नही किया। रहा भाष्य, उसका तो अपराजित सूरिकी टीकामें सकेत तक भी नही है। मानों उनके सामने भाष्य नामकी कोई वस्तु ही नही थी। उन्होने[5] तत्त्वार्थ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकाका ही एक मात्र प्रचुरतासे उपयोग किया है, क्वचित्-क्वचित् अकलक देवके तत्त्वार्थ वार्तिकको भी अपनाया जान पडता है। भाष्यकी-यदि वह उनके सामने उपस्थित था तो-इस उपेक्षासे ही यह स्पष्ट है कि भाष्यकार यापनीय नही था। भाष्यमें (९-५) एषणासमिति और आदान निक्षेपण समितिका स्वरूप वतलाते हुए पात्र चीवर वगैरहको धर्मका साधन

---

१ 'न ह्यकृतश्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने' भवितुमर्हत । 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविद ' इत्यभिहितत्वाच्च–भ०, आ० टी०, गा० १०४ ॥

२ 'आज्ञापायविपाकविचयाय धर्म्यम्' इति सूत्रम् ।–भ०, आ० टी० गा० १६९९ ।

३ 'सद्वेद्य-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायु-नीच गोत्राणि पुण्यम् ।–'

४ 'सद्वेद्यसम्यक्त्व-रति-हास्यपुवेदा शुभे नामगोत्रे शुभ चायु पुण्य एतेभ्योऽन्यानि पापानि ।–भ० आ० टी०, गा० १८३४ ।

५ भ० आ० गा० ४६ की टीकामें सत्य धर्म त्याग धर्म वगैरहके लक्षण सर्वा० सिद्धिके अनुसार हैं। गा० ५६ की टीकामे 'तत्त्वार्थ' की व्याख्या, गा० ११५ की टीकामें सवेग, गुप्ति आदिका लक्षण, गा० १३९ की टीकामे स्वाध्यायके भेदोंके लक्षण, गाथा ८०७ की टीकामें क्रियाओंके लक्षण, गा० ८११ की टीकामें जीवाधिकरणके भेद, ये सव सर्वार्थसिद्धिसे लिए गये है। और भी वहुतसे स्थल सर्वार्थसिद्धिके ऋणी है।

३ भाष्यकी प्रारम्भिक अंगभूत कारिकाके व्याख्यानमें आ० देवगुप्त भी सूत्र और भाष्यको एककर्तृक सूचित करते हैं।

४ प्रारम्भिक कारिकाओंमें और कुछ स्थानोंपर भाष्यमें[1] भी 'वक्ष्यामि' 'वक्ष्याम' आदि प्रथम पुरुषका निर्देश है।

५ भाष्यमें किसी स्थल पर सूत्रका अर्थ करनेमें शब्दोंकी खीचातानी नही हुई, कही भी सूत्रका अर्थ करनेमें सन्देह या विकल्प करनेमें नही आया। इसी प्रकार सूत्रकी किसी दूसरी व्याख्याको मनमें रखकर सूत्रका अर्थ नही किया गया। और न कही सूत्रके पाठभेदका ही अवलम्बन लिया गया।

यह ठीक है कि सिद्धसेन गणि आदि श्वेताम्बराचार्योंने सूत्रकार और भाष्यकारको एक माना है। किन्तु गणिजीने अपनी टीकामें सूत्रकारके लिये सूत्रकार और भाष्यकारके लिये भाष्यकार शब्दोंका ही प्रयोग किया है। एक भी जगह दोनोको एक मानकर शब्दोंका व्यतिक्रम नही किया। यह बात खास ध्यान देने योग्य है। तथा पहले तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी जिस सटिप्पण प्रतिका उल्लेख किया है जो कि किसी रत्नसिंह नामक श्वेताम्बराचार्य रचित है, उसके अन्तमें ९ पद्य पाये जाते हैं जो टिप्पणकार कृत हैं। उनपर टिप्पणकारकी स्वोपज्ञ टिप्पणी भी है। उससे प्रथम पद्य तथा टिप्पणी नीचे दी जाती है—

प्रागेवैतददक्षिणभषणगणादास्यमानमिव मत्वा।
त्रात समूलचूलं स भाष्यकारश्चिर जीयात् ॥१॥

टि०—'दक्षिणे सरलोदाराविति हैम'। अदक्षिणा असरला स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणा कुकुरास्तेषा गणैरादास्यमान ग्रहिष्यमान स्वायत्तीकरिष्यमाणमिति यावत् तथाभूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेष। सह मूलचूलाभ्यामिति समूलचूल त्रात रक्षित स कश्चिद् भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिर दीर्घं जीयाज्जय गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माक लेखकाना निर्मल ग्रन्थरक्षकाय प्राग्वचनचौरिकायामशक्यायेति।

अर्थात्—जिसने इस तत्त्वार्थ शास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपात से मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहो द्वारा ग्रहीष्यमान जैसा जानकर पहले ही इस शास्त्रकी मूलचूल सहित रक्षाकी वह भाष्यकार (जिसका नाम मालूम नही) चिरजीवि होवे, ऐसा हम लेखकोका उस निर्मल ग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन वचनोंकी चोरी-करनेमें असमर्थके प्रति आशीर्वाद है।'

---

१ 'गुणान् लक्षणतो वक्ष्याम'—५-३७ का भाष्य। 'तं पुरस्ताद् वक्ष्याम' ५-२२ भाष्य।

यहाँ टिप्पणकारने भाष्यकारका नाम न देकर उसके लिये 'स कश्चिद्' शब्दोंका प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको शायद भाष्यकारका नाम मालूम नही था। और वह उसे मूलसूत्रकारसे भिन्न समझता था।

इसी टिप्पणकारने आगे लिखा है—

परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं श्रृणुत वच्मि स विवेकं।
शुद्धो योऽस्य विधाता स दूषणीयो न केनापि ॥४॥

टि०—'एवं चाकर्ण्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिगम्बरो निह्नव इति केचिन्मा-वदन्नद शिक्षार्थं 'परमेतावच्चतुरैरिति' पद्यं ब्रूमहे—शुद्धं सत्यं प्रथम इति यावद्य कोऽप्यस्य ग्रन्थस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निन्दनीय एतच्चतुरैः विधेयमिति'।

अर्थात्—ऐसा सुनकर 'वाचक उमा स्वाति निश्चयसे दिगम्बर है, निह्नव है ऐसा कोई न कहे, इस बातकी शिक्षाके लिये हम 'परमेतावच्चतुरैः' आदि पद्य कहते हैं। जिसका आशय यह है—कि चतुर जनोंको जो कर्त्तव्य है उसे सुनो, मैं विवेक पूर्वक कहता हूँ। इस ग्रन्थका जो कोई भी शुद्ध सत्य (वास्तविक) आद्य निर्माता है उसकी किसी भी तरह निन्दा नही करनी चाहिये।

टिप्पणकारने उक्त श्लोक अपने सम्प्रदायके उन लोगोको लक्ष्य करके लिखा है जो तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता वाचक उमास्वातिको दिगम्बर निह्नव कहते थे—क्योकि उसके भाष्यमें अनेक बातें ऐसी भी हैं जो श्वेताम्बरीय आगम सम्मत नही है।

उक्त श्लोकोंमे तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यके कर्तृत्व आदिके विषयमे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो प्रवाद फैला हुआ था उसपर अच्छा प्रकाश पडता है। उनसे तीन बातें व्यक्त होती हैं—

१ तत्त्वार्थ सूत्रको दूसरे लोग (दिगम्बर) ग्रहण कर लेगें इस बातको पहले-से ही जानकर किसीने उसपर भाष्य रचकर उसे अपना लिया अर्थात् श्वेताम्बर सम्प्रदायका बना डाला।

२. श्वेताम्बर लोग तत्वार्थ शास्त्रके कर्ता उमास्वातिको दिगम्बर निह्नव कहकर उसकी निन्दा करते थे।

३ तत्त्वार्थ सूत्रका आद्य निर्माता कौन था इसमें भी विवाद था।

अत. श्वेताम्बर परम्परामें भी सूत्रकार और भाष्यकारके ऐक्यके सम्बन्धमें सर्वथा ऐक्यमत्य या निर्विवाद जैसी स्थिति प्रतीत नही होती।

चौथी और पाँचवी युक्तियोंके सम्बन्धमें भी अनेक बातें विचारणीय हैं और उनसे उक्त समस्या सुलझनेके बजाय उलझ जाती है।

१ यद्यपि भाष्यमें 'उपदेक्ष्याम ।' जैसे प्रथम पुरुष परक निर्देश भी हैं, किन्तु उसमें अन्य पुरुष परक निर्देशोंकी ही बहुतायत है। यथा—'आद्ये परोक्षम्' सूत्रके भाष्यमें लिखा है॥१-११॥' आद्ये सूत्रक्रम प्रामाण्यात् प्रथम द्वितीये शास्ति।' यहाँ 'शास्ति' अन्य पुरुष परक निर्देश है। इसकी टीकामें[1] इस असगतिका परिहार करनेके लिए सिद्धसेन गणिको यह लिखना पड़ा ग्रन्थकारने अपनेको सूत्रकार और भाष्यकारके रूपमे विभाजित करके 'शास्ति' ऐसा कहा है।

सूत्र (१-२०) के भाष्यमें लिखा है—अत्राह-मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वम्' द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।

सूत्र (१-३५) के भाष्यमें—'आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह'। इसी सूत्रके भाष्यमें आगत कारिकाओंके लिए भी 'आह च' अन्यपुरुष परक निर्देश है। उसकी टीकामें[2] भी सिद्धसेन गणिने उक्त प्रकारसे समाधान किया है। और भी देखिये—

'अत्राह—उक्त भवता जीवादीनि तत्त्वानि' (२-१)। इसकी टीकामें सिद्धसेन गणिजीने लिखा है—'किं पुनरत्र प्रयोजन यदयमपहायाध्यायप्रकरण-सम्बन्धौ सूत्रकृतमेव सम्बन्धमाविश्चकार भाष्यकार।' ये शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं।

इस प्रकारके अन्य पुरुष परक निर्देशोंकी ही भाष्यमें बहुतायत है। अब रहे वक्ष्याम' जैसे प्रथम पुरुष परक निर्देश। सो जिन सूत्रोंके व्याख्याता सूत्रकारसे भिन्न हैं उसकी व्याख्याओंमें भी इस प्रकारके प्रथम पुरुष परक निर्देश पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए पातञ्जल सूत्रोंके व्यास[3] भाष्य, तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका[4]

---

१ 'शास्तीति' च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मान विभज्य सूत्रकार भाष्यकारा-कारेणैवमाह—शास्तीति सूत्रकार इति शेष।'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० ७२।

२ 'आह चेत्यात्मानमेव पर्यायान्तरवर्तिन निर्दिशति'—वही, पृ० १२७।

३ 'स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इति उप-रिष्टात् निवेदयिष्याम।' (सूत्र-१)। 'यथाक्रममेषामनुष्ठान स्वरूपं च वक्ष्याम (२-२९, ३०)। व्या० भा०।

४ 'तस्य स्वरूप मनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्याम।' 'एतेषा स्वरूप लक्षणतो विधान-तश्च विस्तरेण निर्देक्ष्याम।'—सर्वार्थ० पृ० २। अवसर प्राप्त बन्ध व्या-चक्ष्महे—प्रकरण सामर्थ्यात् भावबन्ध ब्रूम।'—त० वा०, पृ० ५६१।

सर्वार्थ सिद्धि वगैरहको रखा जा सकता है। अत. भाष्य और सूत्रोकी एक कर्तृ-कताके सम्बन्धमें चतुर्थ युक्ति भी वजनदार नही है।

अव हम ५वी युक्तिपर विचार करेंगे—

प्रथम तो सूत्रोका अर्थ करनेमें शब्दोकी खीचातानीका न होना, सन्देह या विकल्पका न होना, आदि वातें किसी व्याख्याके सूत्रकार कृत होनेमें नियामक नही हो सकती, क्योकि पातञ्जल सूत्रोपर विरचित व्यास भाष्यमें भी उक्त वातें पाई जाती हैं, किन्तु वह सूत्रकार कृत नही है।

दूसरे, तत्त्वार्थसूत्रका उक्त भाष्य उक्त वातोंसे एक दम अछूता भी नही है। सवसे प्रथम उल्लेखनीय है—सूत्र और भाष्यका पारस्परिक विरोध।

सूत्र और भाष्यमें विरोध—

१ 'इन्द्र सामानिक' (४-४) आदि सूत्रमें देवोंके दस भेद वतलाये हैं और उसके भाष्यके आरम्भमें भी 'एकैकशश्चैतेषु देवनिकायेषु देवा दशविधा भवन्ति' लिखकर दस भेद ही वतलाये हैं। किन्तु आगेके भाष्यमें उन भेदोका अर्थ करते हुए 'अनीकाधिपति' नामके भी एक भेदको गिनाया है, जवकि सूत्रमें केवल 'अनीक' नामका एक ही भेद है। सिद्धसेन गणिने अपनी टीकामें[1] इसका समन्वय करते हुए लिखा है कि आचार्यने तो सूत्रमें केवल अनीकोंका ही ग्रहण किया है, अनीकाधिपतियोंका नही, किन्तु भाष्यमें उनका भी निर्देश है। अनीक और अनीकाधिपतियोंको एक मानकर भाष्यकारने ऐसा व्याख्यान कर दिया है, अन्यथा तो दस सख्याका नियम टूट जाता है।'

२ इसी तरह सूत्र (४-२६) में लौकान्तिक देवोंके नौ भेद गिनाये हैं किन्तु भाष्यमें उनकी सख्या आठ ही लिखी है। इस वातको भी सिद्धसेन[2] गणिने अपनी टीकामें उठाया है।

इस तरहकी वातें सूत्रकार और भाष्यकारकी एकतामें सन्देह पैदा करती है। तत्त्वार्थ सूत्र जैसे सूत्र ग्रन्थके रचयिताके द्वारा रचे गये भाष्यमें इस प्रकारकी असावधानी नही हो सकती। एक और उदाहरण लीजिये—

३ पाचवें अध्यायके १९ वें सूत्रके भाष्यमें लिखा है—'प्राणापानौ च नाम-

---

१ 'सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणा, नानीकाधिपतय., भाष्ये पुनरुपन्यस्ता-स्तदेकत्वमेवानीकानीकाधिपत्योः परिचिन्त्य विवृतमेव भाष्यकारेण। अन्यथा वा दससंख्या भिद्येत।'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० २७६।

२ 'नन्वेवमेते नवभेदा भवन्ति भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिता। सि० टी०, भा० १, पृ० ३०७।

कर्मणि व्याख्यातौ ।' अर्थात् नामकर्मके कथनमें प्राण और अपानका व्याख्यान किया जा चुका । मगर नामकर्मका उक्त कथन आगे आठवें अध्यायमें है । सिद्धसेन गणिने अपनी टीका[1] में इस चर्चाको भी उठाकर उसका समाधान करनेका प्रयत्न किया है ।

४ एक उदाहरण ऐसा भी है । जिसमें भाष्यकारने सूत्रके क्रमका उल्लंघन करके व्याख्यान किया है । अध्याय छै के 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया.' इत्यादि छठे सूत्रमें 'इन्द्रिय, कषाय और अव्रत' को क्रमसे रखा है । किन्तु भाष्यकारने पहले पाँच अव्रतोंका फिर कषायोंका और फिर पाँच इन्द्रियोंका उल्लेख किया है । इस क्रमोल्लघनका उल्लेख करके सिद्धसेन गणिने उसका समाधान करते हुए लिखा[2] है—भाष्यकारका यह अभिप्राय है कि हिंसा आदि अव्रत सकल आस्रव जालके मूल हैं उनमें प्रवृत्ति होने पर ही आस्रवमें प्रवृत्ति होती है और उनसे निवृत्ति होने पर सब आस्रवोंसे निवृत्ति होती है, इस अर्थका ज्ञापन करनेके लिये भाष्यकारने सूत्रोक्त क्रमका उल्लघन करके अव्रतोंका कथन किया है । और सूत्र रचनाकी शोभाके लिये इन्द्रियका आदिमें सन्निवेश किया है ।' कैसा अच्छा समाधान है ? सूत्रोंकी रचना सुन्दरताकी दृष्टिसे की जाती है यह एक नई खोज है । इन्द्रियकी जगह 'अव्रत' रखनेसे सूत्र कैसे असुन्दर हो जाता यह तो गणिजी ही बतला सकते हैं । वास्तवमें यदि सूत्रकारने ही भाष्य बनाया होता या भाष्यकारने ही सूत्र बनाया होता तो इस तरह के व्यतिक्रम भाष्य और सूत्रमें कदापि न मिलते या कम से कम उसके द्वारा सूत्र और भाष्यमें व्यतिक्रम होनेका कारण तो बतला दिया जाता ।

५ प० सुखलालजीका कहना है कि भाष्यमें सन्देह या विकल्प नही पाया जाता । किन्तु तीसरे अध्यायके प्रथम सूत्रमें आगत 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा' पदका अर्थ करते हुए भाष्यकारने लिखा है—'अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा' इति सिद्धे घन ग्रहण क्रियते तेनायमर्थ प्रतीयते ।'

---

१ 'प्राणापानावष्टमेऽध्याये नामकर्मणि गतिजात्यादिसूत्रे ' इत्यत्र भाष्ये व्याख्यास्येते कथ तर्हि व्याख्यातौ' वही पृ० ३४२ ।

२ 'तत्रेन्द्रिय कषायानुल्लङ्घ्याव्रतान्येव व्याचष्टे भाष्यकार । किं पुनरत्र प्रयोजनमिति । उच्यते—अयमभिप्रायो भाष्यकारस्य—हिंसादीन्यव्रतानि सकलास्रवजालमूलानि तत्प्रवृत्तास्रवेष्वेव प्रवृत्तिस्तन्निवृतौ च सर्वास्रवेभ्यो निवृत्तिरित्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थ सूत्रोक्तक्रममतिक्रम्याव्रतानि व्याचष्टे भाष्यकार । सूत्रबन्धशोभाहेतोरिन्द्रियादिसन्निवेश—वही, भा० २, पृ० १० ।

अर्थात्—'अम्बुवाताकाश प्रतिष्ठा' ऐसा सिद्ध होनेपर भी जो 'घन' शब्दका ग्रहण किया गया उससे ऐसा प्रतीत होता है। यहाँ 'प्रतीयते' शब्द निश्चयात्मक नही है सन्देहात्मक है। गणिजीने अपनी टीकामें 'प्रतीयते' शब्दको उडा ही दिया है और भाष्यका अर्थ करते हुए 'ज्ञाप्यते' शब्दका प्रयोग किया है जो निश्चयात्मक है। यदि भाष्यकार ही सूत्रकार होता तो अपने द्वारा प्रयुक्त 'घन' शब्दके प्रयोगके लिये वह 'प्रतीयते' जैसे अनिश्चयात्मक शब्दका प्रयोग न करके 'ज्ञाप्यते' जैसे शब्दका प्रयोग करता।

६ दूसरे अध्यायके अन्तिम सूत्रमें औपपातिक, चरमदेह और उत्तम पुरुषका ग्रहण किया है। तदनुसार भाष्य मे भी उनका व्याख्यान करते हुए 'उत्तम पुरुषास्तीर्थंकरचक्रवर्त्यर्धचक्रवर्तिन' लिखा है। किन्तु आगे उनमें सोपक्रम और निरुपक्रमकी चर्चा करते हुए उत्तम पुरुषोको एक दम ही छोड दिया है। इससे जो असगति पैदा हुई उसका उल्लेख सिद्धसेन[1] गणिने किया है। उन्होने लिखा है कि किन्हीका कहना है कि सूत्रकारने सूत्रमें 'उत्तम पुरुष' पदका ग्रहण नहीं किया अत उत्तम पुरुषका ग्रहण अनार्ष है। और भाष्यमें दोनो ही प्रकार पाये जाते हैं। प्रारम्भमें उत्तम पुरुपका ग्रहण किया है किन्तु आगे निरुपक्रम सोपक्रमके निरूपणमें ग्रहण नही किया अत भाष्य से ही सन्देह होता है कि सूत्रमें उत्तम पुरुष पद है या नही।' गणिजी भी इस सन्देहका निराकरण नही कर सके।

उक्त बातोंके सिवाय सूत्र और भाष्यकी तुलना करनेसे अनेक ऐसी बातें प्रकाशमें आती हैं जो दोनोंकी एककर्तृकतामें सभव प्रतीत नही होती।

तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका रचयिता विषयको क्रमानुसार व्यवस्थित करके उसे सूत्र निबद्ध करनेमें पटु है। एक भी सूत्रके विषयमें कोई यह नही कह सकता कि यह सूत्र यदि यहाँ न होकर अमुक जगह होता तो उत्तम होता। किन्तु भाष्यमें ऐसा सुव्यवस्थितपना नही है। कई स्थलोपर कहीकी बात कही कह दी गई है।

यथा—दूसरे अध्यायके ३७वें सूत्रमें औदारिक आदि पाँच शरीरोंके नाम गिनाये है। इसके भाष्यमें केवल पाँच शरीरोके नाम गिनाकर इतना ही लिख

---

१ 'केचिदभिदधते—नास्ति सूत्रकारस्योत्तमपुरुषग्रहणमिति तत्कथ तीर्थकरादि संग्रह इतिचेत्, एव च मन्यन्ते 'तस्मादनार्षमुत्तमपुरुषग्रहणमिति। उभयथा च भाष्यमुपलक्ष्यते अविगानात्, आदावुत्तमपुरुषास्तीर्थकरादय इति विवृत्तमुत्तरकालं पुनर्नोपात्तमुत्तमपुरुषग्रहण निरुपक्रमसोपक्रमनिरूपणाया- मतो भाष्यादेव सन्देह किमस्ति नास्तीति सशयात्तमेवेदमस्माकम्।'—वही, पृ० २२१-२२२।

दिया है कि ये पाँच शरीर ससारी जोवोके होते हैं। और आगे ४९वें सूत्रके भाष्यमें औदारिक आदि संज्ञाओंके शब्दार्थका कथन किया है।

सिद्धसेनगणिने अपनी टीकामें इस अप्रासगिकताकी चर्चाको शकाके रूपमें उठाते हुए लिखा[1] है—'यह भाष्य तो शरीर प्रकरण सम्बन्धी प्रथम सूत्र (३७)में युक्त होता। प्रकरणके अन्तमें उसके कहनेका किञ्चित् भी विशिष्ट प्रयोजन नही है।' इसका उत्तर देते हुए लिखा है—प्रकरणके अन्तमें कहनेका सत्य ही कुछ भी फल नही है क्योकि वह असूत्रार्थ है। अत आचार्यकी इस एक भूलको क्षमा करें।

इस तरहकी एक नही अनेक अनुपपतियाँ सूत्र और भाष्यकी एक कर्तृकता के सम्बन्धमें है। इसके सिवाय उस समयके जितने भी प्राचीन सूत्र ग्रन्थ वर्तमान हैं उनमेसे किसी भी सूत्र ग्रन्थपर उसके रचयिताने कोई भाष्य या वृत्ति नही रची। पातञ्जल सूत्र, न्याय सूत्र, वैशेषिक सूत्र, वेदान्त सूत्र आदि सूत्रग्रन्थ इसके उदाहरण हैं।

अत भाष्य और सूत्रकी एक कर्तृकताके आधारपर सूत्रकारकी परम्पराका निर्णय नही किया जा सकता। उसके लिये तो तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंके माध्यमसे ही विचार करना उचित होगा। आगे हम तत्त्वार्थसूत्रके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डालेंगे।

तत्त्वार्थ सूत्रकी उत्पत्ति कथा

तत्त्वार्थ सूत्रके आद्य टीकाकार पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थ सिद्धि नामक अपनी तत्त्वार्थ वृत्तिके प्रारम्भमें प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें लिखा है कि 'कोई स्वहितैषी निकट भव्य किसी आश्रममें मुनियोकी परिषदके मध्यमें विराजमान निग्रन्थाचार्यके पास गया और उनसे पूछा कि भगवान्! आत्माका हित क्या है? आचार्यने उत्तर दिया—'मोक्ष'। तब पुन उसने पूछा—मोक्षका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका मार्ग कौनसा है? इसीके उत्तरमें 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग' सूत्र प्रवर्तित हुआ।

---

१ 'ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतद् भाष्य युक्त स्यात्। इह तु प्रकरणान्ताभिधाने न किञ्चित् प्रयोजन वैशेषिकमस्तीति। उच्यते—तदेवमय मन्यते तदेवेदमादि सूत्रमाप्रकरण परिसमाप्ते प्रपञ्चयते अथवा प्रकरणान्ताभिधाने सत्यमेव न किञ्चित् फलमस्त्यसूत्रार्थत्वादत क्षम्यतामिदमेकमाचार्यस्येति।'
—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० २११।

एक प्रभाचन्द्र नामके आचार्यका 'तत्त्वार्थ[1] वृत्ति पद' नामका ग्रन्थ मूडविद्रीके भण्डारमें है। उसकी एक प्रति वम्बईके ए० प० सरस्वती भवनमें है। इसमें सर्वार्थसिद्धिके अव्यक्त पदोंको व्यक्त किया गया है। इसमें सर्वार्थसिद्धिकी उत्थानिकाके पदोका अर्थ करते हुए निर्ग्रन्थाचार्यके पास जानेवाले उस भव्यका नाम 'प्रसिव्येक 'नामा' लिखा है। किन्तु १३वी शताव्दीमें वालचन्द्र मुनि द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रकी जो कनडी टीका लिखी गई है उसमें उस प्रश्न कर्ता भव्यका नाम 'सिद्धय्य' दिया है। वहुत सम्भव है कि प्रभाचन्द्रकी वृत्तिकी मूल प्रतिमें भी सिद्धय्य नाम ही हो और लेखकके दोषसे वम्बईवाली प्रतिमें गलत नाम लिखा गया हो।

वालचन्द्रकी कनडी वृत्तिकी प्रस्तावनामें तत्त्वार्थ सूत्रकी उत्पत्ति जिस प्रकारसे वतलाई है उसका सक्षिप्तसार इस प्रकार है—सौराष्ट्र[2] देशके मध्य उर्जयन्त गिरिके निकट गिरिनगर नामके पत्तनमें आसन्न भव्य, स्वहितार्थी, द्विज कुलोत्पन्न, श्वेताम्वर भक्त सिद्धय्या नामका एक विद्वान श्वेताम्वर मतके अनुकूल सकल शास्त्रका जाननेवाला था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' ऐसा एक सूत्र वनाया और उसे एक पटियेपर लिख दिया। एक दिन चर्याके लिए उमास्वाति नामके मुनि वहाँ आये और उन्होंने आहार लेनेके पश्चात् पाटियेको देखकर उसमें उक्त सूत्रके पहले 'सम्यक्' पद जोड दिया। जव सिद्धय्य वाहरसे आया और उसने पाटियेपर सम्यक् शव्द जुडा देखा तो उसने प्रसन्न होकर अपनी मातासे पूछा कि किस महानुभावने यह शव्द लिखा है। माताने उत्तर दिया कि एक निर्ग्रन्थाचार्यने यह शव्द लिखा है। इस पर वह उन्हें खोजता हुआ उनके आश्रममें पहुँचा और भक्ति भावसे विनय पूर्वक उन मुनिराजसे पूछने लगा कि आत्माका हित क्या है ? मुनिराजने कहा मोक्ष है। इसपर उसने मोक्षका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय पूछा। उसीके उत्तर रूपमें तत्त्वार्थ सूत्र रचा गया।

इस तरह एक श्वेताम्वर विद्वानके प्रश्नपर एक दिगम्वराचार्य द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रकी उत्पत्ति हुई ऐसा उक्त कथानकसे प्रकट होता है। नही कहा जा सकता कि यह कथा कहाँ तक ठीक है। किन्तु यह कथा ७०० वर्षोंसे भी पुरानी है क्योंकि उक्त कनडी टीकाके कर्ता वालचन्द्र मुनि विक्रमकी १३वी शताव्दीके पूर्वार्धमें हो गये हैं।

इस कथा का मूल आधार तो सर्वार्थ सिद्धिकी उत्थानिका ही प्रतीत होता है क्योंकि सिद्धय्यके निर्ग्रन्थाचार्यके पास पहुँचनेके वाद उन दोनोंके वीचमें जो

१ अव यह ग्रन्थ भा० ज्ञानपीठ मे सर्वार्थसिद्धि के साथ प्रकाशित हो चुका है।

२ अनेकान्त, वर्ष १, कि० ५, पृ० २७१।

उत्तर प्रत्युत्तर होता है वह प्राय सब वही है जो सर्वार्थ सिद्धिमें प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें पाया जाता है। किन्तु पूज्यपादने 'कश्चिद् भव्य' लिखा है, उसका कोई नाम नही दिया। हाँ सर्वार्थ सिद्धिके पदोके व्याख्याकार प्रभाचन्द्रने, जो न्याय कुमुदचन्द्र आदिके रचयिता प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही ज्ञात होते हैं, उस भव्यका नाम अपनी वृत्तिमें दिया, किन्तु अन्य सब कथाका उसमें भी कोई उल्लेख नही है।

तत्त्वार्थसूत्र

नाम—यह पहले लिख आये है कि श्रवणवेलगोला और नगर ताल्लुके शिला लेखोमें प्रकृत गन्थका नाम तत्त्वार्थ[1] सूत्र मिलता है। तथा वीरसेन स्वामीने अपनी धवला[2] टीकामें भी तत्त्वार्थ सूत्र नामसे ही उसका उल्लेख किया है। किंतु उसके प्रसिद्ध टीकाकार श्री पूज्यपाद स्वामीने अपनी सर्वार्थसिद्धिको तत्त्वार्थ[3] वृत्ति कहा है, अकलकदेवने अपने वार्तिक ग्रन्थको [4]तत्त्वार्थवार्तिक नाम दिया है, और विद्यानन्दिने अपनी अमर कृतिको [5]तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक सज्ञा दी है। जिससे प्रमाणित होता है कि सूत्र ग्रन्थका नाम तत्त्वार्थ है। तत्त्वार्थसूत्रकी अनेक प्रतियोके अन्तमें जो उसके माहात्म्यसूचक श्लोक मिलता है, उसमें भी उसका उल्लेख केवल [6]तत्त्वार्थ नामसे ही पाया जाता है। और शास्त्रात्मक होनेसे उसे [7]तत्त्वार्थ-शास्त्र भी कहा है। किन्तु सूत्र शैलीमें निवद्ध होनेके कारण तत्त्वार्थसूत्र नामसे ही उसकी अति प्रसिद्धि है।

किन्तु सभाष्य तत्त्वार्थसूत्रके आदिमें जो उत्थान कारिकाएँ पाई जाती है उनमेंसे कारिका २२ में तथा अन्तिम प्रशस्तिके श्लोक ५-६ में उसका नाम 'तत्त्वार्थाधिगम' वतलाया है। किन्तु सिद्धसेन गणिने अपनी वृत्तिको तत्त्वार्थवृत्ति नाम ही दिया है तथा उसकी मुद्रित प्रति में प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका

---

१ जै० शि० सं०, भा० १, ले० न० १०५।

२. षट् ख०, पु० १, पृ० २३९, २५९।

३. 'सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपान्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिश मनसा प्रधार्या।
—सर्वा० सि० प्रश०।

४ 'वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम्—त० वा० पृ० १।

५ त० श्लो० वा० का आद्य श्लोक।

६ 'दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।'
'तत्त्वार्थशास्त्र कर्त्तारमुमास्वामि मुनीश्वरम्।'

७ 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत सलिलनिधे'—आ० प०, प्रश०।

वाक्य पाये जाते है उनमें 'तत्त्वार्थाधिकगम' नामकी तरह तत्त्वार्थसूत्र नाम भी पाया जाता है—यथा 'श्री तत्त्वार्थसूत्रे भाष्यसयुक्ते भाष्यानुसारिण्या तत्त्वार्थ-टीकाया पष्ठो अध्याप समाप्त । तथा सम्वन्धकारिकाओंके आद्य टीकाकार देव गुप्त सूरिने अपनी टीकाके आद्यश्लोकमें केवल 'तत्त्वार्थ' नामसे ही उसका निर्देश किया है। मलय गिरि सूरिने अपनी जीवाभिगम सूत्रकी टीका (६-९) मे भी उसका उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रके नामसे किया है। अत 'तत्त्वार्थाधिगम'की अपेक्षा 'तत्त्वाथ' नामसे ही इस ग्रन्थका प्रचलन रहा है। उसमें मोक्षका कथन होनेसे उसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं।

महत्त्व—इस सूत्र ग्रन्थमें जिनागमके मूल तत्त्वोको वहुत ही सक्षेपमे इस सुन्दर ढंगसे निवद्ध किया है कि 'गागरमें सागर' की कहावतको चरितार्थ कर दिया है और कुछ सौ सूत्रोंमें करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोगका सार खीचकर रख दिया है। तथा उसकी रचनागें साम्प्रदायिकताका समावेश न होनेसे सभी जैन सम्प्रदायोंमें वह प्रिय और मान्य रहा है। उसकी इन विशेषताओंके कारण पूज्यपाद स्वामीने उसपर सर्वार्थसिद्धि नामकी, अकलकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक नामकी और विद्यानन्दिने तत्वार्थश्लोक वार्तिक नामकी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक टीकाएँ रचकर तो उसके महत्त्वमें चार चान्द लगा दिये हैं। अकलकदेवने, जिन्हें जैन न्यायका पिता कहा जा सकता है, अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोमें जो प्रमाण और नयोका विवेचन किया है उसका मूल स्रोत तत्त्वार्थसूत्रका प्रथम अध्याय है। इसीसे श्रीविद्यानन्दिने अपनी आप्तपरीक्षाके अन्तमें 'श्रीमत्तत्वार्थशास्त्राद्‌भुतसलिलनिधे रिद्धरत्नोद्भवस्य' लिखकर तत्त्वार्थशास्त्रको वहुमूल्य रत्नोको उत्पन्न करनेवाला अद्‌भुत समुद्र कहा है।

जितनी टीकाएँ इस ग्रन्थपर रची गई हैं उतनी अन्य किमी ग्रन्थपर नही रची गई। यह उसकी महत्ता और लोकप्रियताका सूचक है। फिर भी यह कहना पडेगा कि दिगम्वर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रको जो महत्त्व मिला वह महत्त्व उसे श्वेताम्वर परम्परामें नही मिल सका। न तो श्वेताम्वर परम्परामें उसपर उतनी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ ही रची गई और न जनतामें ही वह उतना लोकप्रिय हो सका। इसका एक कारण श्वेताम्वर परम्परामें आगम ग्रन्थोंकी उपस्थितिका होना भी है। उसकी दृष्टिमें आगमग्रन्थोका जो महत्त्व हो सकता है वह तत्त्वार्थ सूत्रका नही हो मकता। उधर दिगम्वर परम्परामें तो तत्त्वार्थसूत्रका पाठ करनेसे एक उपवासका फल लगनेकी प्रसिद्धिने जनसाधारणमें भी उसे लोक प्रिय वना डाला

१ 'वीर प्रणम्य सर्वज्ञं तत्वार्थस्य विधीयते।'

आज तो तत्त्वार्थ सूत्रको जैनोंमे वही स्थान प्राप्त है जो हिन्दू धर्ममें भगवत् गीताको इस्लाममें कुरानको और इसाई धर्ममें बाइबिलको प्राप्त है।

संस्कृतका आद्य ग्रन्थ—तत्त्वार्थ सूत्रका एक सबसे बडा उल्लेखनीय महत्त्व यह है कि उसे जैन परम्परामें आद्य संस्कृत ग्रन्थ कहे जानेका सौभाग्य प्राप्त है। उससे पूर्व प्राकृत भाषामें ही जैन ग्रन्थोंकी रचना की जाती थी, उसी भाषामें भगवान महावीरकी देशना हुई थी और उसी भाषामें गौतम गणधर ने अंगों और पूर्वोकी रचना की थी। किन्तु जब देशमें संस्कृत भाषाका महत्त्व बढा और विविध दर्शनोके मन्तव्य सूत्र रूपमें निबद्ध किये गये तो जैन परम्पराके आचार्योका ध्यान भी उस ओर गया और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण सूत्र-ग्रन्थकी रचना हुई और इस तरहसे सूत्रकारने जैन वाड्मयके क्षेत्रमें संस्कृत भाषाको प्रवेश कराकर संस्कृत भाषामे रचना करनेका द्वार खोल दिया।

रचना शैली—वैशेषिक दर्शनके सूत्रोंकी तरह तत्त्वार्थ सूत्र भी दस अध्यायोंमें विभक्त है। दोनोंकी सूत्र संख्यामें भी ज्यादा अन्तर नही है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंकी संख्या ३५७ और श्वे० परम्पराके अनुसार ३४४ है जब कि वैशेषिक सूत्रोंकी संख्या ३३३ हैं। वैशेषिक सूत्रोंमें तथा न्याय सूत्रोंमें भी तत्त्व ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति मानी है और तदनुसार दोनोंमें अपने-अपने माने हुए पदार्थोका ही कथन है। किन्तु उन कथनमें आत्माके बन्धन, उसके निरोध और छुटकारेके लिये किये जानेवाले संयमका कथन नही है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रमें उन सबका विस्तार पूर्वक कथन है। इस ऊपरी समानताके होते होते हुए भी दोनोंमें उल्लेखनीय अन्तर भी है। वैशेषिक सूत्रोंमें अपने मन्तव्योके समर्थनमें हेतु वादका आश्रय लिया गया है अर्थात् सूत्रोमें अपने मन्तव्यको कह-कर उनकी पुष्टिमें युक्तियाँ भी दी गई हैं। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रमें केवल सिद्धान्त का निरूपण है, पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष जैसी चर्चाका उसमें लेश भी नही है। इस प्रकारके सूत्र ग्रन्थोंमें परिभाषाओसे अनभिज्ञ व्यक्तिके लिये तत्त्वार्थ सूत्रोका गहन प्रतीत होना भी स्वभाविक है किन्तु अर्थ गाम्भीर्य भी उसका एक प्रमुख कारण हो सकता है।

विषय परिचय—वैशेषिक दर्शनके प्रारम्भमें कहा गया है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव नामक पदार्थोके तत्त्व ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः उसमें मुख्य रूपसे उक्त पदार्थोका विचार किया गया है। साख्य दर्शनमें भी प्रकृति और पुरुषका वर्णन करते हुए प्रधान रूपसे जगतके मूल भूत पदार्थोका ही विचार है। इसी प्रकार वेदान्त दर्शन भी जगतके मूल भूत तत्त्व ब्रह्मकी ही प्रधान रूपसे मीमांसा करता है। इस तरह इन दर्शनोमें ज्ञेयतत्त्वका

ही प्रधान रूपसे वर्णन मिलता है। न्याय दर्शनमें प्रमाण, प्रमेय सशय, आदि सोलहपदार्थोके तत्त्व ज्ञानसे मोक्षकी प्रप्ति वतलाई है अत उसमें इन्हीका वर्णन है। प्रमाणोके द्वारा अर्थकी परीक्षा करनेका नाम न्याय है। अत न्याय दर्शनमें अर्थ परीक्षाके साधनोंका ही मुख्य रूपसे कथन किया गया है। किन्तु योग दर्शनमें जीवनमें अशुद्धता लाने वाली चित्त वृत्तियोंका और उनके निरोधका तथा उसकी प्रक्रियाका वर्णन है। इस तरहसे उक्त दर्शनोंका विषय ज्ञेयप्रधान, ज्ञानसाधन प्रधान और चारित्र प्रधान है।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें ज्ञान ज्ञेय और चारित्रकी समान रूपसे चर्चा पाई जाती है। जैसे कुन्दकुन्दाचार्यके प्रवचनसारमें क्रमसे ज्ञान, ज्ञेय और चारित्रकी मीमासा की गई है, तदनुसार ही तत्त्वार्थ सूत्रमें भी विषय विभाग किया गया है।

इसका कारण यह है कि जहाँ वैशेषिक आदि दर्शनोमें तत्त्वज्ञानसे निश्रेयस-की प्राप्ति वतलाई है वहाँ जैन दर्शनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको मोक्षका मार्ग कहा है। तथा जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन और उनके यथार्थ ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा है। अत मुमुक्षुके लिये इन सात तत्त्वोका श्रद्धान और ज्ञान होना आवश्यक है। उसके विना मोक्षका मार्ग नही खुलता। इसीसे जैन दर्शनमें इन सात तत्त्वोका जितना महत्त्व है उतना अन्य किसीका भी नही है। कुन्द-कुन्दाचार्यने अपने समयसारमें निश्चयनय और व्यवहार नयसे इन्ही तत्त्वोंका निरूपण किया है इसीसे तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताने भी उन्हीका वर्णन सूत्रोमें करके अपने सूत्र ग्रन्थको विषयके अनुरूप तत्त्वार्थ नाम दिया है इन तत्त्वार्थोंके माध्यम-से उन्होने जैन सम्मत ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र सम्वन्धी प्राय सभी मौलिक वातें सगृहीत कर दी है।

१ पहले अध्यायमें ज्ञानकी, दूसरेसे पाँचवे तक चार अध्यायोमें ज्ञेयकी अर्थात् दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायमें जीवतत्त्वकी और पाँचवेंमें अजीवतत्वकी, तथा छठेसे लेकर दसवें तक चारित्रकी, अर्थात् छठे और सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्व की, आठवें अध्यायमें वन्धतत्त्वकी, नौवें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वोंकी और दसवें अध्यायमें मोक्ष तत्त्वकी चर्चा हैं। पहले अध्यायके 'प्रमाणनयैरधिगम' सूत्रसे ज्ञान विषयक चर्चाका प्रारम्भ होता है। प्रमाणकी चर्चा तो सव इतर दर्शनो में है, किन्तु नय तो जैन दर्शनके अनेकान्त वादकी ही देन है। अत. इसकी चर्चा इतर दर्शनो में नही पाई जाती। नय प्रमाणका ही भेद है। सकल-ग्राही ज्ञानको प्रमाण और वस्तुके एक अशको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं।

जैन दर्शन ज्ञानको ही प्रमाण मानता है। ज्ञान पाँच हैं मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञान। प्रमाणके दो भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। मति और श्रुतज्ञान परोक्ष है क्योंकि ये इन्द्रियादिकी सहायतासे होते है। शेष तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष है क्योंकि केवल आत्मासे ही उत्पन्न होते है। कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारमे प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोकी चर्चा की है किन्तु मति आदि ज्ञानोंकी चर्चा नही की है, केवल ज्ञानका ही विस्तारसे उपपादन किया है क्योंकि वही शुद्ध होनेसे उपादेय है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रकारने सब ज्ञानोंका कथन किया है। मति ज्ञानकी उत्पतिके साधन, उनके भेद-प्रभेद, उनकी उत्पत्तिका क्रम, श्रुतज्ञानके भेद, अवधि ज्ञान और मन पर्यय ज्ञानके भेद तथा उनके पारस्परिक अन्तर, पाँचो ज्ञानोका विषय, उनमेंसे एक साथ एक जीवमें कितने ज्ञान रहना संभव है, उनमेंसे आदिके तीन ज्ञानोके मिथ्या भी होनेका कारण, आदिका कथन हैं। अन्तमें नयोंके भेद गिनाये है।

२ दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका कथन है। सबसे प्रथम जीवके स्वतत्त्व रूपसे पाँच भावोको बतलाते हुए उनके भेदो का कथन है। फिर जीवके ससारी और मुक्त भेद बतलाकर ससारी जीवोके भेद-प्रभेदोका कथन हैं। आगे ससारी जीवोके होनेवाली इन्द्रियोके भेद-प्रभेद, उनके विषय, ससारी जीवोंमें इन्द्रियोका बटवारा, मृत्यु और जन्मके बीचकी स्थिति, जन्मके भेद, उनकी योनियाँ, जीवो मे जन्मोका विभाग, शरीरके भेद, उनके स्वामी, एक जीवके एक साथ सभव हो सकनेवाले शरीर, लिंगोका विभाग तथा अन्तमें पूरी आयु भोगकर ही मरने वाले जीवोका कथन है।

३ तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोक का वर्णन है। अधोलोकका वर्णन प्रारम्भ करते हुए सात पृथिवियां गिनाकर तथा उनका आधार बतलाकर उनमें बने नरकोकी सख्या, उन नरकोमें बसनेवाले नारकी जीवोंकी दशा तथा उनकी सुदीर्घ आयु आदि बतलाई है। मध्यलोकके वर्णनमें उस लोकका भौगोलिक वर्णन है, जिसमें हम रहते है। इस पृथ्वी पर वर्तमान द्वीपो, समुद्रो, पर्वतो और नदियो का वर्णन करके अन्तमें उसमें बसनेवाले मनुष्यों और तिर्यञ्जो की आयु भी बतलाई हैं।

४ चौथे अध्यायमे ऊर्ध्वलोकका वर्णन है उसमें देवोके विविध भेदोका, ज्योति मण्डलका तथा स्वर्ग लोकका वर्णन है।

५ पाँचवें अध्यायमें जीवके सिवाय पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छै द्रव्यों का वर्णन है। इनका वर्णन करते हुए प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशोकी सख्या, उनके द्वारा अवगाहित क्षेत्र, और प्रत्येक द्रव्यका कार्य आदि बतलाये

है। पुद्गलका स्वरूप बतलाते हुए उसके भेद, उसकी उत्पतिके कारण, पौद्गलिकबन्धकी योग्यता-अयोग्यता आदिका कथन है। अन्तमें सत्, द्रव्य, गुण, नित्य और परिणामका स्वरूप बतलाकर कालको भी द्रव्य बतलाया है।

६ छठे अध्यायमें आस्रवतत्त्वका स्वरूप उसके भेद-प्रभेद और किन-किन कामोके करने से किस किस कर्मका आस्रव होता है, उसका वर्णन है।

७ सातवें अध्यायमें व्रतका स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, लिये हुए व्रतोको स्थिर करनेके लिये तदनुकूल भावनाए, हिंसा आदि पांच पापोका स्वरूप, सप्त शील, सल्लेखना, तथा प्रत्येक व्रत और शीलमें सभाव्य अतिचार (दोष) का वर्णन करते हुए अन्तमें दानका स्वरूप और उसके फलमें तारतम्य होनेके कारण बतलाये है।

८ आठवें अध्यायमें कर्मबन्धके मूल हेतु बतलाकर उसके स्वरूप तथा भेदोका विस्तार पूर्वक कथन करते हुए आठों कर्मोंके नाम, प्रत्येक कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ, प्रत्येक कर्मका स्थितिबन्ध, अनुभाग तथा प्रदेशबन्धका स्वरूप वगैरह बतलाया है।

९ नौवें अध्यायमे सवरका स्वरूप, सवरके हेतु गुप्ति-समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्ष, बाईस परीषह, चरित्र और अन्तरंग तथा बहिरग तपके भेद बतलाये हैं। अन्तमें ध्यानका स्वरूप, काल, ध्याता, ध्यानके भेद तथा पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थ साधुओंका वर्णन है।

१० दसवें अध्यायमें केवल ज्ञानके हेतु, मोक्षका स्वरूप, मुक्तिके पश्चात् जीवके ऊर्ध्व गमनका दृष्टान्त पूर्वक सयुक्तिक समर्थन तथा मुक्त जीवोका वर्णन है। सक्षेपमें यह तत्त्वार्थ सूत्रका विषय परिचय है।

दो सूत्रपाठ

तत्त्वार्थ सूत्रके दो पाठ प्रचलित हैं। एक पाठ वह है जिसपर पूज्यपादने सर्वार्थ सिद्धि, और अकलकदेवने अपना तत्त्वार्थवार्तिक रचा है। यह पाठ दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। दूसरा पाठ वह है जिसपर तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्य रचा गया है। यह सूत्र पाठ श्वेताम्बर परम्परामें मान्य है। इन दोनो पाठोंमें जो अन्तर है वह नीचे दिया जाता है।

दोनो पाठोंके अनुसार दसो अध्यायोंकी सूत्र संख्या क्रमसे इस प्रकार है—

प्रथम पाठ—३३ + ५३ + ३९ + ४२ + ४२ + २७ + ३९ + २६ + ४७ + ९
= ३५७

दूसरा पाठ—३५ + ५२ + १८ + ५३ + ४४ + २६ + ३४ + २६ + ४९ + ७
= ३४४

१ प्रथम अध्यायमें दो सूत्रोकी हीनाधिकता है। एक सूत्र है 'द्विविधोऽवधि ॥२१॥ अवधि ज्ञानके दो भेद हैं। यह सूत्र प्रथम पाठमें नही है दूसरे मे है। इसमें कोई सैद्धान्तिक भेद नही हैं। सैद्धान्तिक मत भेदकी दृष्टिसे अन्तिम दो सूत्र उल्लेखनीय हैं—'नैगमसग्रहव्यवहारर्ज सूत्रशव्दा नया ॥३४॥ आद्यशव्दौ द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥ ये दोनों सूत्र दूसरे पाठमें है। पहले पाठमें इनके स्थानमें एक ही सूत्र है—'नैगमसग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशव्दसमभिरूढैवंभूता नया ॥३३॥

दूसरे पाठके अनुसार नयके मूल भेद पाँच है और उनमें से प्रथम नैगम नयके, दो भेद हैं और शव्दनयके साम्प्रत, समभिरूढ और एव भूत ये तीन भेद हैं। प्रथम पाठके अनुसार नयके मूल भेद सात हैं—नैगम सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शव्द, समभिरूढ और एवभूत। ये सात नयोकी परम्परा ही प्राचीन परम्परा है। आगमोंको भी यही परम्परा मान्य है। दूसरे पाठ गत नयोकी परम्परा अन्यत्र नही मिलती। दूसरे पाठवाले सूत्रोकी व्याख्यामें पं० सुखलालजीने भी इस बातको मान्य किया है लिखा है—'एक परम्परा तो सीधे तौर पर पहले से ही सात भेदोंको मानती है यह परम्परा जैनागमों और दिगम्बर ग्रन्थो की है। तीसरी परम्परा प्रस्तुत सूत्र और उसके भाष्यगत है।' (त० स० पृ० ५१)

यह तो हुआ दोनो सूत्रपाठोंमें दो सूत्रोको लेकर अन्तर। शेष सूत्रोंमें समानता होते हुए भी तीन सूत्रोंमें किञ्चित् भेद पाया जाता है। सूत्र १५ मे मतिज्ञानका तीसरा भेद भाष्य और उसके सूत्र में 'अपाय' है और सर्वार्थसिद्धिवाले प्रथम सूत्र पाठमें अवाय है। प०-सुखलालजीने अपायके स्थानमें 'अवाय' ही पाठ रखा है। नन्दि सूत्रमें भी 'अवाय' पाठ ही है। अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] दोनो पाठोमें केवल शव्द भेद वतलाया है। किन्तु उभय परम्परा सम्मत प्राचीन पाठ अवाय ही है अपाय नही।

'वहु वहुविध' आदि सूत्र १६ में प्रथम पाठमें 'अनिसृतानुक्त' पाठ है और दूसरे पाठमें 'अनिसृतासन्दिग्ध' पाठ है। श्वे० स्थानाग सूत्र (सू०५१०) में और नन्दिसूत्रमें यही पाठ पाया जाता है। अवधिज्ञानके दूसरे भेदके प्रतिपादक सूत्रमें प्रथम पाठमें 'क्षयोपशमनिमित्त' पाठ है और दूसरेमें 'यथोक्तनिमित्त' पाठ है। यद्यपि दोनोंके आशयमें कोई अन्तर नही है। तथापि क्षयोपशमके लिये 'यथोक्त' शव्दका प्रयोग असगत है क्योंकि उससे पहले किसी सूत्रमें क्षयोपशम शव्द नही आया है।

---

१ 'आह-किमयपाय उत अवाय ? उभयथा न दोप।—त० वा०, पृ० ६१।

२ दूसरे अध्यायमें प्रथम सूत्र पाठमें 'तैजसमपि' तथा 'शेषास्त्रिवेदा ।' दो सूत्र अधिक हैं । पहलेमें थोडा सैद्धान्तिक मत भेद भी है । इसी तरह दूसरे सूत्र पाठमें 'उपयोग स्पर्शादिषु' ॥१९॥ सूत्र अधिक है । शेष सूत्रोमें समानता होते हुए भी कतिपय स्थलोंमें अन्तर पाया जाता है ।

प्रथम सूत्र पाठमें 'जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥ सूत्र है और दूसरेमें' जीव भव्याभव्यत्वादीनि च ॥७॥ सूत्र है । प्रथम पाठमें जिन पारणामिक भावोका ग्रहण 'च' शब्दसे किया है दूसरे पाठपें उन्हीका ग्रहण 'आदि' पदमे किया है । अकलकदेवने[1] 'आदि' पदको सदोष वतलाया है ।

ससारी जीवके दो भेद है त्रस और स्थावर । तथा स्थावरके पाँच भेद हैं–पृथिवीकायिक, जलकायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक । ये भेद दोनो परम्पराओको मान्य है । किन्तु त्रसका शब्दार्थ होता है–जो चलता है । इस अपेक्षासे दूसरे सूत्र पाठमें तैजस्कायिक और वायुकायिकको भी त्रस कहा है क्योकि वायु और आगमें चलन क्रिया पाई जाती है । अत दोनों सूत्रपाठोके सूत्र १३-१४ में अन्तर पड गया है । कुन्दकुन्दने भी अपने पञ्चास्तिकाय (गा० १११) में अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोको त्रस कहा है किन्तु उन्होंने उन्हें स्थावरोंके भेदोमें भी गिनाया है । दूसरे सूत्रपाठमें और उसके भाष्यमें भी स्थावरके तीन ही भेद वतलाये हैं । और तैजस्कायिक तथा वायुकायिककी गणना केवल त्रसोमें ही की है । दूसरे अध्यायके अन्य भी दो चार सूत्रोंमें अन्तर पाया जाता है । यथा—

	प्रथम सूत्र पाठ	द्वितीय सूत्र पाठ
१	एक समयाऽविग्रहा ॥२९॥	एक समयोऽविग्रह ॥३०॥
२	एकं द्वौत्रीन्वाऽनाहारक ॥३०॥	एक द्वौ वाऽनाहारक ॥३१॥
३.	जरायुजाण्डजपोताना गर्भ ॥३३॥	जराय्वण्डपोतजाना गर्भ ॥३४॥
४	देवनारकाणामुपपाद ॥३४॥	नारकदेवानामुपपात ॥३५॥
५	पर पर सूक्ष्मम् ॥३७॥	तेपा पर पर सूक्ष्मम् ॥३८॥
६	चाहारक प्रमत्तसयतस्यैव ॥४९॥	चाहारक चतुर्दशपूर्वधर ॥४६॥
७	औपपातिक चरमोत्तम देहा ॥४३॥	औपपातिक चरमदेहोत्तम पुरुष ॥५२॥

इनमेंसे न० २, ६ और ७ में जो अन्तर है वह सैद्धान्तिक मतभेदको लिए हुए हैं । न० २ के (३१) सम्वन्ध में टीकाकार हरिभद्र और सिद्धसेनने लिखा है कि कोई 'वा' शव्दसे तीनका भी सग्रह करते है ।

---

१ 'आदिग्रहणमत्र न्याय्यमितिचेत् त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहाने' ।—त० वा०, पृ० ११३ ।

३ तीसरे अध्यायमें प्रथम पाठमें २१सूत्र अधिक है। दूसरे पाठमें वे सूत्र नही है। पहले सूत्रमें दोनों पाठोंमें थोडा अन्तर है। दूसरे पाठमें 'अधोऽध पृथुतरा' पाठ है जबकि पहलेमें 'पृथुतरा' पाठ नही है। अकलक देवने तत्त्वार्थ[1] वार्तिकमें इस पाठकी आलोचना की है और उसे सदोष बतलाया है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे अन्य कोई उल्लेखनीय अन्तर नही है।

४ चौथे अध्यायमें उल्लेखनीय अन्तर हैं। जिनमेंसे सबसे अधिक उल्लेखनीय है स्वर्गोकी सख्यामें अन्तरका होना। प्रथम पाठके अनुसार स्वर्ग सोलह गिनाये गये है और दूसरे पाठके अनुसार बारह गिनाये गये हैं। किन्तु अकलंक देवने इस मतभेदकी चर्चा नही की है। किन्तु स्वर्गके देवोमें प्रवीचारको बतलानेवाले सूत्रमें 'शेषा स्पर्शरूपशब्द मन प्रवीचारा' के अन्तमें द्वितीय पाठमे 'द्वयोर्द्वयो' पाठ अधिक है। अकलकने[2] इसकी आलोचना करके उसे 'आर्ष विरुद्ध' बतलाया है। देवोकी स्थितिके सम्बन्धमें दोनो परम्पराओमे अन्तर है। अत सूत्र पाठमें भी अन्तर पाया जाता है। लौकान्तिक देवोंकी स्थितिका प्रतिपादक सूत्र प्रथम सूत्र पाठमें है, दूसरेमें नही है।

५ पाँचवे अध्यायमें अन्तर परक पाँच छै स्थल हैं। दूसरे सूत्र पाठमें 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' यह एक सूत्र हैं। किन्तु प्रथम सूत्र पाठमें ये दो सूत्र है। अकलक देव ने तत्त्वार्थ वार्तिकमें यह शङ्का उठाई है कि 'द्रव्याणि जीवा' ऐसा एक ही सूत्र क्यो नही रखा। अकलक देव ने उसका समाधान करके दो सूत्र रखनेका ही समर्थन किया है। इसी तरह दूसरे सूत्र पाठमें 'असख्येया प्रदेशा धर्माधर्मयो' 'जीवस्य' ये दो सूत्र हैं। प्रथम सूत्र पाठमें दोनोंके स्थानमें एक ही सूत्र है—'असख्येया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्'।

पहले सूत्र पाठमें 'सद्द्रव्य लक्षणम्' '॥२९॥' यह सूत्र अधिक है। दूसरे सूत्र पाठमें यह सूत्र तो नही है किन्तु भाष्यमें उसका आशय आगया है। उक्त अन्तरोंमें सैद्धान्तिक मतभेदकी कोई बात नही है। किन्तु पुद्गल परमाणुओंके बन्धके कथनमें सैद्धान्तिक मतभेद पाया जाता है। प्रथम सूत्र पाठमें 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥३७॥ पाठ है और दूसरे सूत्र पाठमें उसके स्थानमें 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' '॥३५॥' पाठ है। अकलक[3] देवने 'समाधिकौ' पाठकी

---

१ 'पृथुतरा.' इतिकेपाञ्चित् पाठ ।'—त० वा०, पृ० १६१।

२ 'द्वयोर्द्वयोरितिवचनात् सिद्धिरितिचेत् न आर्षविरोधात्'।—त० वा०, पृ० २१५।

१ 'समाधिकावित्यपरेषा पाठ ॥३॥ तदनुपपत्तिरार्षविरोधात् ॥४॥—त० वा०, पृ० ५००।

आलोचना करते हुए उसे आर्षविरुद्ध बतलाया है और अपने पक्षके समर्थनमें षट्खण्डागम' का प्रमाण दिया है। प्रथम सूत्र पाठमें 'कालश्च ॥३९॥ सूत्र है और दूसरे सूत्र पाठमें 'कालश्चेत्येके ॥३८॥ सूत्र है। इस अन्तरका कारण यह है कि दिगम्बर परम्परा एक मतसे कालको द्रव्य मानती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें मतभेद है। दूसरे सूत्र पाठके अन्तिम तीन सूत्र ४२-४४ प्रथम सूत्र पाठमें नही है। अकलकदेवने[1] उसमें प्रतिपादित मतका खण्डन किया है।

छठें अध्यायमें सैद्धान्तिक मतभेदकी दृष्टिसे दोनो सूत्र पाठोमें कोई उल्लेखनीय अन्तर नही हैं। फिर भी अन्तर तो है ही। दूसरे सूत्र पाठमें शुभ पुण्यस्य ॥३॥ अशुभ पापस्य ये, दो सूत्र है और प्रथम सूत्र पाठमें एक सूत्रके रूपमें है। और अल्पारम्भ परिग्रहत्व मानुपस्य ॥१७॥ स्वभावमार्दव च ॥१८॥ प्रथम सूत्र पाठमें ये दो सूत्र हैं। और दूसरे सूत्र पाठमें इनके स्थानमें एक सूत्र है—अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जव च मानुपस्य ॥१८॥

७ सातवें अध्यायमें सूत्र तीनके पश्चात् अहिंसा आदि व्रतोकी भावनाओंको बतलानेवाले ५ सूत्र प्रथम सूत्र पाठ में हैं, किन्तु दूसरेमें नही है। सूत्र तीनके भाष्यमें उनका भाव आ जाता है। इसके सिवाय कई सूत्रोंमें शाब्दिक अन्तर पाया जाता है।

८ आठवें अध्यायका दूसरा सूत्र दूसरे सूत्र पाठमे दो सूत्रोंके रूपमें विभक्त है। ज्ञानावरणीय कर्मके पाँच भेद बतलानेवाला सूत्र दूसरे सूत्र पाठमें 'मत्या-दीनाम्' ॥५॥है जो सक्षिप्त है। किन्तु प्रथम सूत्र पाठमें 'मतिश्रुतावधिमन -पर्ययकेवलानाम् ॥६॥ है।[2]अकलकदेवने 'मत्यादीनाम्' पाठकी आलोचना करके प्रथम सूत्र पाठ वाले सूत्रको ही सगत बतलाया है। इसी तरह दूसरे सूत्र पाठमें 'दानादीनाम् ॥१४॥' सूत्र है। उसके स्थानमें प्रथम सूत्र पाठमें 'दानलाभभोगोप-भोगवीर्याणाम् ॥१३॥' सूत्र है। इनमें कोई सैद्धान्तिक मतभेद नही है। किन्तु पुण्य प्रकृतियोंका प्रतिपादन करने वाले सूत्रोंमें[3] मौलिक अन्तर है। तथा दूसरे सूत्र पाठमें पाप प्रकृतियोंको बतलाने वाला कोई सूत्र नहीं हैं, जबकि प्रथम सूत्र पाठमे 'ततोऽन्यत् पापम्' ॥२६॥ सूत्र है।

९ नौवें अध्यायमें शाब्दिक भेदोके सिवाय जो उल्लेखनीय अन्तर है, वे इस प्रकार है —चारित्रके भेद बतलाने वाले सूत्र नं० १८ के अन्तमें प्रथम सूत्र पाठमें

१ त० वा०, पृ० ५०३।

२ 'मत्यादीनामिति पाठो लघुत्वादिति चेत् न' त० वा०, पृ० ५७०।

३ 'सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥५५॥ तथा 'सद्वेद्यसम्यक्त्व हास्यरति पुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥३६॥'

'यथाख्यातमिति चारित्रम्' पाठ है और दूसरे सूत्र पाठमें 'यथाख्यातानि चारित्रम्' पाठ है। फिर भी कोई सैद्धान्तिक मतभेद इसमें नही है। इसी तरह ध्यानका स्वरूप वतलाने वाले सूत्र न० २८ के अन्तमें प्रथम सूत्र पाठमें 'ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' पाठ है। और दूसरे सूत्र पाठमें 'ध्यानम्' के साथ ही २७वा सूत्र समाप्त हो जाता है और 'आमुहूर्तात्' २८वा सूत्र है। इसका अर्थ मूहुर्तपर्यन्त होता है किन्तु टीकाकार सिद्धसेन गणिने उसका अर्थ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही किया है। आर्तध्यानका कथन करनेवाले सूत्रोमें शाब्दिक अन्तरके साथ ही साथ भेदोके क्रममें भी थोडा अन्तर है। किन्तु धर्म ध्यानका कथन करने वाले सूत्रमें धर्म ध्यानके स्वामीको लेकर मौलिक अन्तर है। प्रथम सूत्र पाठमें धर्मध्यानके प्रतिपादक सूत्र न० ३६ के अन्तमें स्वामीका विधान करनेवाला 'अप्रमत्तसंयतस्य' अश नही है, जबकि दूसरे सूत्रपाठमें है। तथा दूसरे सूत्रपाठमें इस सूत्रके वाद जो 'उपशान्त-क्षीणकपाययोश्च ॥३८॥ सूत्र है वह भी प्रथम सूत्र पाठमें नही है। [1]अकलंकदेवने इन दोनोका खण्डन किया है। शुक्लध्यान प्रतिपादक सूत्रोमेंसे भी एक दो में थोडा सा अन्तर पाया जाता है।

१० दसवें अध्यायमें प्रथम सूत्र पाठका दूसरा सूत्र दूसरे सूत्र पाठमें दो सूत्रोमें विभक्त है। इसी तरह प्रथम सूत्रपाठके सूत्र न० ३ और ४, दूसरे सूत्रपाठमें एक सूत्रके रूपमें सयुक्त हैं। तथा 'भव्यत्वाना' के स्थानमें 'भव्यत्वाभावाच्च' पाठ हैं। प्रथम सूत्र पाठके सूत्र न० ७ और ८ दूसरे सूत्र पाठमें नही हैं। उनकी पूर्ति भाष्यसे हो जाती है। इस तरह दोनो सूत्र पाठोमें साधारण अन्तरके साथ ही साथ मौलिक अन्तर[2] भी पाया जाता है।

भाष्य ममस्त सूत्र पाठमे मतभेदका वाहुल्य—तत्त्वार्थसूत्रके जिस सूत्र पाठ पर सर्वार्थसिद्धि टीका वनी है और जिसे दिगम्वर परम्परा मान्य करती है, उस सूत्र पाठमें क्वचित् ही साधारण पाठभेद पाया जाता है। जैसे तीसरे अध्यायके ३८वें सूत्रमें सर्वार्थसिद्धिमें 'नृस्थिती परापरे' पाठ है और तत्वार्थवार्तिकमें 'नृस्थिती परावरे' पाठ है। इस तरहका शब्द भेद भी वहुत ही विरल है। अत यह कहा जा सकता है कि दिगम्वर परम्पराके सूत्र पाठमें कोई अन्तर नही है, वह एक रूपमें ही मान्य है। किन्तु तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्यके रहते हुए भी भाष्य सम्मत सूत्रपाठमें वहुत मतभेद हैं। टीकाकार सिद्धसेन गणिने अपनी

१ 'धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेत्, न, पूर्वेषा विनिवृत्तिप्रसगात् ॥१३॥' 'उपशान्त क्षीणकपाययोश्चेतिचेन्न शुक्लाभावप्रसगत् ॥१४॥—त० वा०, पृ० ६३२।

२ दोनों सूत्रपाठोके अन्तरका स्पष्ट विवरण पं० सुखलालजीकृत तत्त्वार्थ सूत्रके हिन्दी अनुवादके प्रारम्भमें दिया हुआ है।

टीकामें अनेक पाठ भेदोका उल्लेख किया है। यहाँ उनका थोडा सा दिग्दर्शन करा देना उचित होगा।

प्रथम अध्याय के १६ वें सूत्रमें मुद्रित भाष्य प्रतिमें—'क्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवा' पाठ है और भाष्यमें भी 'अनुक्तमवगृह्णाति उक्तमवगृह्णाति' तदनुकूल ही पाठ है। किन्तु सिद्धसेनगणिकी टीकावाली मुद्रित प्रतिके सूत्रमें तथा भाष्य में 'अनुक्त' के स्थान पर 'असन्दिग्ध' पाठ पाया जाता है।

किन्तु सिद्धसेनकी टीकामें[1] अनुक्त उक्तकी ही व्याख्या है जिससे प्रतीत होता है कि उन्हें यही पाठ मान्य था। तथा उन्होने इनके स्थानमें एक तीसरे 'निश्चित' और 'अनिश्चित' पाठान्तरका निर्देश किया है। इस तरहसे तीन पाठ भेद पाये जाते है। दिगम्बर परम्परामें केवल एक 'अनुक्त' पाठ ही प्रचलित है।

२ इसी अध्यायके २७वें सूत्रमें 'सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' पाठ है। किन्तु २०वें सूत्रके भाष्यमें जो २७वें सूत्रका अश उद्धृत है उसमें 'सर्व' पद नही है, यथा—'वक्ष्यति द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु'। दिगम्बरीय पाठमें भी इस सूत्रमें जिसकी क्रम सख्या २६ है 'सर्व' शब्द नही पाया जाता।

३ दूसरे अध्यायके 'समनस्कामनस्का ॥११॥ 'संसारिणस्त्रसस्थावरा ॥१२॥ इन सूत्रोंके सम्बन्धमें टीकाकार सिद्धसेनने लिखा[2] हैं कि अन्य आचार्य सूत्रको ही वदल देते है, वे पहले 'संसारिण' फिर त्रसस्थावरा और फिर 'समनस्कामनस्का' पढते हैं यह ठीक नही है।

४ इसी अध्यायके 'उपयोग स्पर्शादिषु ॥१९॥' सूत्रके सम्बन्धमें सिद्धसेनने लिखा[3] है, कि कोई इसको सूत्र रूपसे नही मानते। उनका कहना है कि यह तो भाष्यके वाक्यको सूत्र वना दिया है। दिगम्बर पाठमें यह सूत्र नही है।

५ इसी दूसरे अध्यायके २४वें सूत्र और उसके भाष्यको लेकर सिद्धसेनने लिखा[4] है—अन्य आचार्य इस भाष्यको अतिविसंस्थुल (अत्यन्त असन्तुलित) देख

---

१ 'अव्याप्तिदोषभीत्या चापरैरिम विकल्प प्रोज्झय अय विकल्प उपन्यस्तो निश्चितमवगृह्णातीति।'—सि० ग० टी०, भा०, पृ० ८५।

२ 'अन्ये पुन सूत्रमेव विपर्यासयन्ति विभज्य प्राक् तावत् ससारिण पश्चात् 'त्रसस्थावरा' तत समनस्कामनस्का इति।'—सि०टी०, भा १, पृ १५६।

३ 'केचिद् भाषन्ते सूत्रमिद न भवति भाष्यमेव सूत्रीकृत्य केचिदधीयते।'—वही, पृ० १६९।

४ अपरेऽतिविसस्थुलमिदमालोक्य भाष्यं विषण्णा सन्त सूत्रे मनुष्यादिग्रहण-मनार्ष मिति सङ्गिरन्ते। अपरे वातकिन स्वयमुपरम्य सूत्रमधीयते—'अतीद्रिया' केवलिन।—वही, पृ० १७५।

कर खेदखिन्न होते हुए सूत्रमे 'मनुष्यादि' पदके ग्रहणको अनार्ष कहते हैं। अन्य वक्रवादी इस सूत्रके पश्चात् 'अतीन्द्रिया केवलिन' ऐसा सूत्र रखते हैं।

६ औदारिक॰ शरीराणि ॥२-३७॥ इस सूत्रकी टीकामें सिद्धसेनने लिखा[1] है कि कुछ आचार्य इस सूत्रके एक अश 'शरीराणि'को पृथक् सूत्र मानते हैं।

७ 'लब्धि प्रत्ययञ्च॥४८॥' सूत्रके पश्चात् दिगम्बर सूत्र पाठमें 'तैजसमपि' सूत्र आता है। भाष्यमें यह सूत्र रूपसे नही छपा है। हरिभद्रकी टीकामें 'शुभ-विशुद्धा इत्यादि सूत्रके वाद यह सूत्र रूपसे आया है। सिद्धसेनकी टीकाकी मुद्रित[2] प्रतिकी टिप्पणीमें इसे क० ख० प्रतिमें सूत्र वतलाया है। श्वे० तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी जो सटिप्पण प्रति पाई जाती है उसमें 'तैजसमपि'को भी सूत्र माना है।

८ सिद्धसेन गणिका[3] कहना है कि कोई सूत्र २-४९ के अन्तमे 'अकृत्स्न-श्रुतस्यर्द्धिमत' इतना विशेषण और जोडते है।

९ सिद्धसेन गणिका[4] कहना है कि किन्हीका ऐसा मत है कि सूत्र १-५२में सूत्रकारने 'उत्तम पुरुष' पदका ग्रहण नही किया है।

१०. तत्त्वाथधिगम सूत्रकी सटिप्पण प्रतिमे तीसरे अध्यायके प्रथम सूत्रके पश्चात् 'वर्माविशाशैलाञ्जनारिष्टामाघव्यामाघवीति च' ऐसा सूत्र पाया जाता है।

११ सिद्धसेनकी वृत्तिमें सूत्र ३-११ में 'वर्षधर पर्वता' के स्थानमें 'वशधर पर्वता' पाठ पाया जाता है। तथा हरिभद्रकी टीकामें और मुद्रित भाष्य प्रतिमें आर्या म्लेच्छाश्च ॥१५॥ के स्थानमें 'आर्या म्लिशश्च' सूत्र पाया जाता है।

१२ तत्त्वार्थाधिगमकी टिप्पण वाली प्रतिमें सूत्र ४-२२ के पश्चात् 'उच्छ्वा-साहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्या' ऐसा सूत्र है।

१३ सिद्धसेनने[5] पाँचवे अध्यायके 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥३॥' के संवंधमें

---

१. 'अत्र केचित् सूत्रावयवमवच्छिद्य शरीराणीति पृथक् सूत्र कल्पयन्ति'।—वही, पृ० १९५।

२ पृ० २०८।

३ 'अतएव केचिदपरितुष्यन्त सूत्रमाचार्यकृतन्यासादधिकमभिधीयते-'अकृत्स्न श्रुतस्यार्द्धिमत'। सि० ग० टी०, भा० १, पृ० २०९।

४ 'केचिदभिदधते-नास्ति सूत्रकारस्योत्तमपुरुषग्रहणमिति।'-वही, पृ० २२१।

५ 'अपरे द्विधा भिन्दन्ति सूत्रम् 'नित्यावस्थितानि' ततोऽरूपाणि।' अत्रापरे व्याचक्षते यत्किञ्चिदेतत् 'नित्यावस्थितारूपाणि'इत्येव पाठे लभ्यत एवाभिलषितोर्थ'—वही, पृ० ३२१।

लिखा है कि कोई इस सूत्रको नित्यावस्थितानि, अरूपाणि ऐसे दो सूत्र मानते है। तथा 'नित्यावस्थितारूपाणि' ऐसा भी पाठ पाया जाता है।

१४ 'अर्पितानर्पितसिद्धे ॥५–३१॥' इस सूत्रकी व्याख्यामें मतभेद पाया जाता है।

१५ 'अशुभ पापस्य ॥ ६–४ ॥' हरिभद्रकी टीकामें यह सूत्र नही है लेकिन 'शेष पापम्' ऐसा सूत्र है। सिद्धसेनकी टीकामें 'अशुभ पापस्य' सूत्ररूपसे छपा है। लेकिन टीकामें[1] 'शेष पापम्' ही सूत्ररूपसे अभिमत मालूम होता है।

१६ 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया—॥६–६॥ सर्वत्र यही पाठ पाया जाता है। किन्तु सूत्रके भाष्यमें अव्रत का कथन पहले किया है। इस परसे, अव्रत कषायेन्द्रियक्रिया' ऐसा भी चल पडा है। यद्यपि सिद्धसेन ने सूत्र और भाष्यकी असंगतिको दूर करनेका प्रयत्न अपनी टीकामें किया है।

१७ तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी टिप्पणवाली प्रतिमें सूत्र ॥६–२०॥ के पश्चात् 'सम्यक्त्व च' ऐसा सूत्र है। दिगम्बर परम्परा इसे सूत्र मानती है।

१८ 'दुःखमेव वा ॥७-५॥' सूत्रकी टीकामें सिद्धसेनने[2] लिखा है कि इसी सूत्रके 'व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतत्वाच्चाब्रह्म' तथा 'परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काक्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगेवावितृप्ति' इन भाष्य वाक्योको कोई दो सूत्र रूप मानते हैं।

१९. सूत्र ॥७–२३॥ की टीकामें सिद्धसेनने[3] लिखा है कि इस सूत्रके स्थानमें कोई 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशा' ऐसा सूत्र पढते हैं। तथा कुछ लोग इसी सूत्रका पद विच्छेद परविवाहकरण इत्वारिकागमन परिगृहीतापरिगृहीतागमन अनङ्गक्रीडा तीव्रकामाभिनिवेश' ऐसा करते हैं। उक्त सूत्र दिगम्बरीय पाठसे एक दम मिलता है।

२० टिप्पण वाली सूत्र प्रतिमें 'सचित्तनिक्षेपपिधान ॥७–३१॥ आदि सूत्र नही है।

२१ टिप्पण वाली सूत्र प्रतिमें दसवे अध्यायके अन्तमें 'धर्मास्तिकायाभावात्' ये सूत्र है। दिगम्बर परम्परा भी इसे सूत्र मानती है।

इस तरह भाष्यके होते हुए भी श्वे० सूत्र पाठमें जो इतने मत भेद पाये जाते

---

१ 'एव पुण्य कर्म विनिश्चित्य पापविनिश्चयायाह—शेषं पापमिति।—सि० टि०, भा० २, पृ० ७।

२ 'ततश्च ये भाष्यमेव कयाऽपि बुद्धया सूत्रीकृत्याधीयते ।'–वही, भा० २, पृ० ५५।

३ 'अन्ये पठन्ति सूत्रम् ।'–वही, भा० २, पृ० १०९।

हैं वे आश्चर्य जनक हैं। ये मत भेद केवल भाष्यके वाक्योंको गलतीसे सूत्र समझ लेनेके ही कारण नही हुए हैं। ये सब सूत्र पाठकी अस्थिरताके सूचक हैं।

तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाका आधार

तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाका आधार खोजनेके दो उद्देश्य हैं, प्रथम तो उससे उसकी रचनाके समयपर प्रकाश पड सकेगा। दूसरे उससे सूत्रकारकी परम्परा पर भी प्रकाश पड सकेगा। इस तुलनात्मक अध्ययनके द्वारा अनेक सैद्धान्तिक तथ्य भी प्रकाशमें आसकेंगे। किन्तु यहा हमारा उनसे विशेष प्रयोजन नही है।

१ तत्त्वार्थ सूत्रका आरम्भ 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' सूत्रसे होता है। श्वे० परम्पराके उत्तराध्ययन नामक सूत्रका २८ वा अध्ययन मोक्ष मार्ग नामका है। प०[1] सुखलाल जी उसी अध्ययनको तत्त्वार्थ रचनेकी कल्पनाका आभारी मानते हैं। उसकी दूसरी[2] गाथामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपको मोक्षका मार्ग कहा है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रके नौवें अध्ययनमें तपका भी वर्णन है किन्तु सूत्रकारने उसे चारित्रमें गर्भित करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको मोक्षका मार्ग कहा है।

उधर आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने नियमसारको आरम्भ करते हुए कहा है कि—'जिन शासनमें मार्ग और मार्ग फलको कहा है मोक्षके उपायको मार्ग कहते हैं और उसका फल निर्वाण है॥ तथा ज्ञानदर्शन और चारित्रको नियम कहते हैं और मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र का परीहार करनेके लिये उसके साथ सार' पद लगाया है। इन तीनोमेंसे प्रत्येकका कथन यहा किया जाता है।' तत्त्वार्थ सूत्रमें भी मिथ्या दर्शनादिका परिहार करनेके लिये दर्शनादिके साथ सम्यग्' पद लगाया है।

२ त०सू० के १-२ सूत्रमें तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है और जीव अजीव आदि सात तत्त्व बतलाये हैं। उत्तराध्ययनके उक्त २८वें अध्ययनमें[3] जीव

---

१ त०सू०की प्रस्तावना पृ० ५१का टिप्पण नं० ४।

२ 'मोक्खमग्ग गइ तच्चं सुणेह जिण भासिय। चउकारणसजुत नाण दसणलक्खणं॥१॥ नाण च दमणं चेव चरित्त च तवो तहा। एस मग्गा त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥२॥'—उत्तरा०

३ जीवाजीवा य बधो य पुन्नपावासवो तहा। सवरो निज्जरा मोक्खो सतेए तहिया नव॥१४॥—तहियाण तु भावाण, सब्भावे उवएसण। भावेण सद्दहतस्स सम्मत्त त वियाहिया॥१५॥—उत्तरा०। 'नव सब्भाव पयत्था पण्णत्ते। तं जहा—स्था० ९, सू० ६६५।

अजीव आदि नौ तथ्य भावोके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। किन्तु जीव अजीव आदिके लिये तत्त्वार्थ शब्दका प्रयोग हमें किसी भी श्वे० आगममें नही मिला। साथ ही तत्त्वोकी सात संख्याका निर्देश भी उसमें नही है।

उधर कुन्द-कुन्दके नियमसारमें[1] आप्त, आगम और तत्त्वोके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। तथा आगमके द्वारा कथित पदार्थोंको तत्त्वार्थ कहा है। और भाव प्राभृत (गा० ९५) में स्पष्ट रूपसे नौ पदार्थों और सात तत्त्वोका निर्देश किया है।

३. त० सू १-८ में सत् सख्या आदि आठ अनुयोग वतलाये है। अनुयोग-द्वार[2] सूत्रमें नौ गिनाये है, जिनमें 'भाग' अधिक है। किन्तु षट्खण्डागमके जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके प्राथमिक सूत्रमें तत्त्वार्थ सूत्रकी तरह आठ ही अनुयोग गिनाये हैं।

४ मति आदि पाँच ज्ञानोंका वर्णन जैसा तत्त्वार्थ सूत्रमें है वैसा ही श्वेताम्बर आगमोंमें भी है और दि० षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत कर्म प्रकृति अनुयोग द्वारमे भी है। फिर भी एक वात उल्लेखनीय है। त० सू० (१-१३)में मति स्मृति सज्ञा चिन्ताको मतिज्ञानके नामान्तर कहा है। उक्त षटख० के कर्मप्रकृति० में भी 'सण्णा सदी मदी चिंता चेदि ॥४१॥' लिखकर सज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ताको मतिज्ञानका नामान्तर कहा है। किन्तु नन्दि सूत्रमें[3] चिन्ताका नाम नही है। अत उक्त सूत्र नन्दी सूत्रकी अपेक्षा षट्खण्डागमके ही उक्त सूत्र-का ऋणी प्रतीत होता है।

दि० सूत्र पाठमें 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणा ॥२१॥' पाठ है। षट्खण्डा-गमके उक्त कर्म प्रकृति अनु० में भी 'ज त भवपच्चइय त देवणेरइयाण ॥५४॥ ऐसा सूत्र है। उक्त सूत्र इस सूत्रका ही संस्कृत रूपान्तर जैसा प्रतीत होता है। श्वेताम्बर नन्दि सूत्र ७ तथा स्था० सू० (स्था० २, उ० १, सू० ७१) में भी 'देवाणं य नेरइयाण य' लिखकर देवोको नारकियोंसे पहले रखा है। किन्तु त०

---

१ अत्तागमतच्चाण हवेइ सम्मत्त। ५। तेणदु कहिया हवति तच्चत्था ॥८॥—नि० सा०।

२ 'सत्सख्या क्षेत्रस्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पवहुत्वैश्च' ॥८॥—त० सू०। 'से किं त अणुगमे नवविहे पण्णते। 'तजहा-सतपयपरूपणया, दव्वपमाण च, खित्त, फुसणा य, कालो य अंतर, भाग, भाव, अप्पाबहुअ चेव',—अनु० स० ८०। 'सतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेताणु० फोसणा० काला० अतरा, भावा० अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥—षट्खं०, पु० १।

३. 'सन्नासई मई पन्ना सव्व आभिणिवोहिअ।'—नन्दि०।

सू० के० श्वे० सूत्र पाठमें 'नारकदेवाना' लिखकर नारकियोको देवोंसे पहले रखा है। यह क्रम उक्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आगमोंमेसे किसी से भी मेल नही खाता।

आचार्य कुन्दकुन्दने[1] ज्ञानके मति आदि पाँच भेद वतलाये हैं तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोका उल्लेख प्रवचनसार (१-५८) में किया है। और तदनुसार त० सू० में भी ज्ञानके पाँच भेदोंका तथा उन्हें प्रमाण वतलाकर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें उनके अन्तर्भावका कथन किया है।

मति ज्ञानका प्राचीन आगमिक नाम अभिनिवोध था और मति उसका नामान्तर था। षट्खण्डागममें, कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायमें और नन्दि सूत्र वगैरहमें अभिनिवोध नाम ही मिलता है। तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताने उसके स्थानमें मतिको स्थान देकर अभिनिवोधको उसका नामान्तर वतलाया और तवसे अभिनिवोध नाम लुप्त जैसा हो गया।

अव हम दूसरे अध्यायकी ओर आते हैं।

दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें जीवके पाँच भावो और उनके भेद प्रभेदोका कथन है। स्थानाग[2] सूत्रमें जीवके छै भाव वतलाये हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रमें सान्निपातिक भावको नही गिनाया। सिद्धसेन[3] गणिने अपनी टीकामें 'मिश्र' शब्दसे सान्निपातिकका ग्रहण मानकर सन्तोप कर लिया है।

हाँ, अकलक देवने सान्निपातिकका अभाव वतलाकर भी मिश्र शब्दसे उसका ग्रहण करते हुए दोनों परम्पराओका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है।

'विग्रहवती च ससारिण. प्राक् चतुर्भ्य ।' इस सूत्रमें सूत्रकारने चार समय वाली गतिका निर्देश किया है। इसपरसे सिद्धसेनगणिने[4] उक्त सूत्रकी टीकामें लिखा है कि पाँच समयवाली भी गति होती है किन्तु सूत्रमें उसका ग्रहण नही किया है। दिगम्बर परम्परामें पाँच समयवाली गतिका विधान ही नही है। अत. उक्त सूत्र दिगम्बर परम्परा सम्मत है।

---

१. 'आभिणिसुदोहि मण केवलाणि णाणाणि पच भेदाणि' ॥४१॥—पञ्चास्ति०

२ स्था० सू०, स्थान ६, सू० ५३७।

३ 'सान्निपातिकोऽपि लाघवेपिणा पृथक् नोपात्त मिश्रग्रहणादेव प्रतिलव्ध ।'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० १३७।

४ 'तथा पञ्चसमयाऽपि गति संभवति न चोपात्ता सूत्रे।'

—सि० ग० टी० भा० १, पृ० १८४।

पाँचवें अध्यायमें द्रव्योके विषयमे जो कथन किया गया है वह कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और नियमसारमें प्राय. सब वर्णित है। तत्त्वार्थ-सूत्रमें 'उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त सत्' सद्द्रव्यलक्षणम् और 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इन तीन सूत्रोके द्वारा द्रव्यके लक्षणका विधान किया है। श्वे० पाठमें 'सद्द्रव्यलक्षण' सूत्र नही है। ये तीनो सूत्र कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायकी गाथामें वीज रूपसे ज्योंके त्यो विद्यमान है। मानों सूत्रकारने उन्हे वहाँसे उठाकर सूत्र रूपमें निवद्ध कर दिया है। गाथा इस प्रकार है—

> दव्व सल्लक्खणिय उप्पादवयधुवत्तसजुत्त ।
> गुणपज्जयासयं वा ज त भण्णति सव्वण्हु ॥१०॥

प० सुखलालजीने भी इस वातको स्वीकार करते हुए लिखा है—कि ये सूत्र कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायकी गाथामें पूर्णरूपसे विद्यमान है। इसके सिवाय कुन्दकुन्दके प्रसिद्ध ग्रन्थोके साथ तत्त्वार्थ सूत्रका जो शाब्दिक तथा वस्तुगत महत्वका सादृश्य है वह आकस्मिक तो है ही नही।' (त० सू० प्रस्ता०, पृ० ११-१२)।

उत्तराध्ययन सूत्रके जिस २८वें अध्ययनको प० सुखलालजी तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाका आधार वतलाते हैं उसमें तो 'गुणाणमासवो दव्व' यह द्रव्यका लक्षण वतलाया है अर्थात् जो गुणोका आश्रय है वह द्रव्य है। अन्य किसी प्राचीन श्वेताम्बर आगम में भी इस प्रकारका लक्षण नही पाया जाता, यह वात भी प० सुखलालजीने स्वीकार की है। उन्होने लिखा है—ऊपर दिये गये द्रव्य, गुण और कालके लक्षणवाले तत्त्वार्थके तीन सूत्रोंके लिये उत्तराध्ययनके सिवाय किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन आगम अर्थात् अंगका उत्तराध्ययन जितना ही शाब्दिक आधार हो ऐसा अभीतक देखनेमें नही आया।' अत उक्त सूत्रोंपरसे यह व्यक्त होता है कि तत्त्वार्थ सूत्रपर कुन्दकुन्दके ग्रन्थोका विशेष प्रभाव है।

पाँचवें अध्यायके अन्तमें स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले परमाणुओ के वन्धका विधान है। उसको लेकर दिगम्बर परम्परामें 'वन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ।' ।।३६॥' सूत्र है और श्वेताम्बर परम्परामें 'वन्धे समाधिकौ परिणामिकौ ॥' पाठ है। उक्त ३६वें सूत्रकी टीकामें अकलकदेवने[1] 'समाधिकौ' पाठको आर्ष विरुद्ध कहा है और आर्षके रूपमें षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके वन्ध विधानका

---

[1] 'एव हि उक्तमार्षे वर्गणाया बन्धविधाने—नोआगम-द्रव्यवन्धविकल्पे सादिवैस्रसिक वन्धनिर्देशे प्रोक्तम्—'विषमस्निग्धताया विषमरूक्षताया च वन्ध समस्निग्धताया समरूक्षताया च भेद तदनुसारेण च सूत्रमुक्तम्।'
—त० वा०, पृ० ५००

निर्देश किया है और लिखा है कि वह सूत्र उसके अनुमार कहा गया है।' इससे प्रकट होता है कि अकलंकदेव तत्त्वार्थ सूत्रको या उसके सूत्रोंको पट्खण्डागमके आधारपर रचित मानते थे ।

तत्त्वार्थ सूत्रका आधार पट्खण्डागमके सूत्र रहे हैं इस बातकी पुष्टिमें एक और उल्लेखनीय प्रमाण है। त० सू० के छठे अध्यायमें तीर्थङ्कर नाम कर्मके बन्धनमें कारण भूत सोलह कारणोंका निर्देश इस प्रकार है—

दर्शनविशुद्धि[1] विनयसम्पन्नता[2] शीलव्रतेष्व[3] नातिचारोऽभीक्ष्ण[4] ज्ञानोपयोगसवेगौ[5] [6]शक्तितस्त्याग[7]तपसी साधु[8]समाधिर्वैयावृ[9]त्यकरणम[10]र्हदा[10]-चार्य[11]वहुश्रुत[12] प्रवचन[13] भक्तिरावश्यका[14] परिहाणिर्मार्गप्रभावना[15] प्रवचनवत्सलत्व[16] मिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

षट्खण्डागमके वन्ध स्वामित्वविचयमें भी प्राय ये ही सोलहकारण गिनाये हैं।

'दसणविसुज्झदाए[1] विणयसपण्णदाए[2] सीलव्वदेसुणिरदि[3]चारदाए आवास एसु[4] अपरिहीणदाए खणलव[5] पडिवुज्झणदाए लद्धिसवेग सपण्णदाए[6] जधाथामे तधा तवे[7] साहूणं पासुअपरिचागदाए[8] साहूण स[9]माहिसंधारणाए साहूण वेज्जावच्चजोगजुदाए[10] अरहतभत्तीए[11] वहुसुदभत्तीए[12] पवयण[13]-भत्तीए पवयणवच्छलदाए[14] पवयणप्प[15]भावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णा[16]णोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्म वधति ॥४१॥" —षट् खं०, पु०८, पृ० ७९ ।

उक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वाथसूत्र और षट्खण्डागममें प्रतिपादित तीर्थङ्कर नाम कर्मके कारणोकी केवल सख्यामें ही समानता नही है किन्तु कारणोंमें भी समानता है। केवल एक ही कारण ऐसा है जिसमें अन्तर प्रतीत होता है। तत्त्वार्थसूत्रमें आचार्य भक्ति नामक एक कारण गिनाया है और षट्ख०में क्षणलव प्रतिवोधनता नामका कारण गिनाया है। दोनोंके क्रममें भी थोडा अन्तर है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि षट्ख० के उक्तसूत्रको सामने रखकर ही त० सू० के उक्तसूत्रकी रचना की गई है।

तत्त्वार्थसूत्रके श्वे० सूत्र पाठमें केवल साधुसमाधिके स्थानमें संघसमाधि तथा वैयावृत्यकरणके स्थानमें साधुवैयावृत्यकरण पाठ है। किन्तु इन पाठ भेदोसे दोनोंमें कोई मौलिक अन्तर नही आता। परन्तु श्वेताम्वर आगममें तीर्थङ्कर नामकर्मके वन्धके कारणोकी सख्या वीस वतलाई है। यथा—

अरिहंतसिद्ध पवयण गुरुथेरवहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया य एसिं अभिक्खणाणोवओगे अ ॥

दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइचारो ।
खणलव तवच्चियाए वेय्यावच्चे समाही य ॥
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥
—ज्ञाताधर्मकथा–अ० ८, सू० ६४ ।

'अर्हद्वत्सलता, सिद्धवत्सलता, प्रवचनवत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थविरवत्सलता, वहुश्रुतवत्सलता, तपस्विवत्सलता, अभीक्षा ज्ञानोपयोग, दर्शननिरतिचारता, विनय निरतिचारता, आवश्यक निरतिचारता, शीलनिरतिचारता, व्रतनिरतिचारता, क्षणलव समाधि, तप समाधि, वैयावृत्य समाधि, अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति और प्रवचन प्रभावना, इन कारणोसे जीव तीर्थङ्करत्वको प्राप्त करता है ।'

भाष्यकारने[1] अपने भाष्यमें प्रवचन वत्सलताका अर्थ अर्हत् शासनके अनुष्ठान करने वाले श्रुतधरोका तथा वाल, वृद्ध, तपस्वी, शैक्ष ग्लानादिका सग्रह, उपग्रह अनुग्रह करना वतलाया है और संभवतया इस तरहसे आगमोक्त कुछ कारणोंका सग्रह करनेका प्रयत्न किया है ।

इसीसे उसकी टीकामें सिद्धसेन गणिने भी लिखा[2] है कि–'तीर्थङ्करनाम कर्मके वीस कारणोमें से सूत्रकारने कुछ सूत्रमें कुछ भाष्यमें और कुछ आदिग्रहणसे सिद्ध पूजा और क्षणलव समाधिका ग्रहण किया है । व्याख्याताको इनका उपयोग करके व्याख्यान करना चाहिये ।' किन्तु सूत्रकारको षट्खण्डागमकी तरह सोलह संख्या ही मान्य प्रतीत होती है जो दिगम्वर परम्परा सम्मत है, क्योकि आचार्य कुन्दकुन्दने[3] भी यद्यपि कारणोंको नही गिनाया तथापि उनकी सख्या सोलह ही मान्य की है । अत उक्त सूत्रका आधार दिगम्वर परम्परा सम्मत ही होना चाहिए ।

त० सू० (९–७) में वारह अनुप्रेक्षा वतलाई हैं । उपलब्ध आगमोंमें कही भी वारह अनुप्रेक्षाए पूरी नही मिलती ।[4] स्थानागसूत्र, सूत्रकृताग, उत्तरा-

---

१ 'अर्हच्छासनानुष्ठायिना श्रुतधराणा वालवृद्धतपस्विशैक्षग्लानादीना च सङ्ग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति ।'—त० सू० भा०, ६-२३ ।

२ 'विंशते कारणाना सूत्रकारेण किञ्चिद् सूत्रे किञ्चित् भाष्ये किञ्चित् आदि ग्रहणात् सिद्धपूजाक्षणलवध्यानभावनाख्यमुपात्त उपयुज्य च प्रवक्ता व्याख्येयम् ।'—सि० ग० टी०,–६–२३ ।

३ 'विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं नाऊण । तित्थरनामकम्म वधह अचिरेण कालेण ॥' ७७ ॥–भा० प्रा० ।

४ तत्त्वा० जैनागम०–पृ०–१८१ ।

विहारमे कुछ कठिनाईयाँ उपस्थित होने लगी थी। ऐसा उन्होने षट्प्राभृतकी[1] अपनी टीकामें स्पष्ट लिखा है। श्रुतसागरजी के उक्त कथन के मूलमें इन सव वातो का भी प्रभाव प्रतीत होता है। अत उसे आर्षमत नही माना जा सकता। और इसी लिये पुलाकादि मुनियो की चर्चाको दिगम्वर परम्पराके प्रतिकूल नही कहा जा सकता।

अत उक्त सूत्रोके आधारपर तत्त्वार्थसूत्रको दिगम्वर परम्पराके प्रतिकूल नही कहा जा सकता।

मूल सूत्र पाठ—किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रके दो सूत्र पाठ प्रचलित हैं, यह ऊपर लिख आये हैं। अत तत्त्वार्थ सूत्रकी परम्राका निर्णय करते समय यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि मूल सूत्र पाठ दोनोंमेंसे कौनसा है?

श्वेताम्वर परम्परा मान्य सूत्र पाठ पर तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्य है और उसके अन्तमें ग्रन्थकारने अपनी प्रशस्ति भी दे दी है। अत जो कोई भी प्रशस्तिको देखकर यही कहेगा कि मूल सूत्रपाठ यही है। उधर दिगम्वर परम्पराके प्रमुख टीकाकारों ने सूत्रकारका नाम तक नही दिया और न उनके सूत्र पाठ पर कोई तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्य ही है। उसपर आद्य टीका लिखनेवाले पूज्यपाद जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता हैं, उन्हें सूत्र रचना करनेका अभ्यास हैं, उनकी लेखन शैली प्राञ्जल और महा भाष्यकार पतञ्जलिकी शैलीकी अनुगामिनी तथा दार्शनिकतासे ओत प्रोत है। उधर तत्त्वार्थ भाष्यके रचयिताकी शैलीमें वे सव वातें नही हैं। इन सव वातोंके आधारपर दिगम्वर सूत्र पाठको पूज्यपादके द्वारा सवर्धित और परिष्कृत तथा उसकी आद्य टीक सर्वार्थसिद्धिको भाष्यसे अर्वाचीन कहा जाना सरल है। किन्तु तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्यके सूत्रकार रचित होनेमें जो अनेक विप्रतिपत्तियाँ है उन्हें पहले लिखा जा चुका है और उनके रहते हुए निर्विवाद रूपसे यह स्वीकार नही किया जा सकता कि भाष्य स्वोपज्ञ ही है। और इसलिए भाष्यकी स्वोपज्ञताके आधार पर उसके सूत्र पाठको भी मूल सूत्र पाठ नही कहा जा सकता।

यह भी हम पहले लिख आये हैं कि भाष्य मान्य सूत्र पाठ भाष्यके होते हुए भी एकरूपताको लिये हुए नही है, उसके सम्वन्धमें पाठान्तरो और मतान्तरोका वाहुल्य है। उधर दि० परम्पराको मान्य सूत्र पाठमें अविच्छिन्न एक रूपता है जिस सूत्र पाठपर पूज्यपादने सर्वार्थ सिद्धि रची, उसी सूत्र पाठको आज तकके टीकाकारोंने

---

१ 'को अपवादवेष ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्न दृष्ट्वोपद्रव यतीना कुर्वन्ति तेन मण्डप दुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिस्वामिना चर्यादिवेलाया तट्टीससादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेश कृत: सयमिनामित्यपवादवेष ।

अपनाया है, न उसमें कोई पाठान्तर है और न मतान्तर है। किन्तु सर्वार्थ सिद्धिमें दो पाठान्तर पाये जाते हैं। दूसरे अध्यायके अन्तिम सूत्रमें 'चरमोत्तम देहा' पद आता है उसकी व्याख्या करते हुए पूज्यवाद ने 'चरम देहा इति वा पाठ' ऐसा लिखा है। भाष्य मान्य सूत्र पाठमें ,चरमदेहोत्तमपुरुषा' पाठ हैं। और भाष्यमें उसका अर्थ 'चरम देहा उत्तम पुरुषा' किया है। अत सर्वार्थसिद्धिमें दिया गया उक्त पाठान्तर भाष्यमान्य सूत्रपाठका तो नही है।

दूसरा पाठान्तर प्रथम अध्यायके 'वहुवहुविधि' आदि सूत्रकी टीकामें है। यह पाठान्तर पूर्व पाठान्तरसे वहुत स्पष्ट है। इसका निर्देश 'अपरेषा क्षिप्रनिसृत इति पाठ' के रूपमें किया गया है। जिसका अर्थ होता है कि दूसरोके मतसे क्षिप्रानिसृतके स्थान में क्षिप्रनिसृत पाठ है। यहाँ पूज्यपाद स्वामी ने केवल पाठान्तरका ही निर्देश नही किया किन्तु 'त एव वर्णयन्ति' लिखकर वे उसकी जो व्याख्या करते हैं उसे भी दिया है।

भाष्यमान्य सूत्र पाठमें 'क्षिप्रानिश्रित' पाठ है। अत यह पाठान्तर भी उसका नही है। इन दो पाठान्तरोंसे और विशेषतया दूसरे पाठान्तरसे यह स्पष्ट है कि पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थ सूत्रकी अन्य प्रतियाँ भी थी और उनमें ऐसी प्रति भी थी जिसमें सूत्रकी व्याख्या या टिप्पणी वगैरह भी थी। क्योकि उसके विना 'त एवं वर्णयन्ति' जैसी वात नही लिखी जा सकती। अत सर्वार्थ सिद्धि को दिगम्वरीय सूत्र पाठकी आद्य टीका तथा उसके रचयिता पूज्यपादको दिगम्वरीय सूत्र पाठका प्रवर्तक और भाष्य मान्य सूत्र पाठको मूल सूत्र पाठ कहना निर्भ्रान्त नही है। और भ्रान्त धारणाओंके आधार पर किसी निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता।

फिर भी जो सूत्र दोनो सूत्र पाठोंमें समान हैं उनके आधार पर सूत्रकारकी मान्यताएँ दिगम्वर परम्पराके ही अनुकूल ठहरती हैं, यह हम ऊपर लिख आये हैं।

सूत्ररचनाका समय

अव हम तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाके समयपर विचार करेंगे।

१ दिगम्वर सूत्र पाठपर उपलब्ध आद्य टीका सर्वार्थ सिद्धि है और सर्वार्थ सिद्धिके रचयिता पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी पाँचवी शताब्दीका उत्तरार्ध और छठीका पूर्वार्ध है। अत तत्त्वार्थ सूत्र विक्रमकी पाँचवी शताब्दीके उत्तरार्धसे पूर्व रचा जा चुका था, यह सुनिश्चित है।

२ षट्खण्डागमके[1] कतिपय सूत्रोका तत्त्वार्थ सूत्रपर प्रभाव है यह पहले

---

१ इस विषयमें एक और भी उदाहरण यहाँ उपस्थित किया जाता है जो पीछे नही दिया जा सका। त० सू० (९-४५) 'सम्यग्दृष्टि श्रावक' आदि सूत्रके उद्गमका मूल श्वे० आगमोमें नही मिलता। इसीसे 'तत्त्वार्थ सूत्र जैनागम

व्ययन आदिमें फुटकर-फुटकर मिलती है। इसके विपरीत भगवती आराधनामें (गा० १७१५–१८७१) तथा मूलाचारके आठवें परिछेदमें बारह अनुप्रेक्षाओं-का क्रमवार विस्तृत वर्णन मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्यने भी 'वारस अणुवेक्खा' नामसे बारह अनुप्रेक्षाओका क्रमसे वर्णन किया है। और इन तीनों ग्रन्थोमें बारह अनुप्रेक्षाओको गिनाने वाली गाथा एक ही है। उससे तत्त्वार्थसूत्रके केवल क्रममें अन्तर है। पहली अनुप्रेक्षाका नाम उक्त ग्रन्थोमें अध्रुव है और तत्त्वार्थमें अनित्य है। अध्रुव और अनित्यके अर्थमें कोई अन्तर नही है।

अत बारह अनुप्रेक्षा परक सूत्र भी उक्त तथ्यका ही समर्थक है। त० सू० के नौवें अध्यायके नौवें सूत्रमें बाईस परीषहोके नाम गिनाये हैं। उनमें एक नाग्न्य परीपह भी है। नाग्न्यका स्पष्ट अर्थ नंगापना है। आगमोंमें उसके स्थान-में 'अचेल' परीषह पाई जाती है। अचेलका मतलव है वस्त्रका अभाव। यद्यपि उसका मतलव भी वही है जो 'नाग्न्य' का है। तथापि अचेलकी अपेक्षा 'नाग्न्य' शब्दसे नग्न रहनेका स्पष्ट वोध होता है। जिससे प्रतीत होता है कि सूत्रकारको साधुओंकी नग्नता इष्ट थी, इसीसे उन्होने आगमिक 'अचेल' परीषहके स्थानमें नाग्न्यको स्थान देना उचित समझा।

तत्त्वार्थसूत्र में बाईसवी परीषहका नाम अदर्शन परीषह है। किन्तु आगमिक[1] साहित्यमें दशनपरीषह या सम्मत्तपरीषह नाम मिलता है। तथा त० सू० (९–१७) में एक जीव के एक साथ एक से लेकर १९ परीषह तक वतलाई हैं किन्तु [2]उत्तराध्ययन नियुक्ति में २० परीपहोका सद्भाव वतलाया है।

अत. उक्त कतिपय तथ्योके प्रकाश में यह नही कहा जा सकता कि सूत्रकार श्वेताम्बर परम्परा के थे या दिगम्बर परम्परा के नही थे। प्रत्युत उक्त तथ्यो से तो उनके दिगम्बर परम्परा के होने का ही समर्थन होता है।

श्रीयुत[3] प्रेमीजी ने मूल सूत्रों में से दो सूत्रोको दिगम्बर सम्प्रदायकी दृष्टि से खटकनेवाला वतलाया है। उनमें से एक सूत्र है नौवें अध्यायका 'एकादश-जिने'। इसका सीधा अर्थ है—जिन भगवानके ग्यारह परीषह होती हैं।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय केवली के परीषह नही मानता, इस लिये टीका[4]-कार पूज्यपादने शंका उठाकर उसका समाधान दो प्रकार से किया है। प्रथम तो

१ तत्त्व० जैनागम०, पृ० १८३।

२ वीस उक्कोसपरा वदति जहन्नओ हवइ एक्को। सीउसिणचरिय निसीहिया य जुगव न वदति ॥८२॥—उत्त० नि०।

३ जै० सा० इ०, पृ० ५३८।

४ सर्वार्थ सि० सू० ९-११।

उन्होने परीषहका सद्भाव केवलीके उपचारसे माना है। फिर 'अथवा' कहकर 'एकादशजिने' सूत्र में 'न सन्ति' वाक्यकी कल्पना करनेका विधान किया है। सभवतया अकलकदेव को 'न सन्ति' का अध्याहार समुचित प्रतीत नही हुआ अत· उन्होंने अपने तत्त्वार्थवार्तिक में 'कैश्चित् कल्प्यन्ते' वाक्यका अध्याहार किया है। जिसका मतलव होता है कि 'कोई लोग जिनके ग्यारह परीषह मानते हैं'। उक्त समाधानों से पाठकको ऐसा लगना स्वाभाविक है कि उस सूत्र का अर्थ करनेमें, दि० टीकाकारोको थोडा खीचातानी करनी पडी है। किन्तु कर्म-सिद्धान्तके अभ्यासीको वैसा प्रतीत नही हो सकता। इसके स्पष्टी करणके लिये सर्वार्थसिद्धिकी प० फूलचन्द्रजी लिखित प्रस्तावना (पृ० २८-२९) देखना चाहिये।

उक्त तयोक्त खीचातानीसे कमसे कम पूज्यपादपर लादे जानेवाले इस दोष में कि[1] उन्होने उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रके पाठ में सशोधन और परि-वर्तन किया, कुछ तो परिमार्जन हो जाना चाहिये। अस्तु,

दूसरा सूत्र है नौवें अध्यायका पुलाक वकुश आदि पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थोका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र। यह ठीक है कि मूलाचार और भगवती अराधनामें पुलाकादिका कथन नही है और न कुन्दकुन्द ने ही उनका कथन किया है। किन्तु इसपरसे यह नही कहा जा सकता कि निर्ग्रन्थोंके ये भेद दिगम्वर पर-म्पराको मान्य नही। हाँ, उनमेंसे आदिके पुलाक मुनि अपने मूलगुणोमें परिपूर्ण नही होते। प्रारम्भमें ऐसा होना सभव है। इसी प्रकार वकुशमुनिको अपने शरीरादिका मोह भी रह सकता है। उसका निर्ग्रन्थ दिगम्वर मुनियोकी चर्याके साथ विरोध नही है। हाँ, श्रुतसागरजीने[2] जो 'सयमश्रुत' आदि सूत्रकी व्याख्या-में यह लिखा है कि असमर्थ मुनि शीतकालादिमें वस्त्रादि भी ग्रहण करते है और इसे कुशील मुनिकी अपेक्षा भगवती आराधनाके अभिप्रायके अनुसार वतलाया है वह ठीक नही है। भगवती[3] आराधनामें इस तरह का कोई विधान नही है। हाँ टीकाकार अपराजित सूरिने लिखा है कि विशेष अवस्थामें अशक्त साधु वस्त्र आदि ग्रहणकर सकते थे। उसीको श्रुतसागरजी ने भगवती आराधना-के नामसे लिख दिया है। श्रुतसागरजीके समयमें दिगम्वर परम्पराके भट्टारक वस्त्र धारण करने लगे थे। यद्यपि वे साधु नही माने जाते थे तथापि उनकी प्रतिष्ठा वैसी ही थी। मुसलमानो के उपद्रवों के कारण भी साधुओ के नग्न

---

१ जै० सा० इ०, पृ० ५४२। तथा प० सुखलालजी की तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना।

२ तत्वा० वृ० पृ० ३१६।

३. भ० म० अचे० ध०, पृ० २६ आदि।

लिख आये हैं तत्त्वार्थ वार्तिकके प्रणेता अकलकदेव तकका यह कहना है कि पट्खडागमके सूत्रोंके अनुसार तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोकी रचना हुई है। षट्खण्डागमका रचनाकाल विक्रमकी दूसरी शताब्दीका तृतीय चरण है अत तत्त्वार्थ सूत्र उसके पश्चात् रचा गया हैं।

३ श्रवण वेलगोलाके शिलालेखोंके अनुसार सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति कुन्द-कुन्दके अन्वयमें हुए हैं और विद्वज्जन वोधकमें उद्धृत एक श्लोकके अनुसार वे कुन्द-कुन्दके समकालीन थे तथा उनका समय वीर निर्वाण सम्वत् ७७० (वि० स० ३००) था। कुन्द-कुन्दके अन्य उल्लेखोंके अनुसार इस समयकी सगति ठीक वैठ जाती है। यह हम पहले कुन्दकुन्दका समय निर्णीत करते समय विस्तारसे लिख चुके हैं और यह भी लिख आये हैं कि तत्त्वार्थ सूत्रपर कुन्दकुन्दके ग्रन्थोका भी प्रभाव हैं। अत कुन्द-कुन्दके पश्चात् उन्हीके समकालमें तत्त्वार्थ सूत्र कारका होना समुचित प्रतीत होता है। अत विक्रमकी तीसरी शताब्दीके अन्तमें तत्त्वार्थ सूत्र रचा गया है।

श्री० प० मुखलालजीने तत्त्वार्थ सूत्र विवेचनकी हिन्दी भूमिकामें उमास्वातिके समयके सम्वन्वमें विचार करनेके लिए तीन वातोका उपयोग किया है— शाखानिर्देश, प्राचीनसे प्राचीन टीकाकारों का समय और अन्य दार्शनिक ग्रन्थोंकी तुलना। तीनोंका विवेचन करते हुए पंडितजीने लिखा है—

१ प्रशस्तिमें जिस 'उच्चैर्नागर शाखा' का निर्देश है वह शाखा कव निकली यह तो निश्चयपूर्वक नही कहा जा मकता, तो भी कल्प सूत्रकी स्थविरावलीमें उच्चानागरी शाखाका उल्लेख है और लिखा है कि यह शाखा आर्य शान्ति श्रेणिकसे निकली है। आर्य शान्ति श्रेणिक आर्य सुहस्तीसे चौथी पीढीमें आते हैं तथा यह शान्ति श्रेणिक आर्य वज्रके गुरु आर्य सिंह गिरिके गुरुभाई होनेसे आर्य वज्रकी पहली पीढीमें आते हैं। आर्य सुहस्तिका स्वर्गवास वीरात् २९१ और

समन्वयमें' उसके नीचे १४ गुणस्थानोंके नाम दिये हैं जिनके साथ उक्त सूत्रका कोई सम्बन्ध सिद्ध नही होता। किन्तु षट्खण्डागम (पु० १२, पृ० ७८) के मूलमें दो गाथाएँ ऐसी है जिनके आधारपर ही उक्त सूत्र रचा गया है। दोनों गाथाएँ इस प्रकार है—सूत्रसे तुलना करें। 'सम्मत्तुप्पत्ती विय सावय-विरदे अणतकम्मसे। दसणमोहक्खवए कसाय उवसामए य उवमते ॥७॥ खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा। तव्विवरीदो कालो सखेज्जगुणा य सेडीओ ॥' 'सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्त वियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपकक्षीणमोहजिना क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जरा. ॥४५॥

वज्रका स्वर्गवास समय वीरात् ५८४ उल्लिखित है। अर्थात् सुहस्तिके स्वर्गवास समयसे वज्रके स्वर्गवास समय तक २९३ वर्षके भीतर पाँच पीढिया उपलब्ध होती है। इस तरह सरसरी तौरपर एक-एक पीढीका काल साठ वर्षका मान लेनेपर सुहस्तिसे चौथी पीढीमें होनेवाले शान्ति श्रेणिकका प्रारम्भकाल वीरात् ४७१ आता है। इस समयके मध्यमे या थोडा आगे पीछे शान्ति श्रेणिकसे उच्च-नागरी शाखा निकली होगी। वाचक उमास्वाति शान्ति श्रेणिककी ही उच्चा-नागर शाखामें हुए है ऐसा मानकर और इस शाखाके निकलनेका जो समय अनुमान किया गया है उसे स्वीकार करके यदि आगे चला जाये तो भी यह कहना कठिन है कि वा० उमास्वाति इस शाखाके निकलनके बाद कब हुए है? क्योकि अपने विद्यागुरु और दीक्षागुरुके जो नाम उन्होने प्रशस्तिमें दिये है उनमें-से एक भी कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें या उस प्रकारकी किसी दूसरी पट्टावलीमें नही पाया जाता। इससे उमास्वातिके समय सम्बन्धमें स्थविरावलीके आधारपर यदि कुछ कहना हो तो अधिकसे अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रम सम्वत्के प्रारम्भके लगभग किसी समय हुए है, उससे पहले नही, इससे अधिक परिचय अन्धकारमें है।'

इस तरहसे प० सुखलालजीने उमास्वातिकी आदि अवधि विक्रम सम्वत्का प्रारम्भ निर्धारित की है और अन्तिम अवधि पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके आधारपर विक्रमकी पाँचवी शताब्दी निर्धारित की है। तथा उक्त विचार सरणिके अनुसार उनका प्राचीनसे प्राचीन समय विक्रमकी पहली शताब्दी और अर्वाचीनसे अर्वाचीन समय तीसरी चौथी शताब्दी बतलाया है और लिखा है कि इन तीन चारसौ वर्षोंके अन्तरालमें उमास्वातिका निश्चित समय शोधने का काम बाकी रह जाता है।

उक्त शोधके सिलसिलेमें प० जीने लिखा है—

(क) द्रव्य गुण तथा कालके लक्षणवाले तत्त्वार्थके तीन सूत्रोके लिये उत्तरा-ध्ययनके सिवाय किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन आगम अर्थात् अंगका उत्तराध्ययन जितना ही शाब्दिक आधार हो ऐसा अभी तक देखनेमें नही आया। परन्तु विक्रमकी पहली दूसरी शताब्दीके माने जानेवाले कुन्दकुन्दके प्राकृत वचनोके साथ तत्त्वार्थके सस्कृत सूत्रोंका कही तो पूर्ण सादृश्य है और कही बहुत ही कम। इसके सिवाय कुन्दकुन्दके प्रसिद्ध ग्रन्थोंके साथ तत्त्वार्थ सूत्रका जो शाब्दिक और वस्तुगत महत्त्वका सादृश्य है वह आकस्मिक तो नही।

(ख) यदि महाभाष्यकार और सूत्रकार पतंजलि एक हो तो योग सूत्र विक्रमके पूर्व पहली दूसरी शताब्दीका है ऐसा कहा जा सकता है। योग सूत्रका व्यासभाष्य कबका है वह भी निश्चित नही है। फिर भी उसे विक्रमकी तीसरी

शताब्दीमे प्राचीन माननेका कोई कारण नही है। योगसूत्र और उसके भाष्यके साथ तत्त्वार्थके सूत्रो और उसके भाष्यका शाब्दिक तथा आर्थिक सादृश्य बहुत है। तो भी दोनोमेंसे किसी एकके ऊपर दूसरेका असर है यह भी इसी प्रकार कहना शक्य नही। ऐसा होते हुए भी तत्त्वार्थके भाष्यमें एक ऐसा[1] स्थल है जो जैन अग ग्रन्थोमें इस समय तक उपलब्ध नही और योगसूत्रके भाष्यमें उपलब्ध है।

(ग) अक्षपादका न्याय दर्शन इस्वी सन्के आरम्भके लगभगका रचा हुआ माना जाता है। उसका वात्स्यायन भाष्य दूसरी तीसरी शताब्दीके भाष्यकालकी प्रारम्भिक कृतियोंमेंसे एक कृति है। इस कृतिके कुछ शब्द और विषय तत्त्वार्थ भाष्यमें पाये जाते है।

उक्त तुलनासे पण्डितजीने कोई निष्कर्ष तो नही निकाला है केवल इतना ही लिखा है कि ये बातें भी हमें उमास्वातिके उपर्युक्त अनुमानित समयकी तरफ ही ले जाती है। फिर भी प० जी के उक्त कथनसे भी तत्त्वार्थ सूत्रका रचना काल विक्रमकी तीसरी शताब्दीका अन्त ही समुचित प्रतीत होता है।

---

१ 'यथाहि सहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवश क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिल प्रकीर्णापचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवन-क्रमाभिहतास्याशुदाहो भवति यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव च वितानित सूर्यरश्मिवाय्वभिहत क्षिप्र शोषमुपयाति न च सहते ।' —तत्त्वार्थ भाष्य —२, ५२। 'यथाऽर्द्रं वस्त्र वितानित ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव सपिण्डित चिरेण सशुष्येदेव निरुपक्रमम्। यथावाऽग्नि शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्त क्षेपीयसा कालेन दहेत तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्।' —योगभाष्य ३, २२।

जैनसाहित्यका इतिहास

तृतीय भाग

पंचम अध्याय

तत्त्वार्थविषयक टीका-साहित्य

पिछले अध्यायमें तत्त्वार्थ-विषयक मूल साहित्यका इतिवृत्त अंकित किया जा चुका है। अब इस अध्यायमें तत्त्वार्थ-विषयक टीका-साहित्य पर प्रकाश डाला जायगा।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आचार्य पूज्यपादका सर्वार्थसिद्धि-ग्रन्थ, अकलङ्क देवका तत्त्वार्थ वार्तिक ग्रन्थ और श्रुत सागर सूरिकी तत्त्वार्थवृत्ति ऐसे टीका-ग्रन्थ हैं, जो मूल ग्रन्थोकी श्रेणीमें स्थान प्राप्त करते हैं। इसमें सन्देह नही कि आचार्योंका यह टीका-साहित्य विस्तारकी दृष्टिसे तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर प्रमेय-विवेचनकी दृष्टिसे भी अत्यन्त उपादेय है।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि

तत्त्वार्थसूत्रके प्रकरणमें लिख आये हैं कि तत्त्वार्थसूत्रपर उपलब्ध आद्य वृत्ति पूज्यपाद-देवनन्दिकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका है। इस टीकामें टीकाकारने कही भी अपने नामका संकेत तक नही दिया। किन्तु श्रवणबेल गोलाके शिला-लेख नं० ४० से ज्ञात होता है कि पूज्यपाद देवनन्दि ही सर्वार्थसिद्धिके कर्ता हैं।

इसी शिलालेखसे[1] यह भी ज्ञात होता है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये, और देवोने उनके चरणोंकी पूजाकी इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

श्रवणबेल गोलाके ही एक दूसरे शिलालेख[2] नं० १०८में भी उनका गुणगान

---

१ 'यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धि ।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीयम् ॥ १० ॥'
—जै० शि० स०, भा० १, पृ० २५ ।

२ 'श्री पूज्यपादो धृतधर्मराज्यस्ततो सुराधीश्वर पूज्यपाद ।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानी वदन्ति शास्त्राणि तदुध्दृतानि ॥ १५ ॥

करते हुए लिखा है—'श्री पूज्यपादने धर्मराज्यका उद्धार किया था, इसीसे आप देवोके अधिपतिके द्वारा पूजे जाकर 'पूज्यपाद' कहलाये। उनके वैदुष्य आदि गुणोंको आज भी उनके द्वारा रचे हुए शास्त्र बतला रहे हैं। आप जिनेन्द्रकी तरह विश्वबुद्धिके धारक थे, कामदेवको जीतनेवाले थे और ऊँचे दर्जेके कृतकृत्य-भावको धारण किये हुए थे। इसीसे योगियोने आपको 'जिनेन्द्र बुद्धि' ठीक ही कहा था।'

आगे लिखा है—'वे पूज्यपाद मुनि जयवन्त हो, जो अद्वितीय औषध ऋद्धिके धारक थे, विदेह स्थित जिनेन्द्र भगवानके दर्शनसे जिनका शरीर पवित्र हो गया था और जिनके चरण धोए जलके स्पर्शसे एक समय लोहा भी सोना बन गया था।'

आचार्य कुन्दकुन्दके प्रकरणमें यह लिखा जा चुका है कि विदेहगमनकी बात केवल कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धमें ही प्रवर्तित नही है, पूज्यपादके सम्बन्धमें भी प्रवर्तित है। जैसा कि शिलालेखके उक्त कथनसे व्यक्त होता है।

अन्य आचार्यो के द्वारा स्मरण

अनेक ग्रन्थकारोने अपने ग्रन्थोके आदिमें पूज्यपाद देवनन्दिका बडे आदरके साथ स्मरण किया है।

श्री जिनसेनाचार्यने[1] अपने आदिपुराणके प्रारम्भमें सक्षिप्तनाम 'देव'से उनका स्मरण करते हुए उन्हें कवियोका तीर्थङ्कर कहा है। और उनके वचनमय तीर्थको अर्थात् शब्द शास्त्ररूप व्याकरणको विद्वानोके वचनमलको नष्ट करने वाला बतलाया है।

इसी तरह वादिराज[2] सूरिने भी अपने पार्श्वनाथ चरितके आदिमें 'देव'

धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभि कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकै।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत् स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णित ॥ १६ ॥
श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौपधर्द्धि र्जीयाद् विदेहजिनदर्शनपूतगात्र।
यत्पादधौतजलसस्पर्शप्रभावात् कालायस किल तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥
—जै० शि० स०, भा० १, पृ० २११।

१. 'कवीना तीर्थकृद्देव कितरा तत्र वर्ण्यते।
विदुपा वाङ्मलध्वसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ ५२ ॥
—म० पु०, पर्व १।

२ 'आचिन्त्यमहिमा देव सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्व प्रतिलम्भिता:' ॥ १२ ॥
—पार्श्व० च०, १ सर्ग।

नामसे उनका स्मरण करते हुए उन्हें अचिन्त्यमहिमायुक्त और अपना हित चाहने वालोके द्वारा सदा वन्दनीय कहा है और कहा है कि उनके द्वारा शब्दकी सिद्धि भले प्रकार होती है।

श्री शुभचन्द्राचार्यने भी अपने[1] पाण्डवपुराणके प्रारम्भमें पूज्यपादका स्मरण करते हुए उन्हें व्याकरण रूपी समुद्रका पारगामी बतलाया है।

ज्ञानार्णवके[2] रचयिता शुभचन्द्र सूरिने अपने ज्ञानार्णवके प्रारम्भमें देवनन्दि-को नमस्कार करते हुए कहा है कि उनके वचन प्राणियोके काय, वचन और मन सम्बन्धी दोषोको दूर करते है। अर्थात् उनके वैद्यक शास्त्रसे शरीरके, व्याकरण शास्त्रमें वचनके और समाधिशास्त्रसे मनके विकार दूर हो जाते हैं।

उक्त आदरपूर्ण सस्तवनोंसे स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपाद एक अत्यन्त आदरास्पद और प्रख्यात जैनाचार्य हो गये हैं। उनका पाण्डित्य सर्वविश्रुत था। व्याकरण, जैन सिद्धान्त, दर्शन, काव्य, वैद्यक आदि सभी विषयोंमें उनकी अव्या-हतगति थी और इन सभी विषयोंमें ग्रन्थ रचना करके उन्होंने भारतीय संस्कृत साहित्यके भण्डारको समृद्ध बनाया था।

वैदुष्य—पूज्यपाद स्वामीकी रचनाओके अवगाहनसे उनके असाधारण वैदुष्यका परिचय मिलता है। सस्कृत भाषा पर तो उनका असाधारण अधिकार था ही। तब तक किसी जैनाचार्यने सस्कृत भाषाका कोई व्याकरण नही बनाया था। उस कार्यको सबसे प्रथम पूज्यपादने किया। उनके जैनेन्द्रव्याकरणका प्रथम सूत्र 'सिद्धिरनेकान्तात्' है, जो बतलाता है कि शब्दोंकी सिद्धि भी अनेकान्तवादसे होती है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। अत पूज्यपादने पदार्थशास्त्रकी तरह शब्दशास्त्रमें भी अनेकान्तवाद दर्शनको अपने व्याकरणके द्वारा अवतारित किया है।

उनकी सर्वार्थ सिद्धि उनके बौद्ध, न्यायवैशेषिक आदि दर्शनोमें पाण्डित्यको प्रकट करती है। उसकी उत्थानिकाके आरम्भमें ही उन्होंने साख्य, वैशेषिक और बौद्धाभिमत मोक्षके लक्षणोंकी समीक्षा परिमित शब्दोंमें की है। उसके प्रथम अध्यायके दूसरे सूत्रकी व्याख्यासे उन्होने 'तत्त्वके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन

---

१ 'पूज्यपाद सदापूज्यपाद पूज्यै पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुण'॥ १६॥
—पा० पु० १ पर्व।

२ 'अपाकुर्वन्ति यद्वाच कायवाक् चित्तसभवम्।
कलङ्कमङ्गिमा सोऽय देवनन्दी नमस्यते॥
—ज्ञाना०

कहते हैं' इस पर आपत्ति करते हुए लिखा' है कि कुछ दार्शनिक सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि तत्त्व हैं ऐसा मानते हैं। कुछ 'यह सब जगत पुरुष (ब्रह्म) ही है, ऐसा एकतत्त्व मानते हैं। 'तत्प्रमाणे' सूत्रकी व्याख्यामें उन्होंने सन्निकर्षवादका तथा वैशेषिकोंके संसर्गवादका, 'प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥' सूत्रकी व्याख्यामें इन्द्रियपूर्वकज्ञानके प्रत्यक्षत्वका निषेध करते हुए योगिप्रत्यक्षको अनेकार्थग्राही माननेपर उसके विरोधमें एक कारिका 'विजानाति न विज्ञानं' इत्यादि उपस्थित की है जो बौद्ध विज्ञानवादकी प्रतीत होती है। उसीके आगे 'क्षणिका: सर्वसंस्कारा:' बौद्धोंके इस मतका निर्देश करके उसका खण्डन किया है और प्रदीपको भी अनेकक्षणवर्ती बतलाया है।

इसी तरह पाँचवें अध्यायमें 'द्रव्यत्वयोगात्[2] द्रव्यम्' इस वैशेषिक मान्यताका खण्डन करके वैशेषिकोंके नौद्रव्यवादका निराकरण किया है। इनसे प्रकट है कि पूज्यपाद उक्तदर्शनके विशिष्ट अभ्यासी थे। जैनसिद्धान्तके तो वे मार्मिक पण्डित थे ही। 'त० सू० १-८ की' व्याख्यामें उन्होंने आठो अनुयोगद्वारोंका विवेचन षट्खण्डागमके सूत्रोंके आधारसे बहुत विस्तारसे किया है तथा अन्य सूत्रोंकी व्याख्यामें अनेक सैद्धान्तिक बातोंका विवेचन बडी सूक्ष्मदर्शिताके साथ सयुक्तिक किया है।

उनके समाधिशतक और इष्टोपदेश उनके अध्यात्मविषयक चिन्तनको प्रकट करते हैं। और बतलाते है कि उन्होंने कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंका अच्छा मनन किया था।

इस तरह पूज्यपाद व्याकरण, जैनसिद्धान्त-इतरदर्शन तथा अध्यात्मके प्रखर विद्वान थे और उन्होने अपने समयके विशिष्ट ग्रन्थोका गम्भीर अध्ययन किया था।

पूज्यपादके जन्मस्थान, पितृकुल तथा गुरुकुलके विषयमें कुछ भी ज्ञात नही होता। कनडी भाषामें चन्द्रय्य नामक कविका बताया हुआ एक पूज्यपाद चरित है जो दुषमकालके परिधावी सवत्सरकी आश्विन शुक्ला ५ शुक्रवारको समाप्त हुआ था। चरितमें अनेक ऐसी बाते हैं जो इतिहास विरुद्ध हैं। अत उसे विश्वसनीय नही माना जा सकता। उसमें पाणिनि व्याकरणके रचयिता पाणिनिको पूज्यपादका मामा बतलाया हैं। 'कर्नाटक देशके कोले नामक ग्रामसे

१ 'सत्ता-द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादि तत्त्वमिति कैश्चित्कल्प्यते।' तत्त्वमेकत्वमिति वा सर्वैक्यग्रहणप्रसङ्ग। पुरुष एवेद सर्वमित्यादि कैश्चित् कल्प्यते।'

—सर्वा० सि०, १-२।

२. सर्वा० सि० ५-२ तथा ५-३।

माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणी उनके पिता और माता थे। पाणिनि माधवभट्टके साले थे। पाणिनि अपने व्याकरणको पूरा किये विना ही मर गये तव पूज्यपादने उसे पूरा किया।

पाणिनि[1] पूज्यपादसे लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हुए हैं। पाणिनि व्याकरण पर रचित कात्यायनके वार्तिक सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत हैं। अत उक्त कथा विश्वसनीय नही है। कथामें चमत्कार प्रदर्शक अन्य भी अनेक वातें है। यथा—

पूज्यपाद स्वामी पैरोमें लेप लगाकर आकाश मार्गसे विदेह क्षेत्र जाया करते थे। एकवार उनकी दृष्टि नष्ट हो गई तो शान्त्यष्टकके पाठसे वह पुन प्राप्त हो गई। उनके चरणोको देव पूजते थे। उन्हें औषधऋद्धि प्राप्त थी। इनमेंसे कुछ वातोंका शिलालेखोमे भी उल्लेख मिलता है।

रचित ग्रन्थ—श्रवणवेलगोलाके शिलालेख[2] (४०) में पूज्यपादका स्तवन करते हुए लिखा है—'जिनका जैनेन्द्र' (व्याकरण) शव्द शास्त्रोमे अपने अतुलित भागको, सर्वार्थसिद्धि सिद्धान्तमें परम निपुणताको, जैनाभिषेक ऊँचे दर्जेके कवित्वको, छन्दशास्त्र वुद्धिकी सूक्ष्मताको और समाधि शतक जिनकी स्वस्थता (स्वात्मस्थिति) को विद्वानो पर प्रकट करता है वे श्री पूज्यपाद मुनीन्द्र मुनियोके गणोंसे पूजनीय है।'

इससे जहाँ पूज्यपाद रचित जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैनाभिषेक, छन्द शास्त्र और समाधि शतक नामक ग्रन्थोका पता चलता है वहाँ उनके सर्व शास्त्र विषयक पाण्डित्य का भी पता चलता है। वे वैयाकरण थे, जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ थे, कवि थे, सूक्ष्मवुद्धि थे और इतना सव कुछ होनेके साथ ही साथ अध्यात्मरत भी थे। इस तरह यद्यपि वे सर्वशास्त्र निष्णात थे, किन्तु सर्वत्र उनकी ख्याति शव्दशास्त्र विषयक पाण्डित्य को ही लेकर विशेष थी, यह वात ऊपर के स्मरणोंसे स्पष्ट है। मुग्धवोध के कर्ता वोपदेवने आठ वैयाकरणोमें जैनेन्द्रका भी नामोल्लेख किया है। यह जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता पूज्यपाद देवनन्दि ही है।

---

१ इस सम्वन्धमें विशेष जाननेके लिये देखो—'पाणिनि पतञ्जलि और पूज्यपाद' शीर्षक हमारा लेख—जै० सि० भा०, भाग ६, कि० ४, पृ० २१६ आदि।

२ 'जैनेन्द्र निजशव्दभागमतुल सर्वार्थसिद्धि परा, सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकविता जैनाभिषेक' स्वकः। छन्दः सूक्ष्मधिय समाधिशतक स्वास्थ्य यदीय विदामाख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीना गणैः।'—जै० शि० सं० भा० १, पृ० २५।

नगर ताल्लुकके[1] शिलालेख (न० ४६) में पूज्यपादका स्मरण करते हुए उनके द्वारा रचित कुछ अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख किया है। उसमें लिखा है—'जिन्होने सकल वुधजनोंसे स्तुत जैनेन्द्र नामका न्यास वनाया, पुन' पाणिनि-व्याकरण पर शब्दावतार नामका न्याम लिखा, तथा मनुष्य समाजके हितके लिये वैद्यक शास्तकी रचना की, और फिर तत्त्वार्थकी टीका रची, वे राजाओ से पूजनीय, स्वपरहितकारी वचन वाले और दर्शन ज्ञान चारित्र से पूर्ण पूज्यपाद स्वामी शोभायमान हैं।'

उक्त शिलालेखमें निर्दिष्ट ग्रन्थोकी स्थिति चिन्त्य है। अतः उनकी रचनाओ पर यहाँ सक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है—

जैनेन्द्रव्याकरण[2]—श्र० वे० गो० के शिलालेखमें पूज्यपादको जैनेन्द्र व्याकरणका रचयिता वतलाया है। महाकवि धनजयने अपनी नाममालामें पूज्यपादके लक्षणग्रन्थ (व्याकरण) का उल्लेख किया है। गणरत्न महोदधिके कर्ता वर्धमान और हेम शब्दानुशासनके लघुन्यास वनाने वाले कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिताका नाम देवनन्दि वतलाते है। अतः इसमे कोई सन्देह नही है कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका वनाया हुआ है।

जैनेन्द्रकी जो हस्तलिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं उसके प्रारम्भमें एक श्लोक मिलता है उसमें ग्रन्थकर्ताने भगवानके विशेपणरूपमें प्रयुक्त 'देवनन्दितपूजेशं' पदके द्वारा अपना नाम भी प्रकट कर दिया है। इससे भी जैनेन्द्रके कर्ता देवनन्दि ही ठहरते हैं।

जैनेन्द्रन्यास— ताल्लके के शिखालेखमें पूज्यपाद रचित जैनेन्द्र न्यासका भी निर्देश है। किन्तु यह अभी तक अनुपलव्ध है। उसी शिलालेखमें यह भी निर्देश है कि पूज्यपादने पाणिनि व्याकरणपर शब्दावतार नामक न्यास वनाया था। पाणिनि व्याकरणकी काशिका वृत्तिपर एक न्यास है उसके कर्ताका नाम भी

---

१. 'न्यास जैनेन्द्रसज्ञ सकलवुधनुत पाणिनीयस्य भूयो
न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्वोधवृत्तः।'

२ जैनेन्द्र व्याकरण और उसके कर्ता पूज्यपादके सम्वन्ध में विशेष जानने के लिये जै० सा० इ० में 'देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण' शीर्षक निवन्ध तथा जैनेन्द्र महावृत्ति' (भा० ज्ञा० पी० काशी) की भूमिका तथा उसीमें 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ' शीर्षक श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकका लेख पढने चाहिये।

जिनेन्द्र वुद्धि है। किन्तु वे बौद्ध साधु थे। नामसाम्यके कारण कही पूज्यपादको पाणिनि व्याकरणपर न्यासका रचयिता न समझ लिया गया हो, ऐसा सन्देह होता है क्योकि इसका समर्थन अन्यत्रसे नही होता।

वैद्यक ग्रन्थ—नगर ताल्लुके के शिला लेखमें पूज्यपाद रचित एक वैद्यक ग्रन्थका भी उल्लेख है। ज्ञानार्णवके 'अपाकुर्वन्ति यद्वाचः' इत्यादि स्मरणात्मक श्लोक से भी ऐसा ध्वनित होता है कि पूज्यपादका कोई वैद्यक ग्रन्थ भी था।

पूनेके भण्डार रिसर्च इन्स्टीटयूटमें पूज्यपादकृत वैद्यक नामका एक ग्रन्थ है। किन्तु वह आधुनिक कनडी भाषामें लिखा हुआ कनडी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें न तो पूज्यपादका कोई उल्लेख है और न वह पूज्यपादका बनाया हुआ है। वैद्यसार नामका एक ग्रन्थ आरासे प्रकाशित हुआ है। उसमें जो प्रयोग दिये हुए है उनके अन्तमे 'पूज्यपादेन भाषितः' या 'निर्मितः' जैसे शब्दोका प्रयोग किया गया है। इससे तथा रचना शैली आदिसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह भी इन पूज्यपादका बनाया हुआ नही है।

इसी तरह आरासे प्रकाशित प्रशस्तिसग्रहमें निदान मुक्तावली और मदन कामरत्न नामके दो वैद्यक ग्रन्थोका परिचय दिया है। जिनमें उन्हे पूज्यपादके द्वारा रचित बतलाया गया है। किन्तु वे पूज्यपाद रचित नही हैं।

विजय नगरके राजा हरिहरके समयमें एक मगराज नामके कनडी कवि हुए है। उनका अस्तित्वकाल वि० स० १४१६ के लगभग है। स्थावरविषोंकी प्रक्रिया और चिकित्सा पर उनका खगेन्द्र मणिदर्पण नामका ग्रन्थ है। वे उसमें अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और अपने ग्रन्थको पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थ से सग्रहीत बतलाते हैं। शोलापुरसे उग्रादित्याचार्यका 'कल्याण कारक' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषित' कहकर पूज्य-पादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। अतः पूज्यपाद देवनन्दिका वैद्यक विषय पर कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। श्रवणबेल गोलाके एक शिलालेखमें जो उन्हें अनुपम औषधऋद्धिका धारी बतलाया है उससे भी उनके चिकित्सा शास्त्रमें निपुणत्वका ही समर्थन होता है। तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकापर आगे विस्तारसे प्रकाश डाला जायेगा। छन्दशास्त्र और जैनाभिषेक नामके ग्रन्थ अनुपलब्ध है और इनका अन्यत्र भी कोई सकेत नही मिलता।

समाधितंत्र और इष्टोपदेश नामक ग्रन्थोके सम्बन्धमें आध्यात्मिक ग्रन्थोंके इतिहासमें लिखा जा चुका है।

दशभक्ति (संस्कृत)—प्रभाचन्दने अपने क्रिया कलापमें इनका कर्ता

पूज्यपादको वतलाया है। उनमेंसे सिद्धभक्ति तो अपनी रचना शैली और निरूपण-के आधारपर भी पूज्यपाद रचित ही प्रतीत होती हैं।

सिद्धिप्रियस्तोत्र—२६ पद्योमें चौवीस तीर्थङ्करोको स्तुति है जो निर्णयसागर प्रेस वम्वईसे सप्तम गुच्छकमें प्रकाशित हो चुका है।

सारसग्रह—पट्खण्डागमकी धवला टीकामें (पु० ९, पृ० १६०)। 'सारसग्रहेऽप्युक्त पूज्यपादै.' करके नयका लक्षण दिया है। यह लक्षण सर्वार्थ-सिद्धि टीकामें दिये गये नयके लक्षणसे कुछ मिलता हुआ है, अत पूज्यपादका सारसग्रह नामक भी कोई दार्शनिक ग्रन्थ रहा है, जो अनुपलब्ध है।

उक्त ग्रन्थोमेंसे वर्तमानमें जैनेन्द्रव्याकरण[1], [2]सर्वार्थसिद्धि टीका, [3]समाधितत्र, इष्टोपदेश,[4] दशभक्ति[5] तथा सिद्धिप्रिय स्तोत्र उपलब्ध हैं और छपकर प्रकाशित हो चुके हैं।

सर्वार्थ सिद्धि

तत्त्वार्थ सूत्रपर पूज्यपादने सर्वार्थ सिद्धि नामकी वृत्ति रची थी। इस वृत्तिको उसकी आद्य टीका कहे जानेका सौभाग्य प्राप्त है। यह वृत्ति यथा नाम तथा गुण है। वृत्तिके अन्तमें तीन पद्य हैं जो वृत्तिकारके द्वारा ही रचे गये हैं। उनमेंसे प्रथम[6] पद्यमें इस तत्वार्थ वृत्तिको 'जैनेन्द्र शासनवरामृतसारभूता'—

---

१ जैनेन्द्र व्याकरणका सूत्र पाठ १९१२ सन्‌में गाधी नाथारगजी ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ था।

२ सर्वार्थसिद्धिका एक सस्करण सन् १९१७ में कोल्हापुरसे, दूसरा शोलापुर से, तीसरा हिन्दी अनुवादके साथ जैनग्रन्थ रत्नाकर वम्वईसे, चौथा हिन्दी अनुवादके साथ भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित हुआ है। इनके सिवाय भी एक दो सस्करण और प्रकाशित हुए हैं।

३ समाधितत्र निर्णयसागर प्रेससे प्रथम संस्कृतगुच्छकमें प्रकाशित हुआ था, सस्कृत टीका और हिन्दी अनुवादके साथ वीर सेवा मन्दिर सरसावासे प्रकाशित हुआ है।

४. इष्टोपदेश सस्कृत टीकाके साथ तत्त्वानुशासनादि सग्रहके अन्तर्गत माणिक चन्द्रग्रन्थ माला वम्वईसे तथा हिन्दी अनुवादके साथ वीरसेवा मन्दिरसे प्रकाशित हुआ है।

५ दशभक्ति सस्कृत टीका तथा मराठी अनुवादके साथ शोलापुरसे प्रकाशित हुआ है।

६. 'स्वर्गापवर्गसुखमाप्तु मनो भिरार्यै जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता। सर्वार्थ-सिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिश मनसा प्रधार्या ॥१॥ तत्त्वार्थ वृत्तिमुदिता विदितार्थतत्त्वा श्रृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या। हस्ते कृत परमसिद्धिसुखामृत तै मर्त्यामरेश्वरसुखेपु किमस्ति वाच्यम् ॥२॥

जैनेन्द्र शासन रूपी परम अमृतका सारभूत कहा है और कहा है कि स्वर्ग और मोक्षके सुखको प्राप्त करनेकी मनो कामनावाले सत्पुरुषोने उसे सर्वार्थ सिद्धि नाम दिया है। अर्थात् उसे यह नाम स्वयं वृत्तिकार ने नही दिया किन्तु इस वृत्तिके गुणोपर मुग्ध हुए मुमुक्षु सज्जनोंने दिया है।

दूसरे पद्यमें कहा है—अर्थके सारको जानने वाले जो जन धर्मभक्तिसे तत्त्वार्थ वृत्तिको पढते और सुनते है, परम सिद्धिके सुखरूपी अमृतको वे हस्त गतकर लेते हैं, तव चक्रवर्ती और इन्द्र पदके सुखके विषयमें तो कहना ही क्या है?

सोलह स्वर्गोंसे ऊपर सवसे अन्तमें पाच अनुत्तर विमानका नाम सर्वार्थ सिद्धि है। जो जीव सर्वार्थसिद्धिमें जन्म लेता है वह वहाकी आयु भोगनेके पश्चात् वहासे चयकर एक मनुष्य भव धारण करके नियमसे मोक्ष लाभ करता है। यह तत्त्वार्थ वृत्ति भी उसीके समकक्ष है अत उसे सर्वार्थसिद्धि नाम दिया गया है, यही वात दूसरे पद्यमें कही गई है।

रचना शैली—पूज्यपाद सूत्रकार भी थे। सूत्र अल्पाक्षर, असन्दिग्ध और सारभूत होता है। अत सूत्रकारके द्वारा रची हुई वृत्तिमें भी इन गुणोका होना स्वाभाविक है। तदनुसार सर्वार्थसिद्धिमें एक भी शब्द फालतु प्रयुक्त नही हुआ है, परिमित और असन्दिग्ध शब्दोके द्वारा सूत्र गत सैद्धान्तिक, दार्शनिक और व्याकरण सगत वातोंको वडी ही प्रसन्न और परिमार्जित शैलीमें सूत्र सदृश छोटे-छोटे वाक्योके द्वारा सरल शब्दोंमें कहा गया है। इसीसे अकलक देव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिके अनेक सूत्रात्मक वाक्योको वार्तिकरूपमें स्थान दिया है। और फिर उनकी व्याख्या भी की है। सर्वार्थसिद्धिमें भी पूज्यपाद ने सूत्रात्मक वाक्योका प्रयोग करके पुन उनका स्पष्टीकरण किया है।

सूत्रकी व्याख्याका उनका वह क्रम है कि पहले यह सूत्रगत शब्दोका अर्थ करते है पश्चात् उसका विवेचन करते हैं। पातञ्जल महाभाष्यके साथ सर्वार्थसिद्धिकी तुलना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूज्यपादने महाभाष्यकी शैलीको अपनाया है और उसीका उनपर विशेष प्रभाव है।

उनके विवेचन दार्शनिकता और तार्किकताको लिये हुए होते हैं। सूत्रगत प्रत्येक पदकी सार्थकता तथा आवश्यकताको स्पष्ट करते हुए वे उसका हार्द अपने पाठकके सामने खोलकर रख देते हैं। आवश्यक होनेपर वे आगम प्रमाण भी उपस्थित करते हैं।

उनके द्वारा उद्धृत गाथाएँ प्राय कुन्द-कुन्दके ग्रन्थोंमें पाई जाती है। किन्तु उद्धृत सस्कृत श्लोकोंके उद्गमका कोई पता नही चलता। कुछ सस्कृत वाक्य भी इस प्रकारके है। उन सवसे पता चलता है कि जैन परम्परामेंसे पूज्यपाद पहले

संस्कृत भाषामें कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ रचे जा चुके थे जो भाषा और विषयकी दृष्टिसे उच्चकोटिके थे।

विशिष्ट चर्चाएँ—तत्त्वार्थ सूत्रका टीकाग्रन्थ होनेसे सर्वार्थ सिद्धिमें भी उन्ही विषयोका विवेचन है जिनका निर्देश तत्त्वार्थ सूत्रमें है। किन्तु जिन विशिष्ट चर्चाओको सर्वार्थसिद्धिकारने उठाया हैं उनमेंसे कुछका निर्देश नीचे किया जाता है जो कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है।

१ मगलाचरण करनेके पश्चात् प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें पूज्यपादने लिखा[1] है—स्वहितैषी निकट भव्यने एक आश्रममें मुनियोकी परिषदके मध्यमें बैठे हुए निर्ग्रन्थाचार्यके पास जाकर विनय सहित पूछा—भगवन्! आत्माका हित क्या है। आचार्यने उत्तर दिया मोक्ष। भव्यने पुन पूछा—मोक्षका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप प्रथम सूत्र रचा गया और इस तरह तत्त्वार्थ सूत्रका सूत्रपात हुआ।

तत्त्वार्थ भाष्यके प्रारम्भमें जो ३१ सम्बन्ध कारिकाएँ हैं उनमेंसे अन्तिम कारिकामें भी यही बात कही गई कि 'मोक्ष मार्गके विना इस जगतमें हितका उपदेश नही है। इसलिये उसी मोक्षमार्गको कहता हूँ।'

२. प्रथम अध्यायके छठे सूत्र '**प्रमाणनयैरधिगमः**' की व्याख्यामें पूज्यपाद स्वामीने प्रमाणके[2] स्वार्थ और परार्थ भेद करके केवल श्रुतज्ञानको स्वार्थ और परार्थ बतलाया है तथा उसीके भेद नय है, ऐसा कहा है। इसीमें 'उक्तं' करके नयका लक्षण तथा 'सकलादेशो प्रमाणाधीन विकलादेशो नयाधीनः।' वाक्य उद्धृत किये हैं। जहाँ तक हम जानते हैं 'प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद पूज्यपादसे पहलेके किसी जैनग्रन्थमें नही पाये जाते। और न सकला देश और विकलादेशवाला वाक्य ही उद्धृत पाया जाता है। सिद्धसेनके न्यायावतारमें अनुमानके स्वार्थ परार्थ भेद बतलाये हैं, प्रमाणके नही।

३ गौतमने[3] अपने न्यायसूत्रोंमें अनुमानके दो भेद किये थे—स्वार्थ और परार्थ। किन्तु उद्योतकरसे पहले नैयायिक किसी व्यक्तिको ज्ञान करानेके लिये परार्थानुमानकी उपयोगिता नही मानते थे। बौद्धदार्शनिक दिङ्नागने दोनो भेदोंका ठीक-ठीक अर्थ करके सबसे पहले स्वार्थानुमान और परार्थानुमानके

---

१ 'नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्। तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥३१॥

२ 'प्रमाण द्विविध स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थ प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुन स्वार्थं भवति परार्थञ्च।' —सर्वा० १-६।

३ बुद्धिस्ट लाजिक।

मध्यमें भेदकी रेखा खडी की। सिद्धसेन दिवाकरने परार्थानुमानको जैनन्यायमें स्थान तो दिया, किन्तु उसके समन्वयका कोई यत्न नही किया। पूज्यपादका ध्यान उस ओर गया और उन्होने प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद करके श्रुत प्रमाणको उभयरूप वतलाया। किन्तु अनुमानके अन्तर्भावकी वात फिर भी शेप रह गई। अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] स्वार्थानुमानका अन्तर्भाव अनक्षरात्मक अथवा ज्ञानात्मक श्रुतमें किया और परार्थानुमानका अन्तर्भाव अक्षरात्मक अथवा वचनात्मक श्रुतमें किया।

४ 'सत्सख्या' आदि सूत्रकी वृत्तिमें सदादि आठ अनुयोगोके द्वारा चौदह मार्गणाओमें गुणस्थानोका विवेचन वहुत सुन्दर रीतिसे किया है। उसका आधार 'षट्खण्डागम' 'जीवट्ठाण'के सूत्र है।

५ प्रमाणकी चर्चामे नैयायिक वैशेपिकोके सन्निकर्प प्रामाण्यवादका तथा साख्योके इन्द्रिय प्रामाण्यका निराकरण करके ज्ञानके ही प्रामाण्यका व्यवस्थापन किया है तथा ज्ञानको स्वपर प्रकाशक वतलाया है।

इसी तरह 'अर्थस्य' सूत्रकी वृत्तिमें इन्द्रियका सन्निकर्प गुणके साथ होता है, गुणीके साथ नही होता, इस मतका निराकरण करके द्रव्यके साथ इन्द्रियका सम्पर्क होता है इस वातको स्थापित किया है। तथा आगे चक्षुके प्राप्यकारित्वका आगम और युक्तिसे खण्डन करके चक्षु अप्राप्यकारी है इस वातको सिद्ध किया है। उपलब्ध जैनसाहित्यमे ये चर्चाएँ पूज्यपादसे पहले नही मिलती।

६ सूत्र १-३२ की वृत्तिमें कारणविपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूप विपर्यासकी चर्चा करते हुए यौग, साख्य, वौद्ध, चार्वाक आदिके मतोका निर्देश किया है और उनके ज्ञानको मिथ्याज्ञान वतलाया है।

७ सूत्र १-३३ की वृत्तिमें नयके सात भेदोंका स्वरूप वहुत सुन्दर रीतिसे वतलाया है।

८ दूसरे अध्यायके तीसरे सूत्रकी वृत्तिमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति अनादि मिथ्या दृष्टि जीवके कैसे होती है, यह वतलाते हुए काल लब्धियोका कथन किया है। वैसे आगममें पाँच लब्धियाँ वतलाई है—क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करण लब्धि। किन्तु पूज्यपाद स्वामीने केवल काल लब्धिके नाम से ही लब्धियोका निर्देश किया है—वे है—'काल लब्धि' कर्म-स्थिति काललब्धि और भवापेक्षया काललब्धि।

षट्खण्डागमके जीवट्ठाणकी सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिकाके सूत्रो का ही अनुसरण पूज्यपादने उक्त कथनमें किया है। किन्तु उसमें काललब्धि आदि नामोका कोई निर्देश नही है।

---

१ 'अनुमानादीना पृथगनुपदेश श्रुतावरोधात्।' —त० वा०, पृ० ७८।

दूसरा अध्याय जीवसे सम्बद्ध सैद्धान्तिक बातो से सम्बद्ध हैं और उन्हीका विवेचन पूज्यपादने किया हैं। विस्तार भयसे उसका यहाँ विवरण नही दिया गया। तीसरा और चौथा अध्याय लोकानुयोगसे सम्बद्ध है उसमें तीन लोकोंका वर्णन है। पूज्यपाद स्वामीने प्रत्येक सूत्रकी वृत्तिमें सम्बद्ध विषयका विवेचन संक्षेपमें सुन्दर रीति से किया है जिससे ज्ञात होता है कि वे लोकानुयोगके भी बहुत अच्छे ज्ञाता थे।

९ पाँचवें अध्यायमें द्रव्योका कथन होनेसे उनमें अनेक दार्शनिक चर्चाएँ पूज्यपाद स्वामीने की हैं। यथा द्रव्याणि ॥२॥ सूत्रकी वृत्तिमें 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यम्' और 'गुणसमुदायो द्रव्यम्' इन लक्षणोंकी आलोचना की है। 'जीवाश्च ॥३॥' सूत्रकी वृत्तिमें वैशेषिकोके नौद्रव्योका अन्तर्भाव पुद्गलादिद्रव्योमें सिद्ध करके परमाणुओमें पार्थिवादि जातिभेदका निराकरण किया है और सब परमाणुओको एक जातीय ही बतलाया है।

सूत्र १९ की वृत्तिमें शब्दके अमूर्तिकत्वका निराकरण करके उसे मूर्तिक बतलाया है तथा मनको पृथक् द्रव्य माननेका और उसके अणुरूप होनेका खण्डन किया है। सूत्र ३०-३२ की व्याख्यामें द्रव्यको उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक बतलाकर देवदत्तके दृष्टान्त द्वारा वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है।

पूज्यपादने यद्यपि स्याद्वाद और सप्तभगीका नामोल्लेख नही किया, किन्तु अनेकान्तवादके द्वारा वस्तुस्थितिका निरूपण जगह-जगह किया है।

१० छठे अध्यायके सूत्र १३ में केवली, श्रुत, सघ, धर्म और देवोंके अवर्णवादसे (झूठा दोषारोपण करनेसे) दर्शन मोहनीय कर्मका आस्रव होना बतलाया है। इसकी व्याख्यामें पूज्यपाद स्वामीने श्वेताम्बर मान्यताओका निर्देश किया हैं। लिखा[1] है—केवली ग्रासाहार करते हैं ऐसा कहना केवलियोका अवर्णवाद है। शास्त्रमें माँस भक्षण करनेमें कोई दोष नही बतलाया ऐसा कहना श्रुतका अवर्णवाद है। जैन साधु शूद्र होते हैं अपवित्र होते हैं इत्यादि कहना उनका अवर्णवाद है। जैन धर्म निर्गुण है उसको मानने वाले मरकर असुर होते है इत्यादि कहना धर्मका अवर्णवाद है। देवगण सुरा और माँसका सेवन करते हैं, इत्यादि कथन करना देवोका अवर्णवाद है।

---

१ 'कवलाभ्यवहारजीविन केवलिन इत्यादि वचन केवलिनामवर्णवाद। मासभक्षणाद्यनवद्याभिधान श्रुतावर्णवाद। शुद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघावर्णवाद। जिनोपदिष्टो धर्मो निर्गुणस्तदुपसेविनो ये ते चासुरा भविष्यन्तीत्येवमाद्यभिधान धर्मावर्णवाद.। सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवाद।'—सर्वा०सि०, ६-१३।

श्वेताम्बर परम्परा केवलीको ग्रासाहारी मानती है, दिगम्बर परम्परा ऐसा नही मानती। वह इसे केवलियो पर मिथ्यादोपारोपण मानती है। उसीका कथन पूज्यपादने किया है। जैनागमको श्रुत कहते हैं। भगवती सूत्र वगैरहमें ऐसे वाक्य भी हैं जिनका अर्थ माँस परक होता है। सम्भवतया उन्हीकी ओर पूज्यपाद स्वामीका सकेत है।

जैन साधुओ, जैनधर्म और जैनधर्मके अनुयायिओके सम्बन्धमें जिस अवर्ण-वादका उल्लेख किया गया गया है, वह हिन्दु पुराणोमें जो जैनधर्मकी उत्पत्ति आदिकी कथाएँ दी गई है उसीको लक्ष्य करके लिखा गया जान पडता है। देवोंके सुरा और मास सेवनकी चर्चा भी हिन्दु पुराणोमें पाई जाती है।

११ सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रकी वृत्तिमें पूज्यपादस्वामीने एक शङ्का उठाई है कि रात्रि भोजन[1] त्याग नामक एक छठा अणुव्रत भी है। उसको भी यहाँ गिनना चाहिये। और इसका यह समाधान किया गया है कि अहिंसाव्रतकी भाव-नाओमें उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इस शका समाधानसे यह प्रकट होता है कि पहले रात्रि भोजन विरति नामक भी एक छठा अणुव्रत माना जाता था। अकलंक देवने अपने तत्त्वार्थ वार्तिकमें भी उक्त सूत्रके अन्तर्गत सर्वार्थ सिद्धिके अनुरूप ही उक्त शका समाधान किया है।

किन्तु उल्लेखनीय वात यह है कि सातवें अध्यायके प्रथय सूत्रमें व्रतोकी चर्चा है और दूसरे सूत्रमें उन व्रतोंके अणुव्रत और महाव्रत भेद किये है। पूज्यपादस्वामी रात्रि भोजन विरतिको छठा अणुव्रत होनेके सम्बन्ध में शङ्का उपस्थित करते हैं महाव्रत होनेके सम्बन्धमें नही। किन्तु मूलाचार[2] और भ० आराधनामें[3] एक समान गाथाके द्वारा पाँच महाव्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन निवृत्तिका निर्देश है किन्तु उसे छठा महाव्रत नही कहा है। परन्तु भ० आ० की विजयोदया[4] टीकामें दस स्थितिकल्पोंका वर्णन करते हुए छठे व्रत नामक स्थिति कल्पके वर्णनमें लिखा है कि उन पाँच व्रतो (महाव्रतों) के पालनेके लिए रात्रि भोजन विरमण नामका छठा व्रत (महाव्रत) कहा गया है। तथा यह भी लिखा है कि आद्य

---

१ 'ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमण तदिहोपसख्यातव्यम्, न, भावनास्वन्तर्भावात्।'—सर्वा० सि०, ७-१।

२-३ 'तेसिं चेव वदाण रक्खणट्ठ रादिभोयणणियत्ती।—मूला० गा० २९५, भ० आ० गा० ११८५।

४ 'तेपामेव पञ्चाना व्रताना पालनार्थं रात्रि भोजनविरमण षष्ठ व्रतम्'।—भ० आ० टी०, पृ० ६१५।

और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें पाँच महाव्रतोंके साथ रात्रि भोजन विरमण छठा महाव्रत होता है[1]।

श्वेताम्बरीय महानिशीथ सूत्रमें भी पाँच महाव्रतोंके साथ रात्रि भोजन विरमण नामका छठा महाव्रत बतलाया है। तथा टीकाकारने[3] लिखा है कि यह रात्रि भोजनव्रत प्रथम तीर्थङ्कर और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें ऋजुजड और वक्रजड पुरुषोंकी अपेक्षासे मूलगुण बतलानेके लिए महाव्रतोंके पश्चात् रखा गया है। शेष मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके तीर्थमें तो उत्तरगुण माना गया है।

किन्तु विशेषावश्यक[4] भाष्यमें सम्यक्त्व सहित पाँच महाव्रतोंको मुनियोंके मूलगुण और सम्यक्त्व सहित पाँच अणुव्रतोंको गृहस्थोंके मूलगुण कहा है। इस-पर यह शंका की गई कि रात्रिभोजनविरमण भी तो मूलगुण है उसका ग्रहण क्यों नही किया ? तो उसका उत्तर दिया गया है कि व्रती संयमीको ही रात्रि भोजन विरमण मूलगुण है, गृहस्थका तो उत्तर गुण है। अथवा महाव्रतका संरक्षक होनेसे रात्रि भोजन विरमण उत्तर गुण है। तथापि समस्त व्रतोका पालक होनेसे उसे मूलगुण कहते हैं। और मूलगुणोंके ग्रहणसे उसका ग्रहण हो जाता है।'

इस तरह श्वेताम्बर परम्पराके प्राचीन ग्रन्थोंमें रात्रि भोजन विरमणको छठा महाव्रत माना है और दिगम्बर परम्पराके प्राचीन ग्रन्थोंमें भी यद्यपि रात्रि-भोजन विरतिको स्पष्ट रूपसे छठा महाव्रत नही कहा, तथापि महाव्रतोकी रक्षाके लिये उसे एक व्रत माना है। किन्तु पूज्यपाद स्वामीने उसके सम्बन्धमें कोई शका न उठाकर जो रात्रि भोजन विरति नामक छठे अणुव्रतके अस्तित्वके सम्बन्ध-

---

१ 'आद्यपाश्चात्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणपष्ठानि पच महाव्रतानि।'—भ० आ० टी०, पृ० ६१४।

२. 'मूलगुणा पच महव्वयाणि राईभोयण छट्ठाइ।'—महानि०, ३ अ०।

३ 'एतच्च रात्रिभोजनव्रतं प्रथमचरमतीर्थङ्करतीर्थयो ऋजुजडवक्रजडपुरुपापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थ महाव्रतोपरि पठितं। मध्यमतीर्थङ्करतीर्थे पुन ऋजुप्राज्ञ-पुरुपापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति'। अभि० रा०, भा० ५, पृ० २९५।

४. 'सम्मत्त समेयाइं महव्वयाणुव्वयाइ मूलगुणा। मूलं सेसाहारो वारस तग्घा-इणो एए ॥१२३९॥ निसिभत्तविरमणं पि हु न णु मूलगुणो कह न गहिय त। वयधारिणो च्चिय तय मूलगुणो सेसयस्सियरो ॥१२४०॥ आहार विरम-णाओ तवो व तव एव वा जओऽणसण। अहव महव्वयसरक्खत्तणाओ समिइव्व ॥१२४१॥ तह वि य तयं मूलगुणो भण्णइ मूलगुणपालय जम्हा। मूलगुण गहणम्मि य त गहियं उत्तरगुणव्व ॥१२४२॥—वि० भा०।

मे शङ्का उठाई है, उसका कोई प्राचीन आधार उपलब्ध नही होता है। संभव है पूज्यपाद स्वामीके सन्मुख श्रावकाचार सम्बन्धी कोई ग्रन्थ वर्तमान रहा हो, जिसमें रात्रि भोजन विरमणको छठा अणुव्रत माना हो।

सातवें अध्यायके तेरहवें सूत्रकी व्याख्या करते हुए पूज्यपाद स्वामीने हिंसा और अहिंसाके स्वरूपका सक्षेपमें सुन्दर विवेचन किया है और उसके समर्थनमें अनेक गाथाएँ तथा श्लोक भी उद्धृत किये हैं। सूत्रमें प्रमत योगसे प्राणोंके घात को हिंसा कहा है। सूत्रके दोनों पदोंका समर्थन करते हुए पूज्यपाद स्वामीने कहा है कि केवल प्राणोका घात हो जाना मात्र हिंसा नही है। तथा दूसरेके प्राणोका घात न होने पर भी यदि घातकमें प्रमत्तयोग है तो भी हिंसा है क्योकि घातकका भाव हिंसारूप है। इसके समर्थनमें उन्होने एक बडा ही भावपूर्ण[1] श्लोक उद्धृत किया है। उसमें बताया है कि प्रमादी जीव सबसे प्रथम तो अपने द्वारा अपना ही घात करता है। दूसरे प्रणियोका घात हो न हो यह तो पीछे की बात है। जिस ग्रन्थका यह श्लोक होगा, वह ग्रन्थ अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होना चाहिए।

हिंसाकी तरह ही अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहके स्वरूपको बतलाने वाले सूत्रोंका बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है और प्रत्येक पापको भाव-परक बतलाकर द्रव्यकी अपेक्षा भावके महत्त्वको प्रकट किया है।

इसी तरह २२वें सूत्रकी व्याख्यामें सल्लेखना (समाधि पूर्वक मरण) का वर्णन करते हुए व्यापारीके दृष्टान्तके द्वारा सल्लेखनामें आतमघातके दूषणका परिहार बडी सुन्दर रीतिसे किया है।

१२ आठवें अध्यायमें कर्मबन्धका और कर्मोंके भेद-प्रभेदो वगैरहका वर्णन है। प्रथम सूत्रमें बन्धके पाँच कारण बतलाये हैं। उनका व्याख्यान करते हुए पूज्य-पादने मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका स्वरूप बतलाया है। उनमेंसे विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने जहाँ पुरुषाद्वैतकी मान्यताको विपरीत मिथ्यात्व बत-लाया है, वहाँ सग्रन्थको निर्ग्रन्थ कहना, केवलीको कवलाहारी कहना तथा स्त्रीको मोक्ष कहना, इन तीनो श्वेताम्बरीय मान्यताओका उल्लेख भी विपरीत मिथ्यात्व में किया है।

इसी अध्यायके दूसरे सूत्रका[2] व्याख्यान तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस

---

१ 'स्वयमेवात्मनात्मान हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्व-प्राण्यन्तराणा तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वध ॥'

२ 'सकपायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानुपादत्ते स बन्ध. ॥
—त० सू० ८-२।

सूत्रके प्रत्येक पदकी सार्थकता वतलाते हुए पूज्यपादने जैनकर्मसिद्धान्त विपयक , कई शङ्काओंका परिहार किया है। सूत्रमें कहा गया है—'कपाय सहित होनेसे जीव कर्मोंके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है, वह वन्व है।' 'कपाय सहित होने से (सकपायत्वान्) पदका साफल्य वतलाते हुए कहा है कि जैसे उदराग्निके आगयके अनुरूप आहार ग्रहण किया जाता है वैसे ही तीव्र मन्द अथवा मध्यम कपायाशयके अनुरूप कर्मोमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति होती है।

अमूर्ति और विना हाथवाला आत्मा कर्मोको कैसे ग्रहण करता है इस तर्कणा के समाधानके लिये जीव शव्द रखा है। जो जिये और मरे वह जीव है। अर्थात् संसारमें भटकने वाले जीवोके ही कर्मोका वन्ध होता है।

'कर्मयोग्यान्' न कहकर 'कर्मणो योग्यान् कहनेसे पूज्यपादने सूत्रकारका यह अभिप्राय वतलाया है कि वह उसके द्वारा दो वातें कहना चाहते हैं पहली वात— कर्मके कारण ही जीव सकपाय (कषायवाला) होता है। जो कर्मोसे रहित है उसके कपाय भी नही है। इससे जीव और कर्मका सम्वन्व अनादि है यह वात कही गई है। अत अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्मके द्वारा कैसे वाधा जाता है यह तर्क निरस्त हो जाता है। यदि कर्मवन्वको सादि माना जाता है तो अत्यन्त शुद्ध सिद्ध जीवकी तरह संसारी जीवके भी वन्वके अभावका प्रसंग आता है। और दूसरी वात—कपायसहित होनेसे कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है।

पुद्गल शव्द यह वतलाता है कि कर्म पौद्गलिक हैं। अत जो अन्य दार्शनिक अदृष्टको आत्माका गुण मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है।

इस तरहसे पूज्यपादने इस सूत्रका व्याख्यान किया है। इसी तरह नौवें और दसवें अध्यायोकी व्याख्यामें भी अनेक सैद्धान्तिक वातोका कथन वहुत सक्षेपसे किन्तु सुन्दर सुस्पष्ट रीतिसे किया गया है।

समय—पूज्यपाद देवनन्दिने अपने ग्रन्थोमें अपना नामतक भी नही दिया, तव अपनी गुरु परम्परा और रचनाकाल आदि दिये जानेकी आशा उनसे कैसे की जा सकती है। ऐसी स्थितिमें उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोंके उल्लेखों तथा अन्य साधनोंसे ही करना पडता है।

१ पूज्यपादके समाधि तंत्र और इष्टोपदेशका कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूज्यपादने कुन्दकुन्दाचार्यके वाक्योंका वहुत कुछ अनुसरण किया है। पीछे इन दोनों ग्रन्थोंके सम्वन्धमें लिखते हुए अनेक उदाहरणों द्वारा यह वात प्रमाणित की गई है फिर भी यहाँ स्पष्टीकरणके लिये एक दो उदाहरण दे देना उचित होगा।

जं मया दिस्सदे रूव तण्ण जाणादि सव्वहा ।
जाणग दिस्सदे ण त तह्मा जपेमि केण ह ॥२९॥—मो० प्रा० ।
यन्मया दृश्यते रूप तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूप तत केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥—स० त० ।

× × ×

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥—मो० प्रा० ।
व्यवहारे सुषुप्तो य स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥—स० तं० ।

समाधितत्रके दोनो श्लोक मोक्षप्राभृतकी उक्त गाथाओंके सस्कृत रूपान्तर जैसे हैं । इतना ही नहीं, पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें 'संसारिणो मुक्ताश्च' । सूत्रकी व्याख्यामें पाँचो परावर्तनोका स्वरूप वतलाते हुए प्रत्येक परावर्तनके अन्तमें उसकी समर्थक जो एक-एक करके पाच गाथाए 'उक्त च' लिखकर उद्धृत की है, वे पाँचो गाथाएं उसी क्रमसे कुन्दकुन्दरचित 'वारह अणुवेक्खा' में पाई जाती हैं। अत निश्चित है कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थसे ही उन्हें उद्धृत किया गया है ।

इसलिये यह निश्चित है कि पूज्यपाद कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं । तथा गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिके द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्रपर उन्होंने वृत्ति लिखी है अत उनके पश्चात् भी होना सुनिश्चित है । पीछे कुन्दकुन्दका समय वि० स० १८० से २३० तक तथा सूत्रकारका समय वि० सं० ३०० तक सिद्ध किया है । अत पूज्यपाद विक्रमसम्वत् ३०० के पश्चात् हुए हैं ।

२. पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि (७–१३) में 'नियोजयति चासुभिर्नच वधेन सयुज्यते' यह पद्याश 'उक्त च' लिखकर उद्धृत किया है । सिद्धसेनको तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६व पद्यका यह प्रथम चरण है । जैनेन्द्र सूत्रमें भी सिद्धसेनका उल्लेख है । सिद्धसेनका समय प० सुखलालजीने विक्रमकी पाचवी शताब्दी निश्चित किया है अत पूज्यपाद उसके पश्चात् हुए हैं ।

३ पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र[1] व्याकरणके सूत्रोमें भूतवलि, समन्तभद्र, सिद्धसेन, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र नामके पूर्वाचार्योका उल्लेख किया है । इनमेंसे भूतवलि तो पट्खण्डागमके रचयिता प्रतीत होते हैं जो विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए है । प्रखर तार्किक और अनेकान्तवादके प्रस्थापक समन्तभद्र तो

---

१ 'राद् भूतवले । ३-४-८३ । 'गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् । १-४-३४ ।' 'वेत्ते सिद्धसेनस्य । ५-१-७ ।' 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य । ५-४-१४० ।' 'कृवृषिमृजा यशोभद्रस्य । २-१-९८।' रात्रे कृति प्रभाचन्द्रस्य । ४-३-१८०।'-जैं० व्या० ।

प्रसिद्ध ही है। सिद्धसेन भी उन्हीके पश्चात् हुए हैं। श्रीदत्तके जल्पनिर्णय नामक ग्रन्थका उल्लेख विद्यानन्दिने अपने[1] तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें किया है। तथा अकलकदेवने अपने[2] तत्त्वार्थ वार्तिकमें सिद्धसेनसे पहले श्रीदत्तका उल्लेख किया है।

४ आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणके[3] प्रारम्भमें क्रमसे सिद्धसेन, समन्तभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है, पश्चात् 'देव' नामसे पूज्यपाद देवनन्दिका भी स्मरण किया है। जिनसेनने अपना महापुराण विक्रमकी नौवी शताब्दीके अन्तमें रचा था। अत पूज्यपाद नौवी शताब्दीसे पूर्व तथा जैनेन्दोक्त आचार्योंके पश्चात् किसी समय हुए हैं।

५ धनञ्जय[4] कविने अपने नाममाला कोशके अन्तमे पूज्यपादके लक्षणको अकलंकके प्रमाणको 'अपश्चिम' कहा है अत पूज्यपाद धनञ्जय कविसे पूर्वमें हुए हैं और अकलकदेवने उनकी सर्वार्थ सिद्धिके अनेक वाक्योको अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें वार्तिक रूपसे अपनाया है। अकलंक देवका समय विक्रमकी आठवी शताब्दी है अत पूज्यपाद उससे पहले हुए हैं।

अव विचारणीय यही रह जाता है कि पूज्यपाद सिद्धसेनसे कितने समय पश्चात हुए हैं।

६ श्री प० जुगल किशोरजी मुख्तारने अपने 'समन्तभद्र'[5] नामक निवन्धमें तथा समाधि तत्रकी[6] प्रस्तावनामें लिखा है कि पूज्यपाद स्वामी गगराज दुर्विनीतके शिक्षा गुरु थे जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है। और उन्हें हेव्वुर[7] आदिके अनेक शिलालेखोमें शब्दावतारके कर्ता रूप से दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लेखित किया है।'

---

१. 'द्विप्रकार जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।
त्रिपष्ठेर्वादिना जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४५॥'–त० श्लो० पृ० २८०।

२ 'श्रीदत्तमिति, सिद्धसेनमिति'–त० वा०, पृ० ५७। ३ म० पु० १, ४२-४७।

४ 'प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवे काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥२०२॥'–ना० मा०।

५. र०क०श्रा०, की प्रस्ता०, के अन्तर्गत, पृ० १४२-४२।

६ स० तं० की प्रस्ता०, पृ० ७।

७ 'कुर्ग इन्सक्रिप्शन्स' प्रस्ता० पृ० ३। 'मैसूर एण्ड कुर्ग' जि० १, पृ० ३७३। 'कर्णाणटक भापा भूपाम् प्रस्ता० पृ० १२। 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' पृ० २५ और कर्णाटक कविचरिते।

किन्तु ऐसा कथन भ्रान्तिजन्य है। हेब्बुरके ताम्रलेखमें 'शब्दावतारकार-देव भारती निबद्ध बृहत्कथ किरातार्जुनीय पञ्च दश सर्गटीकाकार 'दुर्विनीत नामा' ऐसा लिखा हुआ है। जिससे प्रकट है कि उक्त दोनो विशेषण दुर्विनीतके हैं। अर्थात् दुर्विनीतने शब्दावतार ग्रन्थ रचा था, गुणाढ्यकी बृहत्कथाको संस्कृत भाषामें परिवर्तित किया था और भारविकृत किरातार्जुनीयके पन्द्रहवें सर्गकी टीका लिखी थी। पूज्यपादने पाणिनीय व्याकरणपर शब्दावतार नामक न्यास लिखा था ऐसा एक शिलालेखमें लिखा है यह पहले बतलाया गया है। इस नाम सादृश्यके कारण राईस साहबने हेब्बुरके ताम्र पत्रमें आगत 'शब्दावतारकार' पदको पूज्यपादाचार्यका वाचक समझकर ऐसा लिख दिया कि हेब्बुरके शिला-लेखमें लिखा है कि पूज्यपादाचार्य दुर्विनीतके शिक्षागुरु थे। और उसीको प्रमाण मानकर दूसरोने भी वैसा लिख दिया।

उक्त भ्रमका निराकरण प० ए० शान्तिराज शास्त्रीने तत्त्वार्थ सूत्रकी भास्करनन्दि विरचित सुखबोधिनी वृत्तिकी प्रस्तावनामें (पृ०४३-४५) किया है।

७ देवसेनने वि० सं० ९९० में दर्शनसार नामक ग्रन्थकी रचना की थी, उसके अन्तमें उन्होंने लिखा है कि पूर्वाचार्यकृत गाथाओंको एकत्र करके इस ग्रन्थकी रचना की गई है। अत. उसकी प्रामाणिकता बढ जाती है। उसमें लिखा[1] है कि—पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदी वज्रनन्दी द्राविड संघका कर्ता हुआ। और तब दक्षिण मथुरा (मदुरा) में वि० सं० ५२६ में यह महामिथ्यात्वी संघ उत्पन्न हुआ।

चूँकि वज्रनन्दि देवनन्दिके शिष्य थे इसलिये द्रविड संघ की स्थापनाके उक्त कालसे दस बीस वर्ष पहले उनका समय माना जा सकता है। अत श्रीयुत[2] प्रेमीजीने देवनन्दि पूज्यपादका समय विक्रम की छठी शताब्दी माना है।

७ श्रीयुधिष्ठिर मीमासकने इधर देवनन्दिके समयका निश्चायक एक नूतन प्रमाण उपस्थित किया है। भा० ज्ञा० पीठ काशी से प्रकाशित जैनेन्द्र महावृत्तिके नये संस्करणके प्रारम्भमें 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिल पाठ' शीर्षक अपने लेखमें 'आचार्य देवनन्दीका काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण' (पृ० ४२-४३) उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है—

---

१. 'सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो। णामेण वज्जणंदी पाहुड-वेदी महासत्तो ॥२४॥ पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥—द० सा०।

२ जै० सा० इ०, पृ० ४६।

'आचार्य देवनन्दिके कालके विषयमें ऐतिहासिकोका परस्पर वैमत्य है। यथा—

१ कीथ अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल लिटरेचर' में लिखता है जैनेन्द्र व्याकरण ई० सन् ६७८ (७३५ वि०) के समीप लिखा गया।

२ श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवनन्दिका काल सामान्यतया विक्रमकी छठी शताब्दी निश्चित किया है।

३ श्री आई० एम० पवतेने अपने 'स्ट्रक्चर आफ दी अष्टाध्यायी (भू० पृ० १३) में लिखा है—महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्यने कर्णाटक कवि चरित्रके प्रथम भागके प्रथम सस्करणमें पूज्यपादको ईस्वी सन् ४७० (५२७ वि०) में बताया है और दूसरे सस्करणमें सन् ६०० (६५७ वि०) में परन्तु, मुझे १२-१२-१९३३को लिखे पत्रमें लिखा है कि पूज्यपाद ४५० ई० (५०७ वि०) के आस-पास है।

४ हमने अपने व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणोंके आधारपर आचार्य पूज्यपादका काल विक्रमकी षष्ट शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना था। अब हम उसे ठीक नही समझते। अब हमें जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं, यह निश्चित होता है।'

श्री युधिष्ठिर मीमासकके द्वारा उपलब्ध नया प्रमाण इस प्रकार है—कात्यायनने एक विशिष्ट प्रकारके प्रयोगके लिये नियम बनाया है—'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' (महा० ३।२।१२) अर्थात् ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ताने उसे न देखा हो परन्तु प्रयोक्ताके दर्शनका विषय सम्भव हो (अर्थात् वह घटना प्रयोक्ताके जीवनकालमें घटी हो) उस घटनाको कहनेके लिये भूतकालमें लङ् प्रत्यय होता है। पतञ्जलिने महाभाष्यमें इस वार्तिक पर उदाहरण दिये हैं—'अरुणद् यवन साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।' वार्तिकके नियमानुसार साकेत (अयोध्या) और माध्यमिका (चित्तौड समीपवर्ती नगरी ग्राम) पर यह लोक प्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलिके जीवनकालमें हुआ था। प्राय सभी ऐतिहासिक इस विषयमें सहमत हैं।

इसी प्रकारका नियम पाणिनिसे उत्तरवर्ती प्राय सभी व्याकरण ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणोके साथ-साथ स्वसमकालिक किन्ही महती घटनाओंका भी प्राय निर्देश करते हैं। यथा—

अजयद् जर्तो हूणान्।—चान्द्र

अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्।—जैनेन्द्र (२-२-९२)

अदहदमोघवर्षोऽरातीन् ।—शाकटायन (४-३-२००)
अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तिम् ।—हैम० (५-२-८)

इनमें अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति (शाकटायन) महाराज अमोघ वर्ष और आचार्य हेमचन्द्र महाराज सिद्धराजके कालमें विद्यमान थे। इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नही। परन्तु चान्द्रके जर्त और जैनेन्द्रके महेन्द्र नामक व्यक्तिको इतिहासमें प्रत्यक्ष न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानोने जर्तको गुप्त और महेन्द्रको मेनेन्द्र-मिनण्डर बनाकर अनर्गल कल्पनाएँ की हैं। इस प्रकारकी कल्पनाओंसे इतिहास नष्ट हो जाता है। हमारे विचारमें जैनेन्द्रका 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' पाठ सर्वथा ठीक है।' उसमें किञ्चिन्मात्र भ्रान्तिकी सम्भावना नही है। आचार्य पूज्यपादके कालकी यह ऐतिहासिक घटना इतिहासमें सुरक्षित है।

मथुरा पर आक्रमण करनेवाले यह महेन्द्र कौन थे, इस पर प्रकाश डालते हुए श्री मीमासकने लिखा है—

'जैनेन्द्रमें स्मृत महेन्द्र गुप्तवशीय कुमारगुप्त है। इसका पूरा नाम महेन्द्र कुमार है। जैनेन्द्रके 'विनाऽपि निमित्त पूर्वोत्तरपदयोर्वा ख वक्तव्यम् ४-१-१३) वार्तिक अथवा 'पदेषु पदैकदेशान्' नियमके अनुसार उसीको महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उसके सिक्कोपर श्री महेन्द्र,[1] महेन्द्रसिह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं। तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्रमें लिखा है—"यवनो पल्हिको शकुनो (कुशनों) ने मिलकर तीन लाख सेनासे महेन्द्रके राज्य पर आक्रमण किया। गंगाके उत्तर प्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेनके युवा कुमारने दो लाख सेना लेकर उनपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटनेपर पिताने उसका अभिषेक कर दिया।"[2] चन्द्रगर्भ सूत्रका महेन्द्र निश्चय ही कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मंजुश्री मूलकल्प श्लोक ६४६ में श्री महेन्द्र और उनके सकारादि पुत्र (स्कन्दगुप्त) को स्मरण किया[3] है।"

अतः श्री युधिष्ठिरजीका कहना है कि—'चन्द्रगर्भ सूत्रमें लिखित घटनाकी जैनेन्द्रके उदाहरणमें उल्लिखित घटनाके साथ तुलना करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके उदाहरणमें इसी महत्त्वपूर्ण घटनाका सकेत है। उक्त उदाहरणसे यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओने गगाके आस-पासका प्रदेश जीतकर मथुराको अपना केन्द्र बनाया था, इस कारण महेन्द्रकी सेनाने मथुराका

---

१ श्री प० भगवद्दत्तकृत भारतवर्षका इतिहास, पृ० ३५४।

२ वही, पृ० ३५४।

३. महेन्द्रनृपवरो मुख्य. सकाराद्यो मत परम्।'

ही घेरा डाला था। महाभाष्य, शाकटायन तथा सिद्ध हेम व्याकरणोंमें निर्दिष्ट उदाहरणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्रकुमारके समकालिक थे। पाश्चात्य मतानुसार कुमारगुप्तका काल वि० स० ४७०-५१२ (ई० ४१३-४५५ ई०) तक था। अत पूज्यपादका काल अधिकसे अधिक विक्रमकी पाँचवी शतीके चतुर्थ चरणसे षष्ठशताब्दीके प्रथम चरण तक ठहरता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्, उदाहरणमें महेन्द्रको मैनेन्द्र-मिनण्डर समझना भारी भ्रम है।'

श्री मीमांसकजीकी उक्त उपपत्तियाँ वजनदार हैं। और उन्होंने उनके आधार पर जो समय निर्णीत किया है वह भी पूज्यपादके अब तक निर्णीत समयके प्रतिकूल नहीं है।

तत्त्वार्थ भाष्य

अब हम उस तत्त्वार्थ भाष्यके सम्बन्धमें विशेष रूपसे प्रकाश डालेंगे जिसे तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति रचित कहा जाता है। और कहा ही नही जाता, बल्कि भाष्यके अन्तमें पाई जाने वाली प्रशस्ति से भी यही व्यक्त होता है।

किन्तु जैसा हम पूर्वमें लिख आये हैं भाष्यकी स्वोपज्ञता सन्दिग्ध है। अत उसे सर्वार्थसिद्धिके पश्चात् रखा गया है।

सर्वार्थसिद्धि और भाष्य—यद्यपि सर्वार्थसिद्धि और भाष्यके कुछ स्थल, जो वर्णनात्मक हैं वे परस्परमें शब्दश मिलते हैं। जैसे नरक गतिमें दु खोंका[1] वर्णन, अनुप्रेक्षाओं[2] आदिका वर्णन। तथा नौवे अध्यायके पुलाक बकुश आदि सूत्रमें

---

१ 'सुतप्तयोरसपायन निष्टप्तायस्तम्भालिङ्गनकूटशाल्मल्यारोहणावतरणायोघनाभिघात - वासीक्षुरतक्षण - क्षारतप्ततैलावसेचनाय कुम्भीपाकाम्बरीषभर्जन-वैतरणीमज्जनयन्त्रनिष्पीडनादिभिर्नारकाणा दु खमुत्पादयन्ति।'—स०सि०-३।५।—'तप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तम्भालिङ्गनकूटशाल्मल्यग्रारोपणावतरणायोघनाभिघात - वासीक्षरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिसेचाय कुम्भपाकाम्बरीपतर्जनयन्त्रपीडनाय शूलशलाकाभेदनक्रकचपाटन—।'—त०भा०, ३।५।

२ 'यथा मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तो शरण न विद्यते।'—स०सि०, ९।७।—'यथा निराश्रये जनविरहिते वनस्थलीपृष्ठे बलवता क्षुत्परिगतेनामिषैषिणा सिंहेनाभ्याहतस्य मृगशिशो. शरण न विद्यते एव जन्मजरामरणव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोग जन्तो ससारे शरण न विद्यते।'—त०भा० ९।७।

आगत पुलाकादि निग्रन्थोका लक्षण भी मिलता हुआ है। किन्तु जहाँ तक सूत्रोंके व्याख्यादिका सम्बन्ध है, दोनो ग्रन्थोंमें बहुत अन्तर पाया जाता है। वह अन्तर शैली गत, और विषयगत होनेके साथ ही साथ सूत्रगत पदोंकी सार्थकतासे विशेष सम्बन्ध रखता है। दोनो व्याख्याओंके तुलनात्मक अध्ययनसे प्रकट होता है कि सूत्रोके पदोकी सार्थकता आदिका जितना अच्छा बोध सर्वार्थसिद्धिकारको था उतना भाष्यकारको नही था। यद्यपि भाष्यकार ने भी अपने भाष्यमें सूत्रगत शब्दोकी साथकर्ताका कही-कही निर्देश किया है किन्तु बहुतसे आवश्यक सूत्रोंके पदोंके सम्बन्धमें उन्होने कुछ भी नही लिखा है।

यथा—औपशामिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदायिक-पारिणामिकौ च' ॥२१॥

इस सूत्रकी रचना कुछ विचित्र है किन्तु भाष्यकार ने उसके सम्बन्धमें कुछ भी नही लिखा।

एक सूत्र है—'ज्ञान दर्शन दान लाभ भोगोपभोगवीर्याणि च ॥२-४॥' इसके भाष्यमें 'ज्ञान दर्शन दान लाभो भोगो उपभोगो वीर्यमित्येतानि च नव क्षायिका भावा भवन्तीति' लिखा है जिसका अर्थ होता है कि ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग वीर्य ये नौ क्षायिकभाव होते हैं। 'च' शब्दसे पीछे कहे गये सम्यक्त्व और चारित्रका ग्रहण करना चाहिये, यह भी इसमें नही लिखा है। उसके विना ज्ञानादि सात ही होते है।

एक सूत्र है—'सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' ॥८-२॥ इसमें 'कर्मणो योग्यान्' के स्थानमें 'कर्मयोग्यान्' पद भी रखा जा सकता था। भाष्यमें 'कर्मयोग्यान्' पदका प्रयोग भी किया गया है किन्तु फिर भी 'कर्मणो योग्यान्' पद क्यो रखा, इसपर भाष्यकारने कोई प्रकाश नही डाला। किन्तु सर्वार्थसिद्धिकारने इस 'कर्मणो योग्यान्' पदके ऊपरसे जैनसिद्धान्तके जिस रहस्य-को स्पष्ट किया है वह अपूर्व है।

इस तरहके और भी बहुतसे उदाहरण उपस्थित किये जा सकते है। यहा विस्तार भयसे उन सबको देना शक्य नही हैं। उन सबसे यही व्यक्त होता है कि भाष्यकारको तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोका उतना स्पष्ट अनुगम नही था जितना सर्वार्थसिद्धिकारको था। और इससे तथा सर्वार्थसिद्धिमें सूत्र १।१६की व्याख्यामें आगत एक पाठान्तरके सम्बन्धमे जो उस पाठान्तरको माननेवालोंकी व्याख्या दी है उससे बराबर ऐसा लगता है कि सर्वार्थसिद्धिकारके सामने तत्त्वार्थ सूत्रकी कोई व्याख्या होनी चाहिये, जो भाष्यसे भिन्न थी। किन्तु भाष्यकारके सामने कोई अन्य व्याख्या होनेका कोई आभास भाष्यसे नही मिलता।

शैली तथा वैदुष्य—भाष्यके अवलोकनसे प्रकट होता है कि भाष्यकार

आगमिक शैलीके विद्वान थे। और जैन सिद्धान्तोका उन्होंने अच्छा अनुगम किया था। 'आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ' ॥१-३५॥ सूत्रकी व्याख्यामे जो उन्होने नयोंका तथा 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत्' ॥५-२९॥ और 'अर्पितानर्पितसिद्धे ॥५-३१॥' सूत्रोकी व्याख्यामें जो आगमिक शैलीमे अनेकान्तवादका विवेचन किया है, वह उनके वैदुष्यका परिचायक है।

प० सुखलालजीने तत्त्वार्थ सूत्रकी अपनी प्रस्तावनामें सूत्र ७-५७ के भाष्य-के कुछ अशको योगसूत्रके व्यासभाष्यमे प्रभावित वतलाया है और यह प्रकट किया है कि भाष्यकार दर्शनान्तरोके भी ज्ञाता थे। किन्तु दर्शनोके ज्ञाता होते हुए भी उनकी शैलीमें दार्शनिकतासे आगमिकता ही अधिक है। 'प्रत्यक्षमन्यत्' ॥१-१२॥ सूत्रके भाष्यमें उन्होने यह लिखा है कि कुछ वादी अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावको भी प्रमाण मानते है किन्तु उनका अन्तर्भाव मतिज्ञान और श्रुत ज्ञानमें हो जाता है क्योंकि वे सब इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे होते है,'। परन्तु उन्होंने 'न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१-१९॥' सूत्रके भाष्यमें यह नही वतलाया कि चक्षु और मनमे व्यंजनावग्रह क्यों नही होता। और न सन्निकर्षके सम्बन्धमें ही कोई चर्चा की है। अर्थ और व्यंजनको भी स्पष्ट नही किया है।

सूत्रोका साधारण अर्थ करनेके साथ-साथ जहाँ उन्हे उचित प्रतीत हुआ वहाँ सम्बद्ध आगमिक या सैद्धान्तिक विपयोका विवेचन ही उन्होंने अपने भाष्यमें किया है। यो तो उन्होने यत्रतत्र कुछ सूत्रोकी उत्थानिकाएँ दी है, किन्तु अनेक आवश्यक उत्थानिकाओको छोड ही दिया है। उदाहरणके लिए, दूसरे अध्यायमें 'विग्रहगतौ कर्मयोग ॥२-२६॥ सूत्रसे एक विल्कुल नई चर्चाका सूत्रपात होता है किन्तु उस तथा उससे आगेके तीन सूत्रोकी कोई उत्थानिका ही नही दी। ऐसे उदाहरण और भी हैं। जहाँ उत्थानिका दिये बिना भी काम चल सकता था, वहाँ उत्थानिकाओंका देना और जहाँ उनका देना आवश्यक था, वहाँ नही देना, वडा विचित्र सा लगता है। जो विपय जहाँ देना चाहिये था, वहाँ न देकर अन्यत्र देनेका एक उदाहरण भाष्यको स्वोपज्ञताको विचार करते समय पीछे दे आये हैं।

भाष्यमे मतान्तरोका निर्देश—भाष्यकारने अपने भाष्यमें अनेक मतभेदो-का निर्देश किया है, जो प्राय जैन सिद्धान्त विपयक ही हैं।

१ भाष्यकारने सूत्र १-६के भाष्यमे 'चतुर्विधमित्येके नय वादान्तरेण' लिख-कर प्रमाणके चार भेदोका मतान्तरसे निर्देश किया है। अनुयोगद्वारमें प्रमाणके चार भेद पाये जाते है। सभवतया भाष्यकारने 'एके' से उसीका निर्देश किया

है। इसके सम्बन्धमें प० सुखलालजीने लिखा[1] है—'जान पडता है सबसे पहले आर्यरक्षितने, जो जन्मसे ही ब्राह्मण थे और वैदिक शास्त्रोंका अभ्यास करनेके पश्चात् ही जैन साधु हुए थे अपने ग्रन्थ अनुयोगद्वारमें (पृ० २११) प्रत्यक्ष अनुमानादि चार प्रमाणोका विभाग जो गौतम दर्शन (न्यायसू० १-१-३) में प्रसिद्ध है उसको दाखिल किया।' प्रमाण चतुष्टय विभाग असलमें न्यायदर्शनका ही है इस लिए भाष्यकारने उसे 'नयवादान्तरेण' कहा है।

२ सूत्र २-४३ के भाष्यमें भाष्यकारने लिखा है कि-'किन्हीके मतसे जीवके साथ एक कार्मण शरीरका ही अनादि सम्बन्ध है। तैजस तो लब्ध्यपेक्ष होता है और वह तैजस लब्धि सबके नही होती, किसीके ही होती है।' इसपर सिद्धसेन गणिकी टीकाके अवलोकनसे प्रकट होता है कि श्वेताम्बर परम्परामें इस सम्बन्धमें मतभेद है। यद्यपि सूत्रकारने सभी ससारी जीवोंके कार्मण और तैजस दोनो शरीरोका अनादि सम्बन्ध बतलाया है और भाष्यकारने भी तदनुसार ही भाष्यमें कथन किया है, तथापि जो पक्ष तेजसका सब जीवोके अनादि सम्बन्ध नही मानता, वह सूत्र और उसके भाष्यका व्याख्यान भी अपने अनुकूल ही करता है। दिगम्बर परम्परामें इस तरहका कोई मतभेद नही है।

३ सूत्र १-३१ के भाष्यमें भाष्यकारने किन्ही आचार्योका यह मत दिया है कि केवल ज्ञानके हो जाने पर मति श्रुत आदि ज्ञानोका अभाव नही होता है किन्तु जैसे सूर्यके प्रकाशसे नक्षत्र मण्डल छिप जाता है वैसे ही अन्य सब ज्ञान विद्यमान होते हुए भी केवल ज्ञानसे अभिभूत हो जाते हैं। किन्तु भाष्यकारने इस मतको मान्य नही किया है।

इसी तरह अन्य भी कई शास्त्रीय मत भेदोका उल्लेख भाष्यमें किया गया है।

भाष्यमे आगम विरुद्ध मान्यताओका निर्देश—भाष्यमे आगत कतिपय मान्यताओं पर सिद्धसेनगणिने अपनी टीकामें आपत्ति की है। यद्यपि गणिजीने कतिपय मान्यताओका समन्वय करनेकी भी चेष्टा की है किन्तु कही-कही तो वह भाष्यकारपर बुरी तरहसे बरस पडे हैं और उनके कथनको प्रमत्त-गीत (पागलका प्रलाप) तक कह डाला है। सिद्धसेनगणि कृत टीकाकी मुद्रित प्रतिके दूसरे भागकी प्रस्तावनामें उसके सम्पादक श्री हीरालाल रसिक दास एम० ए० ने भी ऐसी मान्यताओकी एक तालिका दी है और प्रारम्भमें लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रमें और उसके स्वोपज्ञ भाष्यमें कतिपय ऐसे उल्लेख है जो श्वेताम्बरीय, आगमादिग्रन्थोंमें अथवा दिगम्बरीय ग्रन्थोमें दृष्टिगोचर नही होते। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—तत्त्वार्थसूत्रमें (१-४) साततत्त्व बतलाये है

---

१ प्रमा० मीमा० भ० टि०, पृ० २०।

किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें नवतत्त्व ही बतलाये है। सिद्धसेनगणिने पूज्यपाद और अकलकको तरह बन्धमे पुण्य और पापका अन्तर्भाव मानकर उसपर कोई आपत्ति नही उठाई है। दिगम्बर परम्परामें कुन्दकुन्दने नौ पदार्थोकी तरह सात तत्त्व भी बतलाये है यह हम पहले ही लिख आये है।

२ भाष्य मान्यपाठमें सूत्र (१-३४) के द्वारा पहले नयोके पाँच भेद बतलाये हैं फिर सूत्र (१-३५)मे पञ्चम शब्द नयके तीन भेद बतलाये है। भाष्यमें उन तीन भेदोका नाम साम्प्रत, समभिरूढ, और एवभूत बतलाया है। किन्तु साम्प्रत नामका नय किसी भी जैन ग्रन्थमें नही मिलता। गणिजी ने इसपर कोई आपत्ति नही की है।

३ सूत्र २-१७के भाष्यमे उपकरणेन्द्रियके दो भेद बतलाये है। इसपर आपत्ति करते हुए टीकाकार[1] गणिजी ने कहा है कि आगममें उपकरणके अन्तर और बाह्य भेद नही बतलाये हैं। यह तो आचार्य (भाष्यकारका) ही कोई सम्प्रदाय है।

४ सूत्र ३-९के भाष्यमें भाष्यकारने मेरु पर्वतका वर्णन करते हुए भद्रशाल वनसे पण्डुकवन तक मेरुकी ऊँचाई तथा हानिका कथन किया हैं। उसपर आपत्ति करते हुए टीकाकार[2] ने लिखा है कि आचार्य ने जो यह हानि बतलाई हैं वह गणितके अनुसार घटित नही होती। गणित शास्त्रवेत्ता विद्वान इस हानिको आगमके अनुसार अन्य प्रकारसे बतलाते है।

५ सूत्र ३-१५ की टीकामें सिद्धसेन गणि ने लिखा[3] है 'कि किन्ही दुष्टो ने अन्तर्द्वीप सम्बन्धी भाष्य नष्ट कर दिया, इसीसे भाष्यमे ९६ अन्तर्द्वीप पाये जाते हैं। किन्तु यह कथन आर्षविरुद्ध हैं क्यो कि जीवाभिगम आदिमें छप्पन अन्तर्द्वीप कहे है। वाचक मुख्य सूत्रका उल्लघन करके ऐसा नही कह सकते, ऐसा करना असभव है, अत किन्ही सिद्धान्त विरोधियो ने उसे नष्ट कर दिया।'

---

१ 'आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तवहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति।' वही—पृ० १६६।

२ 'एषा च परिहाणिराचार्योक्ता न मनागपि गणितप्रक्रियया सङ्गच्छते गणितशास्त्रविदो हि परिहाणिमन्यथा वर्णयन्त्यार्षानुसारिण।'—वही, पृ० २५२।

३ 'एतच्चान्तरद्वीपकभाष्य प्रायो विनाशित सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन षण्णवतिरन्तरद्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्ष चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात्, नापि वाचकमुख्या सूत्रोल्लङ्घनेनाभिदधत्यसम्भाव्यमानत्वात् तस्मात् सैद्धान्तिकपाशैर्विनाशितमिदमिति।'—वही, पृ० २६७।

इससे पता चलता है कि भाष्यमें ९६ अन्तर्द्वीप वतलाये थे, जैसा कि दिगम्बर परम्परामें मान्य है। किन्तु अव जो मुद्रित भाष्य है, यहाँ तक कि सिद्धसेनकी टीकामें जो भाष्य मुद्रित है उसमें भी ५६ ही अन्तर्द्वीप वतलाये गये है। अत प्रतीत होता है कि गणि जी की टीकाके पश्चात् भाष्यसे ९६ वाला पाठ हटाकर उसके स्थानमें ५६ वाला पाठ रख दिया है। मूल भाष्यमें ९६ ही अन्तर्द्वीप वतलाये थे।

६ सूत्र ४-१४ के भाष्यमें भाष्यकारने लिखा है कि सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्र तिर्यग्लोकमें है और शेप ज्योतिष्कदेव ऊर्ध्वलोकमें रहते है।

इसपर सिद्धसेन[1] गणिने लिखा है। आचार्य ही (भाष्यकार) इसे जानते है, आगममें तो ऐसा कथन नही है। सभी ज्योतिष्कदेव तिर्यग्लोकमें ही रहते है।

७ 'सूत्र ८-३२ के भाष्य मे दूसरे सहननका नाम अर्धवज्रर्षभनाराच' वतलाया है। इसपर गणिजीने लिखा[2] है कि यह भाष्यकारका मत है। कर्म प्रकृति ग्रन्थ मे तो वज्रनाराच नाम ही है। इसमें क्या तत्त्व है यह तो पूर्ण श्रुतधर ही जानते है।

८ सूत्र ९-६ के भाष्यमें भाष्यकारने वारह भिक्षुप्रतिमाओमें से आठवी आदि प्रतिमाओको सप्तरात्रिकी आदि वतलाया है। गणिजीने उससे कुपित होकर लिखा[3] है—यह भाष्य परमागमके वचनोके अनुसार नही है। यह पागलका प्रलाप है वाचक तो पूर्ववित् थे वह इस प्रकार आर्पविरुद्ध कैसे लिख सकते है।'

इस प्रकार भाष्यके अनेक प्रसंग श्वेताम्वरीय आगमोके भी विरुद्ध है। और इस लिये सिद्धसेन गणिने उन्हें वाचक उमास्वातिका नही माना है। किन्तु हमें तो सारा भाष्य ही सूत्रकारकृत प्रतीत नही होता, जैसा कि हम पहले लिख आये है।

---

१ 'शेपास्तु प्रकीर्णतारका ऊर्ध्वलोके भवन्ति इति। आचार्य एवेदमवगच्छति, न त्वार्पमेवमवस्थितं, सर्वज्योतिष्काणा तिर्यग्लोकव्यवस्थानादिति।'—वही, पृ० २८८।

२ 'अर्धवज्रर्षभनाराचनाम तु वज्रर्षभनाराचानामर्धं किल सर्वेपा वज्रस्यार्ध' इति भाष्यकारमतम्। कर्मप्रकृतिग्रन्थेपु वज्रनाराचनामैव पट्टहीनं पठित, किमत्र तत्त्वमिति सम्पूर्णानुयोगधारिण क्वचिद् सविद्रते। 'वही, भा० पृ० १५४।

३ 'नेद पारमर्पप्रवचनानुसारि भाष्यं, किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवविधमार्पविसवादि निवन्धीयात्।'—सि० ग० टी०, भा० २, पृ० २०६।

भाष्यका रचनाकाल

अब हम भाष्यके रचनाकाल पर विचार करेगे ।

१ भाष्यपर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं और दोनों प्रकाशित भी हो चुकी हैं। उनमेसे एक टीका बडी है और उसके रचयिता सिद्धसेन गणि है। और दूसरी छोटी टीकाके रचयिता हरिभद्र हैं। श्वेताम्बर परम्परामे हरिभद्र नामके कई आचार्य हो गये हैं जिनमें सैकडो ग्रन्थोंके रचयिता याकिनीसूनु हरिभद्र प्रमुख हैं। इस दूसरी वृत्तिका रचयिता इन्हीको माना जाता है। प० सुखलालजीने भी तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी प्रस्तावना (पृ० ४३) में यही बात लिखी है। उसी आधार पर हमने दूसरी वृत्तिको देखा तो हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि दोनो वृत्तियो-के अनेक स्थल शब्दश मिलते हैं। हरिभद्रकी वृत्ति देखनेसे पहले हम सिद्धसेन की वृत्ति देख चुके थे और अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकके साथ मिलान करके इस निर्णय पर भी पहुँच गये थे कि सिद्धसेनने अकलंकदेवकी तत्त्वार्थवार्तिकको न केवल देखा है किन्तु उसका अनुसरण भी किया है। ऐसे स्थलोको हरिभद्रकी वृत्ति में भी ज्यों का त्यो देखकर पहले तो हमने यही समझा कि हरिभद्रकी वृत्तिका अनुसरण सिद्धसेनने किया है और हरिभद्रने तत्त्वार्थवार्तिकका अनु-सरण किया है। किन्तु अनुसन्धान करने पर हमे ज्ञात हुआ कि छोटी वृत्ति हरिभद्र नामके किसी अन्य आचार्यकी कृति है और उन्होने सिद्धसेन गणिकी वृत्तिको सामने रखकर अपनी वृत्ति रची है। अत भाष्यपर उपलब्ध टीकाओमें सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन गणिकी है।

सिद्धसेनने अपनी टीकाके अन्तमें अपनी प्रशस्ति भी दी है। उसके अनुसार दिन्नगणिके शिष्य सिंहसूर, सिंहसूरके शिष्य भास्वामी और भास्वामीके शिष्य सिद्धसेन गणि थे। सिंहसूरने नयचक्र पर वृत्ति रची है। पं० सुखलालजीने (त० सू० की प्रस्ता० पृ० ४२) लिखा है कि सिंहसूर विक्रमकी सातवी शताब्दीके मध्यमें अवश्य विद्यमान थे। तथा सिद्धसेन गणिने अपनी टीकामें बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्तिका नामोल्लेख किया है। अत यह निश्चित है कि सिद्धसेन विक्रमकी सातवी शताब्दीसे पहले नही हुए।

तथा नववी शताब्दीके विद्वान शीलाङ्कने आचाराग टीकामें गन्धहस्ती नामसे उनका उल्लेख किया है ऐसा प० सुखलालजीने (त० सू० प्रस्ता० ४२) लिखा है। अत नववी शताब्दीके पश्चात् नही हुए यह भी निश्चित है। उक्त दोनो आधारोपर यदि उनका समय मोटेतौर पर आठवी शताब्दी मान लिया जाये तो यह निश्चित है कि उस समय तत्त्वार्थ भाष्य वर्तमान था।

२. यह भी निश्चित है कि अकलंकदेव सिद्धसेन गणिके पूर्वज थे, क्योकि

जैसा हम आगे लिखेंगे सिद्धसेन गणिने अपनी तत्त्वार्थ टीकामें उनके तत्त्वार्थ वार्तिकका पूरा उपयोग किया है। अकलकदेव भी धर्मकीर्तिके पश्चात् हुए है। अत इतना निश्चित है कि सिद्धसेन गणिकी तरह वे भी सातवी शताब्दीसे पहले नही हुए। और इसलिये अकलकदेव और सिद्धसेनगणिके मध्यमें दीर्घकालका अन्तराल होना भी सम्भव नही है। अधिक सम्भव तो यही प्रतीत होता है कि अकलक सातवी शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुए है तो सिद्धसेन आठवी शताब्दीके मध्यमें। अत जिस तत्त्वार्थभाष्य पर सिद्धसेनने टीका लिखी वह अकलकदेवके समयमें अवश्य वर्तमान होना चाहिये। क्योकि सिद्धसेनकी टीकामें दिये गये [1]मतभेदोंसे यह प्रकट होता है कि उनके सामने तत्त्वार्थभाष्यकी अन्य टीका टिप्पण भी वर्तमान थे। अत तत्त्वार्थभाष्य सातवी शताब्दीमें अवश्य रचा जा चुका था।

अपने उक्त कथनके समर्थनमें एक प्रमाण हमें और भी उपलब्ध हुआ है—मल्लवादीके नयचक्र पर सिंहसूर क्षमाश्रमणकी [2]न्यायागमानुसारिणीवृत्ति उपलब्ध है। उसमें तत्त्वार्थभाष्यका[3] एक वाक्य उद्धृत है। सिंहसूर सिद्धसेन गणिके दादागुरु थे और उनका समय विक्रमकी सातवी शताब्दीका मध्यकाल माना जाता है।

अकलंक देव और उनका तत्त्वार्थ वार्तिक

जैन परम्परामें भट्टाकलक देव बडे प्रखर तार्किक और दार्शनिक हुए हैं। इन्हें जैनन्यायका यदि पिता कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नही है। बौद्ध दर्शनमें धर्म कीर्तिको जो स्थान प्राप्त है वही स्थान जैनदर्शनमें अकलकका है। अत दर्शन और न्यायके प्रकरणमें इनके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डाला जायेगा।

इनके द्वारा रचित प्राय सभी ग्रन्थ जैनदर्शन और जैनन्यायसे सम्बन्ध रखते हैं और उन्हें इन विषयोका आकर ग्रन्थ कहा जा सकता है। अत उन सब ग्रन्थोका परिचयादि भी उसी प्रकरणमे देना उचित होगा। उन्ही ग्रन्थोमे तत्त्वार्थ वार्तिक नामक ग्रन्थ भी है, जो तत्त्वार्थ सूत्रका ही व्याख्या ग्रन्थ है। यद्यपि उसकी शैली दार्शनिकतासे परिपूर्ण है तथापि उसमें आगमिक चर्चाएँ होनेसे तत्त्वार्थसे सम्बन्ध होनेके कारण उसे इस प्रकरणमें रखा गया है।

---

१ 'कैश्चिदेव भाष्यमेतद् व्याख्यायि'—पृ० २९।

२ 'लौकिकसम उपचार प्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार' इति वचनात्।

३. त० भा० १-३५। —द्वा० न० च०, पृ० ९५।

नाम—इस ग्रन्थके आद्य मगल श्लोकके चतुर्थ चरणमें 'वक्ष्ये तत्त्वार्थ-वार्तिकम्' लिखकर अकलकदेवने इस ग्रन्थको तत्त्वार्थवार्तिक नाम दिया है। यह नाम सार्थक है। चूंकि यह तत्त्वार्थ सूत्रका व्याख्या ग्रन्थ है अत उसको तत्त्वार्थ नाम दिया जाना उचित ही है। तथा उसकी रचना वार्तिकोंके रूपमें होनेसे उसे तत्त्वार्थवार्तिक संज्ञा दी गई है।

ये वार्तिक श्लोकात्मक भी होते हैं और गद्यात्मक भी होते हैं। कुमारिल-का मीमासा श्लोकवार्तिक और धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्तिक श्लोकोंमें रचा गया है। किन्तु न्यायदर्शनके सूत्रोंपर उद्योतकरने जो न्यायवार्तिक रचा है वह गद्यात्मक है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उद्योतकरने न्यायसूत्रोंपर न्यायवार्तिक रचा वैसे ही अकलकदेवने तत्त्वार्थके सूत्रोंपर तत्त्वार्थवार्तिककी रचना की।

तत्त्वार्थवार्तिकको तत्त्वार्थराजवार्तिक भी कहते हैं। और उसका सक्षिप्त नाम राजवार्तिक ही अधिक प्रचलित पाया जाता है। विक्रमकी १५वी शताब्दीके ग्रन्थकार धर्मभूषणने राजवार्तिक[1] नामसे उसका उल्लेख किया है। तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक भाष्य नामसे भी उसका उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि वार्तिक तो सूत्र रूप हैं और उन वार्तिकोका व्याख्यान भी अकलकदेवने स्वय किया है। अत धर्मभूषणजीने वार्तिकको उद्धृत करते हुए तो राजवार्तिक नामका उल्लेख किया है और उसकी व्याख्याको उद्धृत करते समय तत्त्वार्थ-राजवार्तिक भाष्य नामका उल्लेख किया है।

विक्रमकी नौवी शताब्दीके ग्रन्थकार वीरसेन स्वामीने तो अपनी 'धवला[2] और जयधवला[3] टीकामें केवल तत्त्वार्थ भाष्य नामसे ही तत्त्वार्थवार्तिकका उल्लेख किया है।

रचनाशैली तथा महत्त्व—अकलकदेवने अपना तत्त्वार्थवार्तिक उद्योतकरके न्यायवार्तिककी शैलीमे लिखा है। इसमें वार्तिक जुदे हैं और उनकी व्याख्या जुदी है। इसीसे इसकी पुष्पिकाओंमें इसे 'तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यानालकार सज्ञा दी गई है। उद्योतकरने भी अपनी वार्तिकोंका व्याख्यान स्वयं किया है। मूलसूत्र ग्रन्थ दस अध्यायोंमें विभक्त है अत तत्त्वार्थवार्तिकमें भी दस ही अध्याय हैं।

---

१ 'यद् राजवार्तिकम् ।'—न्या० दी०, पृ० ३१।

२ 'उक्त तत्त्वार्थ भाष्ये'—षट्खं०, पु० १, पृ० १०३।

३ 'प्रमाण प्रकाशितार्थ विशेष प्ररूपको नय' अय वाक्यनय तत्त्वार्थ भाष्यगत।
—क० पा०, भा० १, पृ० २१०।

किन्तु अकलंकदेवने न्यायवार्तिककी तरह ही प्रत्येक अध्यायको आह्निकोंमें विभक्त कर दिया है।

अकलङ्कदेवके ग्रन्थ दो प्रकारके हैं—टीका ग्रन्थ और स्वतन्त्र प्रकरण। टीकाग्रन्थोंमें तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टशती हैं। तथा स्वतंत्र ग्रन्थोंमें लघीयस्त्रय सविवृति, न्यायविनिश्चय सविवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सविवृत्ति और प्रमाण संग्रह मुख्य हैं। ये सभी स्वतंत्र ग्रन्थ संक्षिप्त होनेपर भी बहुत गम्भीर, और अर्थबहुल हैं। अकलंकदेवकी प्रौढ तार्किक शैलीके साक्षात् दर्शन तो उन्हीसे होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रका विषय सैद्धान्तिक और आगमिक है फलत तत्त्वार्थवार्तिकमें भी उसी विषयका प्राधान्य होना स्वाभाविक है। किन्तु अकलंकदेव सिद्धान्त और आगमके मर्मज्ञ होते हुए भी मुख्य रूपसे दार्शनिक थे। अत तत्त्वार्थवार्तिककी शैलीमें दार्शनिकताकी छाया रहना स्वाभाविक है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम तथा पञ्चम अध्यायमें क्रमसे ज्ञानकी और द्रव्योंकी चर्चा है और ये ही दोनों चर्चाएँ दर्शनशास्त्रके प्रधान अगभूत हैं। अत अकलंकदेवने इन दोनों अध्यायोंमें अनेक दार्शनिक विषयोंकी समीक्षा की है। दर्शनशास्त्रके अभ्यासियोंके लिए ये दोनों अध्याय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनमें जो दार्शनिक चर्चाएँ हैं वे इससे पूर्वके जैनसाहित्यमें उपलब्ध नही होती।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है और आचार्य समन्तभद्र अनेकान्त वादके सबसे बड़े व्यवस्थापक हुए हैं। उन्होंने आप्तमीमांसाके द्वारा उसीकी व्यवस्था की है। उसी आप्तमीमासापर अकलंकदेवने अपना अष्टशती भाष्य रचा था। अकलंकदेव समन्तभद्रके सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। उन्होने तत्त्वार्थवार्तिकके द्वारा अनेकान्तवादकी स्थापना ही मुख्य रूपसे की है। जितने भी दार्शनिक मन्तव्य उसमें चर्चित हैं सबका समाधान अनेकान्तके द्वारा किया गया है। इसीलिए दार्शनिक विषयोंसे सम्बद्ध सूत्रोंके व्याख्यानमें 'अनेकान्तात्' वार्तिक अवश्य पाया जाता है। इसके अवलोकनसे ऐसा स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि उनकी इस रचनाका एक प्रधान उद्देश्य आगमिक शैलीके ग्रन्थ द्वारा भी अनेकान्तकी व्यवस्था को अवतरित करना था। जिन अध्यायोंमे दार्शनिकताकी गन्ध भी नही हैं उनमें भी यथास्थान अनेकान्तवादकी चर्चाको अवतरित किया गया है।

किन्तु इसका यह मतलब नही है कि आगमिक विषयोंकी उन्होने उपेक्षा की है। तीसरे और चतुर्थ अध्यायोंमें लोकानुयोगसे सम्बद्ध विषयोंका जो वर्णन यथास्थान कियागया है, वह तिलोयपण्णत्ति जैसे लोकानुयोगविषयक प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमे भी अपनी विशेषता रखता है जिसका दिग्दर्शन तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थके अन्तर्गत कराया जा चुका है। इसी तरह अन्य भी कई सैद्धान्तिक विषयोंकी महत्त्वपूर्ण चर्चा यथास्थान की गई है।

साराश यह है कि तत्त्वार्थवार्तिक एक तरहसे एक आकर ग्रन्थ जैसा है। इसीसे प० सुखलालजीने अपनी तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना (पृ० ७८-७९) में उसके सम्बन्धमे लिखा है—'राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकके इतिहासज्ञ अभ्यासी को मालूम पडेगा कि दक्षिण हिन्दुस्तानमें जो दार्शनिक विद्या और स्पर्धाका समय आया और अनेकमुख पाण्डित्य विकसित हुआ, उसीका प्रतिबिम्ब इन दोनों ग्रन्थोंमें है। प्रस्तुत दोनो वार्तिक जैन दर्शनका प्रामाणिक अभ्यास करनेके पर्याप्त साधन है, परन्तु इनमेंसे राजवार्तिक गद्य, सरल और विस्तृत होनेसे तत्त्वार्थके मम्पूर्ण टीका ग्रन्थोकी गरज अकेला ही पूरी करता है। ये दो वार्तिक यदि नही होते तो दसवी शताब्दी तकके दिगम्बर साहित्यमें जो विशिष्टता आई है और उसकी जो प्रतिष्ठा बधी है वह निश्चयसे अधूरी ही रहती। वे दो वार्तिक साम्प्रदायिक होनेपर भी अनेक दृष्टियोंसे भारतीय दार्शनिक साहित्यमें विशिष्ट स्थान प्राप्त करें ऐसी योग्यता रखते है। इनका अवलोकन बौद्ध और वैदिक परम्पराके अनेक विषयोंपर तथा अनेक ग्रन्थोपर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है'।

आधार—तत्त्वार्थ वार्तिकका मूल आधार पूज्यपादकी सर्वार्थ सिद्धि है। सर्वार्थ सिद्धिकी वाक्य रचना सूत्र जैसी सन्तुलित और परिमित है। अत अकलक देवने उसके प्राय सभी विशेष वाक्योको अपने वार्तिक बना डाला है। और उनका व्याख्यान किया है। आवश्यकतानुसार नये वार्तिको की तो रचना की ही है किन्तु सर्वार्थसिद्धिका उपयोग पूरी तरहसे किया गया है। और यदि कहा जाये कि तत्त्वार्थ वार्तिकमें लगभग समग्र सर्वार्थसिद्धि आ गयी है तो कोई अत्युक्ति नही होगी। किन्तु सर्वार्थसिद्धिका विशिष्ट अभ्यासी भी यदि तत्त्वार्थ वार्तिकको पढे तो उसे भी यह बोध नही हो सकता कि मैं किसी पठित विषय को ही पढ रहा हूँ। जैसे बीज वृक्षमें समा जाता है वैसे ही सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थ-वार्तिकमें समा गई। उसको आधार बनाकर अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिक रूपी भव्य प्रासादका निर्माण किया है, जिसमें आधारकी प्राचीनता होते हुए भी सब कुछ नवीन ही नवीन दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि सर्वार्थसिद्धिकारने जिन विषयोकी चर्चा नही की थी, और जो विषय सर्वार्थसिद्धिकारके पश्चात् दार्शनिक क्षेत्रमें अवतरित हुए उन सभीकी सयोजना तत्त्वार्थवार्तिकमें की गई है।

चर्चित विषय—तत्त्वार्थवार्तिकमें जिन विशेष विषयोकी चर्चा अकलकदेवने की है उनका दिग्दर्शन कराये बिना ग्रन्थका दार्शनिक रूप अधूरा रह जाता है। अत संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

१ प्रथम अध्यायके प्रथम सूत्रके व्याख्यानमें अकलकदेवने कर्ता और करण के भेदाभेदकी चर्चा उठाई है। ज्ञान शब्दकी 'जानाति इति ज्ञानम्' और

ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' जो जानता है वह ज्ञान है और जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान है, इन दो व्युत्पत्तियोंको लेकर वह शका की गई है। कर्ता करणसे भिन्न होता है जैसे देवदत्त कुठारसे भिन्न है। अत आत्मा ज्ञानसे भिन्न है। इस चर्चाको उठाकर अन्तमें ज्ञानसे आत्माको भिन्न और अभिन्न सिद्ध किया गया है।

सर्वार्थसिद्धिमें भी पूज्यपाद स्वामीने इस शकाको उठाया है और उसका समाधान अनेकान्तवादी दृष्टिकोणसे किया है। अकलकदेवने उसीको खूब विस्तार दिया है।

२ इसी प्रथम सूत्रके अन्तर्गत दूसरे आह्निकमें यह चर्चा उठाई है कि सब दर्शनोमें ज्ञानसे ही मोक्ष माना गया है अत मोक्ष मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप नही हो सकता। और इसके समर्थन में साख्य, वैशेषिक, न्याय और बौद्धदर्शनके मत दिये गये हैं। साख्यमतके समर्थनमें 'धर्मेण गमनमूर्ध्वं, इत्यादि साख्यकारिका ४४, व्याख्याके साथ दी गई है। वैशेषिक मतके समर्थनमें 'इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्ति ।६।२।१४ । इस वै० शे० सूत्रको लिया गया है। न्यायदर्शनके समर्थनमें दु ख जन्म प्रवृति इत्यादि न्याय सूत्र १।१।२ को व्याख्या पूर्वक उद्धृत किया गया है। और बौद्ध दर्शनके समर्थनमें प्रसिद्ध द्वादशाग प्रतीत्य समुत्पादका विवरण दिया है।

३ सूत्र १-५ के व्याख्यानमें पातञ्जल महाभाष्यके 'कृत्रिमाकृत्रिमयो कृत्रिमें सप्रत्ययो भवति।१।१।२२। तथा 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्यय ' ८।३।२२। इन दोनों कथनोंका निरास करके उनमें अनेकान्त दृष्टिको मान्य किया है। पात० महा० का उपयोग तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] अनेक स्थानो पर किया गया है और उससे अनेक उदाहरण दिये गये हैं ।

४. सूत्र १-६ में सप्तभगीका विवेचन करके अनेकान्तमें अनेकान्तको सुघटित किया है तथा अनेकान्त छलमात्र है और अनेकान्तवाद सशयका हेतु है, इन आरोपोंका निराकरण किया है। तथा 'एकवस्तु अनेक धर्मात्मक है' इस बातको लौकिक व शास्त्रीय उदाहरणोंसे सिद्ध करते हुए सर्व वादियोंकी इस विषयमें सहमति सप्रमाण बतलाई है।

५ सूत्र १-९ के अन्तर्गत 'एकान्तवादियोंमें ज्ञानका करण कर्तृ आदि साधन नही बन सकता' इस बातको विस्तारसे सिद्ध किया है। एकान्तवादियोंको दो भागोंमें विभाजित किया है—एक, जो आत्माको नही मानते और दूसरे,

---

1 त० वा०, पृ० २४, ३१, ३२, ३३, १२८, १८७, २१२, २३७, ४६२, आदि।

जो आत्माको मानते हैं। प्रथम विभागमें बौद्ध दर्शनको और दूसरे विभागमें वैशेषिक और सांख्य दर्शनको लिया गया है और उनकी समीक्षा की है।

६ सूत्र १-११ के अन्तर्गत 'इन्द्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है और उनके बिना होने वाला ज्ञान परोक्ष है।' ऐसा माननेवालोंका निरास किया है। इसी सूत्र के अन्तर्गत सर्वार्थसिद्धिमें भी यह प्रश्न उठाकर उसका निराकरण किया गया है। किन्तु तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलंकदेवने पूर्वपक्षके समर्थनमें दिग्नागके प्रमाण समुच्चय, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, मीमांसादर्शन आदि से प्रमाण उद्धृत किये हैं और फिर उनकी समीक्षाका प्रधान लक्ष्य दिग्नागका प्रमाण समुच्चय है। उसीके 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' की आलोचना यहाँ प्रधान रूप से की गई है। इस प्रकरणमें वसुबन्धुके अभि धर्मकोश से भी कारिका (१।३२ तथा १।१७) उद्धृत की गई है।

७ सूत्र १-१९ में चक्षुके प्राप्यकारित्वका तथा श्रोत्रके अप्राप्यकारित्वका निराकरण किया गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन चक्षुको प्राप्यकारी मानते हैं और बौद्ध दर्शन श्रोत्रको अप्राप्यकारी मानता है।

८ सूत्र १-२० के अन्तर्गत न्यायसूत्र १।१।५ में निर्दिष्ट अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट भेदोंका तथा उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव नामक परकल्पित प्रमाणोंका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें बतलाया है।

९ सूत्र २-८ में आत्माको न मानने वालोंके 'आत्मा नही है क्योंकि उसका कोई कारण नही है। जैसे खर विषाण (गधे के सींग) तथा आत्मा नही है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नही होता' इन दोनों हेतुओंका निराकरण करके आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया है। इतना ही नही, युक्तिजालसे खरविषाणका भी अस्तित्व सिद्ध किया है जो उस समय की तार्किक प्रणाली पर अच्छा प्रकाश डालता है।

१० सूत्र ४-४२ के अन्तर्गत एक को अन्य विविध युक्तियोंसे अनेकात्मक सिद्ध करके सप्तभंगीका विवेचन बहुत विस्तार से किया गया है। सूत्र १-६ के अन्तर्गत तो वस्तुकी स्वात्मा और परात्माका विश्लेषण विशेष रूप से किया गया है। किन्तु यहाँ सप्तभंगीके सकलादेश और विकलादेश भेद करके प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगीका पृथक्-पृथक् कथन किया है। तथा प्रमाण सप्तभंगीका कथन करते हुए सप्तभंगीके प्रत्येक उदाहरणात्मक वाक्यके प्रत्येक पदकी समीक्षा करते हुए उसकी आवश्यकता सिद्ध की है। यथा 'स्यादस्त्येव जीव' इस उदाहरणात्मक वाक्यमें आगत 'स्यात्' अस्ति, एव, और जीव पदों में से प्रत्येकके अभावमें क्या-क्या विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होती है इसका विश्लेषण करके प्रत्येक पदका साफल्य बतलाया है। सप्तभंगीका यह विवेचन उससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें अन्यत्र नही पाया जाता।

११ सूत्र ५-२ के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शनके 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यम्' की आलोचना खूब विस्तार से की है। और अन्तमें 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्' की भी समीक्षा की है।

१२ सूत्र ५-७ में आत्माको व्यापक अत एव निष्क्रिय माननेवाले वैशेषिकके 'आत्माके सयोग और प्रयत्न गुण से हाथ में क्रिया होती है' इस मतका खण्डन किया गया है।

१३ सूत्र ५-१९ के अन्तर्गत शब्दको मूर्तिक सिद्ध करके वैशेषिक दर्शन, बौद्ध दर्शन और साख्य दर्शनमें माने गये मनके स्वरूपका निराकरण किया है। वैशेषिक मनको एक स्वतत्र द्रव्य तथा अणुरूप मानता है। बौद्ध दर्शनमें अनन्तर अतीत विज्ञानको मन कहा है और साख्य दर्शनमें मन प्रधानका विकार है। किन्तु जैन दर्शनमें मनको स्वतत्र द्रव्य नही माना है और न नित्य अणुरूप ही माना है। सर्वार्थसिद्धिमें केवल वैशेषिकोके द्वारा माने गये मनके स्वरूपकी समीक्षा है।

१४ सूत्र ५-२२ के अन्तर्गत परिणामाभाववादियोके मतका निराकरण करके योग सूत्र के व्यास भाष्य (३।१३) में जो परिणामका लक्षण कहा है, उसकी विस्तारसे समीक्षा की है। तथा क्रिया मात्र ही काल है, क्रिया से भिन्न कोई काल नामक पदार्थ नही है, ऐसा माननेवाले वादियोका विस्तार से खण्डन करके काल द्रव्यकी सत्ता सिद्ध की है।

१५ सूत्र ५-२४ के अन्तर्गत स्फोटवादका निराकरण किया है। स्फोटवादी मानते हैं कि ध्वनियाँ तो क्षणिक हैं, क्रमसे उत्पन्न होती हैं, अपने स्वरूपका प्रतिपादन करनेमें ही उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। अत उनसे घटपट आदि पदार्थोंका बोध नही हो सकता। अत एक स्फोटनामका तत्त्व है जो ध्वनिके द्वारा व्यक्त होकर पदार्थोंका ज्ञान कराता है। उसीका खण्डन अकलकदेवने किया है।

१६ सूत्र ८-१ में अकलकदेवने कौक्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारिताश्व, मुण्ड, आश्वलायन आदिको क्रियावादी बतलाया है, मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायन वगैरहको अक्रियावादी दर्शन बतलाया है। साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, चारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्ठिकृद्, एतिकायन, वसु और जैमिनि वगैरहके मतको अज्ञानवाद कहा है। तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अय स्थूल आदिके मार्गोंको वैनयिकवादी कहा है। इसपरसे यह शका की गई है कि बादरायण, वसु और जैमिनि वगैरह तो वेदविहित क्रियाके अनु-

ठायी हैं उन्हें अज्ञानी क्यो कहा गया है। इसके उत्तरमें 'वेदविहित हिंसा-हिंसा नही है। इस उक्तिका खण्डन मनुस्मृति (५।३९), मैत्राण्युपनिषद् (६।३६) तथा ऋक्सहिता (१०।९०) से पूर्वपक्षमें प्रमाण उपस्थित करके किया गया है।

इस तरह अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें उक्त दार्शनिक समीक्षाएँ की हैं। कुछ आगमिक चर्चाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं जो इस प्रकार हैं।

१ सूत्र १-७ के अन्तर्गत जीव अजीव आदि सातों तत्त्वोंका विवेचन निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानपूर्वक किया है।

२ सूत्र १-२० के अन्तर्गत द्वादशागका विषयपरिचय दिया है। यह विषय परिचय नन्दीसूत्र और समवायागमें दिये गये विषय परिचयसे प्राय भिन्न है। अतः इसका आधार कोई अन्य ग्रन्थ होना चाहिए जो वर्तमानमें उपलब्ध नही है।

३ सूत्र १-२१, २२ में अवधिज्ञानके द्रव्य, क्षेत्रादिका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है।

४ सूत्र १-२३ में मन पर्ययज्ञानका आशय स्पष्ट करते हुए महाबन्धके वाक्य 'आगमे ह्युक्त' करके दिये गये हैं।

५ सूत्र १-३३ में नयोंका, उनमें भी ऋजुसूत्रनयका विवेचन अपूर्व है।

६ सूत्र २-७ में सान्निपातिक भावोका वर्णन है। उसमें प्रथम यह शंका की है कि आगममें सान्निपातिक नामक भाव भी कहा है उसे भी यहाँ कहना चाहिए। उसके उत्तरमें प्रथम तो यह कहा गया है कि सान्निपातिक नामका कोई छठा भाव नही है। फिर कहा गया है कि यदि वह है भी तो मिश्र शब्दसे उसका ग्रहण हो जाता है। श्वेताम्बर आगममें सान्निपातिक नामका भाव भी बतलाया है। किन्तु दिगम्बर परम्पराके अन्य किसी ग्रन्थमें इसका उल्लेख नही मिलता।

किन्तु अकलंकदेवने इस सम्बन्धमें एक गाथा भी उद्धृत की है जिसमे सान्निपातिक भावोंके भेद बतलाये हैं। अत अकलकके पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थमें उनका कथन अवश्य होना चाहिए।

७ सूत्र २-९४ में शरीरोंका कथन बहुत विस्तारसे किया है। उसमें षट्खण्डागमके प्रथम खण्ड जीवस्थानका उल्लेख करते हुए यह शका उठाई है कि जीवस्थानमें वैक्रियिककाय योग और वैक्रियिक मिश्रकाय योग देव-नारकियोंके बतलाया है किन्तु यहाँ आपने तिर्यञ्चो और मनुष्योंके भी बतलाया है। यह बात तो आगमविरुद्ध है। 'इसका उत्तर देते हुए अकलंकदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति दण्डकका प्रमाण अपने कथनके समर्थनमें दिया है। और फिर इन दोनों कथनोका समन्वय भी किया है। सूत्र ४-२६ में भी एक शका समाधान इसी प्रकारका है। वहाँ भी 'आर्षमें अन्तर विधानमें ऐसा कहा है' लिखकर उसका निर्देश शङ्का-

कारने किया है और अकलकदेवने उसके उत्तरमें कहा है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति दण्डकमें ऐसा कहा है—विजयादिके देव मनुष्यभव प्राप्त करके कितनी वार विजयादिमें जाते आते है ऐसा गौतमके पूछनेपर भगवानने कहा आगमनकी अपेक्षा कमसे कम एक भव और उत्कृष्टसे गमनागमनकी अपेक्षा दो भव धारण करते हैं।'

पाँचवें अंग ग्रन्थका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। श्वेताम्वर परम्परामें वह वर्तमान है और भगवती सूत्रके नामसे प्रसिद्ध है। उसमे भगवान महावीर और उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरके मध्यमें हुए प्रश्नोत्तरोंका संग्रह है। और उक्त दोनो उल्लेख रूपान्तरसे उसमें पाये भी जाते हैं। हम नही कह सकते कि अकलकदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति नामसे उसीका उल्लेख किया है अथवा इस नामका कोई अन्य अंगग्रन्थ उनके सामने उपस्थित था।

८ तत्त्वार्थ सूत्रका तीसरा चौथा अध्याय लोक रचनासे सम्वद्ध है। सर्वार्थ सिद्धिमें सूत्रोक्त वातोका वर्णन परिमित शब्दोमें किया गया है। किन्तु तत्त्वार्थ वार्तिकमें विस्तारसे वर्णन है और वह लोकानुयोग विपयक उपलब्ध साहित्यमें पाये जाने वाले वर्णनसे विशिष्ट भी हैं। उसके तुलनात्मक अध्ययनसे ज्ञात होता है कि अकलंक देवके सामने लोकानुयोग विपयक जो साहित्य था, वह आज उपलब्व नही है। उसके अनेक कथन तिलोयपण्णतिसे मेल नही खाते, किन्तु तिलोयपण्णतिमें जो लोक विनिश्चिय आदि ग्रन्थोके मतान्तर दिये है, उनसे मेल खाते हैं।

तथा, अकलंक देवने जो दो एक गाथाओका संस्कृत रूपान्तर इस प्रसंगमें दिया है उसका मूल भी उपलब्ध साहित्यमें नही मिलता। अस्तु,

तीसरे अध्यायके सूत्र दो, छै, १०, ११, २२, ३२, ३५, ३६ और ३८ की तथा चौथे अध्यायके सूत्र १२, १३, १९, २२ की व्याख्याए दृष्टव्य हैं। तीसरे अध्यायके १०वें सूत्रकी व्याख्याके अन्तर्गत मनुष्यलोकका वर्णन विस्तारसे दिया है। तथा चौथे अध्यायके १२वें सूत्रकी व्याख्याके अन्तर्गत स्वर्गलोकका वर्णन विस्तारसे दिया है।

९ अध्याय ६, ७, ८ में यत्र तत्र सूत्रोकी व्याख्याओमें अनेक आगमिक उपयोगी चर्चाए चर्चित हैं।

१० अध्याय नौ के सूत्र ६ के अन्तर्गत, आठ शुद्धियोका, सूत्र १ में चौदह गुणस्थानोंके स्वरूपका, सूत्र ७ में धर्मानुप्रेक्षाका वर्णन करते हुए मार्गणास्थानोमें जीवस्थानों और गुणस्थानोका, सूत्र ९ में वाईस परीषहोका, सूत्र ३६ में विपाकविचय धर्मध्यानका, अच्छा वर्णन है।

इस तरह तत्त्वार्थवार्तिक दार्शनिक तथा आगमिक दोनो ही दृष्टियोसे अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

तत्त्वार्थ भाष्य और तत्त्वार्थवार्तिक

यह तो स्पष्ट ही है कि अकलक देवने सर्वार्थ सिद्धिको आधार बनाकर तत्त्वार्थवार्तिककी रचना की है। किन्तु तत्त्वार्थ भाष्य उनके सामने था या नही, और उन्होने उसका भी उपयोग किया है या नही, इस विपयमें विवाद है[1]। अत यहाँ उसीपर प्रकाश डाला जाता है।

यह तो स्पष्ट है कि अकलक देवके सामने तत्त्वार्थ सूत्रका एक दूसरा सूत्र-पाठ भी था और वह प्राय वही होना चाहिये, जिसपर भाष्य रचा गया है। यह बात नीचेके विवरणसे स्पष्ट है।

१ दि० सूत्रपाठमें 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' ॥१-२१॥ पाठ है और भा० सूत्रपाठमें 'भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्' ॥१-२२॥ पाठ है। उक्त सूत्र-की व्याख्यामें अकलक देवने यह प्रश्न उठाया है कि 'नारक' शब्दका पूर्वनिपात होना चाहिये। यह प्रश्न दूसरे सूत्र पाठको लक्ष्यमें रखकर ही उठाया गया है ऐसा लगता है।

२ दि० सूत्रपाठमे 'जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥२-७॥' पाठ है और दूसरेमें 'जीवभव्यभव्यात्वादीनि च' पाठ है। उक्त सूत्रकी व्याख्यामें अकलकदेवने यह शका उठाई है कि इसमें 'आदि' ग्रहण करना चाहिये।

३ दि० सूत्रपाठमें 'जरायुजाण्डजपोताना गर्भ ॥२-३३॥' ऐसा पाठ है। दूसरेमे पोतके स्थानमें 'पोतजाना' पाठ है। उक्त सूत्रकी व्याख्यामें लिखा है 'केचित् पोतजा इति पठन्ति' अर्थात् कोई-कोई 'पोतज' ऐसा पढते है।

४ दि० सूत्रपाठमें 'रत्नशर्करा सप्ताधोऽध ॥३-१॥' पाठ है। दूसरेमे 'सप्ताऽधोऽधःपृथुतरा' पाठ है। अकलकदेवने 'केचिदत्र पृथुतरा इति पठन्ति' कोई यहाँ 'पृथतरा' ऐसा पढते हैं, ऐसा लिखकर उसका निराकरण किया है।

५ दि० सूत्रपाठ है 'शेषा प्रवीचारा ॥४-८॥' दूसरे सूत्रपाठमें 'प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो' पाठ है। तत्वार्थवार्तिकमें 'द्वयोर्द्वयो' कहना चाहिये ऐसा सुभाव देकर उसे आर्षविरुद्ध बतलाया है।

६ दि० सूत्रपाठमें 'द्रव्याणि ॥५-२॥' जीवाश्च ॥५-३॥' ये दो सूत्र हैं और दूसरे सूत्रपाठमें दोनोको मिलकर एक सूत्र है। सूत्र ५-३ की व्याख्यामें त वा० में दोनो सूत्रोको मिलाकर एक कर देना चाहिए, ऐसी शका की गई है।

---

१ इस विवादके लिये देखिये—अनेकान्त, वर्ष ३, पृ० ३०४, ३०७, ६२३ और ७२१ आदि।

७ दि० सूत्रपाठमें 'वन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥५-३६॥ पाठ है। और भाष्यमें 'वन्धे समाधिकौ परिणामिकौ ॥५-३६॥ पाठ है। त० वा० में सूत्र ५-३५ की व्याख्यामें 'वन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ इत्यपरे सूत्र पठन्ति' लिखकर स्पष्ट रूपसे भाष्यमान्य सूत्र पाठका निर्देश किया है और उसे आर्षविरुद्ध वतलाया है।

८ दि० सूत्रपाठमे 'अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुपस्य ॥६-१७॥ और 'स्वभाव-मार्दवं च ॥६-१८॥' ये दो सूत्र है ६-१८ में दोनो सूत्रोंको मिलाकर 'अल्पारम्भ-परिग्रहत्व -स्वभावमार्दव मानुपस्य' इसप्रकार एक सूत्र करने की वात उठाई है। दूसरे सूत्रपाठमे दोनोको मिलाकर एक ही सूत्र है। किन्तु—स्वभावमार्दवार्जव मानुपस्य' ऐसा पाठ है। अत यह निश्चित रूपमें नही कहा जा सकता कि यह पाठान्तर दूसरे सूत्रपाठसे ही सम्बद्ध है अथवा किसी तीसरे सूत्रपाठसे सम्बद्ध है।

९ प्रथम सूत्रपाठमे 'आज्ञापाय धर्म्यम् ॥९-३६॥ ऐसा सूत्र है। दूसरे सूत्र-पाठमें 'धर्ममप्रमत्तसयतस्य' ऐसा पाठ है। तथा इससे आगे 'उपशान्तक्षीणकषाय-योश्च' ॥९-२८॥ अतिरिक्त सूत्र है जो दि० सूत्रपाठमें नही है। त० वा० में सूत्र ९-३६ की व्याख्यामें 'धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य' और 'उपशान्तक्षीण-कयाषययोश्च' इन दोनोका उल्लेख करके उनका निरसन किया है।

उक्त उद्धरणोंसे यह निर्विवाद है कि अकलकदेवके सामने दूसरा सूत्रपाठ भी था। सभव है कोई तीसरा सूत्रपाठ भी हो। किन्तु जिस पर भाष्यकी रचना हुई है वह सूत्रपाठ तो उनके सामने अवश्य था। अब प्रश्न रह जाता है तत्त्वार्थ भाष्यका। अत उसके सम्बन्धमें कुछ तथ्य उपस्थित किये जाते हैं।

१ त० वा० में सूत्र १-१ के अन्तर्गत दो वार्तिक इस प्रकार है—'एपा पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ॥६९॥ उत्तरलाभे तु नियत पूर्वलाभ ॥७०॥' सूत्र १-१ के भाष्यमें भी ये दोनो वाक्य इसी प्रकार है। प्रथम वाक्यमें थोडा अन्तर है—एपा च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरम्।'

२ त० वा० में सूत्र १-३० में एक वार्तिक है—'नाभावोऽभिभूतत्वादहनि नक्षत्रवत् ॥८॥ इसमें शका की गई है कि केवलीके क्षायोपशमिक ज्ञानोका अभाव नही होता। वल्कि जैसे दिनमें सूर्यके तेजसे नक्षत्र अभिभूत हो जाते है वैसे ही केवलज्ञानके तेजसे क्षायोपशमिक ज्ञान भी अभिभूत हो जाते हैं। 'तत्त्वार्थ भाष्य सू० १।३१ में भी किन्ही आचार्योंका उक्त मत दिया है। लिखा है—'केचिदाचार्या व्याचक्षते नाभाव किन्तु तदभिभूतत्वादकिञ्चित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत्।' आगे सूर्यके तेजसे अन्य प्रकाशोके अभिभूत होनेका दृष्टान्त दिया है।

३ तत्त्वार्थ भाष्य २-७ में सूत्रमें आगत 'आदि' शब्दकी सार्थकता बतलाते हुए लिखा है—'अस्तित्वमन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व गुणवत्वमसर्वगतत्वमनादिकर्मसन्तानवद्धत्वं प्रदेशत्वमरूपत्व नित्यत्वमित्येवमादयोऽप्यनादिपारिणामिका इत्यादि ग्रहणेन सूचिता । अर्थात् अस्तित्व आदि भी पारिणामिक भाव हैं उनका सूचन आदि पदसे किया है ।

दि० सूत्रपाठमे २-७ में आदिके स्थानमें 'च' शब्द है । अत तत्त्वार्थ वार्तिकमें 'च' शब्द किसलिये है इसके उत्तरमें लिखा है—'अस्तित्वान्यत्व-कर्तृत्व - भोक्तृत्व-पर्यायवत्त्वासर्वगतत्वानादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व-प्रदेशवत्त्वारूपत्व-नित्यत्वादि समुच्चयार्थश्चशब्द ॥१२॥ भाष्यके वाक्यमें प्रत्येक पद अलग-अलग है, वार्तिकमें समस्यन्त है तथा गुणवत्वके स्थानमें पर्यायवत्व जैसे मामूली परिवर्तन भी है । सर्वार्थसिद्धिमें केवल 'अस्तित्वनित्यत्वप्रदेशत्वादय' का ही ग्रहण है । अत उक्त वार्तिक भाष्यके उक्तवाक्यके ऋणी प्रतीत होती है । इस तरहके अन्य भी उदाहरण पाये जाते है ।

४ त० भा० २-४९ में शरीरोमें 'कारणतो विषयत स्वामित प्रयोजनत प्रमाणत प्रदेशसख्यातोऽवगाहनत स्थितितोऽल्पबहुत्वत' भेद बतलाया है । तत्त्वार्थ वार्तिकमें भी उस सूत्रकी व्याख्यामें 'सज्ञा-स्वालक्षण्य-स्वकारण-स्वामित्व-सामर्थ्य-प्रमाण-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-सख्या-प्रदेश-भावाल्पबहुत्वादि' के द्वारा शरीरोमें भेद बतलाया है । यहाँ भाष्यमें बतलाये गये भेदके कारणोमें वृद्धि कर दी गई है ।

५ सूत्र ३-१ के भाष्य और वार्तिकमें 'सप्त' पद भूमियोंकी संख्या निर्धारित करनेके लिये दिया है ऐसा बतलाया है । तथा भाष्यमें लिखा है—'अपि च तत्रान्तरीया असख्येयेषु लोकधातुष्वसख्येया पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिता ।' वार्तिकमें भी लिखा है—'सन्ति च केचित्तन्त्रान्तरीया 'अनन्तेषु लोकधातुष्वनन्ता पृथिवीप्रस्तारा' इत्यध्यवसिता ।'

६ सूत्र ३-५ की व्याख्यामें नारकियोको असुर कुमारोके द्वारा दिये जानेवाले दु खोंके प्रकारोका चित्रण [1]वार्तिक और भाष्यमें प्राय अक्षरश समान है ।

---

१ 'सुतप्तायोरसपायन-निष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन-कूटशाल्मल्यारोहणावतरणायोघनाभिघातवासिक्षुरतक्षण-क्षरण-तप्ततैलावसेनाय कुम्भीपाकाम्बरीषभर्जनयन्त्र-पीलनै शूलशलाकाव्यधन-क्रकचपाटनाऽङ्गारधाग्निवाहन-सूचीशाड्वलावकर्षणै व्याघ्रर्क्षद्वीपिश्वसृगालवृककोक ।—त० वा० पृ० १६५-१६६ । 'तप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन- कूटशाल्मल्यग्रारोपणावतरणायोघ-

सर्वार्थसिद्धिमें केवल प्रारम्भका ही अंश पाया जाता है जव कि तत्त्वार्थ भाष्य और तत्त्वार्थवार्तिकमें पूर्णवर्णन प्राय अक्षरश समान है ।

७ सूत्र ३-१८ में तत्त्वार्थ भाष्यमे तिर्यञ्चोके भेद-प्रभेदोकी आयु वतलाई है । इसी सूत्रमें जिमकी क्रम सख्या वहाँ ३-३९ है, तत्त्वार्थ वार्तिकमे भी तिर्यञ्चोके भेद-प्रभेदोकी आयु किञ्चित् परिवर्तनके साथ वतलाई है ।

८ सूत्र ५-२५ में तत्त्वार्थ भाष्यमें 'उक्त च' करके नीचे लिखी कारिका उद्धृत की है ।

कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्श कार्यलिङ्गश्च ॥

अकलंक देवने तत्त्वार्थ वार्तिकमें उसी सूत्रकी व्याख्यामें इसी कारिकाके प्रत्येक पदको लेकर उसकी आलोचना की है। और एकान्त वादका निरसन करके अनेकान्तकी व्यवस्था की है ।

९ तत्त्वार्थ भाष्यमें एक सूत्र है 'अनादिरादिमाश्च ॥५-४२॥' और इससे आगे है 'रूपिष्वादिमान् ॥५-४३॥' योगोपयोगौ जीवेपु ॥५-४४॥' तथा इन सूत्रोंके भाष्यमें वतलाया है कि अरूपी धर्म-अधर्म आकाश और जीवमें अनादि परिणाम होता है तथा जीव यद्यपि अरूपी है फिर भी उनमें योग और उपयोग रूप परिणाम आदिमान होते हैं ।

तत्त्वार्थ वार्तिकमें सूत्र ५-४२ की व्याख्यामे एक वार्तिक है—'स द्विविधोऽनादिरादिमाश्च ॥३॥' इसकी व्याख्यामें अकलक देव ने लिखा है कि 'यहाँ अन्य ऐसा कहते हैं कि धर्म-अधर्म, काल और आकाशमें अनादि परिणाम होता है और जीव तथा पुद्गलोमें आदिमान परिणाम होता है ।'

यद्यपि भाष्यके उक्त कथनसे इसमें थोडासा अन्तर है । भाष्यमे कालका नाम नही है तथा जीवोमें सादि और अनादि दोनों परिणाम वतलाये है । फिर भी 'यहाँ अन्य ऐसा कहते है' से यह स्पस्ट है कि उक्त कथन उक्त सूत्रसे ही सम्वन्ध रखता है और यह कथन तत्त्वार्थ भाष्यमें पाया जाता है ।

उक्त सव सादृश्य आकस्मिक तो नही प्रतीत होते और फिर जव अकलक

नाभिधानवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलावसेचनाय कुम्भीपाकान्वरीपभर्जनयन्त्र -पीडनाय शूलशलाकाभेदनक्रकचपाटनाङ्गारदहनवाहनासूचीशाड्वलापकर्षणै तथा सिह व्याघ्रद्वीपिश्वश्रृगालवृककोकमार्जार ।'

—त० भा०, ३-५ ।

देवसे पूर्व भाष्यकी रचना होना विशेष सभव है तब तो यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि अकलक देवके सामने भाष्य था।

यह कहा जा सकता है जैसा कि सर्वार्थसिद्धिके एक उल्लेखके आधारपर पीछे लिखा भी है कि तत्त्वार्थसूत्रकी कोई अन्य टीका भी होना संभव है और ऐसी स्थितिमें अकलकदेवने तथा भाष्यकारने उक्त समान बातें उससे ली होगी यह सभव है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि के एक उल्लेख तथा पाठान्तरके आधार पर यदि यह मान भी लिया जाये कि तत्त्वार्थसूत्रकी कोई अन्य टीका सर्वार्थसिद्धिसे पूर्व रची गई थी और वह पूज्यपाद के सामने मौजूद थी, तब भी उक्त सब बातोंको या उनमेंसे कुछ समान बातोंको, जो वार्तिक और भाष्यमें समान रूपसे पाई जाती हैं, उस टीकाका ऋणी तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उनमेंसे कोई भी बात सर्वार्थसिद्धिमें नही मिलती। यदि उक्त टीकामें वे बातें होती तो सर्वार्थसिद्धिमें उनकी कुछ तो झलक पाई जाती।

हाँ, तत्त्वार्थवार्तिकमें ही दो स्थानोंपर वृत्ति और भाष्यका निर्देश अवश्य मिलता है। सूत्र ५।४की व्याख्यामें अकलंकदेवने नौवी वार्तिक 'वृत्तौ पञ्चत्व वचनात्'का व्याख्यान करते हुए लिखा[1] है—

शका—वृत्तिमे कहा है कि धर्मादि द्रव्य अवस्थित है वे कभी भी पञ्चत्वको नही छोडते। अत छै द्रव्य है' ऐसा कथन व्याघाती है।

समाधान—ऐसा कथन व्याघाती नही है, आप वृत्तिकारके अभिप्रायको नहीं समझे। वृत्तिकारका अभिप्राय यह है कि 'कालश्च' सूत्रके द्वारा काल द्रव्यका लक्षण अलगसे कहेंगे। अत उसे छोडकर यहाँ पाँच ही द्रव्योंका अधिकार है। इस लिये छै द्रव्योके कथनमें कोई विरोध नही है।

उक्त सूत्रके भाष्यमे, जिसकी क्रम संख्या वहाँ ५-३ है, लिखा है—'अवस्थितानि च न हि कदाचित् पञ्चत्व भूतार्थत्व च व्यभिचरन्ति।' वार्तिकमें उद्धृत वाक्य इससे बहुत कुछ मिलता हुआ है। एक तो उसमें स्पष्टीकरणके लिये 'अवस्थितानि' के धर्मादीनि पद विशेष हैं, दूसरे 'पञ्चत्व' के आगेका भूतार्थत्व च' पद सभवतया यहाँ अनावश्यक समझकर छोड़ दिया गया है। अन्यत्र इस

---

१ 'स्यान्मतम्-वृत्तावुक्तम्—'अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पञ्चत्वं व्यभिचरन्ति। तत षड द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति, तन्न, किं कारणम्? अभिप्रायापरिज्ञानात्। अयमभिप्रायो वृत्तिकारस्य 'कालश्च' इति पृथक् द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते। तदनवेक्ष्य अधिकृतानि पञ्चैव द्रव्याणीति षड्द्रव्योपदेशाविरोध।' —त० वा०, पृ० ४४४।

तरहका कोई वाक्य नही मिलता। एक ही आपत्ति इसमें हो सकती है। अकलकदेवने समाधानमें 'कालश्च' सूत्रका उल्लेख किया है, किन्तु भाष्य मान्य सूत्रपाठमें 'कालश्चेत्येके' सूत्र है। जिससे प्रकट होता है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठके कर्ताको काल द्रव्य ही मान्य नही है। उसने केवल एक आचार्यके मतका उल्लेख मात्र किया है। भाष्यके टीकाकार[1] सिद्धसेनगणिने भी इस बातको स्वीकार किया है। अत अकलकदेवकृत समाधान भाष्यमान्य सूत्रपाठ से सगत नही बैठता।

सूत्र ५-१ की व्याख्यामें तत्त्वार्थवार्तिकमें उक्त शका से मिलती हुई किन्तु उससे विपरीत एक और शंका है जो इस प्रकार[2] है—

शका—काल भी एक अजीव पदार्थ है। इसीसे भाष्यमें बहुत बार 'छैद्रव्य है' ऐसा कहा है। अत उसको भी गिनना चाहिये।

समाधान—कालका लक्षण आगे कहेंगे।'

यहाँ यह प्रश्न है कि यह भाष्य कौनसा है जिसमे बहुत बार छै द्रव्य बतलाये हैं। तत्त्वार्थ भाष्य में तो बहुत बार क्या, एक बार भी 'षड्द्रव्याणि' लिखा नही मिलता। जैसा हम ऊपर लिख आये है, वीरसेन स्वामीने तत्त्वार्थ वार्तिक को भी 'तत्त्वार्थ भाष्य' कहा है। अत 'भाष्य' शब्दसे अकलकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकोकी व्याख्याका 'भाष्य' शब्द से उल्लेख किया हो ऐसी आशङ्काकी जा सकती है। किन्तु प्रथम तो अकलकदेवने अपने वार्तिकोके व्याख्यानको भाष्य शब्द से कही भी नही कहा, दूसरे द्रव्योका कथन तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायमें है। और उसके पहले सूत्र की व्याख्यामें ही यह लिखना कि 'भाष्यमें बहुतवार छै 'द्रव्य कहे हैं' असगत है। फिर कालद्रव्यकी गणना करनेकी बात तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवें अध्यायके प्रथमसूत्रको लक्ष्य करके कही गई है क्योकि उसमें काल द्रव्यको नही गिनाया है। अत काल द्रव्यके पक्ष में प्रमाणरूपसे उसपर रचे जाते हुए वार्तिक ग्रन्थको ही भाष्यके नामसे उपस्थित किया जाना किसी भी तरह सभव नही है। अत वह भाष्य कौन सा है जिसमें बहुवार 'षड्द्रव्याणि' पद आया है, यह अन्वेषणीय है।

---

१ 'कालश्चैकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते। वाचकमुख्यस्य पञ्चैवेति'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० ३२१।

२ 'स्यादेतत् कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति। अतश्चास्ति यद्भाष्ये बहुकृत्व 'षड्द्रव्याणि' इत्युक्तम्। अतोऽस्योपसख्यान कर्तव्यमिति। तन्न, किं कारणम्? वक्ष्यमाण लक्षणत्वात्। वक्ष्यते हि तस्य लक्षणमुपरिष्टात्।'

अकलकदेव का समय

अकलकदेवके समयके सम्वन्धमें [1]एतद्देशीय तथा विदेशी[2] अनेक विद्वानोने विचार किया है। न्याय कुमुदचन्द्रके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें हमने अकलकदेव का समय ई० ६२७ से ६८० तक निश्चित किया था। और स्व० प० महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्यने सिद्धिविनिश्चयकी अपनी प्रस्तावनामें ई० ७२० से ७८० तकका समय निश्चित किया है। इस तरहसे इन दोनो समयोंके मध्यमें एक शताब्दीका अन्तर है। जिन अन्य विद्वानोने अकलकके समय पर विचार किया है वे सव प्राय इन्ही दोनोमे से किसी एक मतके समर्थक है। अत इन्ही दोनो मतोको आधार बनाकर विचार करना उचित होगा।

अकलकदेवका उपलब्ध प्राचीनतम उल्लेख धनञ्जय कविके नाममाला कोशमें है—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
धनञ्जयकवे काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

'अकलङ्कका प्रमाण, पूज्यपादका व्याकरण और धनंजयकविका काव्य, ये तीनों अपश्चिम रत्न है।'

---

१ स्व०डा०के०वी०पाठक—(भर्तृहरि और कुमारिल'—ज०व०रा०ए०सो० भाग १८)। डॉ० सतीशचन्द विद्याभूषण–(हि०इं०ला०,पृ० १८६)। डॉ० ए०एस० आलटेकर (दी राष्ट्रकूटाज् एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ४०९)। प० नाथूरामजी प्रेमी (जै०हि०, भा० ११,अ० १-८)। डॉ० वी०ए० सालेतोर (मिडि० जैनि पृ०, ३५)। आर नरसिंहाचार्य (इन्स०एट श्रवणगोलाके द्वि० सं०की भूमिका)। एस० श्री कण्ठ शास्त्री (ए०भा०ओरि०इ० भाग१२में 'दी एज आफ शकर')। प० जुगलकिशोर मुख्तार (जै०सा०इ०वि०प्र० पृ० ५४१)। डा० ए०एन० उपाध्ये–(डॉ० पाठकाज् व्यु ऑन अनन्तवीर्याज् डेट–ए० भा० रि० इ०, भाग १३, पृ० १६१)। प० कैलाशचन्द शास्त्री (न्या० कु०च०, प्रथम भागकी प्रस्ता०, पृ० १०४)। डॉ० ज्योति प्रसाद–(जैन सदेश शोधाक)।प० महेन्द्रकुमारजी न्याचार्य–सि० वि०की प्रस्ता० ४४ आदि। और। डॉ० आर० जी० भण्डारकर (शान्तरक्षितासूरिफ्रेरेसस् टु कुमारिलाज्र अटर्स ओन समन्तभद्र एण्ड अकलंक)—ए० भा, ओ० रि० इ० भाग ११, पृ० १५५।

२ पिटर्सन—द्वितीय रिपोर्ट सर्च आफ दी मैन्य, पृ० ७९। लुइस राइस—ज० रा० ए० सो०, भाग १५, पृ० २९९। डॉ० विटरनिट्स—'हि० इ० लि० भाग २, पृ० ५८८। डॉ० ए० वी० कोथ (हि० सं० लि०, पृ० ४९७।

अकलकदेवकी जैन न्यायको सवसे वडी देन है उनके द्वारा की गई प्रमाण व्यवस्था। दिगम्वर[1] और श्वेताम्वर सम्प्रदायके आचार्योंने अपनी-अपनी प्रमाण मीमासाविपयक कृतियोमें कुछ भी फेरफार किये विना एक ही जैसी रीतिसे अकलङ्कदेवकी की हुई योजना और ज्ञानके वर्गीकरणको स्वीकार किया है। अत यह निश्चित है कि धनजय कविने प्रसिद्ध जैन दार्शनिक अकलंकका ही उक्त श्लोकमें स्मरण किया है।

धनजय कविके पश्चात् उनका उल्लेख वीरसेन स्वामीने अपनी धवला जय धवलामें और उनके शिष्य जिनसेनने अपने महापुराणके प्रारम्भमें किया है। वीरसेन[2] स्वामीने अकलंकदेवका नामोल्लेख किये विना 'तत्त्वार्थ भाष्य' के नामसे उनके तत्त्वार्थ वार्तिकका तथा सिद्धि विनिश्चयका उल्लेख करके उनसे उद्धरण दिये है। किन्तु जिनसेनने 'भट्टाकलक श्रीपाल पात्रकेसरिणा गुणा' लिखकर उनका नामोल्लेख किया है। तथा वीरसेनने[3] धवलामें 'इति' शव्दके अर्थ वतलानेके लिए एक श्लोक उद्धृत किया है जो धनजय कविकी अनेकार्थ नाम मालाका ३९ वा श्लोक है। अत धनञ्जय वीरसेनसे पहले हुए है और धनञ्जय से पहले अकलक हुए है यह निश्चित है। प० महेन्द्र कुमारजी इससे सहमत हैं। किन्तु वह अकलंक, धनञ्जय और वीरसेनको समकालीन वतलाते हैं। यही वात विवाद ग्रस्त है।

आचार्य सिद्धसेन गणि

श्वेताम्वर परम्परामें सिद्धसेनगणि नामके एक समर्थ आचार्य हो गये हैं। उन्होने तत्त्वार्थभाष्य पर एक वृहत्काय वृत्ति ग्रन्थ रचा है। उनकी इस वत्तिसे कुछ उद्धरण कई टीका ग्रन्थोंमें 'गन्धहस्ती' के नामसे उघ्दृत पाये जाते हैं।

विक्रमकी पाचवी शताव्दीमें सिद्धसेन दिवाकर नामसे एक प्रख्यात जैनाचार्य हो गये हैं। श्वेताम्वर परम्परामे इन्हें गन्धहस्ती तथा तत्त्वार्थका वृत्तिकार माना जाता था। इसका कारण यह था कि सतरहवी शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान उपाध्याय यशोविजयजीने अपने 'महावीरस्तव'में गन्धहस्तीके नामसे सिद्धसेन दिवाकरके 'सन्मति' की एक गाथा उघ्दृत की है। किन्तु प० सुख-

---

१ देखो, पं० सुखलालजीका 'जैनोंकी प्रमाण मीमासा पद्धतिका विकासक्रम' शीर्पक-लेख—अनेकान्त, वर्ष १, कि० ५, पृ० २६३।

२ क० पा०, भा० १, पृ० २१७। पट् ख०, पु० १, पृ० १०३ तथा, पु० १३, पृ० २५६।

३. पट्ख०, पु० १३, पृ० २३७।

लाल जी ने इस उल्लेखको भ्रान्तिजन्य वतलाया है और अपने इस कथनके समर्थनमें उन्होने जो प्रवल और अकाट्य प्रमाण उपस्थित किया है वह यह है कि उपाध्याय यशोविजय जी से पहलेके अनेक[२] ग्रन्योंमें जो गन्धहस्तीके नामसे अवतरण मिलते हैं वे सभी अवतरण जरा भी परिवर्तन विना और कही वहुत थोडे परिवर्तन के साथ तथा कही भावसाम्यके साथ सिद्धसेनगणिकी तत्त्वार्थभाष्य पर रचित वृत्तिमें मिलते हैं। इससे यह निर्विवाद रूपसे सिद्ध होता है कि उपलब्ध तत्त्वार्थ वृत्तिके रचयिता गणी सिद्धसेन ही गन्धहस्ती हैं।

सन्मतिके टीकाकार दशवी शताब्दीके अभयदेवने अपनी टीकामें[३] दो स्थानो पर गन्धहस्तिकृत तत्त्वार्थव्याख्या देखलेनेकी सूचना की है। उक्त प्रमाणके प्रकाशमें यह गन्धहस्तिकृत तत्त्वार्थव्याख्या सिद्धसेन गणिकृत तत्त्वार्थव्याख्या ही होनी चाहिये।

उक्त कथनके समर्थनमें एक लिखित प्रमाण भी उपलब्ध है। तत्त्वार्थपर एक टीका हरिभद्रकी भी है जो अधूरी है। अधूरी वृत्तिके पूरक यशोभद्रसूरिके शिष्यने इस टीकाके[४] अन्तमें सिद्धसेनकी उक्त टीकाका उल्लेख करते हुए सिद्धसेनको गन्धहस्ति विशेषणसे अभिहित किया है। अत यह निर्विवाद है कि उपलब्ध तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिके रचयिता सिद्धसेन ही गन्धहस्ती हैं।

---

१ त० सू० की प्रस्ता०, पृ० ३६।

२ 'आह च गन्धहस्ती-निद्रादय समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते दर्शनावरणचतुष्टयन्तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघात हन्ति दर्शनलब्धिमिति।' —प्रव० सारो० वृत्ति, पृ० ३५८। मितरी टी० मलयगिरि, गा० ५।

'निद्रादयो यत समधिगताया एव दर्शनलब्धे उपयोगघाते प्रवर्तन्ते चक्षुदर्शनावरणादि चतुष्टय तूद्गमोच्छेदित्वात् मूलघात निहन्ति दर्शनलब्धिम्।' —त० भा० टी०, भाग २, पृ० १३५।

'यदाह गन्धहस्ती-भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीसप्तकक्षयाविर्भूता सम्यग्दृष्टि सादिरपर्यवसाना इति।' —नवपदवृत्ति पृ० ८८।

'या तु भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसप्तकक्षयादपायसद्द्रव्यक्षयाच्चोदपादि सा सादिरपर्यवसाना इति।' —त० भा० टी०, भा० १, पृ० ५९।

३. सन्मति टी०, पृ० ५९५ तथा पृ० ६५१।

४ 'एतदुक्त भवति-हरिभद्राचार्येणार्द्धषण्णामध्यायानामाद्याना टीका कृता, भगवता तु गन्धहस्तिना सिद्धसेनेन नव्या कृता तत्त्वार्थ टीका।' —त० सू० हरि० टी०, पृ० ५२१।

नवमी दसमी शताब्दीके ग्रन्थकार शीलाङ्कने[1] अपनी आचाराग सूत्रकी टीकामें एक गन्वहस्तीकृत विवरणका उल्लेख किया है। उक्त प्रमाणोके प्रकाशमें यह विवरण भी तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिके रचयिता सिद्धसेनका ही होना चाहिये। इस तरह इन सिद्धसेनकी दो रचनाओका पता चलता है जिनमेंसे एक तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति -उपलब्ध है और मुद्रित हो चुकी है, दूसरी रचना, जो आचाराङ्ग सूत्रकी टीका ज्ञात होती है, अभी तक अनुपलब्ध है।

तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति—सिद्धसेन गणिकी यह वृत्ति तत्त्वार्थसूत्रके भाष्यको शब्दश स्पर्श करती है और उसका विवेचन करती है। इसके अध्यायोके अन्तकी पुष्पिकाओंमें प्राय 'भाष्यानुसारिणी' लिखा मिलता है।

इस वृत्तिके अवलोकनसे प्रकट होता है कि सिद्धसेन गणि विशेषावश्यक भाष्यके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी ही तरह आगमिक परम्पराके प्रवल पक्षपाती थे। यद्यपि उन्होने अपनी यह वृत्ति तत्त्वार्थभाष्यका विवेचन करनेके उद्देश्यसे ही लिखी जान पडती है और उसमें दार्शनिक और तार्किक चर्चाएं भी हैं, तथापि भाष्यका विवेचन करते समय भाष्यका आश्रय लेकर वह सर्वत्र आगमिक वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं और जहाँ भाष्य आगमसे विरुद्ध जाता दिखाई देता है वहाँ भी उसकी कडी आलोचना करते हुए वह आगमिक परम्पराका ही समर्थन करते हैं और उसीका प्रवलरूपसे स्थापन करते हैं।

किन्तु भाष्यके आगमविरुद्ध[2] उल्लेखोकी कडी आलोचना करते हुए भी भाष्यकारके प्रति अपनी श्रद्धामें वह रचमात्र भी कालिमा नही लाते और उन सव आगम विरुद्ध उल्लेखोको किसी धूर्तके द्वारा की हुई मिलावट कहकर आगे वढ जाते हैं। आगम और आगमिकोके प्रति यह उनकी गहरी श्रद्धाको व्यक्त करता है।

अनेक स्थलोंपर सिद्धसेनने भाष्यके तथोक्त आगम विरुद्ध उल्लेखोको अपनी अज्ञानता वतलाकर टाल दिया है, अनेक स्थलोपर आगमकी रक्षा करनेके

---

१ 'शास्त्रपरिज्ञा विवरणमतिवहुगहन च गन्धहस्ति कृतम्'-आचा० टी०, पृ० १।

२ 'एतच्चान्तरद्वीपकभाष्य प्रायो विनाशित सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्वैर्येन षण्णवतिरन्तर द्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्ष चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात्। नापि वाचकमुख्या सूत्रोल्लघनेनाभिदधत्यसम्भाव्यमानत्वात्।'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० २६७। नेद पारमर्ष प्रवचनानुसारिभाष्य, किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवंविधमार्षविसवादि निवध्नीयात्। सूत्रानववोधात् उपजातभ्रान्तिका केनाऽपि रचितमेतद् वचनकम्।'—भा० २, पृ० २०६।

उद्देश्यसे भाष्यके अर्थका विपर्यास भी किया है। इसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१ तत्त्वार्थ भाष्य (९३१) में लिखा है—'मतिज्ञानादिषु चतुंषु पर्यायेणो-पयोगो भवति, न युगपत्। सम्भिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवत केवलिनो युगपत् सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।'

अर्थात् 'मतिज्ञान आदि चारों ज्ञानोंमें तो पर्यायसे (क्रमसे) उपयोग होता है, एक साथ नही। किन्तु सर्वद्रव्य पर्यायोको ग्रहण करने वाले केवली भगवानके निरपेक्ष (इन्द्रियादिकी अपेक्षासे रहित) केवल ज्ञान और केवलदर्शनमें अनु समय उपयोग होता है।

यहाँ सिद्धसेनजी ने अनु[1]समय अर्थमें खीचा तानी करके 'वारवार उपयोग' होता है ऐसा अर्थ किया है क्योकि श्वे० आगमोमें केवल ज्ञान और केवल दर्शन का उपयोग भी क्रमसे माना है। किन्तु यदि भाष्यकारको केवल ज्ञान और केवल दर्शनका उपयोग भी मतिज्ञानादिकी तरह 'पर्यायेण' इष्ट होता तो वह 'समन्ततो ज्ञानदर्शनस्य तु' इत्यादि न लिखते है। अत 'अनुसमय' का अर्थ प्रति समय ही होना चाहिये।

सम्भवतया गणिजी भी इस वातको समझते थे। क्योंकि उन्होंने आगे लिखा है—'यद्यपि केचित् पण्डितम्मन्या, सूत्राण्यन्यथाकार अर्थव्याचक्षते तर्कवलानुविद्धवुद्धयो वारवारेणोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणभाग यत आम्नाये भूयासि सूत्राणि वारवारेणोपयोग प्रतिपादयन्ति।'

अर्थात्—यद्यपि कुछ पंडिताभिमानी तर्कके वलसे सूत्रोका अर्थ अन्य प्रकार मे करते हैं और कहते हैं वारवार उपयोग नही होता। किन्तु उसे हम प्रमाण नही मानते, क्योकि आगममें वहुतसे सूत्र वारवार उपयोगको कहते हैं।'

तर्कवलानुविद्धवुद्धय.' से उनका सकेत सिद्धसेन दिवाकरकी ओर हो सकता हैं क्योकि उन्होंने अपने सन्मति तर्कमें केवलीके वारवार उपयोगका तर्क के अधारसे खण्डन किया हैं। भाष्यकार भी युगपदुपयोगवादी प्रतीत होते है।

२. सूत्र (३-१३) के भाष्यमें लिखा हैं—

---

१ 'अनुगत —अव्यवहित समक —अत्यन्ताविभागाग. कालो यत्र कालसन्ताने स काल सन्तानोऽनुसमयस्तमनुसमयकालसन्ताननुपयोगे भवति'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० ११०-१११।

'न कदाचिदस्मात् परतो जन्मत सहरणतो वा चारणविद्याधरर्द्धि प्राप्ता अपि मनुष्या भूतपूर्वा भवन्ति भविष्यन्ति च ।' अन्यत्र समुद्घातोपपाताभ्यामत एव च मानुषोत्तर इत्युच्यते ।'

अर्थात्—इस मानुषोत्तर पर्वतसे आगे जन्म अथवा हरणकी अपेक्षा चारण ऋद्धि और विद्याधर ऋद्धिके धारी भी मनुष्य न कभी पहले हुए, न वर्तमानमें होते है और न भविष्यमें होगे ।' समुद्घात और उपघात अवस्थाको छोडकर । इसीसे इसे मानुषोतर कहते है ।' इसका अर्थ गणिजीने इस प्रकार किया है—'इस मानुपोत्तर पर्वतसे आगे किसी भी कालमें मनुष्य न उत्पन्न होते है, न उत्पन्न होंगे, और न उत्पन्न हुए हैं । इसीसे इसे मानुपोत्तर कहते हैं । तथा सहरणकी अपेक्षा भी (मानुपोत्तरसे आगे) मनुष्य नही हैं । अवश्य ही मनुष्यको मानुपोत्तर पर्वतके इस ओर ही मरना चाहिये । तथा चारण और विद्याधर ऋद्धि प्राप्त भी मनुष्य मानुपोत्तरको लाँघकर जानेपर उधर नही मरते ऐसा नियम करते है । मानुपोत्तरसे वाहर उनके जानेका निषेध नहीं करते है । तपोविशेषके अनुष्ठानसे जघाचारी और विद्याचारी मुनि चैत्यवन्दनाके लिये नन्दीश्वर आदि द्वीपोको जाते हैं । आवश्यक आदिमें यह विधि प्रसिद्ध है । तथा विद्याधर महाविद्या सम्पन्न और विक्रिया आदि ऋद्धिधारी सव मानुपोत्तर से वाहर जाते हैं, किन्तु मरते नही है । मारणान्तिक समुद्घातसे युक्त कोई अढाई द्वीपका वासी जो मानुपोत्तर पर्वतसे वाहरके द्वीपसमुद्रोंमें उत्पन्न होगा, वह उत्पत्ति प्रदेश तक जाकर वहाँ मरता है तथा वाहरके द्वीप समुद्रोका वासी कोई प्राणी, जिसने मनुष्यायुका वन्ध किया है और जो मरकर अढाई द्वीपके भीतर वक्र गतिसे उत्पन्न होगा उसके मनुष्यायुका उदय वक्र कालमें होता है । इस तरह समुद्घात और उपपातको छोडकर अन्य प्रकारसे मानुपोत्तर पर्वतके वाहर मनुष्योका जन्म और मरण नही होता ।'

इस तरह गणिजीने आगमकी रक्षा करनेके लिये भाष्यमें अनुक्त वातको भाष्यके मत्थे मढ दिया है । भाष्यमें मरणकी तो कोई वात ही नही है । उसका तो स्पष्ट कथन है मानुषोत्तरसे वाहर कोई भी मनुष्य नही जा सकता चाहे वह ऋद्धि-धारी ही क्यो न हो । समुद्घात और उपपादकी अपेक्षा ही मानुषोत्तरसे वाहर मनुष्य पाया जा सकता है ।' इसीसे गणिजीने आगे [1]लिखा है—'जो इस भाष्यको चारण और विद्याधर ऋद्धि प्राप्तोके मानुषोत्तरसे वाहर जानेका निषेधक वतलाते हैं उनका कथन आगमविरोधी है ।' इस तरह गणिजीने आगमकी रक्षाके उद्देश्यसे भाष्यका अर्थ विपरीत भी किया है ।

---

१ 'ये त्वेतद् भाष्य गमनप्रतिषेधद्वारेण चारणविद्याधरर्द्धिप्राप्तानामचक्षते तेषा-मागमविरोध'—भा० १, पृ० २६३ ।

उक्त दो उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि श्री सिद्धसेनने जहाँ भाष्यके कथनको श्वे० आगमोके प्रतिकूल देखा, वहाँ उसका व्याख्यान भाष्यकारके आशयके अनुरूप न करके आगमके अनुकूल किया है। और जहाँ ऐसा करना सभव न हो सका वहाँ उस कथनको किसीके द्वारा प्रक्षिप्त करार दिया है और कही-कही अपनी अनभिज्ञता बतलाकर टाल दिया है। जैसे—

भाष्यमे दूसरे सहननका नाम अर्धवज्रर्षभनाराच है, और कर्मप्रकृति आदि ग्रन्योंमें उसका नाम 'वज्रनाराच' है, दोनोके स्वरूपमे भी इसीसे अन्तर पड गया है। इसके सम्बन्धमे [1]गणिजीने लिखा है—'इसमें क्या तत्त्व है यह सम्पूर्ण अनुयोगधर ही जानते हैं।'

शैली—उक्त बातोंसे इस वृत्तिकी रचना शैलीका भी आभास मिल जाता है। सिद्धसेनने भाष्यका प्राय. प्रतिपद व्याख्यान किया है और व्याख्यान करते हुए यथास्थान आगमिक प्रमाण भी दिये हैं और विशेष चर्चाएँ भी की हैं। उन चर्चाओंमें आगमिक तो हैं ही, दार्शनिक भी हैं और उनका अपनी शैलीमें यथायोग्य निर्वाह भी किया है। तत्त्वार्थ भाष्य और सूत्रोके व्याख्यानमें अपने समयकी उपलब्ध सामग्रीका उन्होंने पूरा उपयोग किया है। उनकी टीकासे ज्ञात होता है कि जिस सूत्रपाठका उन्होंने उपयोग किया, उनके सम्बन्धमें कितने अधिक पाठान्तर ही नही व्याख्यान्तर भी उनके सामने थे। और वे व्याख्यान्तर प्राय भाष्यसे भी सम्बद्ध थे। किन्तु भाष्य और उसके सूत्रपाठपर सभवतया गणिजी की वृत्ति जैसी स्थूलकाय और प्रमेयबहुल टीका दूसरी नही थी, जबकि दिगम्बर सूत्रपाठपर अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक जैसा उच्चकोटिका दार्शनिक टीका ग्रन्थ वर्तमान था। सभवतया उसी अभावकी पूर्तिके लिये गणिजीने भाष्यपर इतनी स्थूलकाय अट्ठारह हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी है। अस्तु,

सिद्धसेन गणिके सन्मुख उपस्थित टीका ग्रन्थ—

सिद्धसेनने अपनी भाष्यानुसारिणी टीकामें तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी किसी टीकाका तो कोई स्पष्ट निर्देश नही किया, किन्तु उसमें आगत उल्लेखोंसे ही उनका आभास मिलता है, जिसका विवरण नीचे दिया जाता है—

१ सूत्र १–१ के भाष्यमें एक वाक्य इस प्रकार है—'एषा च पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरं, उत्तरलाभे तु नियत पूर्वलाभ ।' इसका व्याख्यान करके गणिजीने

---

१ अर्धवज्रर्षभनाराच नाम तु वज्रर्षभनाराचनामार्धं किल सर्वेषा वज्रस्यार्धं ऋषभस्यार्धं नाराचस्यार्धमिति भाष्यकारमतम्। कर्मप्रकृतिग्रन्थेषु वज्रनाराचनामैव पट्टहीनं पठितम्। किमत्र तत्त्वमिति सम्पूर्णानुयोगधारिण क्वचित् न विद्रते।'—भा० २, पृ० १५४।

लिखा है—'कैश्चिदेव भाष्यमेतद् व्याख्यायि (पृ० २९)। अर्थात् किन्होंने इस भाष्यका ऐसा व्याख्यान किया है। उस व्याख्यानको बतलाकर 'अपरे तु प्रभाषन्ते' अन्य ऐसा कहते हैं। ऐसा लिखकर उनका व्याख्यान बतलाया है। इन दोनो व्याख्यानोमे अन्तर हैं। अत उनसे प्रकट होता है कि दोनो दो भिन्न व्याख्याएँ है।

२ सूत्र ४–२७ की टीकामे 'अपरे वर्णयन्ति' लिखकर 'द्विचरमा' का अन्य अर्थ दिया है और फिर 'एतत्त्वयुक्त व्याख्यानम्' लिखकर उस व्याख्यानको अयुक्त बतलाया है। यह नही कह सकते कि यह व्याख्यान उन्ही दोनोमेंसे किसी एक का हैं जिनका ऊपर निर्देश है, या उनसे भिन्न तीसरा ही है।

३. 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥५-३॥' सूत्रकी टीकामें इस सूत्रके विषयमे मतभेद दिये हैं। 'अपरे द्विधा भिन्दन्ति सूत्रम्'से बतलाया है कि कुछ इस सूत्रको दो भागोमें भाजित करते हैं 'नित्यावस्थितानि' और अरूपाणि। किन्तु इससे यह स्पष्ट नही होता कि ऐसा करनेवाले कोई व्याख्याकार ही हैं। आगे 'अपरे वर्ण-यन्ति' लिखकर दूसरोका कथन बतलाया है कि सूत्र एक ही है किन्तु अरूपाणिको अलग पद रखनेका कारण यह हैं कि नित्य और अवस्थितकी तरह पूर्वोक्त सभी द्रव्य अरूपी नही हैं।' आगे 'अत्रापरे व्याचक्षते' से तीसरा मत दिया है—उनका कहना है कि 'नित्यावस्थितारूपाणि' पाठ रखनेसे भी काम चल सकता है। अत तीनो पदोको समस्त करके ही सूत्र पढना चाहिये। ये दोनो मत दो व्याख्याकारोके ही प्रतीत होते है।

४ इसी उक्त सूत्र (५-३) की टीकामें 'अपरेऽन्यथा वर्णयन्ति भाष्यम्—अन्य आचार्य भाष्यका अन्य रूपसे व्याख्यान करते हैं' लिखकर उनका आशय बतलाया है और उसको अयुक्त भी ठहराया है।

५ 'उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥५-२९॥' इस सूत्रका भाष्य इस प्रकार है—'उत्पादव्ययाभ्या ध्रौव्येण च युक्त सतो लक्षणम्।' इस भाष्यके पाठ तथा व्याख्यानमें अन्तरका उल्लेख करते हुए श्री सिद्धसेनगणिने अपनी टीकामें (भा० १, पृ० ३८२) लिखा है—'अन्ये तु उत्पादव्ययध्रौव्यै युक्तमिति गृह्णते।' और फिर अपनी ओरसे उसपर आक्षेप करके आगे लिखा है—'अपरे समाधानमाक्षेपस्याभिदधते—दूसरे इस आक्षेपका समाधान करते हैं।

इसके अतिरिक्त भी 'अपरे तु' ध्रौव्य च' इत्यसमस्ततामन्यथा वर्णयन्ति' के द्वारा भाष्यके उक्त वाक्यमें उत्पादव्ययसे ध्रौव्यको अलग रखनेके सम्बन्धमें

एक तीसरे मतका उल्लेख टीकामे[1] किया है, जो पाँच कारिकाओमे है। पाँच कारिकाओंका टीकाकार सिद्धसेनने सक्षेपसे अर्थ देकर लिखा है कि—'इनका व्याख्यान तो निर्विरोव रूपसे आगमके ज्ञात विद्वान ही करेंगे। हम तो उसके विपयमें अनिपुण है आदि।'

इससे ज्ञात होता है कि भाष्यका कोई व्याख्यान कारिकाओमें भी था। अथवा उस घ्याख्यानमें कारिकाएँ भी थी। कारिकाओको देखनेसे यह भी व्यक्त होता है कि वह व्याख्यान उच्चकोटिका होना चाहिये।

इस तरहसे सिद्धसेनकी इस टीकामें सूत्र तथा भाष्यके अन्य विवरणोका भी उल्लेख है। और वे विवरण तीन तो अवश्य प्रतीत होते हैं।

सिद्धसेनजी ने कई स्थानोपर मतान्तरके रूपमें ऐसे सूत्रोका भी उल्लेख किया है जो दिगम्वरीय सूत्रपाठसे सम्वद्ध हैं और उन्हें मान्य नही किया है। यथा—

१. सूत्र २-३४ की टीकामें लिखा है—'अपरे तु एतच्छब्दव्युत्पत्तिभीत्या 'जराय्वण्डजपोताना गर्भ' इत्यभिधीयते सूत्रमाहितनैपुण्यास्तत् सर्वथा त एवावयन्ति सूरिविरचितन्यासमन्यथाकर्तुं, वयं तु प्रक्रमानुसरणमेव कुर्म।' —(भा० १, पृ० १९३) अर्थात् दूसरे लोग अपनी निपुणता वतलानेके लिये पोतज शव्दकी व्युत्पत्तिसे भयभीत होकर 'जराय्वण्डजपोताना गर्भ' ऐसा सूत्र कहते हैं। वे आचार्यके द्वारा रचे हुए न्यासको अन्यथा करनेके लिये ऐसा करते

---

१. 'अपरे तु ध्रौव्य च' इत्य समस्ततामन्यथा वर्णयन्ति—

'त्रैलक्षण्ये सत सादि कथ सन्न त्रिलक्षणम्।
ध्रौव्य तल्लक्षणत्वेन द्रव्यार्थेन त्रिपूदितम्॥१॥
अत एव पृथग् वृत्तौ ध्रौव्य चेति प्रदर्शितम्।
सत् त्रिरूपं त्रय त्वेतत् सम्भवेन विकल्पते॥२॥
आद्ययो नियमादन्त्यमन्ये तु भजनाद्ययो।
स्वत परनिमित्तौ तु स्यातामप्युपचारत॥३॥
अस्ति नोत्पद्यते चैकमेकमुत्पद्यतेऽस्ति च।
नास्ति चोत्पद्यते चैक नास्ति नोत्पद्यते परम्॥४॥
आकाश परमाणू च प्रदीपान्त्यशिखादि च।
आकाशकुसुम चेति चतुष्टयमुदाहृतम्॥५॥'

सक्षेपत कारिकापञ्चकस्यायमर्थः तदेतत् पौर्वापर्येणालोच्य कृत, प्राज्ञैरागमज्ञैरेव व्याख्यास्यते निर्विरोध, वय तत्रानिपुणा किञ्चिदेव स्थूल-कुशलतयाऽभिदध्महे।' —सि० ग० टी० पृ० ३८२।

हैं। हम तो प्रकृतका ही अनुसरण करते हैं। [1]अकलकदेवने 'पोतज' शब्द पर आपत्ति करते हुए पोत शब्दका ही समर्थन किया है। किन्तु दिगम्बर सूत्र पाठमें 'जरायुजाण्डजपोताना गर्भ' सूत्र है। यहाँ वह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि सर्वार्थसिद्धिमें 'पोतज' शब्दकी कोई चर्चा नही है।

२ भाष्य मान्य सूत्र पाठमें 'द्रव्याणि जीवाश्च ॥५-२॥' एक ही सूत्र है और सर्वार्थसिद्धिमान्य मूल पाठमें 'द्रव्याणि और जीवाश्च' इस तरह दो सूत्र हैं। 'अपरे सूत्रद्वयमेतदधीयते 'द्रव्याणि, जीवाश्च' लिखकर सिद्धिसेनजीने उसका उल्लेख किया है। इसी तरह कुछ अन्य दिगम्बर मान्य सूत्रोका भी निर्देश है। और उसका होना विशेप महत्त्व नही रखता। सिद्धसेनजीने सर्वार्थसिद्धि का कम किन्तु तत्त्वार्थ वार्तिकका उपयोग विशेष रूपसे अपनी टीकामें किया है, आगे उमीका विशेष रूपसे दिग्दर्शन कराया जाता है।

३ अकलकदेवने (त०[2] वा० पृ० ११९ में) लक्षणके दो भेद किये हैं आत्मभूत और अनात्मभूत। सिद्धसेनजीने यही दोनों भेद तत्स्थ और अतत्स्थ नामसे किये है। तथा 'तत्स्थ' लक्षणका दृष्टान्त अग्निका औष्ण्यगुण, अकलकदेव-की तरह ही वतलाया है।

४ 'मति स्मृति' इत्यादि सूत्र (१-१३) की टीकामें[3] सिद्धसेनजीने 'अपरे' पदके द्वारा वतलाया है अन्य तो शतक्रतु और शक्र शब्दोंकी तरह मति स्मृति आदिको पर्याय शब्द मानते है। सर्वार्थसिद्धिमें इस सूत्रकी व्याख्यामें इन्द्र शक पुरन्दर शब्दोंकी तरह मति स्मृति आदिको पर्याय शब्द माना है।

५ सूत्र १-१९ की व्याख्यामें सर्वार्थ०में चक्षुको [4]अप्राप्यकारी सिद्ध करने-

---

१ केचित् पोतजा इति पठन्ति। तदयुक्तम्। कुत ! अर्थभेदाभावात्।' —त० वा०, पृ० १४४।

२ तल्लक्षण द्विविध आत्मभूमनात्मभूतञ्चेति। तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यम्। — त० वा०, पृ० ११९। 'लक्षण द्विविध तत्स्थमतत्स्थ चेति तत्स्थममग्नेण्यवत्' —सि० ग० टी०, भा० १, पृ० ७७।

३ अपरे तु सर्वे पर्यायशब्दा एवैते शतक्रतु-शक्रादिशब्दवत् इति मन्यन्ते।' —वही, पृ० ७८। 'सत्यपि प्रकृतिभेदे रूढिवललाभात् पर्यायशब्दत्वम्। यथा इन्द्र शक पुरन्दर इति' —सर्वा० सि०।

४ 'यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमजन गृह्णीयात्। न तु गृह्णाति।' —सर्वा० सि०। 'यदि स्यात् ततस्तद्गतमञ्जनादि परिच्छिन्द्यात्, न च परिच्छिनत्ति।'—वही भा० १, पृ० ८७।

मे जो युक्ति दी गई है, सिद्धसेनने उक्त सूत्रकी अपनी टीकामें भी वही युक्ति प्रायः उन्ही शब्दो में दी है।

६ सूत्र २-४ की व्याख्यामें[1] अकलकदेवकी तरह सिद्धसेनने भी क्षायिक भावोमें सिद्धत्व भावको ग्रहण करने की बात उठाई है। किन्तु उसके समाधानमें दोनोंमें अन्तर है।

७ सूत्र २-६की व्याख्यामें[2] भी अकलंकदेवकी तरह सिद्धसेनने भी औदयिक भावोमें निद्रादि पाँच, दोनो वेदनीय, हास्यादि पट्क, आयु, नाम, गोत्र आदि को भी ग्रहण न करनेपर आपत्ति की है और उन सबका अन्तर्भाव भी प्राय अकलंककी ही तरह किया है। कही तो शब्द साम्य भी है।

८. सूत्र 'ससारिणो मुक्ताश्च' २-१० की व्याख्यामें[3] अकलकदेवने सूत्रमें मुक्तोंसे पहले ससारियोंका गहण किये जानेमें तीन हेतु दिये है—ससारिजीवोंके वहुत भेद हैं, ससारी पूर्वक ही मुक्त होते है तथा ससारी जीव स्वसवेद्य हैं। इस सूत्रकी व्याख्यामें सिद्धसेनने अकलकदेवके इन तीनो हेतुओंको लेलिया है। तथा अकलंकदेवने 'च' शब्दका ग्रहण उपयोगो की गौणता और मुख्यता वतलानेके लिए माना हैं। सिद्धसेनने भी ऐसा ही मान्य किया है।

---

१ 'सिद्धत्वमपि क्षायिकमागमोपदिष्टमस्ति तस्योपसख्यानमिह कर्तव्यम।' —त० वा०, पृ० १०६। 'ननु च सिद्धत्वमपि क्षायिको भावः स चेह न निर्दिष्टः सूरिणा, को अभिप्रायः' —सि० टी०, भा० १, पृ० १४३।

२ 'अत्र चोद्यते निद्रानिद्रादय औदयिकाः, वेदनीयोदयात् सुखदु खमौदयिक, नौकपायाश्च हास्यरत्यादय लिंगग्रहणे हास्य-रत्याद्यन्तर्भाव गतिग्रहणमघात्युपलक्षणम् तेन जात्यादयो भावा।'—त० वा०, पृ० १०९-११०। 'ननु च। निद्रादिपञ्चकं वेदनीयमुभय मोहनीये हास्यादिपट्क, आयु नामकर्म गोत्रमुभयमपि गतिग्रहणाच्छेपनामभेदा। लिंगग्रहणात् हास्यादिपट्क ग्रहणम्।' —सि० टी०, भा० १, पृ० १४५-१४६।

३. 'च शब्दोऽनर्थक इति चेत् न, उपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात्। संसारिग्रहणमादौ वहुविकल्पत्वात्, तत्पूर्वकत्वात् स्वसवेद्यत्वाच्च'—त० वा०, पृ० १२५। 'ससारिणामादावुपन्यास प्रत्यक्ष-वहुभेदवाच्यार्थ। तदनु मुक्तवचनं ससारिपूर्वकत्वप्रसिद्धयर्थं। प्रधानगुणभावख्यापनार्थो वा च शब्दो दृष्टव्य।'—सि० टी०, भा० १, पृ० १५६।

९ 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' ॥५-३॥ सूत्रको टीकामें सिद्धसेनने 'अपर'[1] करके लिखा है कि अन्य 'नित्य' पदको अवस्थितका विशेषण मानते हैं और 'नित्यप्रजल्पित' की तरह उसका समास करते है। अकलकदेवने 'नित्य' को अवस्थितका विशेषण माना है और 'नित्यप्रजल्पित देवदत्त' का उदाहरण दिया हैं। अत यह उल्लेख तो सिद्धसेनके द्वारा तत्त्वार्थवार्तिकका उपयोग किये जानेके पक्षमें अकाटच प्रमाण है। ऐसे प्रमाण अनेक हैं।

१० पाँचवे अध्यायमें दार्शनिक विषय होनेके कारण सिद्धसेनने तत्त्वार्थ-वार्तिकका काफी उपयोग किया है। सूत्र ५-१६ की व्याख्यामें त०वा० में उद्धृत 'वर्षातपाभ्या किं व्योम्न' आदि कारिका भी उद्धृत की है। सूत्र ५-१८ की व्याख्यामें अकलकदेवने आकाशको अनावृत्तिरूप, तथा शब्दलिंग और प्रधान विकार माननेवाले मतोका निराकरण किया है, सिद्धसेनने भी उसी क्रमसे तीनों मतोका निराकरण किया है। सूत्र ५-२२ की टीकामें तो इस सूत्रकी अकलंक-देवकृत उत्थानिका[2] ज्योंकी त्यो शब्दश लेली है। वर्तनाका लक्षण[3] भी त०वा० मे लिया है। और भी बहुत कुछ इस सूत्रकी वार्तिकोंसे लिया है। सूत्र ५-२४ की टीकामें अकलंकदेवने स्फोटका खण्डन किया है, सिद्धसेनने भी किया है। अकलंकदेवने छायाके सम्बन्धसे प्रतिबिम्बका विचार किया है, सिद्धसेनने भी किया है। सूत्र ५-३१ की टीकामें सिद्धसेनने सप्तभगीका जो विवेचन किया है वह तत्त्वार्थवार्तिकके सूत्र ४-४२ में किये गये सप्तभगी विवेचनका कही-कही तो शब्दश ऋणी है।

अत यह निश्चित है कि सिद्धसेनाचार्यने तत्त्वार्थटीकाकी रचनामें सर्वार्थ-सिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकका पूरा उपयोग किया है।

अत प० सुखलालजीने[4] जो सिद्धसेनके द्वारा अकलकके तत्त्वार्थवार्तिकक-देखनेकी सभावनाकी है वह केवल सभावना ही नही है, वस्तुभूत सत्य है।

---

१ 'अपरे नित्यग्रहणमवस्थितविशेषण कल्पयन्ति नित्यमवस्थितानि नित्यावस्थितानि नित्यप्रजल्पितवत्।'–सि० टी०, भा० १, पृ० ३२१। 'नित्य-ग्रहणमिदमवस्थितविशेषण 'नित्यप्रजल्पितो देवदत्त' इत्युच्यते।'–त०वा०, पृ० ४४३।

२ 'अवश्य सतोपकारिणा भवितव्यम्। सश्चकालोऽभिमत स किमुपकार इति। तस्य खलु वक्ष्यमाण स्वतत्त्वमूर्ते'–सि० टी०, पृ० ३४८। त० वा०, पृ० ४७६।

३ 'सा च वर्तना प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमयस्वसत्तानुभूतिलक्षणा'—सि० टी०, पृ० ३४९।–त० वा०, पृ० ४७७।

४ त० सू० की प्रस्ता०, पृ० ४२।

सिद्धसेनीय वृत्तिकी दार्शनिकयोग्यता—

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके साथ सिद्धसेनकी वृत्तिकी तुलना करते हुए प० सुखलालजीने लिखा[1] है—'जो भाषाका प्रसाद, रचनाकी विशदता और अर्थका पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें है, वह सिद्धसेनीय वृत्तिमें नही है। इसके दो कारण हैं—एक तो ग्रन्थकारका प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है। सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्तिककार सूत्रोंपर अपना-अपना वक्तव्य स्वतन्त्ररूपसे ही कहते हैं। सिद्धसेनको भाष्यका शब्दश अनुसरण करते हुए पराश्रित रूपसे चलना पडता है। इतना भेद होनेपर भी समग्र रीतिसे सिद्धसेनीय वृत्तिका अवलोकन करते समय मनपर दो बातें तो अंकित होती ही हैं। उनमें पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककी अपेक्षा सिद्धसेनीयवृत्ति-की दार्शनिक योग्यता कम नही है। पद्धति भेद होनेपर भी समष्टि रूपसे इस वृत्तिमें भी उक्त दो ग्रन्थों जितनी ही न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्ययोग, और बौद्ध दर्शनोंकी चर्चाकी विरासत है। और दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन अपनी वृत्तिमें दार्शनिक और तार्किक चर्चा करते हुए भी अन्तमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी तरह आगमिक परम्पराका प्रबलरूपसे स्थापना करते हैं।'

असलमें अकलकदेव दार्शनिक थे और सिद्धसेन आगमिक थे। दर्शन और आगमकी शैलीमें जैसा अन्तर है वैसा ही अन्तर उन दोनोकी कृतियोमें हैं। अकलकदेव आगमिक चर्चामें भी दार्शनिक चर्चाका वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु सिद्धसेन दार्शनिक चर्चा करते हुए भी अपनी अभ्यस्त आगमिक शैली-का परित्याग नही करपाते। इसमें सन्देह नही कि सिद्धसेनको भाष्यका व्याख्या-कार होनेसे पराश्रित रूपसे चलना पडा है, फिर भी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ वार्तिक जैसी तत्त्वार्थ टीकाओंके सन्मुख रहनेसे और वसुबन्धु, दिग्नाग, भर्तृहरि धर्मकीर्ति, उदयन जैसे तार्किकोकी रचनाओंके कारण भारतवर्षके तत्कालीन साहित्यिक वातावरणमें दर्शनकी छाप छायी होनेसे सिद्धसेनने भी अपनी वृत्तिमें यथा स्थान दार्शनिक चर्चाएँ की हैं। और उनके देखनेसे प्रतीत होता है कि उन्होंने आगमके विशिष्ट अभ्यासी होते हुए भी उक्त दार्शनिकोंके ग्रन्थोंका भी अध्ययन किया था। पाचवे अध्यायकी अपनी टीकामें उन्होंने [2]धर्मकीर्तिके प्रमाण-विनिश्चयका, [3]दिग्नागका तथा 'वार्तिककार'[4] नामसे न्यायवार्तिकके रचयिता

---

१ वही, पृ० ८१।

२ 'भिक्षुवर धर्मकीर्तिनाऽपि विरोध उक्त प्रमाणविनिश्चयादौ'—पृ० ३९७।

३ 'दिग्नागेनाप्युक्तम्'—पृ० ३९७।

४ 'एवमुक्ते वार्तिककारेणोक्त समवायो न क्वचिद्वर्तते इति ब्रूम'—पृ० ४३५।

उदयनका नामोल्लेख किया है। अत सिद्धसेनीय वृत्तिकी दार्शनिक योग्यता तत्त्वार्थवार्तिकके समकक्ष न होते हुए भी आदरणीय है।

समयविचार—सिद्धसेनाचार्यने अपनी एकमात्र उपलब्ध कृति तत्त्वार्थ वृत्तिमें उसका रचनाकाल तो नही दिया है किन्तु अन्तमें अपनी गुरुपरम्परा अवश्य दी है। उसके अनुसार दिन्न[1] गणि क्षमाश्रमण नामके एक प्रतिभाशाली प्रख्यातकीर्ति आचार्य थे, जो शील और सयमके धारी थे, श्रुतनिधि थे, मोक्षार्थियोके अग्रणी और परमतपस्वी थे॥ उनके सिंहसूर नामके शिष्य हुए वह परवादियोके जीतनेमें पटु थे, सिंहवृत्तिके धारक थे, समस्त आगमोके ज्ञाता थे। आज भी उनकी कीर्ति अविश्रान्तरूपसे दिगन्त तक भ्रमण करती है॥ उनके भास्वामी नामक शिष्य थे, जो विद्वानोमें अग्रेसर थे, समस्त शास्त्रोके ज्ञाता थे, महाश्रमण थे, क्षमाशील थे और गच्छाधिपति थे। उनके चरणरजके एककण, अल्पबुद्धि, स्वल्प आगमोंके ज्ञाता सिद्धसेन गणिने इस तत्त्वार्थशास्त्र टीकाको रचा।

सिद्धसेनके द्वारा निर्दिष्ट अपनी गुर्वावलीमें एक 'सिंहसूर' नाम ऐसा है जिसके सम्बन्धमें आज भी यह कहा जा सकता है कि 'आज भी उनकी कीर्ति अविश्रान्त रूपसे दिगन्त तक भ्रमण करती है।'

---

१. 'आसीद् दिन्नगणि क्षमाश्रमणता प्रापत् क्रमेणैव यो
विद्वत्सु प्रतिभागुणेन जयिना प्रख्यातकीर्तिर्भृशम्।
वोढो शीलभरस्य सच्छ्रुतनिधिर्मोक्षार्थिनामग्रणी
र्जज्वालामलमुच्चकैर्निजतपस्तेजोभिख्याहतम्॥१॥
× × ×
तस्याभूत् परवादिनिर्जयपटु सैंही दधच्छूरता
नाम्ना व्यज्यत सिंहसूर इति च ज्ञाताखिलार्थागम।
शिष्य शिष्टजनप्रिय· प्रियहितव्याहारचेष्टाश्रयात्
भव्याना शरण भवौघपतनक्लेशार्दिताना भुवि॥३॥
× × ×
शिष्यस्तस्य बभुव राजि (ज ?)कशिरोरत्नप्रभाजालक-
व्यासङ्गाच्छुरितस्फुरन्नखमणिप्रोद्भासिपादद्वय।
भास्वामीति विजित्य नाम जगृहे यस्तेजसा सम्पदा
भास्वन्त भवनिर्जयोद्यतमतिर्विद्वज्जनाग्रेसर॥५॥
× × ×
तत्पादरजोवयव स्वल्पागमशेमुपीकबहुजाड्य। -
तत्त्वार्थशास्त्रटीकामिमा व्यधात् सिद्धसेनगणि॥७॥

सिंहसूर— विद्वानोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि जैनपरम्परामें मल्लवादी नामके एक प्रख्यात आचार्य हो गये हैं और उन्होंने 'नयचक्र' नामक ग्रन्थ रचा था। यह ग्रन्थ तो आज अनुपलब्ध है किन्तु उसकी सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमण रचित न्यायागमानुसारिणी टीका उपलब्ध है और उसका कुछ भाग गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला बड़ौदा तथा श्रीलब्धिसूरीश्वरजैनग्रन्थमाला छाणीसे प्रकाशित हुआ है। यद्यपि पूरी टीका प्रकाशमें न आ सकनेसे उक्त नयचक्र टीकाके रचयिता सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमणके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है, तथापि विद्वानोंकी आम धारणा यही है कि सिद्धसेनगणिके द्वारा अपनी तत्त्वार्थ टीकाकी प्रशस्तिमें स्मृत सिंहसूर ही नयचक्र टीकाके रचयिता हैं।

यद्यपि सिद्धसेनने 'सिंहसूर' नाम दिया है और नयचक्र टीकाकी उपलब्ध प्रतियोंमें 'सिंहसूरि' नाम मिलता है यथा—इति नियमभङ्गो नवमोऽरः श्रीमल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य टीकायां न्यायागमानुसारिण्यां सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमणदृब्धायां समाप्तः।'

किन्तु एक तो 'सिंहसूर'का लेखकोंकी कृपासे 'सिंहसूरि' हो जाना सभव है। दूसरे, सिद्धसेनने जिस रूपमें उनका स्मरण किया है, वह रूप नयचक्र टीकाके कर्ताके सर्वथा अनुरूप है, काल क्रमकी दृष्टिसे भी ठीक बैठता है। अतः यह स्वीकार करना ही उचित होगा कि नयचक्र टीकाके कर्ता सिंहसूरगणि सिद्धसेन गणिके प्रगुरु-गुरुके गुरू थे।

सिंहसूरने अपनी नयचक्रटीकाके प्रारम्भमें 'उक्तञ्च' लिखकर नीचे लिखी तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं—

'जं चउदस पुव्वधरा छट्ठाणगया परुप्पर होंति।
तेण उ अणतभागो पण्णवणिज्जाण जं सुत्तं ॥१॥
पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाण पुण अणंतभागो सुअणिबद्धो ॥२॥
अक्खरलंभेण समा ऊणहिया होंति मइविसेसेहिं।
ते वि य मइविसेसे सुअणाणब्भतरे जाण ॥३॥'

ये तीनों गाथाएँ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यक भाष्य की हैं। किन्तु मलधारी हेमचन्द्रकी टीकाके साथ मुद्रित प्रतिमें गाथा दो प्रथम है और गाथा प्रथम उसके पश्चात् है और वहाँ उनकी क्रमसंख्या इस प्रकार १४२,१४१ और १४३ है।

अतः यह निश्चित है कि सिंहसूरने विशेषावश्यक भाष्यसे उक्त गाथाएँ अपनी नयचक्रटीकामें उद्धृत की है। जैसलमेर भण्डारसे प्राप्त विशेषावश्यक

भाष्यकी प्रतिके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्तिकी गाथाओके आधारसे मुनि श्रीजिनविजयजीने उसका काल वि० स० ६६६ निर्धारित किया है। किन्तु चूंकि उक्त प्रशस्ति गाथाओंमें ग्रन्थ समाप्त करनेका सूचक कोई शब्द नही है अत प० दलसुखमाल्वणिया[2] उसे प्रतिलेखनका काल मानते हैं। और वे जिनभद्र गणिक्षमाश्रमणकी उत्तरावधि वि० स० ६५० वतलाते हैं। अत मिंहसूरने अपनी नयचक्र टीका वि० स० ६५० के पश्चात् रची थी, यह निश्चित होता है। किन्तु मिंहसूरकी टीकामें प्रसिद्ध वौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिका कोई उल्लेख नही मिलता। धर्मकीर्ति विक्रमकी सातवी शताब्दीके अन्तमें हुए हैं। मोटे तौर पर उनका ममय ई० ६२५-६५० (वि० स० ६८२-७०७) माना जाता है। अत मिंहसूरको[3] भी विक्रमकी सातवी शताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान मानना उचित होगा। सिद्धसेन गणि उनके प्रशिष्य थे। अत सिद्धसेनका ममय विक्रमकी आठवी शताब्दीका पूर्वार्ध होना चाहिये।

२ सिद्धसेन गणिने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें प्रसिद्ध वौद्ध दार्शनिक वसुवन्धु[4] और दिग्नागके साथ धर्मकीर्तिके[5] प्रमाण विनिश्चयका भी उल्लेख किया है। और अकलकदेवने भी अपने ग्रन्थोंमें धर्मकीर्तिका खण्डन किया है तथा अकलक देवके तत्वार्थवार्तिक का उपयोग सिद्धसेन गणिने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें खूव किया है। अत सिद्धसेन गणि न केवल धर्मकीर्ति के पश्चात् हुए हैं किन्तु अकलक देवके भी पश्चात् हुए हैं। किन्तु उनके ग्रन्थमें हरिभद्रसूरि (वि० स० ७५७-८२७) का कोई प्रभाव परिलक्षित नही होता। अत हरिभद्रसे पूर्व उनका होना संभव है। और इस लिये उन्हें विक्रमकी आठवी शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान मानना समुचित है।

अमृत चन्द्र सूरि

अमृत चन्द्र सूरिके सम्वन्धमें द्रव्यानुयोग विषयक प्रकरणमें प्रकाश डाला जा

---

१. 'पचमता इगितीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स। ता चेत्त पुण्णिमाए वुध-दिण सातिम्मि णक्खत्ते॥ रज्जे णु पालणपरे सी [लाइ] च्चम्मि णरव-दिन्दम्मि। वलभीणगरीए इम महवि मि जिणभवणे॥'

२. 'गणधरवादकी प्रस्ता०, ३२।

३ द्वादशार नयचक्र (गा० सि० वडौदा) की अग्रेजी प्रस्ता०, पृ० ७ तथा त० सू० की प० सुखलालजी लिखित प्रस्ता०, पृ० ४२।

४. 'तस्मादेन पदमेतत् वसुवन्धोरामिपगृद्धस्य गृद्धस्येवाऽप्रेक्ष्यकारिण '—सि० ग० टी०, भा० २, पृ० ६८।

५ 'भिक्षुवर धर्मकीर्तिनाऽपि विरोध उक्त प्रमाणविनिश्चयादौ।' दिग्नागेनाऽप्युक्तम् '—वही, भा०, पृ० ३९७।

तत्त्व सात ही क्यो वतलाये है, इसका समाधान अकलंकदेवने तो [1]सर्वार्थ-सिद्धिके अनुसार ही किया है। किन्तु अमृतचन्द्रने[2] अध्यात्म शैलीके अनुसार सात तत्त्वोमेंसे जीवको उपादेय, अजीवको हेय, आस्रव और वन्धको हेयके उपादानका कारण, सवर और निर्जराको हेयके हानका कारण तथा मोक्षको हेयका आत्यन्तिक हान रूप वतलाते हुए उन सातोके कथनकी आवश्यकता वतलाई है।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिने अपने प्रमाणवार्तिकमें सर्वज्ञको उपाय सहित हेय और उपादेयका ज्ञाता माना है, सवका ज्ञाता नही माना। अकलकदेवने सिद्धि-विनिश्चयमें धर्मकीर्तिके ही शब्दोको लेकर उसका खण्डन किया है। यह हेय और हेय हेतु तथा उपादेय और उपादेय हेतुके रूपमें सात तत्त्वोंका विभाजन अमृत-चन्द्रसूरिने उसीके आधारपर किया हो, ऐसा लगता है। अमृतचन्द्रने तत्त्वार्थ-सारमें तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिके साथ तत्त्वार्थवार्तिकका तो पूरा उपयोग किया ही है। विद्यानन्दके तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकका भी उपयोग किया है। सम्यग्ज्ञानको[3] स्वार्थ व्यवसायात्मक और श्रुतको[4] 'अविस्पष्टार्थ तर्कण' रूप विद्यानन्दिने वतलाया है तदनुसार ही अमृतचन्द्रसूरिने भी वतलाया है। [5]नयोके भी कई लक्षणोमें त० श्लो० वा० का शब्दश अनुसरण किया गया है।

जीवाधिकारमे ससारी जीवोका वर्णन गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण सज्ञा और मार्गणाओके द्वारा किया गया है। चौदह मार्गणाओंके वर्णनमें प्राकृत

---

१ 'अत प्रधान-हेतुहेतुमत्फलनिदर्शनार्थत्वात्पृथुगद्देश कृत'—स०सि० १-४। 'परस्परोपश्लेपे ससारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात्'—त० वा० १-४।

२ 'उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदित। हेयस्यास्मिन्नुपादनहेतुत्वेनास्रव स्मृत ॥७॥ हेयस्यादानरूपेण वन्ध स परिकीर्तित। संवरो निर्जरा हेय-हान् हेतुतयोदितौ। हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शित ॥८॥'—तत्वा० सा०।

३ 'तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञान मान'—त० श्लो० वा०, १-१०-१६। 'सम्यग्ज्ञान पुन स्वार्थव्यवसायात्मक विदु ॥१८॥'—तत्वा० सा०।

४ 'श्रुतमस्पष्टतर्कणम्'—त० श्लो० वा० १-२०-१३। 'मतिपूर्वं श्रुत प्रोक्त-मविस्पष्टार्थतर्कणम् ॥२४॥' तत्वा० सा०।

५ 'तत्र सकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः'—त० श्लो० वा० १-३३-१७। 'अर्थ सकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नय ॥४४॥'—तत्वा० सा०। 'सग्रहेण गृहीतानामर्थाना विधिपूर्वक—त० श्लो० वा०, १-३३-५८।—तत्वा० सा० ४६।

पञ्चसंग्रहके अन्तर्गत जीवसमास नामक प्रकरणका साहाय्य लिया गया है। इस प्रकरणमें चारो गतियोके जीवोका मृत्युके पश्चात् कहाँ-कहाँ जन्म हो सकता है, इसका कथन वहुत विस्तारसे श्लो० १४६ से १७५ तक किया गया है। यह सव कथन अन्यत्र एक साथ नही पाया जाता। इस अधिकारमें त० सू० के दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायका विषय है। दूसरे अजीवाधिकारमे तत्वार्थसूत्र और उसकी सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्तिक नामक टीकाओके आधारपर पाच द्रव्यो का वर्णन है। इस प्रकरणमे कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायकी कई गाथाओको भी सस्कृतमें निवद्ध किया गया है। इस अधिकारमें त० सू० के पाचवे अध्यायका विषय है।

तीसरे आस्रवाधिकारमें त० सू० के छठे और सातवें अध्यायका वर्णन है। त० सू० के छठे अध्यायमे ज्ञानावरण आदि आठो कर्मोका आस्रव जिन कार्योके करनेसे होता है उन कार्योंको वतलाया है। और अकलक देवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें उन सूत्रोकी व्याख्यामे प्रत्येक कमके आस्रवके कुछ अन्य कारणोका भी निर्देश किया है। अमृतचन्द्रने तत्त्वाथसारमें उन सव कारणोका भी सग्रह किया है।

तथा पुण्यास्रवके कारण व्रतोका वर्णन करनेके पश्चात् पुण्य और पापके भेदको स्पष्ट करते हुए उन्होने यह भी लिख दिया है कि निश्चयनयसे पुण्य और पापमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनो ही ससारके कारण है। चौथे वन्धाधिकारमें त० सू० के आठवें अधिकारका, पाचवे सवराधिकार और छटे निर्जराधिकारमें त० सू० के नौवें अधिकारका और सातवें मोक्षाधिकारमें त० सू० के दसवें अध्यायके विषयका कथन है। तत्त्वार्थवार्तिकके अन्तमें 'उक्तञ्च' करके जो श्लोक पाये जाते हैं उनमेंसे एक अन्तिम श्लोकको छोडकर शेष वत्तीस श्लोक मामूली व्यतिक्रमके साथ तत्त्वार्थसारमें सम्मिलित कर लिये गये है।

अमृतचन्द्राचार्य अध्यात्मवादी थे, अत उन्होने तत्त्वार्थसारके अन्तमें उपसंहाररूपसे निश्चयनय और व्यवहारनयसे मोक्षमार्ग कथन करते हुए कहा है—मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है। उसमें से निश्चयमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। शुद्ध स्वात्माका श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा तो निश्चय मोक्षमार्ग है और परात्माका श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा व्यवहार मोक्षमार्ग है। जो पर द्रव्यका श्रद्धान करता है, उसीको मानता है और उसीकी उपेक्षा करता है वह व्यवहारनयसे मुनि है। और स्वात्मद्रव्यको जानता है, उसीका श्रद्धान और उपेक्षा करता है वह निश्चयसे मुनि है।

आगे एक आत्मतत्त्वमें ही षट् कारकोको घटाकर अन्तमें पुन कहा कि व्यवहारनयसे सम्यक्त्व ज्ञान और चरित्ररूप मोक्षमार्ग है और निश्चयनयसे एक

चुका है। यह कुन्दकुन्दके समयपाहुड, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय नामक ग्रन्थोके आद्य व्याख्याकार है। इनकी व्याख्या शैलीके सम्बन्धमें भी पीछे प्रकाश डाला जा चुका है।

समय पाहुडकी तरह प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायकी टीकाए भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें विषयका प्रतिपादन प्राञ्जल संस्कृत भापाके द्वारा बहुत ही सुन्दर रीतिसे किया गया है। प्रवचनसारकी[1] टीकाका नाम 'तत्त्वदीपिका' है और पञ्चास्तिकायकी टीकाका नाम 'तत्त्वप्रदीपिका' है। दोनो नाम सार्थक हैं। प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायमें प्रतिपादित तत्त्वोको प्रकाशित करनेके लिये अमृतचन्द्रकी दोनो टीकाए दीपिका के तुल्य है। यह हम पहले लिख आये हैं कि अमृतचन्द्रकी टीकाओमें मूल ग्रन्थका शब्दश व्याख्यान नही है। किन्तु मूल गाथाओंका पूरा मन्तव्य उनकी टीकाओसे सुस्पष्ट हो जाता है। जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ वे वस्तुतत्त्वका विश्लेपण भी करते हैं। यथा, प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारके प्रारम्भकी गाथाओका व्याख्यान करते हुए उन्होने गुण और पर्यायोका तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका निरूपण दृष्टान्त द्वारा बहुत विस्तारसे किया है।

द्रव्यका विश्लेपण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने जो तिर्यक्प्रचय[2] और ऊर्ध्वप्रचयका निरूपण किया है वह उनकी एक ऐसी देन है जो उनसे पूर्वके साहित्यमें नही पाई जाती। और उसके द्वारा जो उन्होने काल द्रव्यको अणुरूप माननेमें उपपत्ति दी है वह उनके जैनतत्त्वविषयक् अपूर्व पाडित्यकी परिचायक है।

ऊपर लिखा है कि अमृतचन्द्रने गाथाओंका व्याख्यान शब्दश नही किया। किन्तु क्वचित् शब्दश व्याख्यान भी किया है। उदाहरणके लिये प्रव० सा० के ज्ञेयाधिकारकी गाथा ८० का व्याख्यान करते हुए गाथामें आगत 'अलिंगगहण' शब्दके वीस अर्थ किये है। और सभी अर्थ चमत्कार पूर्ण है और आत्मतत्त्वके रहस्यको प्रकट करते हैं।

तत्त्वार्थसार[3]

किन्तु अमृतचन्द्र केवल सफल टीकाकार ही नही हैं, उन्होने स्वतत्र ग्रन्थ

---

१ ये दोनो टीकाएँ रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईमे प्रकाशित हो चुकी हैं। पञ्चास्तिकायकी तत्त्वप्रदीपिका टीका हिन्दी अनुवादके साथ 'सेठी ग्रन्थमाला जौहरी वाजार वम्बईसे' प्रथमवार ही प्रकाशित हुई है।

२ प्रव० सा०, पृ० १९९।

३ तत्त्वार्थसार मूल निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित हुआ था। पुन इसका दूसरा सस्करण बनारससे प्रकाशित हुआ। तथा हिन्दी अनुवादके साथ यह ग्रन्थ श्रीगणेशवर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी से प्रकाशित हुआ है।

रचना भी की है। उनकी तीन टीकाओके सिवाय दो ग्रन्थ उपलब्ध है। उनमेसे एक ग्रन्थका नाम पुरुषार्थ सिद्धयुपाय है जो श्रावकाचार विषयका अपूर्व ग्रन्थ है और दूसरा है तत्त्वार्थसार। इसमें आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रका सार भर दिया है। अत इसका यह नाम सार्थक है।

जैनवाङमयमें कुन्दकुन्दके उक्त तीनो ग्रन्थोका जैसा महत्व है वैसा ही महत्व तत्त्वार्थसूत्रका भी है। अत अमृतचन्द्राचार्यने कुन्दकुन्दके ग्रन्थो पर तो टीकाए रचकर एक कमीकी पूर्ति की, क्योकि उन ग्रन्थोपर तब तक कोई टीका नही रची गई थी। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र पर तो पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि और अकलकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक जैसे महान व्याख्या ग्रन्थ रचे जा चुके थे। अत अमृतचन्द्रने उस ग्रन्थके महत्त्वको हृदयगम करके एक स्वतत्र ग्रन्थके रूपमें उसका सार सरल संस्कृत भाषाके अनुष्टुप श्लोकोंमे बहुत ही सुन्दर रीतिसे निबद्ध कर दिया और इस तरह कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी तरह तत्त्वार्थसूत्रका रहस्य-भी सुगम बना दिया।

मगलाचरणके पश्चात् ग्रन्थका नाम तथा उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—

'अथ तत्त्वार्थसारोऽय मोक्षमार्गैकदीपक ।
मुमुक्षूणा हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥२॥'

अर्थात् 'यह तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके लिये एक दीपकके तुल्य है। मुमुक्षुओंके हितके लिये मैं इसे अति स्पष्ट रूपसे कहता हूँ।'

तत्त्वार्थसूत्रके दस अध्यायोमें सात तत्त्वोका वर्णन है। तत्त्वार्थसारमें भी सात तत्त्वोका क्रमसे वर्णन है। पहला 'सप्ततत्त्वपीठिकाबन्ध' नामक अधिकार है, फिर क्रमसे जीवादि सात तत्त्वोके वर्णनको लिये हुए सात अधिकार है और अन्त में उपसहार है।

प्रत्येककी श्लोक सख्या क्रमसे ५४ + २३८ + ७७ + १०५ + ५४ + ५२ + ६० + ५५ + २३ = ७१८ है।

यों तो तत्त्वार्थसारका मुख्य विषय वही है जो तत्त्वार्थसूत्र का है, तथापि अमृतचन्द्रसूरिने उसमें प्रसगवश अनेक ऐसी बातोका भी सकलन किया है, जो न तो तत्त्वार्थसूत्रमें पाई जाती है और न उसकी टीकाओमें पाई जाती है। इसके साथ अमृतचन्द्र अध्यात्मके माने हुए विद्वान थे। अत उनकी कृति भी अध्यात्मकी छापसे अछूती कैसे हो सकती ह।

अद्वितीय ज्ञाता ही मोक्षमार्ग है। अन्तमे समय प्राभृतकी टीकाकी तरह एक श्लोक इस आशयका दिया कि—'वर्णोसे पद बने, पदोंसे वाक्य बने और वाक्योसे शास्त्र बना। अत वाक्य ही इस शास्त्रके कर्ता है, हम नही।

इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने यद्यपि अपना नाम नही दिया है तथापि उक्त शैलीसे यह स्पष्ट है कि इसके कर्ता अमृतचन्द्र हैं।

अमृतचन्द्रके समयके सम्बन्धमें पीछे विस्तारसे प्रकाश डाला जा चुका है वह स्वामी विद्यानन्दके पश्चात् और आलापपद्धतिकार देवसेनसे पहले होने चाहिये। उन्होने विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका उपयोग अपने तत्त्वार्थसारमें किया है यह हम पीछे लिख आये हैं। विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी प्रशस्तिमें पश्चिमी गगवशी नरेश श्रीपुरुषके उत्तराधिकारी शिवमार द्वितीय का उल्लेख किया है। शिवमार द्वितीयका समय ई० ८१० (वि० सं० ८६७) है और देवसेनने अपना दर्शनसार वि० स० ९९० में रचा था। अत वि० स० ८६७ के पश्चात् और वि० सं० ९९० से पूर्व अमृतचन्द्र हुए हैं।

द्रव्य[1] सग्रह

मुनि नेमिचन्द्र रचित द्रव्यसग्रह नामका एक छोटासा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैन समाजमें बहुत प्रचलित है। इस ग्रन्थमें केवल ५८ प्राकृत गाथाएँ हैं। ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें[2] ग्रन्थकारने अपना तथा ग्रन्थका नाममात्र दिया है।

कर्ता—

उसमें ग्रन्थका नाम द्रव्यसग्रह दिया है। इस ग्रन्थके ऊपर ब्रह्मदेवरचित सस्कृत वृत्ति है। उसके प्रारम्भमें वृत्तिकारने ग्रन्थका परिचय देते हुए लिखा है— 'अथ मालवदेशे धारानाम-नगराधिपतिराज-भोजदेवाभिधान-कलिकालचक्रवर्ति सम्बन्धिन श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धन्याश्रमनामनगरे श्री मुनिसुव्रततीर्थंकर चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादि दु खभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रय-

---

१ संस्कृतटीका तथा हिन्दी टीकाके साथ द्रव्यसंग्रह रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। उसके बाद दिल्लीसे वि० स० २०१० में और खरखरी (झरिया) से प्रकाशित हुआ है। मूल द्रव्यसग्रह भाषा टीका सहित अनेक स्थानोसे प्रकाशित हुआ है। तथा अग्रेजी अनुवाद और विस्तृत प्रस्तावनाके साथ आरासे प्रकाशित हुआ था।

२ 'द्रव्यसंगहमिण मुणिणाहा दोससचयचुदा सुद पुण्णा। सोधयतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणिय ज।'

भावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवै. पूर्वं षड्विंशति गाथाभिर्लघु द्रव्यसग्रह कृत्वा पश्चाद् विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य वृहद्द्रव्यसग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्ति प्रारम्यते।' अर्थात्—'मालव देशमें धारानगरीका स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ राजा भोजदेव था। उससे सम्बद्ध मण्डलेश्वर श्रीपालके आश्रम नामक नगरमें श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्करके चैत्यालयमे भाण्डागार आदि अनेक नियोगोके अधिकारी सोमनामक राजश्रेष्ठीके लिये श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथाओंके द्वारा लघुद्रव्यसग्रह नामका ग्रन्थ रचा, पीछे विशेषतत्त्वोके ज्ञानके लिये वृहद्द्रव्यसग्रह नामक गन्थ रचा। उसकी वृत्तिको मैं प्रारम्भ करता हूँ।'

अत वृत्तिकारके अनुसार इस ग्रन्थका नाम वृहद्द्रव्यसग्रह है। द्रव्य सग्रहके जो सस्करण सस्कृत टीकाके साथ प्रकाशित हुए हैं उनपर उसका नाम वृहद् द्रव्यसग्रह ही मुद्रित किया गया है। किन्तु मूल ग्रन्थके सस्करणो पर उसका नाम द्रव्यसग्रह ही दिया गया है।

यह ग्रन्थ तीन अधिकारोमें विभक्त है। पहले अधिकारमें द्रव्योका वर्णन है और २७ गाथाए हैं। अत टीकाकारके उक्त कथन परसे पहले ऐसा समझा गया कि ग्रन्थकारने पहले इतना ही ग्रन्थ वनाया होगा। पीछे उसने उसे बढा दिया होगा। किन्तु श्री प० जुगलकिशोर जी मुख्तारको श्री महावीर जी के शास्त्र भन्डारसे उक्त लघु द्रव्यसग्रह प्राप्त हो गया और उन्होंने उसे अनेकान्त वर्ष १२ की किरण पाचमें प्रकाशित कर दिया। उससे ज्ञात हुआ कि उक्त द्रव्यसग्रहसे जिसे टीकाकारने वृहद्द्रव्यसग्रह नाम दिया है, लघुद्रव्यसग्रह जुदा ही है। उसकी अन्तिम गाथामें, जिसकी सख्या २५ है, ग्रन्थकारने अपना नाम गणि नेमिचन्द्र दिया है और उसे सोमके वहानेसे रचा भी वतलाया है। किन्तु उसका नाम द्रव्यसंग्रह नही दिया। वह अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

सोमच्छलेण रइया पयत्थलक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्त गणिणा सिरिणेमिचदेण ॥२५॥

अर्थात्—गणि श्री नेमिचन्द्रने सोमके व्याजसे भव्य जीवोके उपकारके लिये पदार्थोका लक्षण करनेवाली गाथाओको रचा।

इन गाथाओको द्रव्यसग्रहकी गाथाओके साथ तुलना करनेसे ऐसा लगता है कि यदि दोनोके कर्ता एक ही हैं तो उन्होंने पहले तो सोमके लिये उक्त लक्षण परक कुछ गाथाएँ रची। पीछे सुव्यवस्थित रूपसे एक ग्रन्थ रचा और उसको द्रव्यसग्रह नाम दिया। टीकाकार ब्रह्मसूरिने इस द्रव्यसग्रह नामके ऊपरसे पदार्थ

लक्षण परक गाथाओके सग्रहको लघुद्रव्य सग्रह और द्रव्यसग्रहको वृहद्द्रव्यसंग्रह नाम दे दिया।

किन्तु द्रव्यसग्रह पर एक सक्षिप्त टीका प्रभाचन्द्रकृत भी उपलब्ध है, उसमें ब्रह्मदेवके द्वारा कथित उक्त बातोका कोई संकेत तक नही है। हा, उसके आद्य मंगल श्लोकके अन्तिम चरणमें 'षट्द्रव्य निर्णयमह प्रकटं प्रवक्ष्ये' लिखा है। तथा प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें लिखा है—'अथेष्टदेवताविशेष नमस्कृत्य महामुनि सैद्धान्तिक श्री नेमिचन्द्रप्रतिपादिताना षट्द्रव्याणा स्वल्पप्रबोधार्थ सक्षेपतया विवरण करिष्ये।' इस तरह उन्होंने द्रव्यसग्रहमें षट्द्रव्योका विवरण होनेसे षट्-द्रव्योके निर्णयको कहनेकी प्रतिज्ञा की है, किन्तु ग्रन्थके नामादिके सम्बन्धमें कुछ भी नही कहा। यह टीका ब्रह्मदेवकी टीकासे प्राचीन है, इतना ही नही, किन्तु द्रव्यसग्रहकी रचनाके पश्चात् विना अधिक अन्तरालके इसकी रचना हुई प्रतीत होती है। अत ब्रह्मदेवके उक्त कथनमें कहाँ तक तथ्य है, प्रमाणान्तरके अभावमें यह कहना शक्य नही है।

लघु द्रव्यसग्रह

प्रथम लघु द्रव्यसग्रहका ही परिचय कराया जाता है। इसकी प्रथम गाथामें ग्रन्थकारने जिनदेवके जयकारके साथ ही साथ ग्रन्थमें वर्णित विषयका भी निर्देश करते हुए कहा है कि जिसने छै द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थोंका तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कथन किया, वे जिन जयवन्त हो। तदनुसार इसमें छहों द्रव्यों, पाँच अस्तिकायो, सात तत्त्वो और नौ पदार्थोका स्वरूप बतलानेके साथ ही साथ उत्पाद व्यय ध्रौव्य और ध्यानका भी निर्देश कर दिया है। पाँच अस्तिकाय तो द्रव्योमें ही गर्भित हो जाते है क्योकि जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छै द्रव्य हैं, और कालके सिवाय पाँचो द्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहे जाते हैं। इसी तरह जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं। इनमेंसे पुण्य और पापको अलग कर देनेपर शेपको सात तत्त्व कहते है। इनमेंसे द्रव्योका स्वरूप तो विस्तारसे बतलाया है किन्तु पदार्थोंका जिनमें तत्त्व भी समाविष्ट हैं—स्वरूप बहुत सक्षेपमे बतलाया है।

पहली गाथामें तो वक्तव्य विषयके निर्देशके साथ मंगलाचरण है। दूसरी गाथामें द्रव्यो और अस्तिकायोंका तथा तीसरी गाथामे तत्त्वों और पदार्थोंका नाम निर्देश है। ग्यारह गाथाओमें द्रव्योका तथा पाँच गाथाओंमें तत्त्वो और पदार्थोंका स्वरूप बतलाया है। दो गाथाओंके द्वारा उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कथन है। दो गाथाओंके द्वारा ध्यान करनेका उपदेश है। २४वी गाथामें नमस्कार और पच्चीसवीमे नामादि कथन हैं। संक्षिप्त कथनकी दृष्टिसे रचना महत्त्वपूर्ण है।

इन गाथाओंमेंसे जीवका स्वरूप बतलाने वाली गाथा तो कुन्दकुन्दके प्रवचनसार अथवा समयसारसे संगृहीत है। पुद्गल द्रव्यके छः भेदोको बतलाने वाली गाथा नं० ७ गोमट्टसार जीवकाण्ड (गा० ६०१) से ली गई प्रतीत होती है। द्रव्योंके स्वरूपको बतलाने वाली गाथा न० ८, ९, १०, और ११ का पूर्वार्ध, तथा गा० १२, और १४ द्रव्य सग्रहमें भी पाई जाती हैं। शेष गाथाएँ भिन्न हैं। ब्रह्मदेवके अनुसार इसमें एक गाथा कम है। सभव है लघु-द्रव्य सग्रह की प्राप्त प्रतिमें एक गाथा छूट गई हो।

वृहद्द्रव्यसंग्रह

वृहद्द्रव्य सग्रहकी कुन्दकुन्दाचार्यके पचास्तिकायके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पचास्तिकायकी शैली और वस्तुको द्रव्यसग्रहकारने अपनाया है और उसे लघु पचास्तिकाय कहा जा सकता है। पचास्तिकाय भी तीन अधिकारोंमें विभक्त है और द्रव्य सग्रहमें भी तीन अधिकार हैं। पचास्तिकायके प्रथम अधिकारमें द्रव्योंका, दूसरेमें नौ पदार्थोंका और तीसरे मे व्यवहार और निश्चय मोक्ष मार्गका कथन है। द्रव्यसग्रहके भी तीनो अधिकारो में क्रमसे यही कथन हैं। किन्तु पचास्तिकायमें जो सत्ता, द्रव्य, गुण, पर्याय सप्तभगी आदिकी दार्शनिक चर्चाएँ है, उनका द्रव्यसग्रहमें अभाव है। असल में जैन तत्त्वो के प्राथमिक अभ्यासीके लिये उक्त दार्शनिक चर्चाएँ दुरूह भी है। सभवतया इसीसे सोमश्रेष्ठीके लिये द्रव्य सग्रहको बनानेकी आवश्यकता हुई।

द्रव्य सग्रहका रचयिता कुन्दकुन्दाचार्यके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंसे सुपरिचित प्रतीत होता है। उन्होंने निश्चय और व्यवहारनयसे ही प्रत्येक तत्त्वका निरूपण किया है। व्यवहारनयके किसी अवान्तर भेदका निर्देश तो द्रव्यसंग्रहमें नही है, किन्तु निश्चयके शुद्ध और अशुद्ध भेदका निर्देश अवश्य है।

ग्रन्थका प्रारम्भ जीव और अजीव द्रव्यका कथन करने वाले भगवान ऋषभदेवके नमस्कारसे होता है। इससे ग्रन्थकारने ग्रन्थमें वक्तव्य विषयका भी निर्देश कर दिया है। दूसरी गाथासे जीव द्रव्यका कथन प्रारम्भ होता है। इसमें जीवको उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेह परिमाण, भोक्ता, ससारी, मुक्त और स्वभावसे ऊपरको गमन करनेवाला बतलाया है। इस तरह इस गाथा के द्वारा नौ अवान्तर अधिकारोंकी सूचना करके आगे इसी क्रमसे प्रत्येकका कथन निश्चय और व्यवहारनयसे किया है। पचास्तिकाय गा० २७ में भी जीवको चेतयिता, उपयोगमय, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, शरीर प्रमाण, अमूर्तिक और कर्म सयुक्त बतलाकर तथा गाथा २८ में उनके मुक्त होने पर ऊपर जानेका कथन किया है। और आगे इन्हीका विस्तारसे कथन किया है। द्रव्यसग्रहकारने भी

अपनी रीतिसे वैसा ही किया है। १५वी गाथासे अजीव द्रव्योका कथन आरम्भ होता है। गाथा १६में तत्त्वार्थ सूत्र ५-२४ की तरह शब्दादिको पुद्गल की पर्याय वतलाया है। गाथा २८ से आस्रव आदिका वर्णन प्रारम्भ होता है। भाव और द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येक के दो भेद करके प्रत्येकका स्वरूप वहुत सक्षेपमे किन्तु सरल और स्पष्ट रीतिसे वतलाया है। गाथा ३५ में व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्रको भावसवरके भेद वतलाया है। तत्त्वार्थ सूत्रमें व्रतोंको तो पुण्यास्रवका कारण वतलाया है और शेषको सवरका कारण वतलाया है। किन्तु चूँकि व्रतोमें निवृत्ति अश भी होता है इसलिये उन्हे सवरके कारणो में गिना है। तीसरे अधिकारमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका स्वरूप वतलाकर ध्यानाभ्यास करनेपर जोर दिया है क्योकि ध्यानके विना मोक्षकी प्राप्ति सभव नही है।

ध्यानके भेद और स्वरूपादिका कथन तो नही किया, किन्तु पञ्चपरमेष्ठीके वाचक मत्रोको जपने तथा उनका ध्यान करनेकी प्रेरणा की है और इसलिये अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पञ्चपरमेष्ठियोंका स्वरूप एक-एक गाथाके द्वारा वतला दिया है। अन्तमें कहा है कि तप, श्रुत और व्रतोंका धारी आत्मा ही ध्यान करनेमें समर्थ होता है, अत ध्यानकी प्राप्तिके लिये सदा तप, श्रुत और व्रतोमे लीन होना चाहिये।

इस तरह ग्रन्थकार ने वहुत ही सक्षेपमें जैन दर्शनके मूल तत्त्वोका कथन इस ग्रन्थमे किया है।

लघु द्रव्य सग्रहके अन्तकी गाथामे ग्रन्थकारने अपना नाम नेमिचन्द गणि दिया है और वृहद्द्रव्य संग्रहकी अन्तिम गाथामे अपनी लघुता प्रकट करते हुए दोप रहित और श्रुतसे परिपूर्ण मुनिनाथोंसे प्रार्थना की है कि वे अल्पश्रुतधर नेमिचन्द्र मुनिके द्वारा रचे हुए द्रव्य संग्रहको शुद्ध कर लें।

जैन परम्परामे नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती नामके एक वहुत वडे आचार्य हो गये हैं। जिन्होने गोम्मटसार जैसे महान ग्रन्थोंकी रचना की है। इस द्रव्य सग्रहको भी उनकी ही रचना समझा जाता था। द्रव्य सग्रहके अग्रेजी अनुवादकी भूमिकामें श्रीशरच्चन्द्र घोषालने इसे उन्हीकी कृति वतलाया हैं। किन्तु उसकी समालोचना करते हुए श्री प० जुगल किशोरजी मुख्तारने जैन हितैषी, भाग १३, अक १२में इनका विरोध किया है। उन्होंने पुरातन जैन वाक्य सूचीकी अपनी प्रस्तावना मे (पृ० ९२-९४) उसके निम्नकारण वतलाये है।

१ द्रव्य संग्रहके कर्ताका 'सिद्धान्त चक्रवर्ती'के रूपमें कोई प्राचीन उल्लेख नही मिलता। सस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेवने भी उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती नही लिखा,

किन्तु सिद्धान्तिदेव लिखा है। सिद्धान्ती होना और बात है और सिद्धान्त-चक्रवर्ती होना दूसरी बात है। सिद्धान्त चक्रवर्ती पद सिद्धान्ती या सिद्धान्ति देव पदसे बडा है।

२ दूसरे गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्राचार्यने अपने ग्रन्थोमे अपने गुरु अथवा गुरुओका नामोल्लेख अवश्य किया है। परन्तु द्रव्यसग्रहमें वैसा नही पाया जाता।

३ तीसरे, टीकाकार ब्रह्मदेवने अपनी टीकाके प्रस्तावना वाक्यमें जो इस ग्रन्थके रचे जानेका विवरण दिया है, वह सब ऐसे ढगसे और ऐसी तफसीलके साथ दिया है कि उसे पढते हुए यह ख्याल आये विना नही रहता कि या तो ब्रह्म-देव उस समय मौजूद थे जब कि द्रव्यसंग्रह तैयार किया गया, अथवा उन्हें दूसरे किसी खास विश्वस्त मार्गसे इन सब बातोका ज्ञान प्राप्त हुआ था और इस लिये इसे सहसा असत्य या अप्रमाण नही कहा जा सकता। और जबतक इस कथनको असत्य सिद्ध न कर दिया जाये तब तक यह नही कहा जा सकता कि ग्रन्थ उन्ही नेमिचन्द्रके द्वारा रचा गया है जो कि चामुण्डरायके समकालीन थे, क्यो कि उनका समय ईसाकी १०वी शताब्दी है जब कि भोजकालीन नेमिचन्द्रका समय ईसाकी ११वी शताब्दी बैठता है।

४ चौथे, द्रव्य सग्रहके कर्ताने भावास्रवके भेदोमें प्रमादको भी गिनाया है और अविरतके पाँच तथा कषायके चार भेद ग्रहण किये हैं। परन्तु गोम्मटसारके कर्ताने प्रमादको भावास्रवके भेदोंमें नही माना और अविरतके (दूसरे ही प्रकारसे) बारह तथा कषायके २५ भेद स्वीकार किये हैं।

मुख्तार साहबके द्वारा उपस्थित किये गये चारो ही कारण सबल है। अत जब तक कोई प्रबल प्रमाण प्रकाशमें नही आता तब तक द्रव्यसग्रहको गोम्मट-सारादिके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीकी कृति नही माना जा सकता।

टीकाकार ब्रह्मदेवके प्रास्ताविक कथनके अनुसार द्रव्य सग्रहके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव धारानगरीके अधिपति राजा भोज देवके समकालीन थे। धाराधि-पति राजा भोज अपनी विद्वत्ता और विद्वत्प्रियताके कारण अति प्रसिद्ध है। इनका राज्य काल वि०स० १०७६से वि० १११२ तक माना जाता है। अत यदि ब्रह्म-देवका उक्त कथन ठीक है तो उक्त समयमें द्रव्य सग्रहकी रचना सिद्ध होती है। अब हम देखेंगे कि अन्य आधारोसे उक्त कथन कहाँ तक प्रमाणित होता है।

१ प० आशाधरने अपने[1] अनगार धर्मामृतकी टीकामें 'उक्त च' करके कई गाथाएँ उद्धृत की है जो द्रव्य सग्रहकी है। एक गाथा तो 'तथा चोक्त द्रव्य सग्रहेऽपि' लिखकर उद्धृत की है। प० आशाधरने उसकी प्रशस्तिमें टीका की समा-

१ अन० धर्मा० टी०, पृ० ४, ११२, ११६, ११८

प्तिका काल वि० स० १३०० दिया है। अत यह निश्चित है कि वि० सं० १३०० से पूर्व द्रव्य सग्रहकी रचना हो चुकी थी।

२ जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी[1] टीकाके प्रारम्भमें द्रव्य सग्रहका उल्लेख किया है तथा उसकी रचनामें मोभा (सोम) श्रेष्ठीको निमित्त वतलाया है। जयसेनाचार्य विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं। अत द्रव्य संग्रहकी रचना उनसे पूर्व हो चुकी थी।

३ जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी टीका (पृ० २५३) में तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। श्री रामसेनने इस तत्त्वानुशासनकी रचना यद्यपि सस्कृतके अनुष्टुप् श्लोकोंमें की है तथापि उसमें पाँच पद्य आर्याछन्दमें भी हैं। जिनमेंसे चार इस प्रकार हैं—

'धर्मादि श्रद्धान सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम्।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहाराद् मुक्तिहेतुरयम् ॥३०॥
निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्य समाहितो भिक्षु।
नोपादत्ते किञ्चिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥
यो मध्यस्थ पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपस्य निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्ति ॥३२॥
स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यसन्तु ध्यान सुधिय सदाप्यपास्यालस्य ॥३३॥'

इनमेंसे आदिके तीन पद्य तो पञ्चास्तिकायकी नीचे उद्धृत तीन गाथाओके सस्कृत रूपान्तर है—

धम्मादीसद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वगद।
चिट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६०॥
णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥
जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाण अप्पणा अणण्णमय।
सो चारित्त णाण दसणमिदि णिच्चिदो होदि ॥१६२॥

तत्त्वानुशासनके रचयिताने यत्र तत्र कुछ शाब्दिक परिवर्तन कर लिया है किन्तु यह स्पष्ट है कि उनके उक्त तीन पद्य उक्त तीन गाथाओको ही सामने रखकर रचे गये हैं और इसीलिये उन्हें आर्या छन्दोंमें रखागया है। इसी तरह चौथा पद्य द्रव्यसग्रहकी नीचे लिखी गाथाको सामने रखकर रचा गया है।

---

[1] 'अन्यत्र' द्रव्य संग्रहादौ मोभा श्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यम्—पञ्चास्ति०टी०, पृ० ६

दुविह पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूय झाण समब्भसह ।।४७।।

अत द्रव्य सग्रह जयसेनके द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वानुशासनसे भी पहले रची गई है। तत्त्वानुशासनका समय अभी तक निश्चित नही हो सका है। फिर भी इतना निश्चित प्रतीत होता है कि वह अमृतचन्द्रके और सभवतया देवसेनके पश्चात् रचा गया है। द्रव्यसंग्रहके अनुसरणसे द्रव्य सग्रह और टीकाकार जयसेनके मध्यमें उसका रचा जाना मभव है। अत टीकाकार ब्रह्मदेवके द्वारा निर्दिष्ट राजा भोजके समयमें द्रव्य मग्रहकी रचना होना सभव प्रतीत होता है।

४ द्रव्यमग्रहकी एक वृत्ति प्रभाचन्द्रकृत उपलब्ध है। यह प्रभाचन्द्र वही प्रतीत होते हैं जिन्होने न्याय कुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमल मार्तण्ड आदि टीका-ग्रन्थोकी रचना की थी। प्रशस्तियोंके अनुसार उन्होने प्रमेयकमल मार्तण्डकी रचना भोजराजाके राज्यकालमें और न्यायकुमुदचन्द्र, गद्यकथाकोश, पुष्पदन्तके महापुराण पर टिप्पण तथा समाधितत्र टीकाकी रचना जयसिंह देवके राज्यमें की थी।

अत भोज राजाके राज्यकालमें द्रव्य सग्रह रची जा चुकी थी यह निश्चित है। ब्रह्मदेवके अनुसार भोज राजाके राज्यकालमें ही द्रव्यसग्रहकी रचना हुई है।

अव देखना यह है कि राजा भोजके समयमें कोई नेमिचन्द्र सैद्धान्ती नामके विद्वान् हुए है या नही ?

मुख्तार माहवने लिखा है कि—'एक आचार्य नेमिचन्द्र ईसाकी ग्यारहवी शताव्दीमें हुए है जो वसुनन्दि सैद्धान्तिकके गुरू थे और जिन्हें वसुनन्दि श्रावकाचारमें जिनागमरूपी समुद्रकी वेला तरगोमे धूयमान ओर सम्पूर्ण जगतमें विख्यात लिखा है। आश्चर्य तथा असभव नही जो ये ही नेमिचन्द्र द्रव्यसग्रहके कर्ता हों, परन्तु यह वात अभी निश्चित रूपसे नही कही जा सकती, आदि। (पुरा० जै० वा० सू०, प्रस्ता० पृ० ९४)।

इस सम्वन्धमें उल्लेखनीय वात यह है कि इन नेमिचन्द्रके गुरूका नाम नयनन्दि[1] है। इन नयनन्दिने अपभ्रशभाषामें सुदर्शन चरित नामका ग्रन्थ रचा है उसकी अन्तिम प्रशस्तिमें लिखा है कि इस ग्रन्थकी रचना विक्रम सम्वत् ११०० में धारा नरेश भोजदेवके समयमे हुई है। नयनन्दि माणिक्यनन्दिके शिष्य थे। इन्ही माणिक्यनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र थे और उन्होंने अपने गुरूके द्वारा रचित परीक्षामुखसूत्रो पर प्रमेयकमल मार्तण्ड नामक ग्रन्थ रचा था। ये ही प्रभाचन्द्र

१ देखो, अनेकान्त, वर्ष ८, कि० ८-९ मे 'आचार्य माणिक्यनन्दिके समय पर अभिनव प्रकाश' शीर्षक लेख।

द्रव्यसग्रहकी वृत्तिके रचयिता है। यदि द्रव्यसंग्रह प्रभाचन्द्रके गुरुभाई नयनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्रकी रचना है तो कहना होगा कि नेमिचन्द्रने अपने गुरु नयनन्दिके द्वारा रचित सुदर्शनचरित के समकाल में ही द्रव्यसग्रहकी रचना कर डाली थी, तभी तो प्रभाचन्द्र उसकी वृत्ति रच सकते हैं। यद्यपि ऐसा होना असभव नहीं है तथापि अपने शिष्य तुल्य नेमिचन्द्रके द्वारा रचित द्रव्यसग्रह पर प्रभाचन्द्रके द्वारा वृत्तिका रचा जाना और द्रव्यसग्रहके रचयिताके लिये महामुनि सैद्धान्तिक जैसे विशेपणोका प्रयोग किया जाना चित्तको लगता नही है। और उक्त विप्रतिपत्तियोके होते हुए भी यही सन्देह होता है कि द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचद्र प्रसिद्ध सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ही तो नही है। ऐसा न होने पर भी उनके समकालमें द्रव्यसंग्रहका रचा जाना सभव है।

प्रभाचन्द्र कृत तत्त्वार्थवृति टिप्पण[1]

विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके उत्तरार्धमें [2]प्रभाचन्द्र नामके एक महान् ग्रन्थकार हो गये है। इन्होंने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख सूत्रों पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक और अकलकदेवके लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र नामके महान दार्शनिक ग्रन्थोकी रचना की है। इसीसे 'प्रथित तर्क[3] ग्रन्थकार' के रूपमें उनको प्रसिद्धि है। उनके गुरुका नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक था। प्राय अपनी प्रत्येक रचनाके अन्तमें उन्होंने अपने गुरुका नाम स्मरण किया है।
यह धारा नगरीके निवासी थे प्रमेयकमल[4] मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द[5] आदि

---

१ अनेकान्तके प्रथम वर्पकी चौथी किरणमें 'पुरानी वातोकी खोज' के अन्तर्गत प० जुगुल किशोरजी मुख्तारने इसका सवप्रथम परिचय दिया था। हमें इसकी एक प्रति पं० परमानन्दजी दिल्लीके द्वारा अवलोकनार्थ प्राप्त हुई थी जो उन्होंने सहारनपुरके लाला जम्बूप्रसादजीके मन्दिरके भाण्डारकी प्रतिसे की है। अब यह भ० ज्ञानपीठसे सर्वार्थसिद्धिके साथ प्रकाशित हो गया है।

२. इनके सम्बन्धमें विशेप रूपसे जाननेके लिये न्यायकुमुदचन्द्रके दोनो भागो की प्रस्तावना देखना चाहिये।

३ 'शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्राख्यो मुनिराज पण्डितवर'—श्रव० शिला० न० ४० (६४)।

४. 'श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद् धारानिवासिना श्रीमत्प्रभाचन्द्र पण्डितेन परीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।'

५. 'श्री जयसिंह देवराज्ये श्रीमद्धारा निवासिना श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन न्यायकुमुदचन्द्रो "कृत.।'

के अन्तमें पाये जाने वाले प्रशस्ति वाक्योंमें इस बातका स्पष्ट निर्देश है। तथा जयसिंह देव और भोजदेवके राज्यका भी निर्देश है। परमार राजा भोजदेवका राज्यकाल वि० स० १०७६ से वि० १११२ तक माना जाता है क्योकि भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंहका वि० स० १११२ का दानपत्र मिला है। इन प्रभाचन्द्रने अनेक छोटे-बडे ग्रन्थोंकी रचना की है। उनमेंसे एक 'तत्त्वार्थ वृत्ति पद' नामका छोटा सा किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी है। इसमें पूज्यपादकी सर्वार्थ-सिद्धि नामक तत्त्वार्थ वृत्ति के अप्रकाशित पदोको व्यक्त किया गया है। यह बात इसके आद्य मंगल श्लोकसे भी प्रकट होती है। यथा—

'सिद्ध जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोध
त्रैलोक्यवद्यमभिवंद्य गतप्रबन्धम्।
दुर्वारदुर्जयतम प्रति भेदनार्कं
तत्त्वार्थवृत्तिपदमप्रकट प्रवक्ष्ये॥'

ग्रन्थके अन्तमें प्रशस्ति भी है, जो इस प्रकार है—

ज्ञानस्वच्छजलस्सुरत्ननिचयश्चारित्रवीचिचय
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधि श्रीपद्मनन्दिप्रभु।
तच्छिष्यान्निखिलप्रबोधजनक (न) तत्त्वार्थवृत्ते पद
सुव्यक्त परमागमार्थविषय ज्ञातं (जात) प्रभाचन्द्रत॥
श्री पद्मनन्दि सैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालय।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् पादपूज्यपदे रत॥
मुनीन्दुर्नन्दितादिदन्निजमानन्दमन्दिरम्।
सुधाधारोद्गिरन्मूर्ति काममामोदयज्जनम्॥

इस प्रशस्तिका प्रथम श्लोक न्यायकुमुद चन्द्र प्रशस्तिके चतुर्थ श्लोकसे मिलता हुआ है और दूसरा श्लोक प्रमेयकमल मार्तण्डकी प्रशस्तिके चतुर्थ श्लोक जैसा ही है, केवल अन्तिम चरणमे अन्तर है। चूंकि प्रमेयकमल माणिक्यनन्दिके सूत्र ग्रन्थकी व्याख्या है। अत उसमें चतुर्थ श्लोकका अन्तिम चरण 'रत्ननन्दि पदेरत' है और तत्त्वार्थवृत्ति पूज्यपादकी रचना है। अत उसके दूसरे श्लोकका अन्तिम चरण 'पादपूज्यपदे रत' है।

इस प्रशस्तिसे यह सिद्ध है कि 'तत्त्वार्थ वृत्तिपद' उन्ही प्रभाचन्द्रका है। जिन्होंने उक्त दो महान ग्रन्थोकी रचना की थी। ऐसे महान् दार्शनिक ग्रन्थोके रचयिताके द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रपर स्वकीय वृत्ति न लिखकर सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थ वृत्तिके अप्रकटित पदोंको स्पष्ट करनेकी बातसे कुछ लोगोंको आश्चर्य हो सकता है। किन्तु प्रभाचन्द्र जैसे मनीषी ग्रन्थकारके द्वारा पिष्टपेषणका कार्य

सभव नही था। तत्त्वार्थ सूत्र पर पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि, अकलक देवके तत्त्वार्थ वार्तिक और विद्यानन्दिके तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक जैसी महान टीका ग्रन्थोके होते हुए उस पर एक नई टीका लिखनेमे उक्त टीकाकारोके द्वारा कही हुई वातोको ही प्रकारान्तरसे कहना पडता, जैसा कि पीछेके अन्य टीकाकारोको कहना पडा है। अत प्रभाचन्द्रने सर्वार्थसिद्धिके अप्रकटित पदोको स्पष्ट करके उचित किया है। वास्तवमें मर्वार्थसिद्धिके अनेक पद वहुत गूढ है और उनके स्पष्टीकरणके लिये इस प्रकारके एक टिप्पण ग्रन्थकी आवश्यकता थी। अपभ्रंग भाषाके महाकवि पुष्पदन्तकृत महापुराण पर भी उन्होंने इस प्रकारका एक टिप्पण ग्रन्थ रचा है जो उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा गुणग्राहकताका परिचायक है।

फिर तत्त्वार्थ वृत्तिके अप्रकाशित पदोंको स्पष्ट करने वाला यह छोटा सा ग्रन्थ मात्र टिप्पण ग्रन्थ ही नही है, किन्तु उसके द्वारा अनेक सैद्धान्तिक गुत्थियो पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश भी डाला गया है और उससे यह प्रकट होता है कि पद्मनन्दिके शिष्य दार्शनिक प्रभाचन्द्र जैन सिद्धान्तके भी पूर्ण मर्मज्ञ थे। इसीसे उनका यह ग्रन्थ भी अनेक आगमिक ग्रन्थोके उद्धरणोसे भरा हुआ है। जिनकी सख्या ५० से ऊपर है और जिनमें कसाय पाहुड जैसे सिद्धान्त ग्रन्थ तकको गाथा वर्तमान है। कई उद्धृत गाथाएँ ऐसी भी है जो उपलब्ध ग्रन्थोमें नही पाई जाती।

सर्वार्थसिद्धिमें सवसे विस्तृत व्याख्या सत्सख्या' आदि सूत्रकी है, उसमें पट्खण्डागमके अन्तर्गत अनुयोगद्वारोके आधार पर सैद्धान्तिक विवेचन है। प्रभाचन्द्रके इस तत्त्वार्थवृत्ति पदके भी फुलिस्केप आकारके ३३ पृष्ठोमेंसे एक चतुर्थांश पृष्ठ उक्त सूत्रकी टीकासे सम्वद्ध है। और उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक चर्चाएँ भी है। प्रत्येक अध्यायके टिप्पण जुदे-जुदे हैं और तत्त्वार्थसूत्रके सम्वद्ध सूत्रका निर्देश करके टिप्पण दिया गया है जिससे उसे खोजनेमें कठिनाई नही होती। प्रत्येक अध्यायके टिप्पणकी समाप्तिपर तत्त्वार्थसूत्रकी तरह ही अध्यायकी समाप्तिका सूचक सन्धिवाक्य दिया हुआ है यथा 'इति प्रथमोध्याय समाप्त।'

इस टिप्पणमें आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गोम्मटसार ग्रन्थसे अनेक गाथाएं उद्धृत हैं। तथा अमितगतिके सस्कृत पञ्चसग्रहका भी एक श्लोक उद्धृत है। अमितगतिने अपना पचसग्रह वि० स० १०७३ में समाप्त किया है। अत उसके पश्चात् ही प्रभाचन्द्रने यह टिप्पण रचा है। आचार्य नेमिचन्द्र और अमितगति दोनों विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके विद्वान् थे और प्रभाचन्द्र अमितगतिके लघु समयकालीन थे।

प्रभाचन्द्रकृत टीकात्रय

कुन्दकुन्दके प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और समयसार पर भी प्रभाचन्द्रकृत टीकाएं उपलब्ध हैं , किन्तु अभी तक उनका प्रकाशन नही हुआ है । प्रवचनसार पर उपलब्ध टीकाका नाम 'प्रवचनसार सरोज[1] भास्कर' है । ग्रन्थकी अवान्तर सन्धियोमें तथा अन्तमें यह नाम पाया जाता है । यथा—इति श्री प्रभाचन्द्र विरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुद्धोपयोगाधिकार समाप्त ।' इसी तरह पञ्चास्तिकायकी टीकाका नाम पञ्चास्तिकाय प्रदीप है । यथा—'इति श्री प्रभाचन्द्र विरचिते पञ्चास्तिकायप्रदीपे मोक्षमार्गनवपूदार्थचूलिकाधिकार समाप्त ।'

इन तीनो ही टीकाओमें गाथाओका केवल शब्दार्थरूप व्याख्यान है और समयसारकी टीकाके एक अन्तिम पद्यमें 'व्याख्यात स परिस्फुटामलदया शब्दार्थतो निर्मल ' लिखकर यह बात व्यक्त भी कर दी है । इस व्याख्यानसे गाथाके प्रत्येक शब्दका अर्थ स्पष्ट हो जाता है । अमृतचन्द्रकी टीकामें शब्दार्थरूप व्याख्यान नही है अत उसके पढनेसे यद्यपि कुन्दकुन्दका हार्द स्पष्ट हो जाता है तथापि गाथागत प्रत्येक शब्दका अर्थ स्पष्ट नही होता । सम्भवतया उसी कमीकी पूर्तिके लिये प्रभाचन्द्रने तीनो टीकाओंकी रचना की है । इसीसे उनकी टीकाओंमें लम्बे चौडे वर्णनात्मक वाक्य नही हैं केवल खण्डान्वय रूपसे गाथाका व्याख्यान मात्र है । किन्तु जहाँ कही दार्शनिक चर्चा आई है वहाँ बराबर दार्शनिक प्रभाचन्द्रकी दार्शनिक शैलीका ही दर्शन होता है । इसका निर्देश आगे किया जायेगा ।

अमृतचन्द्र तथा जयसेनकी टीकाओके साथ तुलना करनेसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ अमृतचन्द्रकी टीकाका प्रभाव प्रवचन सरोज भास्कर वगैरह पर है, वहाँ प्रभाचन्द्रकी टीकाओका प्रभाव जयसेनकी टीकाओ पर है । किन्तु प्रभाचन्द्रके द्वारा स्वीकृत गाथाओंका परिमाण न तो अमृतचन्द्रसे ही मेल खाता है और न जयसेनसे ही । अमृतचन्द्रके द्वारा स्वीकृत गाथाओसे प्रभाचन्द्रके द्वारा

---

१ इन टीकाओकी एक प्रति हमें जयपुरस्थ श्री महावीर अतिशय क्षेत्रके अनुसन्धान विभागसे प० कस्तूरचन्दजी काशलीवाल द्वारा प्राप्त हुई थी जिसमेंसे प्र० स० भा० की प्रति १५७७ स० की लिखी हुई है । समयसार की टीकाकी प्रति हमने मैनपुरीके एक मन्दिरमें देखी थी ।

स्वीकृत गाथाओकी सख्या जयसेनकी तरह अधिक होने पर भी एकान्तत. जयसेनमे मेल नही खाती ।

प्रभाचन्द्रकृत द्रव्यसग्रहवृत्ति[1]

प्रभाचन्द्रने द्रव्यसग्रह पर भी एक वृत्ति बनाई है और यह वृत्ति बिल्कुल उसी शैलीमें रची गई है जिस शैलीमें उक्त तीनो वृत्तिया रची गई हैं। अर्थात् प्रत्येक गाथाका खण्डान्वयके साथ सस्कृतमें शब्दार्थ मात्र दिया है और यत्र-तत्र आवश्यकताके अनुसार कुछ विशेष कथन भी किया गया है। इसमें भी अन्य ग्रन्थोंमे उद्धरण स्वल्प हैं। एक उद्धरण 'णिज्जिय सासो' आदि गाथा ५६ तथा ४७ की टीकामें है जो द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र तथा पाहुडदोहामें पाया जाता है। गाथा १० की टीकामें समुद्घातका लक्षण गो० जीवकाण्डमे दिया गया है। इसके सिवाय दो श्लोक भी उद्धृत है जिनका स्थल ज्ञात नही हो सका। इस टीकामें विशेष बात यह है कि टीकाके मंगल श्लोककी भी टीकाकी गई है। ऐसा क्यो किया गया यह समझमें नही आया।

अब विचारणीय यह है कि ये चारो टीकाएँ किस प्रभाचन्द्रके द्वारा रचित हैं, क्या न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेय कमल मार्तण्डके रचयिता प्रख्यात प्रभाचन्द्रने ही इन्हें रचा है अथवा किसी अन्य प्रभाचन्द्रकी ये कृतियाँ हैं। इस प्रश्नके उपस्थित होनेका कारण यह है कि इन तीनो टीकाओंमें प्रभाचन्द्रने अपने सम्बन्धमें कुछ भी नही लिखा। न्याय कुमुद चन्द्र वगैरहके कर्ता प्रभाचन्द्रने अपनी कृतियोंमें प्राय अपनेको पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका शिष्य बतलाया है। 'तत्त्वार्थ वृत्ति पद' जैसे टिप्पण ग्रन्थ तकके अन्तमें उन्होने अपने गुरु पद्मनन्दिका निर्देश किया है। किन्तु इन तीनों टीकाओमे ऐसा कोई निर्देश नही हैं।

श्रुत मुनिने अपनी प्राकृत भाव त्रिभंगीकी प्रशस्तिमें कहा है कि बालचन्द्र मेरे अणुव्रत गुरु हैं, अभयचन्द्र सिद्धान्ती मेरे महाव्रत गुरु है, तथा अभय और प्रभाचन्द्र मेरे शास्त्रगुरु है। इसी प्रशस्तिके अन्तमें उन्होने प्रभाचन्द्र मुनिको सारत्रय[2] निपुण (प्रवचनसार, समयसार और पञ्चास्तिकायमे निपुण) शुद्धात्मरत, विरहित परभाव आदि कहा है। डॉ० उपाध्ये[3] इन्ही प्रभाचन्द्रको उक्त तीनों टीकाओका कर्ता बतलाते है। और चूकि श्रुत मुनिने अपने परमागमसारमें उसका

---

१. इस वृत्तिकी एक प्रति आमेरके शास्त्रभण्डारसे हमे देखने को मिल सकी।

२. 'वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहिय परभावो।
भवियाण पडिवोहणपरो पहाचंदणाम मुणी ॥'

३ प्रव० सा० की अग्रेजी प्रस्ता०, पृ० १०८।

रचना काल शक स० १२६३ (वि० सं० १३९८) दिया है अत डॉ० उपाध्ये इन टीकाओंका रचना काल ईसाकी १४वी शतीका प्रथम चरण वतलाते है।

किन्तु स्व० पं० महेन्द्र कुमारजी[1] न्यायाचार्यने प्रवचन सरोज भास्करको न्याय कुमुद चन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्रकी ही कृति माना है, और श्री युत नाथूरामजी[2] प्रेमी तथा पं० परमानन्दजीका[3] भी यही मत हैं। और हम भी इसी मतसे सहमत हैं। कारण नीचे दिये जाते है।

१. प्रवचनसारसरोजभास्कर नाम न्याकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, शव्दाम्भोजभास्कर जैसे नामोका ही वशज प्रतीत होता है। ये तीनों ग्रन्थ निश्चित रूपसे पद्मनन्दिसैंद्धान्तिकके शिष्य प्रभाचन्द्र रचित हैं।

२ प्रवचनसार स० भास्करमे ही नहीं, किन्तु चारो टीकाओमें ग्रन्थान्तरोसे उद्धृत पद्योंकी सख्या अत्यन्त सीमित है, फिर भी प्र० भास्करमें जो दो चार उद्धरण हैं वे दार्शनिक है। यथा—'नाशोत्पादी मम यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयो ' 'अनेन पुरुषप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यमित्युक्तम्'। श्रुतमस्पष्टतर्कणम् इत्यभिधानात्।

ये अवतरण उनके अन्य ग्रन्थोमें भी पाये जाते है। व्याख्याशैलीमें भी दार्शनिकताकी पुट है। यथा --

'ननु चात्मा परिणाम्येवात कि तत्र परिणामप्रसाधनप्रयासेनेति साख्या। परिणाम एव वा न ततोऽर्थान्तरात्मेति वौद्धास्तान्प्रत्याह—(गाथा १०)

'यदि हि द्रव्य स्वय सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मक सत्तात पृथक् वा ? तत्राद्य पक्षो न भवति, यदि सत् सद्रूप द्रव्य न भवति तदा असत् असद्रूप ध्रुव निश्चयेन तत् भवति। कथ केन प्रकारेण द्रव्य खरविषाणवत्। 'हवदि पुणो अण्ण वा'। अथ सत्तात पुनरन्यद्वा पृथक् भूत वा द्रव्य भवति तदा तत पृथग्भूतस्यापि सत्वे सत्ताकल्पना व्यर्था। सत्तासम्वन्धतस्तत्सत्वे चान्योन्याश्रय —सिद्धे हि तत्सत्वे सत्तासम्वन्धसिद्धि तस्य व सत्व च (?) सिद्धौ सत्या तत्सत्वसिद्धिरिति। तत्सत्वसिद्धिमन्तरेणपि सत्तासम्वन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसग। तस्मात् द्रव्य स्वयं सत्ता—स्वयमेव सद्रूपमभ्युपगन्तव्य न पुन सत्तात पृथग्भूत—।' (गा० २।१२)

यह शैली वरावर पद्मनन्दि शिष्य दार्शनिक प्रभाचन्द्रकी है। पञ्चास्तिकाय प्रदीपमें भी इस प्रकारकी शैलीके दर्शन होते हैं। यथा—

---

१ न्या० कु० च०, भाग २ की प्रस्ता०, पृ० ६३।

२ जै० सा० इ०, पृ० २९०।

३ जै० ग्र० प्र० स० की प्रस्ता०, पृ० ६४ आदि।

'जीवो ति हवदि चेदा ' '। उवओगविसेसिदो—ज्ञान दर्शन लक्षणोपयोगेन विशिष्ट । अनेन प्रकृतिगुणा ज्ञानादय इत्यपारा (–पास्त) मोक्षे ज्ञानाद्यभाव इति च। प्रभु शुद्धाशुद्ध-परिणाम-प्रसाधन-स्वतत्र । अनेन ईश्वरप्रेरितो गच्छेन् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा' इति निरस्तं। कर्ता—कर्मणा तन्निमित्तात्मपरिणामाना च विधायक । इत्यनेन प्रकृतेरेव कर्मकर्तृत्व नात्मन इत्येकान्तो निरस्त । " देहमेत्तो—नामकर्मवशादुपात्ताणुमहच्छरीरप्रमाणो न नोनाऽम्यधिक'। अनेन आत्मन सर्वगतत्व च कणिकादिप्रमितत्व निरस्तं।

द्रव्यसग्रहकी 'जीवो उवओगमओ' आदि दूसरी गाथाकी टीका भी उक्त टीकासे अक्षरश मिलती है। जिससे यह स्पष्ट रूपसे प्रमाणित होता है कि दोनो टीकाओके रचयिता एक ही प्रभाचन्द्र है। यथा—

'जीवस्य स्वरूपमाह—जीवो उवओगमओ। जीव अस्ति चेतनालक्षण स्वरूपवेदक । तथा उवओगमओ-उपयोगमय ज्ञानदर्शनमयोपयोगेन युक्त । अनेन प्रकृतिगुणा ज्ञानादय इत्यपास्त मोक्षे ज्ञानाद्यभाव इति च । तथा कत्ता-कर्ता, केपा ? कर्मणा तन्निमितात्मपरिणामाना च कर्ता, अनेन प्रकृतेरेव-कर्मकर्तृत्व नात्मन इत्येकान्तो निरस्त । तथा सदेहपरिमाणो नामकर्मोदयवशा-दुपात्ताणुमहच्छरीरपरिमाणो न न्यूनो नाप्यधिक । अनेनात्मन सर्वगतत्वं वटकणिकामात्रत्वं च प्रत्याख्यात ।'

अत ये चारो टीकाएँ एक ही प्रभाचन्द्रकी कृति है और वह प्रभाचन्द्र प्रसिद्ध दार्शनिक ही प्रतीत होते है। उनके तत्त्वार्थ वृत्तिपदमें गोमट्टसारकी अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं, द्रव्यसंग्रह वृत्तिमें भी समुद्धातके लक्षणवाली एक गाथा उद्धृत पाई जाती है जो जीवकाण्ड की है और एक गाथा द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र की है। ये दोनो ग्रन्थकार दार्शनिक प्रभाचन्द्रके पूर्वज हैं। ऐसा एक भी उद्धरण इन टीकाओंमें नही है जो प्रभाचन्द्रके समयके पश्चात्का हो। अत उन्हें दार्शनिक प्रभाचन्द्रकी कृति माननेमें कोई विरोध नही है।

आचार्य नरेन्द्रसेन और उनका सिद्धान्तसार[1] सग्रह

अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारकी शैली पर आचार्य नरेन्द्रसेनने सिद्धान्तसार सग्रह नामका ग्रन्थ रचा है। किन्तु शैलीमें समानता होते हुए भी दोनोंके नामोंके अनुरूप ही दोनोमें अन्तर है। तत्त्वार्थसारमें तत्त्वार्थ सूत्र और उसके टीका

१ सिद्धान्तसार सग्रह नामक ग्रन्थ जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे वि० सं० २०१३ में प्रथमवार प्रकाशित हुआ है। इसमें मूलके साथ हिन्दी अनुवाद भी है।

ग्रन्थोका सारमात्र है तथा उसका विषयानुक्रम भी तत्त्वार्थ सूत्रके अनुसार ही है। किन्तु सिद्धान्तसार संग्रहमें तत्त्वार्थ सूत्र और उसके टीका ग्रन्थोंका ही सार नही है वल्कि कुछ अन्य विपयोकी भी प्रासागिक चर्चाएँ हैं। तथा विपयानुक्रम भी भिन्न है। अत तत्त्वार्थसारकी तरह उसका सिद्धान्तसार सग्रह नाम सार्थक है।

किन्तु 'सिद्धान्तसार सग्रह' नाम केवल ग्रन्थकी पुष्पिकाकोमें ही पाया जाता है मूलग्रन्थमें नही। ग्रन्थका प्रारम्भ करते हुए तो ग्रन्थकारने 'तत्त्वार्थसग्रह वक्ष्ये' लिखकर तत्त्वार्थ संग्रहको रचनेकी प्रतिज्ञा की है। और यथार्थमे वही ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थमें कुछ अन्य विपयोका भी समावेश कर देने पर उसका नाम सिद्धान्तसार सग्रह रख दिया गया, जो 'तत्त्वार्थ संग्रह' नाममे व्यापक अर्थको लिये हुए है।

तत्त्वार्थसारकी तरह ही पूरा ग्रन्थ संस्कृत भापाके अनुष्टुप् श्लोकोमें निवद्ध है। केवल प्रत्येक अध्यायके अन्तमें अन्य छन्दोंमें रचित सस्कृत पद्य दिये गये है। श्लोकोकी रचना सरल और सुस्पष्ट है। विपयका प्रतिपादन भी सरल और सुस्पष्ट रीतिसे किया गया है।

विषय परिचय—

समस्त ग्रन्थ वारह अध्यायोंमें विभाजित है। पहले अध्यायमें सम्यग्दर्शनका निरूपण है। सम्यग्दर्शनका लक्षण समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी अनुकृति पर रचा गया प्रतीत होता है। यथा—

'सदृष्टिज्ञानसद्वृत्तरत्नत्रितयनायकं ।
कथित परमो धर्म कर्मकक्षक्षयानल ॥३३॥
श्रद्धान शुद्धवृत्तीना देवतागमलिङ्गिनाम् ।
मौढ्यादिदोषनिर्मुक्त दृष्टि दृष्टिविदो विदु ॥३४॥ सि० सा० स० ।

× × ×

'सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदु ।

× × ×

त्रिमूढापोढमष्टाग सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥' र० श्रा० ।

ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थके आदिमें स्वामी [1]समन्तभद्रके वचनोको भी मनुष्य

१ 'श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् । प्राणिना दुर्लभ यद्वन्मानुषत्व तथा पुन ॥११॥' अ० १ ।
'श्रीमत्समन्तभद्रादिगणेशै' 'श्रीमत्सामन्तभद्र वचनमिति वुध'।
—अ० ९१ सि० सा० स० ।

जन्मकी तरह दुर्लभ बतलाया है। तथा अन्यत्र भी उनका आदरपूर्वक स्मरण किया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारकी उनके प्रति गहरी आस्था थी।

मिथ्यादृष्टियोका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने गोपूजा, पीपल वृक्षकी पूजा आदि मिथ्या क्रियाओंका निर्देश किया है। (अ० १, श्लो० ४२-४३)। भाव सग्रह (गा० २६३) में जो सम्यग्दर्शनके सवेग निर्वेद आदि आठ गुण बतलाये है। उन आठोंके लक्षण भी इस ग्रन्थमें दिये गये हैं। मुनियोंमें दोष देखनेवालों-की भी निन्दा की गई है (श्लो० ८४-८६)। सम्यग्दर्शनके प्रकरणमें ये बातें विशेष हैं।

दूसरे अध्यायमें सम्यग्ज्ञानका वर्णन है। इसके प्रारम्भमें ही ज्ञानको प्रमाण मानकर सन्निकर्ष आदिको प्रमाण माननेवाले नैयायिक आदिके मतोंकी आलोचना की गई है। मतिज्ञानके भेद-प्रभेदोंका वर्णन करते हुए बुद्धिऋद्धिके भेदोंका भी स्वरूप बतलाया गया है (३४-४३ श्लो०)। श्रुतज्ञानके वर्णनमें द्वादशागके भेद-प्रभेदोंका, तथा अगवाह्यके भेदोंका स्वरूप बतलाया है। उसमें धवला जयधवलामें बतलाये हुए स्वरूपसे कहीं कुछ अन्तर भी है। जैसे, दशवैकालिकका स्वरूप बतलाते हुए लिखा[1] है। द्रुम पुष्पित आदि दस अधि-कारोंके द्वारा जिसमें साधुओंके आचरणका वर्णन हो वह दशवैकालिक है। वर्तमान श्वेताम्बरपरम्परा मान्य दशवैकालिकमें द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्याय हैं।

श्रुतज्ञानके पर्याय पर्यायसमास आदि बीस भेदोंका भी कथन किया गया है। शेष ज्ञानोका वर्णन तो तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ वार्तिकके अनुसार ही किया गया है।

तीसरे अध्यायमे चारित्रका वर्णन है। अहिंसा आदि व्रतोंके वर्णनमे ग्रन्थकार-ने अमितगतिके श्रावकाचारका अनुकरण किया जान पडता है। तुलनाके लिये एक श्लोक नीचे दिया जाता है।

यो यस्य हरते वित्त स तज्जीवितहृन्नर ।
वहिरङ्ग हि लोकाना जीवितं वित्तमुच्यते ॥५४॥—सि० सा० स०।

× × ×

यो यस्य हरति वित्त स तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।
आश्वासकर वाह्यं जीवाना जीवितं वित्तम् ॥६१॥—अमि० श्रा० ६ परि०।

---

१ द्रुमपुष्पितपूर्वैयद्दशभिस्त्वधिकारकै । सूचकं साधुवृत्ताना दशवैकालिक मतं ॥१४१॥'
—सि० सा० स०, अ० २।

स्तेय और परिग्रह का लक्षण बतलाने वाले सूत्रों (७-१५, १७) की व्याख्या में सर्वार्थसिद्धिमे जो शका समाधान किया गया है, उसे भी ग्रन्थकारने ज्यो का त्यो अपना लिया है।

तीसरे अध्यायमें अहिंसा आदि व्रतो का सामान्य कथन करके चौथे अध्यायमें उसके अणुव्रत और महाव्रत भेदोका निर्देश मात्र करके ग्रन्थकारने मिथ्यात्व नामक शल्य का कथन करने के व्याजसे अनेक दार्शनिक मन्तव्योंकी चर्चा विस्तार से की है। आत्माकी नित्यता तथा क्षणिकता, बौद्धोंका शून्यवाद, चार्वाकका जडवाद, साख्यमत, मीमासकोका सर्वज्ञाभाववाद, वेदकी अपौरुषेयता, और जगत् कर्तृत्ववादका निराकरण करनेके साथ ग्रन्थकारने श्वेताम्बरोके केवली कवलाहारवाद और स्त्री मुक्तिवाद की भी आलोचना की है। इस तरह यह अध्याय केवल दार्शनिक चर्चाओं से भरा है।

पाँचवे अध्यायसे जीवादि तत्त्वोका वर्णन प्रारम्भ होता है। जीवका स्वरूप बतलाते हुए उसे कर्ता, अमूर्त, भोक्ता, स्वदेह प्रमाण, उपयोगमय, ससारी और ऊर्ध्वगामी बतलाया है। (श्लो० १९)। और लिखा है कि भाट्ट और नास्तिक जीवको मूर्त मानते हैं इस लिये अमूर्त कहा है (२०)। योग शुद्ध चैतन्यमय मानते है इस लिये उपयोगमय कहा है (२२)। साख्य जीवको अकर्ता मानता है इस लिये कर्ता पद दिया है (२१) योग भाट्ट और साख्य जीवको व्यापी मानते है इसलिये स्वदेह प्रमाण कहा है, इत्यादि। आगे त० सू० के दूसरे अध्यायके टीका ग्रन्थोके अनुसार सब कथन किया गया है। त० सू० के प्रथम अध्यायमें चार निक्षेपोंका कथन है। यहाँ श्लो० १०३—१०७ में उसको स्थान दिया गया है।

छठें अध्यायमें नरक लोक का, सातवें मे मध्यलोकका, और आठवेंमें देव-लोकका वर्णन है। नौवें अध्यायमें अजीव, आस्रव, और बन्ध तत्त्वका वर्णन है। दसवें अध्यायमें निर्जरा तत्त्वका वर्णन करते हुए तपके वर्णनके प्रसगसे प्रायश्चित्त का वर्णन बहुत विस्तारसे किया है जो अन्यत्र हमारे देखनेमें नही आया। वही इस अध्यायका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। ग्यारहवें अध्यायमें विनयतपसे लेकर ध्यान तप का वर्णन है। और बारहवें अध्यायमें मरणके भेदोंका तथा समाधि मरणका वर्णन भगवती आराधनाके अनुसार किया है और 'आराधनामहाशा-स्त्रवाचनादत्तमानसै' लिखकर उसका निर्देश भी कर दिया है।

इस तरह तत्त्वार्थसारसे इसमें अधिक विषयोका प्रतिपादन है। और तत्त्वार्थ-सारमें चर्चित विषयोका प्रतिपादन भी कही-कही विशेष विस्तार से किया है। साराश यह है कि अपने पूर्वज अनेक ग्रन्थकारोकी रचनाओंका उपयोग इस ग्रन्थमें

यथास्थान अच्छी तरह से किया गया है और इस प्रकार इसे सार्थक नाम सिद्धान्तसार संग्रह दिया है।

इस ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारने अपनी प्रशस्ति दी[1] है। उससे ज्ञात होता है कि लाट वागट संघमें धर्मसेन नामक दिगम्बर मुनिराज हुए। उनके पश्चात् क्रमसे शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन, जयसेन ब्रह्मसेन और वीरसेन हुए। वीरसेनके शिष्य गुणसेन हुए। और गुणसेनके शिष्य नरेन्द्रसेन आचार्य हुए। उन्होंने इस ग्रन्थ को रचा।

श्री जयसेन सूरिने धर्मरत्नाकर नामक ग्रन्थ रचा है जो अभी प्रकाशित हुआ है। इसकी अन्तिम[2] प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि वह भी लाटवागड संघके थे। तथा उन्होंने अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन और जयसेन। यह गुरु परम्परा नरेन्द्रसेनके द्वारा प्रदत्त गुरु परम्परा से बिल्कुल मिलती है।

अत नरेन्द्रसेन धर्मरत्नाकरके कर्ता श्रीजयसेनके ही वंशज थे। जयसेनने धर्मरत्नाकरकी[3] प्रशस्तिके अन्तमें उसका रचनाकाल वि० स० १०५५ दिया है। जयसेन और नरेन्द्रसेनके मध्यमें ब्रह्मसेन, वीरसेन और गुणसेन नामके तीन आचार्य और हुए हैं। नरेन्द्रसेनने अपने ग्रन्थके मध्यमें भी दो स्थानो पर वीरसेनका[4] स्मरण किया है और अपनेको वीरसेनसे 'लब्ध प्रसाद' कहा है। अत

१ 'श्री धर्मसेनोऽजनि तत्र सघे॥ तस्माच्छ्री शान्तिषेण समजनि ॥ ''श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत् स तस्मात् ॥९०॥ श्रीभावसेनस्तत ॥९१॥ ख्यात स्तत श्रीजयसेन नामा ॥ पट्टे श्रीजयसेननाम सुगुरो श्रीब्रह्मसेनोऽजनि ॥९२॥ तस्मादजायत गुणी कवि वीरसेन ॥९३॥ श्रीवीरसेनस्य गुणादिसेनो जात सुशिष्यो गुणिना विशेष्य । शिष्यस्तदीयोजनि चारुचित्त-सद्दृष्टिचित्तोऽत्र नरेन्द्रसेन ॥ तेनेदमागमवचो विशदं निबद्धम् ॥९५॥—सि० सा० स०, अ० १२।

२ ' श्रीमान् सोऽभून्मुनिजननुतो धर्मसेनो गणीन्द्र ॥३॥ तेभ्य श्रीशान्तिषेण समजनि सुगुरु पापधूलीसमीर ॥४॥ श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत् स तस्मात् ॥५॥ श्रीभावसेनस्तत: ॥६॥ ततो जात शिष्य जयसेनाख्य इह स ।'—जै० ग्र० प्र० स०, भा० १, पृ० ४।

३ 'बाणेन्द्रियव्योमसोममिते सवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽय सिद्धता यात सकलीकरहाटके ॥'—भ० स०, पृ० २५०।

४ 'योऽभूच्छ्रीवीरसेनो विबुधजनकृताराधनोऽगाधवृत्ति ।
तस्माल्लब्धप्रसादे मयि भवतु च मे बुद्धिवृद्धौ विशुद्धि ॥'
—सि० सा० स०, पृ० २३९।

नरेन्द्रसेन वीरसेनके समयमें वर्तमान थे। और जयसेन तथा वीरसेनके मध्यमें केवल एक ब्रह्मसेन आते हैं। अत जयसेनके धर्मरत्नाकरकी समाप्तिसे अधिकसे अधिक ५० वर्ष पश्चात् वीरसेनका समय मानना अनुचित नही है। अत नरेन्द्र-सेनको विक्रमकी बारहवी शताब्दीके द्वितीय चरणका विद्वान मानना उचित है।

उनके ग्रन्थका तुलनात्मक दृष्टिसे अनुशीलन करनेसे भी यही समय समुचित प्रतीत होता है।

१ अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारसे नरेन्द्रसेनको सिद्धान्तसार रचनेकी प्रेरणा मिली यह बात दोनो ग्रन्थोके नाम तथा अन्त परीक्षणसे स्पष्ट है। नरेन्द्रसेनके पूर्वज जयसेनने तो अपने धर्मरत्नाकरमें अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्ध्युपायके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। नरेन्द्रसेनने ऐसा तो नही किया। किन्तु अपने सिद्धान्तसारमें प्रकारान्तरसे तत्त्वार्थसारको अपना लिया है।

२ अमितगतिके श्रावकाचारका प्रभाव सिद्धान्तसार पर है यह हम पीछे एक उदाहरण देकर बतला आये हैं। ऐसे उदाहरण अनेक है।

सि० सा० के चौथे अध्यायमें जो निदानके प्रशस्त और अप्रशस्त भेदोका कथन किया है वह अमितगतिका ही अक्षरश ऋणी है। अमि० श्रा०, अ० ७ के श्लोक २०-२२ का तथा सि० सा० अ० ४ के श्लो० २४६ ५० मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। अमितगति माथुरसघके आचार्य थे। काष्ठासघमे नन्दितट, माथुर, बागड और लाटवागड यह चार प्रसिद्ध गच्छ थे। ऐसा सुरेन्द्र-कीर्तिरचित पट्टावलीमें[1] लिखा है। अत अमितगति और नरेन्द्रसेन दोनो काष्ठासघी थे। अमितगतिने अपना सुभापितरत्न सदोह वि० स० १०५० में रचा था। अर्थात् वह धर्मरत्नाकरके रचयिता जयसेनके समकालीन थे।

३ नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा रचित गोम्मटसार तथा त्रिलोकसार-का भी उपयोग नरेन्द्रसेनने अपनी रचनामें किया प्रतीत होता है। उनके जीवतत्त्व विपयक वर्णनमे अनेक श्लोक उक्त ग्रन्थोके गाथासूत्रोके अनुवाद मात्र प्रतीत होते हैं। यथा—

सोहम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
लोयंतिय सव्वट्ठा तदो चुदा णिव्वुदिं जंति ॥५४८॥

---

१ 'काष्ठासघो भुविख्यातो जानन्ति नृसुरासुरा।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुता क्षितौ ॥'
'श्री नन्दितटसज्ञश्च माथुरो बागडाभिध.।
लाडवागड इत्येते विख्याता क्षितिमण्डले ॥'—जै० सा० इ०, पृ० २७७।

णरतिरियगदीहिंतो भवणतियादो य णिग्गया जीवा ।
ण लहते ते पदविं तेवट्ठिसलागपुरिसाणं ॥५४९॥—त्रि० सा०

× × ×

शक्राग्रमहिषी शक्रलोकपालामराश्च ते ।
दक्षिणेन्द्राश्च लौकान्ताश्च्युता निर्वृतिगामिन ॥१३७॥
आज्योतिष्काश्च ये देवास्तेऽनन्तरभवे न हि ।
शलाकापुरुषा ये तु केचिन्निर्वृतिगामिन ॥१३८॥–सि० सा० स० ।

इसीके आगे नरेन्द्रसेनने 'यदित्थमनुवादेन' लिखकर स्पष्ट भी कर दिया है कि उनका कुछ कथन अन्य ग्रन्थोका अनुवाद रूप है ।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती भी जयसेन और अमितगतिके लगभग गुरु समकालीन थे ।

४ सिद्धान्तसार सग्रहके चतुर्थ अध्यायमें केवली भुक्ति और स्त्रीमुक्तिका खण्डन किया गया है । जहाँ तक हम जानते हैं दि० जैन परापरामें प्रभाचन्द्राचार्यने अपने प्रमेयकमल मार्तण्डमें इन दोनोंका खण्डन किया है और उसीका अनुसरण नरेन्द्रसेनने भी किया है। प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११वी शतीके उत्तरार्धमे बारहवी शतीके पूर्वार्ध तक (वि० स० १०३७ मे ११२२ तक) निर्धारित किया है । अत नरेन्द्रसेन प्रभाचन्द्रके पश्चात् तत्काल ही हुए हैं । उनकी प्रतिष्ठातिलक नामक एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है ।

तीन अन्य सूत्रग्रन्थ

तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाने जैन साहित्यको जितना प्रभावित किया इतना किसी अन्य ग्रन्थने उसे प्रभावित नही किया । उसके ऊपर जो विविध व्याख्या ग्रन्थ रचे गये उन्होने तो जैन साहित्यको समृद्ध किया ही, किन्तु उत्तरकालमें उससे प्रभावित होकर कुछ ग्रन्थकारोने छोटे-छोटे सूत्र ग्रन्थ भी रचे । ऐसे तीन सूत्र ग्रन्थ हमारे सामने मुद्रित रूपमें वर्तमान हैं । ये तीनो ही तत्त्वार्थ सूत्रके अनुकरण पर रचे गये हैं । इनमेंसे एकका तो नाम भी तत्त्वार्थ सूत्र ही है । इसे लघु तत्त्वार्थ सूत्र कहना उचित होगा क्योकि यह उसीका संक्षिप्त रूप है। इसके रचयिताका नाम पुष्पिकाओंमें बृहत् प्रभाचन्द्र दिया गया है ।

१ [1]तत्त्वार्थसूत्र—इस बृहत्प्रभाचन्द्र विरचित तत्त्वार्थ सूत्रमें भी दस

---

१ बृहत्प्रभाचन्द्र विरचित इस तत्त्वार्थ सूत्रको खोजकर प्रकाशमें लानेका श्रेय जुगलकिशोरजी मुख्तारको है । उन्होंने वीर सेवा मन्दिर दिल्लीसे हिन्दी अनुवादके साथ इसे सम्पादित और प्रकाशित किया है ।

अध्याय हैं। किन्तु उनमें सूत्रोकी संख्या क्रमसे १५ + १२ + १८ + ६ + ११ + १४ + ११ + ८ + ७ + ५ = १०७ है। प्राय अधिकाश सूत्र वडे तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंके ही सक्षिप्त रूप हैं। यथा—प्रमाणे द्वे ॥६॥' 'नया सप्त ॥७॥' 'तैरधिगमस्तत्त्वानाम् ॥८॥' सदादिभिश्च ॥९॥ इत्यादि। वडे तत्त्वार्थ सूत्रके प्रत्येक अध्यायका जो विषय है, प्राय वही विषय इसका भी है। किन्तु तीसरे अध्यायके अन्तमें मनुष्योका वर्णन करते हुए 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुषा' ॥१४॥ एकादश रुद्रा ॥१५॥ नव नारदा ॥१६॥ चतुर्विंशतिकामदेवा. ॥१७॥' इन सूत्रोंके द्वारा त्रेसठ शलाका पुरुष, ग्यारह रुद्र, नौ नारद और चौवीस कामदेवो को भी वतला दिया है। जैन मान्यतानुसार ये विशिष्ट पुरुष प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें हुआ करते हैं। २४ तीर्थंकर, नौ वलदेव, नौ नारायण नौ प्रतिनारायण और वारह चक्रवर्ती ये त्रेसठ शलाका पुरुष कहे जाते है।

इसी तरह सातवे अध्यायमें 'श्रमणानामष्टाविंशतिर्मूलगुणा ॥५॥ और श्रावकाणामष्टौ ॥६॥' इन दो सूत्रोंके द्वारा मुनियोके २८ मूलगुणोका और श्रावकोंके ८ मूलगुणोका भी निर्देश कर दिया है। ये सव कथन वडे तत्त्वार्थ सूत्र में नही है।

रचयिता—इसके रचयिता वृहत्प्रभाचन्द्र कौन हैं और वे कव हुए है, यह जाननेका कोई साधन अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। किन्तु इतना तो निश्चित रूपसे प्रतीत होता है कि वडे तत्त्वार्थ सूत्रके पश्चात् ही उसीके अनुकरण पर यह तत्त्वार्थ सूत्र रचा गया है।

वडे तत्त्वार्थ सूत्रमें 'गुण पर्ययवद् द्रव्यम्' इतना ही सूत्र है किन्तु इस तत्त्वार्थ सूत्रमें 'सहक्रमभावि गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इतना सूत्र है। जहाँ अन्य सूत्रोका सक्षेपीकरण किया गया है वहाँ इस सूत्रमें वृद्धि कर दी गई है। इसमें गुणोको सहभावी और पर्यायोको क्रमभावी भी वतला दिया गया है। जहाँ तक हम जान सके है गुण और पर्यायोको स्पष्ट रूपसे सहभावी और क्रमभावी सर्वप्रथम अकलकदेवने अपन न्यायविनिश्चयमें वतलाया है यथा—

'गुणपर्ययवद् द्रव्य ते सहक्रमवृत्तय.'

और उक्त लक्षण इसीका अनुसरण करता जान पडता है। अत उक्त लघु तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ता वृहत्प्रभाचन्द्र अकलकदेवके पश्चात् होने चाहिये। किन्तु उनके पश्चात् भी अनेक प्रभाचन्द्र हुए है अत उनमेंसे किसके द्वारा यह रचा गया है, विशेप प्रमाणोंके अभावमें यह कहना शक्य नही है। किन्तु प्रभाचन्द्रके साथ जो वृहत् विशेपण लगाया गया है, वह अवश्य ही किसी अन्य प्रभाचन्द्रसे निवृत्ति करके सूत्रकार प्रभाचन्द्रका महत्त्व व्यापन करनेके लिये लगाया गया प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्र विरचित अर्हत्प्रवचन—प्रभाचन्द्र नामके किसी आचार्यके द्वारा रचित एक अन्य सूत्र ग्रन्थ भी है जिसमें उसका नाम अर्हत्प्रवचन[1] दिया है। शायद इन्हीसे विच्छेद करनेके लिये उक्त प्रभाचन्द्रके नाममें वृहत् विशेपण लगाया गया हो।

इस अर्हत्प्रवचनमे केवल पाँच अध्याय है और उनमें क्रमसे ११ + २० + २० + १५ + १८ = ८४ सूत्र है। इसमें वर्णित विपय भी यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रके अनुरूप ही है किन्तु उसका कोई क्रम नही है। दूसरे उसमें प्रतिपाद्य वस्तुओंकी केवल सख्या वतलाई है। जैसे पहले अध्यायमें लिखा है—'तत्रेमे षड्जीव निकाया ॥१॥ पच महाव्रतानि ॥२॥ पचाणुव्रतानि ॥३॥ त्रीणि गुणव्रतानि ॥४॥ चत्वारि शिक्षाव्रतानि ॥५॥ तिस्त्रो गुप्तय ॥६॥ पचसमितय ॥७॥ आदि। अर्थात् (तत्र) अर्हत् प्रवचनमें ये षडजीवोंके छै निकाय है, पाँच महाव्रत है, पाँच अणुव्रत हैं, तीन गुणव्रत है, चार शिक्षाव्रत है, तीन गुप्तियाँ है, पाँच समितियाँ हैं। इस तरह केवल सख्या मात्र वतलाई है। और विपय वर्णन का कोई क्रम नही है।

दूसरे अध्यायमे लिखा है—सात तत्त्व है चार निक्षेप है। दो तप है आदि। तीसरे अध्यायके उत्तरार्धमें चौवीस तीर्थङ्कर, नौ वलदेव, नौ वासुदेव आदि वतलाये है। चौथे अध्यायका प्रारम्भ 'देवाश्चतुर्णिकाया' सूत्रसे होता है। वडे तत्त्वार्थसूत्रका यही एक सूत्र इसमें ज्योका त्यो अपने स्थानपर पाया जाता है। सभव है अर्हत्प्रवचनके रचयिता प्रभाचन्द्रने उक्त प्रभाचन्द्रका तत्वार्थ-सूत्र देखा हो। अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थ वार्तिकमे (२-३८) 'उक्त च अर्हत्-प्रवचने' लिखकर उसके एक सूत्रको उद्धृत किया है जिससे प्रतीत होता है कि अर्हत्प्रवचन नामका भी कोई सूत्र ग्रन्थ था। शायद उसीके अनुकरणपर प्रभाचन्द्रने अपने इस सूत्र ग्रन्थको 'अर्हत्प्रवचन' नाम दिया है। और उसका प्रारम्भ करते हुए लिखा है—'अर्हत्प्रवचनसूत्र व्याख्यास्याम तद्यथा—'अर्थात् 'अर्हत्प्रवचन सूत्रका व्याख्यान करेंगे। प्रथम सूत्रके प्रारम्भमें आगत 'तत्र' पद उसीका निर्देश करता है। जिससे प्रकट होता है कि अर्हत्प्रवचनमें जो जो मुख्य तत्त्व हैं उन्हें इसमे वतलाया गया हैं।

माघनन्दि योगीन्द्ररचित शास्त्रसार[2] समुच्चय—एक तीसरा सूत्र ग्रन्थ माघनन्दि योगीन्द्र विरचित है। उसमें उसका नाम शास्त्रसार समुच्चय दिया है।

---

१ यह अर्हत्प्रवचन मा० ग्र० माला वम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्तसारादि सग्रहमें सगृहीत है।

२ यह ग्रन्थ भी मा०ग्र० मालामे प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसग्रहमे सग्रहीत है।

इसमें चार अध्याय हैं और क्रमसे २० + ४५ + ६६ + ६५ = १९६ सूत्र हैं। इसकी दशा भी अर्हत्प्रवचन जैसी ही है। अर्हत्प्रवचनके तीसरे अध्यायके प्रारम्भमें त्रिविध काल ॥१॥ षड्विध काल समय ॥२॥ ये दो सूत्र हैं। शा० सा० समु० का प्रारम्भिक सूत्र है—'अथ त्रिविध कालो द्विविधो षड्विधो वा।'

उसके अनेक सूत्र 'अर्हत्प्रवचन'से मिलते हैं। दूसरे अध्यायमें तीनों लोकोका संख्यात्मक वर्णन है। तीसरे और चौथे अध्यायमें विना किसी क्रमके विविध विषयोका संख्यात्मक कथन है यथा—'मौन समय सात हैं। श्रावक धर्म चार प्रकारका है। जैनाश्रम भी चार प्रकारका है, ब्रह्मचारी पाँच प्रकारके है। आर्य कर्म छै हैं। पूजाके दस प्रकार हैं। क्षत्रियके दो प्रकार हैं। भिक्षु चार प्रकारके है। मुनि तीन प्रकारके है।'

इस तरह केवल भेदोकी संख्या मात्र बतलाई है। उनके नाम नही बतलाये हैं। इसके अन्तमें एक श्लोक[1] है जिसमें ग्रन्थकारने शास्त्रसार समुच्चयको विचित्रार्थ कहा है। सचमुचमें इसमें विचित्र अर्थोंका कथन है। तथा ग्रन्थकारने अपना नाम श्री माघनन्दि योगीन्द्र बतलाया है और अपनेको सिद्धान्तरूपी समुद्रके लिये चन्द्रमा कहा है।

स्व० श्री युत प्रेमीजीने लिखा[2] है कि कर्नाटक कवि चरित्रके अनुसार एक माघनन्दिका समय वि० स० १३१७ है और उन्होंने शास्त्रसार समुच्चयपर एक कनडी टीका भी लिखी है। और माघनन्दि श्रावकाचारके कर्ता भी यही है। इससे ज्ञात होता है कि शास्त्रसार समुच्चयके कर्ता माघनन्दि इनसे पहले हुए हैं। अत उनका समय विक्रमकी चौदहवी शताब्दीसे पहले होना चाहिये।

टीकाकार जयसेन

कुन्दकुन्दके समयसार, पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसारके टीकाकार आचार्य जयसेनके सम्बन्धमें समयसारकी टीकाके प्रसगसे पहले लिख आये हैं। इन्होंने पचास्तिकायकी टीका पहले रची, फिर प्रवचनसारकी टीका रची। शायद इसीसे पंचास्तिकायकी टीकाके आरम्भमें प्रथम गाथाका व्याख्यान करके उन्होने मगल, की विस्तारसे चर्चाकी है और ग्रन्थान्तरोमे तत्सम्बन्धी अनेक गाथाएँ और श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। जिनके अनुसन्धानसे प्रतीत होता है कि जयसेनने धवला टीका तथा आप्तपरीक्षाका उसमें विशेष रूपसे उपयोग किया है।

---

१ 'श्री माघनन्दियोगीन्द्र सिद्धान्ताम्बोधिचन्द्रमा। अचीरचद्विचित्रार्थशास्त्र-सारसमुच्चयम् ॥१॥'

२ जै० सा० इ०, पृ० ४१५-१६।

अमृतचन्द्रकी टीकाके सम्मुख होते हुए भी जयसेनकी व्याख्यान पद्धति उससे भिन्न है। अमृतचन्द्रकी दोनों टीकाओंके नाम तत्त्वदीपिका और तत्त्वप्रदीपिका हैं और जयसेनाचार्यकी दोनो टीकाओंका नाम तात्पर्यवृत्ति है। ये नाम भेद भी दोनोकी व्याख्या पद्धतिके भेदको वतलाते है। जयसेन मगल गाथाओका व्याख्यान करके ग्रन्थके मुख्य अधिकारो और अवान्तर अधिकारोंकी गाथा सख्या पूर्वक विपय विभाग वतला देते हैं और साथमें अमृतचन्द्रको मान्य गाथा सख्याका भी निर्देश कर देते है।

यथा, पञ्चास्तिकायकी आद्य दो गाथाओका व्याख्यान करके उन्होंने अपने 'उपोद्धात' में वतलाया है कि प्रथम महाधिकारमें पंचास्तिकाय और छह द्रव्योका वर्णन है तथा उसमें १११ गाथाएँ हैं और अमृतचन्द्रकी टीकाके अभिप्रायानुसार १०३ गाथाएँ हैं। उसके आगे दूसरे महाधिकारमें सात तत्त्वो और नौ पदार्थोका व्याख्यान है उसमें ५० गाथाएँ है और अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार ४८ गाथाएँ हैं। तथा तीसरे अधिकारमे मोक्षमार्गका कथन है। उसमें २० गाथाएँ है। इसी तरह आगे प्रत्येक महाधिकारके अवान्तर अधिकारोका कथन किया है। उसके पश्चात् प्रत्येक गाथाका शव्दश व्याख्यान किया है शव्दश व्याख्यानके पश्चात् जहाँ आवश्यक होता है वहाँ वह 'तथाहि' आदि लिखकर विशेष कथन करते हैं और 'अत्राह शिष्य' लिखकर शंकाका उत्थान तथा 'परिहारमाह' लिखकर उसका समाधान भी करते है। यही पद्धति प्रवचनसारकी टीकामें भी अपनाई गई है।

दोनो टीकाओंमें अनेक प्रासगिक चर्चाएँ भी यथास्थान की गई है। यथा, पञ्चास्तिकायमें गाथा १४ की व्याख्यामें सप्तभगीकी, गाथा २७ की व्याख्यामें जीवकी, गाथा २९ की व्याख्यामें सर्वज्ञताकी चर्चा की है। इसी तरह प्रवचनसार-में भी पृ० २८ पर केवलि भुक्तिकी कुछ चर्चाएं की गई है। दूसरे, जयसेनजी अपनी टीकाओंमें ग्रन्थान्तरोंसे वहुतसे उद्धरण देते हैं। सवसे अधिक उद्धरण पंचास्तिकायकी टीकामें है। इसमें कुछ ग्रन्थोका नामोल्लेख[1] भी किया है और ग्रन्थकारोंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव[2] और पूज्यपादका[3] नामोल्लेख किया है। जयसेनके सम्मुख प्रभाचन्द्रकृत वृत्तियाँ भी थी ऐसा वरावर प्रतीत होता है।

---

१ द्रव्यसग्रह (पृ० ६-७), चरित्रसार और सर्वार्थसिद्धि टिप्पण (पृ० २१९), तत्त्वानुशासन (पृ० २१२, २५३), उपासकाध्ययन, आचार, आराधना, त्रिशष्टिशलाका पुरुष पुराण, त्रिलोकसार और लोकविभाग (पृ० २५४) गोम्मटशास्त्र (पृ० १८२), मोक्षप्राभृत (पृ० २११)।—पञ्चा० टी०।

२ पञ्चास्ति० पृ० २११।

३. वही, पृ० २२०।

ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसग्रह टीका

पीछे अध्यात्म प्रकरणमें परमात्म प्रकाशकी वृत्तिके प्रसगसे ब्रह्मदेवजीकी शैली तथा समयादिकी चर्चा कर आये हैं। उन्ही ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसग्रह टीका भी है। ब्रह्मदेवजी जयसेनकी शैलीसे प्रभावित हैं यह भी पहले लिख आये हैं। फिर भी उनकी अपनी एक विशेपता है और उनकी उस विशेपताके दर्शन द्रव्यसग्रह-की टीकामें स्पष्ट रूपसे होते हैं। वह केवल गाथाका शाब्दिक व्याख्यान ही नही करते, वल्कि उसके पश्चात् 'तथाहि' या 'इतो विस्तर' आदि लिखकर इसका विशेष व्याख्यान भी करते है और उसमें प्रकृत चर्चासे सम्वद्ध विषयका पाडित्यपूर्ण विवेचन करते हैं। नीचे ऐसे विवेचनोंका कुछ आभास कराया जाता है—गाथा ५ में जैन आगमिक परम्पराके अनुसार मति श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है। किन्तु टीकामें उन्हें परोक्ष अथवा साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। 'अत्राह शिष्य' करके उसपर यह शङ्काकी गई है कि तत्त्वार्थसूत्रमें तो मतिश्रुत-को परोक्ष कहा है आपने प्रत्यक्ष कैसे कहा। 'परिहारमाह' लिखकर उसका समाधान करते हुए कहा है कि तत्त्वार्थसूत्रमें उत्सर्ग कथन है और यह अपवाद कथन है। जिस मतिज्ञानको तत्त्वार्थमें परोक्ष कहा है तर्क शास्त्रमें उसे ही साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

यह कथन अकलकदेवकी उक्तिको लक्ष्यमें रखकर किया है। अकलकदेवने ही अपने लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थोंमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा है।

इसी तरह गाथा ४८ की व्याख्यामें लिखा है—'एव तर्काभिप्रायेण सत्ता-वलोकनदर्शनं व्याख्यातम् अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते।' अर्थात् 'सत्ता-सामान्यके अवलोकनको दर्शन कहते हैं' दर्शनकी यह व्याख्या तो तर्कशास्त्रके अभिप्रायसे की है। आगे सिद्धान्तके अभिप्रायसे दर्शनका स्वरूप कहते हैं।'

वीरसेन स्वामीकी धवला और जयधवला टीकाओंके प्रकाशमें आनेसे पूर्व दर्शनका सिद्धान्ताभिमत स्वरूप द्रव्य सग्रहकी ब्रह्मदेव रचित टीकामें ही देखा जाता था। उनके प्रकाशमें आने पर यह ज्ञात हुआ कि ब्रह्मदेवने उक्त स्वरूप धवला—जयधवला टीकाओके आधार पर लिखा है। किन्तु ब्रह्मदेवने सिद्धान्त ग्रन्थोंका ठोस अनुगम किया था ऐसा प्रतीत नही होता। क्योकि उन्होने गाथा १३ की टीकामें 'गुणजीवा पज्जत्ति' आदि गाथा को—धवल, जयधवल और महा-धवल नामक तीन सिद्धान्त ग्रन्थोका बीजपद कहा है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नही है। अस्तु,

गाथा ३५ की टीकामें बारह अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप बतलाते हुए लोकानुप्रेक्षाके अन्तर्गत अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका पूरा वर्णन दिया है जो प्राय त्रिलोकसारका ऋणी है। उसमें त्रिलोकसारके नामोल्लेखके साथ ही साथ कई गाथाएँ भी उससे उद्धृतकी गई है। गाथा ४१ की टीकामें सम्यग्दर्शन और उसके २५ मलोका विस्तृत कथन किया है। इसी तरह समस्त टीका सैद्धान्तिक विषयोकी चर्चाओसे भरी हुई है।

गाथा ४२ की टीकाके अन्तमे उन्होने लिखा[1] है कि—यदि इस सविकल्प और निर्विकल्प तथा स्व पर प्रकाश ज्ञानका व्याख्यान आगम, अध्यात्म और तर्कशास्त्रके अनुसार विशेषरूपसे किया जाये तो बड़ा विस्तार होता है और यह ग्रन्थ अध्यात्मशास्त्रका है अत यहाँ विशेष व्याख्यान नही किया। इससे भी प्रकट होता है कि वह आगम और अध्यात्मके विशिष्ट अभ्यासी होनेके साथ ही साथ तर्कशास्त्रमें भी निपुण थे। गाथा ५० की टीकामें उन्होंने भट्ट चार्वाक (?) के द्वारा सर्वज्ञका निराकरण कराकर उसका खण्डन किया है। किन्तु वास्तवमें तो वह अध्यात्मरसिक थे। और अध्यात्म वर्णनकी उनकी शैली अमृतचन्द्रकी अनुगामिनी है। उसीके दर्शन द्रव्यसग्रहकी टीकामें यथास्थान होते है।

इस टीकामें उद्धरण पद्योकी बहुतायत है। अनेक पद्योंके स्थलोंका पता ज्ञात नही हो सका, फिर भी जो स्थल ज्ञात हो सके उनमें कुन्दकुन्दके ग्रन्थ, परमात्म प्रकाश, योगसार, मूलाचार, भगवती आराधना, इष्टोपदेश, यशस्तिलक, आप्तस्वरूप, त्रिलोकसार और तत्त्वानुशासनका नाम उल्लेखनीय है।

गाथा ३४ की टीकामें पञ्चपरमेष्ठी और पञ्चनमस्कार नामक ग्रन्थोका उल्लेख है। पञ्चनमस्कार नामक ग्रन्थको सिद्धचक्र आदि देवार्चनविधिरूप मन्त्रवादसे सम्बद्ध बतलाया है। यथा—

'विस्तरेण पञ्चपरमेष्ठी ग्रन्थ कथित क्रमेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनविधिरूपमंत्रवादसम्बन्धिपञ्चनमस्कारग्रन्थे च'।

गाथा ४९ की टीकामें पञ्चनस्कार ग्रन्थका परिमाण बारह हजार श्लोक जितना बतलाया है अत यह कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होना चाहिये।

रचनाकाल

टीकाकार ब्रह्मदेवजीके सम्बन्धमें कही से कुछ ज्ञात नही होता। उनके

---

१ 'इदं तु व्याख्यान यद्यागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति। स चाध्यात्म शास्त्रत्वान्न कृत इति।'

समयके सम्बन्धमें पहले लिख भी आये हैं। जैसलमेरके भण्डारमें ब्रह्मदेवकी द्रव्य सग्रह वृत्तिकी एक प्रति मौजूद है जो सम्वत् १४८५ में माण्डवमें लिखी गई थी। अत ब्रह्मदेवजीके समय की अन्तिम अवधि सम्वत् १४८५ से पूर्व ठहरती है और उन्होंने द्रव्य सगह वृत्तिमें धारा नरेश राजा भोजके समयमें द्रव्य सग्रहके रचे जाने का उल्लेख किया है, अत वह विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके पश्चात् हुए है। उनकी टीकाओपर जयसेनका वहुत प्रभाव है। जयसेनने अपनी टीकाएँ वि० स० १२०० के पश्चात् रची हैं क्योकि अपनी पञ्चास्तिकाय टीका (पृ०८) में उन्होने वीरनन्दिके आचारसारके चौथे अध्यायके ९५-९६ नम्बरके पद्य उद्धृत किये हैं और वीरनन्दिने अपने आचारसारकी कनडी टीका वि० स० १२१० में पूर्ण की थी। अत चू कि जयसेन विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं। इस लिये ब्रह्मदेव उसके पश्चात् ही हुए। द्रव्य सग्रह गाथा १३ की टीकामे चौथे गुण स्थानका जो वर्णन है। वह प० आशाधरजीके एक श्लोकसे प्राय शब्दश मिलता है। यथा—

'निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम् इन्द्रियसुखादि परद्रव्य हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञ-प्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते पर किन्तु भूमिरेखादि सदृश-क्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहित सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्।' —द्रव्य स० वृत्ति।

इसकी तुलना प० आशाधरजीके नीचे लिखे श्लोकसे कीजिये—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञाया
हेय वैषयिक सुखं निजमुपादेय त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितु धृतस्तलवरेणेवाऽऽत्मनिन्दादिमान्
शर्माक्ष भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघै ॥३३॥

—सागारधर्मामृत अध्या० १।

इतना साम्य एकके द्वारा दूसरेको देखे विना अकस्मात् सभव नही है। किन्तु किसने किसको देखा है, यह निश्चित प्रमाणोंके विना कह सकना सभव नही है। प० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १२९६मे पूर्ण की थी। अत वह विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए है यह सुनिश्चित है। अव यदि उक्त श्लोक उन्होंने द्रव्यसग्रह वृत्तिको देखकर रचा है तव तो ब्रह्मदेव जयसेन और आशाधरके मध्यमे विक्रमकी तेरहवी शताब्दीमे हुए है। और यदि ब्रह्मदेवने सागार धर्मामृतको देखा है तो यह विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके पश्चात् हुए हैं। इसमेंसे प्रथमकी ही विशेप संभावना है।

अन्तमें एक वात और भी लिख देना आवश्यक है। ब्रह्मदेवजीने अपनी

टीकामें द्रव्य सग्रहकी किसी अन्य वृत्तिका कोई उल्लेख नही किया है। और न उनकी टीका पर द्रव्य सग्रह वृत्तिका कोई विशेष प्रभाव ही परिलक्षित होता है। तथापि गाथा १० की टीकामें जो समुद्घात तथा उसके सात भेदोंका स्वरूप वतलाया गया है वह दोनो टीकाओंमें शब्दश मिलता है। किन्तु प्रभाचन्द्रकृत वृत्तिमें उसकी अन्य शैली जितनी सुव्यवस्थित है उतनी ब्रह्मदेवकी टीकामें नहीं है। यथा—'कोऽत्र दृष्टान्त यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनानन्तरं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादितस्तद् भाजनानन्तरं प्रकाशयति इति। किन्तु **असहमुहदो समुद्घात सप्तक वर्जयित्वा तत्राणुगुरुत्वाभाव** । समुद्घातभेदानाह— वेयणकसाय ।' [—प्रभा० वृ०] 'कोऽत्र दृष्टान्त (अक्षरश समान है) प्रकाशयति। **पुनरपिकस्मात्** असमुहदो असमुद्घातात् वेदनाकषायविक्रिया समुद्घातवर्जनात्। तथा चोक्त सप्तसमुद्घातलक्षण—वेयणकसाय ।'

रेखाकित पदोका मिलान करनेसे उक्त वात स्पष्ट हो जाती है। अत ब्रह्मदेवजीने प्रभाचन्द्रकृत वृत्तिको देखा हो यह सभव हो सकता है।

भास्कर नन्दिकी तत्त्वार्थ[१] सूत्रवृत्ति

तत्त्वार्थ सूत्रकी यह वृत्ति एक तरहसे पूज्यपादकी सर्वार्थ सिद्धिका ही रूपान्तर है। टीकाकारने उसीका अक्षरश अनुसरण किया है और यत्र-तत्र अकलक देवके तत्त्वार्थ वार्तिक तथा कुछ अन्य ग्रन्थकारोके ग्रन्थोसे भी उसमें आदान किया गया है। किन्तु जो कुछ लिया गया है उसको सुन्दर ढगसे सुनियोजित करके ऐसा रूप दिया गया है जिसे देखकर टीकाकारकी विद्वत्ता तथा सुरुचिपूर्ण शैलीका प्रभाव पाठकपर पडता है।

जैसे, प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए टीकाकारने अन्य वादियोके द्वारा माने गये मोक्षके उपायोंका चित्रण तथा समीक्षा करते हुए सोमदेव रचित यशस्तिलक चम्पूके छठे आश्वाससे कई पृष्ठ ज्योंके त्यों और यथायोग्य परिवर्तनके साथ अपना लिये है। सूत्र ३-१० की व्याख्यामें तत्त्वार्थ वार्तिकसे विदेह क्षेत्रका वर्णन सक्षेपमें वडे सुन्दर ढगसे दिया गया है। सूत्र ३-३८ की व्याख्यामे भी तत्त्वार्थ वार्तिकसे लौकिक और लोकोत्तर प्रमाणोका सकलन किया गया है। इसी तरह सर्वार्थ सिद्धि टीकाके अनुसरणके साथ-साथ तत्त्वार्थ वार्तिकके भी आवश्यक अशोंको इसमें सगृहीत कर किया गया है। फिर भी इसका प्रमाण सर्वार्थसिद्धिसे वडा नही है। और सस्कृत भाषा तो सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थ वार्तिकके ही अनुरूप है।

---

१ इसका प्रकाशन मैसूर यूनिवर्सिटीसे हुआ है।

इस वृत्तिमें जिसको टीकाकारने सुखबोध वृत्ति नाम दिया है, एक उल्लेख-नीय विशेषता यह है कि सर्वार्थ सिद्धिके प्रारम्भमें पाये जाने वाले मगल श्लोक 'मोक्ष मार्गस्य नेतार' आदिको तत्त्वार्थ सूत्रका मगल श्लोक बतलाकर उसका भी व्याख्यान किया है। यथा—' तत्त्वार्थसूत्रपदविवरण क्रियते तत्रादौ नमस्कार श्लोक " अस्य समुदायार्थ कथ्यते।'

इससे पूर्वकी किसी टीकामें न तो इस मगल श्लोकको तत्त्वार्थ सूत्रका मगल श्लोक कहा है और न किसीने उसकी व्याख्या ही की है। किन्तु इसके पश्चात् जो वृत्तिया रची गई है उनमें उक्त मगल श्लोकको तत्त्वार्थ सूत्रका ही मानकर उसकी व्याख्या की गई है जैसा कि आगे ज्ञात हो सकेगा।

इस टीकामें ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृत पद्योकी सख्या भी पचाससे कम नही है। उनमेंसे अनेकोका मूलस्थल ज्ञात नही हो सका। जिन स्थलोंको जाना जा सका है उनमें सोमदेवके यशस्तिलक चम्पू (वि० स० १०१६) नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीका पूर्वार्ध) के त्रिलोकसार और गोम्मटसार, अमित गतिके पञ्च सग्रह (वि० स० १०७३) और वसुनन्दि (विक्रमकी वारहवी शती) के श्रावकाचारका नाम उल्लेखनीय है।

इस टीकाके रचयिताका नाम पण्डित भास्कर नन्दि है। टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें टीकाकारने अपने गुरुका नाम जिनचन्द्र दिया है और उन्हें सिद्धान्तका पारगामी तथा चारित्रसे भूषित बतलाया है।[1] तथा पुष्पिकाओमें महासैद्धान्त जिनचन्द्र भट्टारक नाम दिया है। प्रशस्तिमें जिनचन्द्र भट्टारकके गुरुका नाम सर्व-साधु दिया है और लिखा है कि सर्वसाधुने सन्यास पूर्वक मरण किया है। इसके सिवाय टीकाकारने अपने सम्बन्धमें और कुछ भी नही लिखा।

जिनचन्द्र[2] नामके अनेक विद्वान हो गये हैं। एक जिनचन्द्र चन्द्रनन्दिके शिष्य थे। कन्नड कवि पोन्नने (९५० ई०) अपने शान्ति पुराणमें उनका उल्लेख किया है। किन्तु यह जिनचन्द्र चन्द्रनन्दी मुनिके शिष्य थे। एक जिनचन्द्र सिद्धान्त सारके रचयिता हैं। उनके सम्बन्धमे भी कुछ विशेष ज्ञात नही होता। एक जिन-चन्द्र धर्मसग्रहश्रावकाचारके कर्ता मेधावीके गुरु और पाण्डव पुराणके कर्ता शुभचन्द्राचार्यके शिष्य थे। तिलोय पण्णत्तिकी दान प्रशस्तिमें मेधावीने अपनी गुरु

---

१ तस्यासीत् सुविशुद्धदृष्टिविभव सिद्धान्तपारङ्गत, शिष्य श्री जिनचन्द्र नाम कलितचारित्रभूषान्वित। शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्याभवत् तत्त्ववित्, तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्ति स्फुटम्॥'

२ जै० ग्र० प्र० स० (भाग १) की प्रस्ता० पृ० ३५। जै० सा० इ०, पृ० ३७८। तत्त्वा० सुख० वृत्तिकी प्रस्ता० पृ० ४७।

परम्पराका परिचय देते हुए उन्हे शुभचन्द्रका शिष्य वतलाया है। यह दान प्रशस्ति वि० स० १५१९ में लिखी गई है और उस समय जिनचन्द्र मौजूद थे। चूकि यह जिनचन्द्र शुभचन्द्रके शिष्य थे अत यह भी भास्करनन्दिके गुरु नही हो सकते।

चौथे जिनचन्द्र वे है जिनका नाम श्रवणवेलगोलाके शिला लेख न० ५५-(६९) में द्वितीय माघनन्दि आचार्यके पश्चात् आया है। प० ए० शान्तिराज शास्त्रीने सुखवोध वृत्तिकी अपनी प्रस्तावनामें विना किसी उपपत्तिके इन्ही जिनचन्द्र को भास्करनन्दिका गुरु होनेकी सभावना की है और लिखा है कि वह माघनन्दि आचार्य १२५० में जीवित थे ऐसा उल्लेख है। अत किन्ही विद्वानोने उनके उत्तर काल भावी जिनचन्द्राचार्यका काल १२७५ माना है। किन्तु शास्त्रीजीने यह नही स्पष्ट किया कि यह कौन सम्वत् है।

श्रवणवेलगोलाके उक्त शिलालेखका सभावित समय लगभग शक स० १०२२ (वि० स० ११५७) है। उसमें उल्लिखित माघनन्दिका समय १२५० कैसे हो सकता है। कर्नाटक कविचरितेके अनुसार एक माघनन्दिका समय ई० सन् १२६० (वि० स० १३१७) है। वे माघनन्दि श्रावकाचारके कर्ता है और उन्होंने शास्त्रसारसमुच्चयपर कनडीमें टीका लिखी है। शास्त्रीजीका अभिप्राय शायद उन्हीसे है। किन्तु उक्त शिलालेखमें उल्लिखित माघनन्दि उनसे भिन्न है और इसलिए उनके पश्चात् उल्लिखित जिनचन्द्रका भी वह समय नही हो सकता जो शास्त्रीजीने लिखा है। और विना किसी आधारके इन जिनचन्द्र-को भास्करनन्दिका गुरु भी नही माना जा सकता। उक्त शिलालेखमे जिनचन्द्र-को व्याकरणमें पूज्यपादके तुल्य, तर्कमें अकलकके तुल्य और कवितामें भारविके तुल्य वतलाया है। किन्तु भास्करनन्दिके गुरु तो महा सैद्धान्त थे, उसका शिला-लेखमे कोई निर्देश नही है। अत उसके आधारपर भास्करनन्दिका समय निर्धारित नही किया जा सकता। उसका आधार तो उनकी टीका ही हो सकती है।

भास्करनन्दि पूज्यपाद, अकलक और विद्यानन्दके पश्चात् हुए है यह उनकी टीकाके मगल श्लोकमें आगत 'विद्यानन्दा' पदसे स्पष्ट है। उन्होंने यशस्तिलक (वि० स० १०१७), गोम्मटसार, सस्कृत पञ्चसग्रह (वि० स० १०७३) और वसुनन्दि श्रावकाचारसे पद्य उद्धृत किये है। वसुनन्दि विक्रम-की वारहवी शताब्दीके विद्वान है। अत भास्करनन्दि उसके पश्चात् ही किसी समय हुए है।

तत्त्वार्थसूत्रकी दो अप्रकाशित टीकाएँ

तत्त्वार्थसूत्र अपनी विशेषताओंके कारण अपने जन्मकालसे ही अत्यधिक

लोकप्रिय रहा है। उसपर पूज्यपाद देवनन्दिने सर्वार्थसिद्धि नामक टीका संस्कृतमें रची। और सर्वार्थसिद्धिको गर्भित करके अकलकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक जैसा महान् दार्शनिक ग्रन्थ रचा। तथा स्वामी विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ रचा। इन तीनो टीका ग्रन्थोमें तत्त्वार्थसूत्रके रहस्योके उद्घाटनके साथ ही साथ तत्कालीन जैन तथा जैनेतर विचारधाराओका चित्रण तथा निरसन बडे पण्डित्यपूर्ण ढगमे किया गया है।

इन तीनो महान् टीका ग्रन्थोके पश्चात् भी तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक छोटी वडी टीकाएँ विभिन्न ग्रन्थकारोने रची, किन्तु उन सबमें प्राय सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकका ही चर्वितचर्वण पाया जाता है। ऐसी दो टीकाएँ मुझे देखनेका सौभाग्य प्रथम वार ही प्राप्त हुआ है। ये दोनो टीकाग्रन्थ देहलीके धर्मपुराके लाला हरसुखराय शुगनचन्दजीके मन्दिरके शास्त्र भण्डारसे लाला पन्नालालजी अग्रवाल द्वारा प्राप्त हुए थे।

इनमेंसे एक टीका के रचयिता प० योगदेव है। इस टीकाका नाम सुखवोध है। टीकाका आरम्भ करते हुए उन्होने महावीर स्वामीको नमस्कार करते हुए लिखा है—

> विनष्टसर्वकर्माण मोक्षमार्गोपदेशकम्।
> तद्गुणोद्भूतिलाभाय सर्वज्ञ जगतो गुरुम् ॥१॥
> आलम्बन भवाम्भोधौ पतता प्राणिना परम्।
> प्रणिपत्य महावीर लब्ब्वा(ब्धा)ऽनन्त चतुष्टयम् ॥२॥
> सक्षेपितागमाव्यासा (?) मुग्धवुद्धि प्रवोधिकाम्।
> सुखवोधाभिधा वक्ष्ये वृत्ति तत्त्वार्थगोचराम् ॥३॥

अर्थात्—'मोक्षमार्गके उपदेष्टा, सर्वकर्मोंसे रहित, जगतके गुरु, ससाररूपी समुद्रमें गिरे हुए प्राणियोके आलम्बन, अनन्त चतुष्टयके धारी भगवान महावीर-को उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करके, मुग्धवुद्धि जनोके प्रवोधके लिए सुखवोध नामकी तत्त्वार्थसूत्रकी सक्षिप्त वृत्ति कहूँगा।'

आगे लिखा है—'पादपूज्य-विद्यानन्दाभ्यां यत् वृत्तिद्वयमुक्त तत् केवल-तर्कागमपाठकैरवलावालादिभिर्ज्ञातु न शक्यते। तत सस्कृत-प्राकृत-पाठकाना सुखज्ञानकारण वृत्तिरियमभिधीयते।'

अर्थात्—पादपूज्य और विद्यानन्दने जो दो वृत्तियाँ रची है, वे तर्क और आगमसे भरपूर है। अत उनसे अनभिज्ञ स्त्रियाँ और वालजन उन्हे नही पढ़ सकते। इस लिए सस्कृत और प्राकृतके पाठकोको सुखपूर्वक ज्ञान करानेके लिए यह वृत्ति रची जाती है।'

इस तरह मगल, वृत्तिका नाम तथा उद्देश वतलानेके पश्चात् 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि श्लोककी व्याख्याने इस वृत्तिका आरम्भ होता है। यह श्लोक सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें पाया जाता है। किन्तु पूज्यपादने उसकी व्याख्या नही की और तत्त्वार्थवार्तिक तथा तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकमे तो उक्त श्लोक ही नही आता है। जिससे प्रतीत होता है कि उक्त मगल श्लोक सर्वार्थसिद्धिकारका होना चाहिए। किन्तु उत्तरकालीन प्राय सभी टीकाकारोंने, जो विक्रमकी तेरहवी शताव्दीमें तथा उसके पश्चात् हुए है, उक्त मगल श्लोकको सूत्रकारका मानकर उसकी भी व्याख्या की है।

योगदेवकी वृत्ति सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकको ही सामने रखकर रची गई है, क्योंकि उसका दोनोंके साथ शब्दश मेल पाया जाता है। फिर भी उन्होने पादपूज्यके साथ अकलकदेवके नामका उल्लेख नही किया, यह देखकर आश्चर्य होता है। वृत्ति संस्कृतमें है और सूत्रके मात्र भावार्थको स्पष्ट कर देना ही उसका प्रयोजन जान पडता है। कही-कही प्रसगवश कुछ विशेप कथन भी किया गया है, किन्तु वह सव उक्त दोनो ग्रन्थोका ही ऋणी है। एक तरहसे इसे सर्वार्थ सिद्धिका सक्षिप्त सस्करण कह सकते है। भाषा साधारण है, शब्दोंमें उलटफेर करदेनेके कारण सर्वार्थसिद्धिका माधुर्य और सौष्ठव इसमें नही है।

परिचयके लिए नीचे दो सूत्रोंकी टीकाएँ दी जाती हैं—

१ तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

येन स्वरूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेनैव प्रतीयमानतत्त्वार्थ, तस्य श्रद्धान तत्त्वार्थे विपरीताभिनिवेशाभावात् सम्यग्दर्शन सम्यक्त्व ॥

२ -प्रमाणनयैरधिगम ॥

प्रमाणनयानग्रे आचार्यो विशेषेण भणिष्यति। प्रमाणेन नयैश्च जीवादि-तत्त्वार्थानामधिगमो निश्चयो भवति।

उक्त दो उद्धरणोंसे यह नही समझ लेना चाहिए कि सव सूत्रोकी टीका इतनी सक्षिप्त है। ऐसी सक्षिप्त टीकाके उदाहरण तो कम ही हैं। इसकी प्रतिकी पृष्ठ सख्या १४८ है। प्रत्येक पृष्ठमें १० पक्तियाँ है और प्रत्येक पक्तिमें वत्तीस अक्षर हैं। अत. टीका लगभग १५०० श्लोक प्रमाण है।

टीकाकी अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार है—

'शुद्धोद्धतप प्रभावपवित्रपादपद्मरज किंजल्कपुञ्जस्य मन कोणैकदेशक्रोडीकृता-खिलशास्त्रार्थान्तरस्य पण्डितश्रीवन्धुदेवस्यगुणप्रवन्धानुस्मरणजातानुग्रहेण प्रमाण-नयनिर्णीताखिलपदार्थप्रपञ्चान श्रीमद् भुजवल भीमभूपालमार्तण्डसभायामनेकधालब्ध तर्कचक्राकल्केनावलानरादीनामात्मनश्चोपकारार्थेन (थैं न) पाण्डित्यमदविलासात्

सुखवोधाभिधा वृत्ति कृता भट्टारकेण कुम्भनगरवास्तव्येन पडितश्रीयोगदेवेन प्रकट-यन्तु सशोधयन्तु वुधा यदत्रायुक्तमुक्त किञ्चिन्मतिविभ्रमसभवादिति । छ प्रचड पडितमडली मौनव्रतदीक्षागुरोर्योगदेवविदुष कृतौ सुखवोधतत्त्वार्थवृत्तौ दशम. पाद समाप्त । समाप्तेय सुखवोधवृत्ति पडित श्रीयोगदेवकृता ।'

इससे प्रकट होता है 'पण्डित योगदेव भट्टारक थे, और कुम्भनगरके निवासी थे । भूपाल मार्तण्ड भुजवल भीमकी सभामें उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त थी । उनके सामने प्रचण्ड पण्डित मण्डली मूक हो गई थी । श्री पण्डित वन्धुदेवके अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था ।'

यह पण्डित योगदेव कव हुए है, खोजने पर भी इसका कोई अनुसन्धान नही मिल सका । इन्होने अपनी टीकामें किसी ग्रन्थका उद्धरण भी नही दिया । भास्कर नन्दिकी तत्त्वार्थ टीकाका नाम भी सुखवोध है । यह टीका मैसूर से प्रकाशित हो चुकी है । हमने नाम साम्यके कारण उसके साथ भी इस टीका का मिलान किया । किन्तु दोनोंमें हमें कोई साम्य नही मिला । अत इनके समय के विपयमें अभी कुछ लिखनेमें हम असमर्थ हैं । किन्तु इसकी एक प्रति जयपुरके सेठ वधीचन्द्रजीके मन्दिरमें वि० स० १६३८ की लिखी हुई है । अत इससे पूर्व ही इसका रचा जाना निश्चित है ।

तत्त्वार्थ सूत्रकी दूसरी टीकाका नाम तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर है । इसके प्रारम्भमें टीकाकारने एक प्राकृत गाथाके द्वारा मगलाचरण करनेके पश्चात् १४ श्लोकोके द्वारा इस टीकाकी उत्पत्तिका वृत्तान्त तथा अपना परिचय दिया है ।

लिखा है—इसी विख्यात भारत देशके हरन नामक जनपदमें सुनाम नाम का नगर है । वहाँ आर्य नयसेनकी परम्परामें धर्मचन्द्र नामके भट्टारक हुए, जो काष्ठासघी थे । उनके पट्टपर प्रभाचन्द्र हुए । एक दिन वह धर्मका उपदेश दे रहे थे, काल्हुके पुत्र साधु ह्वावाने प्रणाम करके निवेदन किया कि मुनिवर तत्त्वार्थका कथन करें । तव प्रभाचन्द्रने अपनी अल्पज्ञता वतलाये हुए तत्त्वार्थका कथन किया । वहाँसे वह विहार करके सकीट नामके नगरमें आये और जिनालयमें ठहर गये । वहाँ लम्वकञ्चुकान्वयमें साधु सकतुका पुत्र मोनिका था जो विद्वान और गुणी था उसने निवेदन किया—मुनिवर मेरे आगे सरल तत्त्वार्थ का कथन करे । तव भट्टारक प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थसूत्रके इस सुगमार्थ टिप्पणकी रचना की ।

रचनाकाल आदि—इस ग्रन्थके अन्तमें भी प्रशस्ति है । उसमें लिखा है कि जम्बूद्वीपके भारत देशमे पञ्चाल नामका देश है, जो जैन तीर्थोसे सुशोभित है ।

काष्ठासंघमें भट्टारक सुरेन्द्र वगैरह तथा मुनीश्वर हेमकीर्ति हुए। हेमकीर्तिके पट्टपर धर्मचन्द्र हुए। उनके पट्टपर प्रभाचन्द्र हुए। एक बार विहार करते हुए भट्टारक प्रभाचन्द्र सकीट नामके नगरमें पधारे। उस नगरके श्रावक बडे धर्मात्मा दानी और गुरुभक्त थे। वहाँके जिनालयमें भगवान ऋषभदेवका प्रतिबिम्ब था। प्रभाचन्द्रने अपने मनमें विचारा कि कोई उत्तम काव्य रचा जाये। तब सम्वत् १४८९ में भाद्रपद शुक्ला पचमीको रविवारके दिन विशाखा नक्षत्रमें प्रभाचन्द्रने जैन नामक ब्रह्मचारिके लिये इस तत्त्वार्थ टिप्पणको रचा।

इस तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर नामके तत्त्वार्थ टिप्पणकी तीन प्रतियाँ हमारे सामने उपस्थित है। उनमेंसे दो प्रतियाँ धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिरकी है। और एक प्रति सेठके कूचेके मन्दिर की है। सेठके कूचेके मन्दिरकी प्रति और नये मन्दिरकी आ० ६ (क) प्रति प्राय समान है। किन्तु नये मन्दिरकी दूसरी प्रति आ० २४ (क) के प्रारम्भमें न तो मंगल गाथा है और न वे १३ श्लोक ही है जिनमें टीकाकी उत्पत्तिका विवरण आदि दिया है। उन सबके स्थानमें 'त्रैकाल्य द्रव्यषट्कं', 'सिद्धेजयप्पसिद्धे', 'उज्जवणमुज्जवण' इन तीन पद्योंकी व्याख्या है। ये पद्य और उनकी व्याख्या उक्त दोनो प्रतियोमें नही है। उनका प्रारम्भ 'मोक्षमार्गस्य नेतार' आदि श्लोकको व्याख्यासे होता है। और वहाँसे तीनों प्रतियाँ समान है। इस प्रकारका अन्तर कैसे पडा, कहा नही जा सकता।

विज्ञ पाठक जानते है मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी जो प्रतियाँ सर्वत्र पाई जाती है उन सबके प्रारम्भमें उक्त तीन पद्य प्राय पाये जाते हैं। वे तीनो पद्य तत्त्वार्थ सूत्रके नही हैं यह निश्चित है। कब, कैसे, किसके द्वारा ये पद्य तत्त्वार्थ सूत्रके प्रारम्भमें जोड दिये गये, यह अभी तक अज्ञात है। किन्तु तत्त्वार्थरत्नप्रभाकर की एक प्रतिके आरम्भमें इनकी व्याख्या पाई जानेसे यह सिद्ध होता है कि यदि यह व्याख्या त० प्र० के कर्ताकी ही है तो विक्रमकी पद्रहवी शताब्दीमे अथवा उससे भी पहले उक्त तीन पद्य तत्त्वार्थसूत्रके अंग बन चुके थे। अस्तु,

यह टिप्पण सस्कृत और हिन्दीकी मिश्रण शैलीमें लिखा गया है, यह इसकी भाषा शैलीकी विशेषता है। सस्कृत और प्राकृत मिश्रित भाषामें तो धवला-जय धवला जैसे महान टीका ग्रन्थ उपलब्ध है। किन्तु सस्कृतके साथ हिन्दीके मिश्रणसे रची गई कोई टीका मेरे देखनेमें नही आई थी। इस टीकामें हिन्दी अश ही अधिक हैं।

प्रारम्भके कुछ सूत्रोकी टीका तो सस्कृतमें ही है, किन्तु उसके पश्चात् मिश्रित रूपमें है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

'एव गुण विराज मान जीव तत्त्वं, व्यवहारी प्राण दश, पञ्चेन्द्रिय प्राण पच,

मनवचन काय प्राण तीन, उस्वास निश्वास प्राण एक, आव प्राण एक, एव व्यवहार नय प्राण दश भवति, निश्चय प्राण चार चत्वारि भवन्ति ।'

'भाव पच कथ्यते । प्रथम उपशम भाव चतुर्थगुण स्थान ते एकादशम गुण स्थानलग होइ । प्रथम द्वितीय तृतीय गुणस्थाने उपशम भाव भवति (?) । उपशम सम्यक्त्व न भवति । क्षायिकभाव चतुर्थगुणस्थान आदि चतुर्दश गुणस्थान अंते भवति । क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानात् भवति ।'

'तत्र वाग्गुप्ति कोऽर्थ । वचन करि मार वध न वोलई ॥१॥ मनगुप्ति को विशेष मन करि मार वधन विक्रिय परिणाम चित्त विजइ नाही ॥२॥ ईर्या समिति कोर्थ । एक दड प्रमाण भूमि देखत चालई । जीवरक्षा निमित्ते ॥३॥

टीकाकार प्रभाचन्द्र सस्कृत और प्राकृतके अच्छे विद्वान ज्ञात होते है । और उनका अध्ययन भी वहुत विस्तृत जान पडता है क्योकि उनकी इस टीकामें सस्कृत और प्राकृत पद्योंके उद्धरण वहुत हैं । और वे उद्धरण मूलाचार, गोम्मटसार, तत्त्वार्थसार, आराधनासार, तत्त्वसार, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रन्थोंसे दिये गये हैं । फिर भी इस तरह की सस्कृत मिश्रित हिन्दीमें टीका करनेका कारण यह हो सकता हैं कि जिन ब्र० जैन तथा साधु हावाके लिये यह टीका रची गई वे सस्कृतके पूरे ज्ञाता न हों। और सस्कृत प्राकृतके विद्वान होनेके कारण भट्टारक प्रभाचन्द्र तत्कालीन लोक भाषामें रचना करनेमें निष्णात न हों, आज भी काशीमें सस्कृतके विद्वान सस्कृत मिश्रित भाषा वोलते हुए पाये जाते हैं ।

तत्त्वार्थसूत्रकी हरिभद्रीय टीका[1]

तथोक्त स्वोपज्ञ तत्त्वार्थ भाष्यपर एक छोटी वृत्ति भी है। इसके रचयिता हरिभद्र है । किन्तु यह वृत्ति केवल हरिभद्राचार्यकी ही कृति नही है, वल्कि इसकी रचनामें कम-से-कम तीन आचार्योंका हाथ है । जिसमेंसे एक हरिभद्र भी हैं । उन्होंने साढे पाँच अध्यायोपर वृत्ति रची है । इसके पश्चात् तत्त्वार्थ भाष्यके शेष भागपर जो वृत्ति है उसकी रचनामें दो आचार्योंका हाथ तो अवश्य है । उनमेंसे एकका नाम यशोभद्र है और दूसरे उनके शिष्य है जिनके नामका कोई पता नही । यशोभद्रके उस शिष्यने केवल दसवे अध्यायके अन्तिम सूत्रके भाष्यपर वृत्ति लिखी है, हरिभद्रकी टीकाके पश्चात्के शेष वचे भागके ऊपर यशोभद्रकी वृत्ति है । यह वात यशोभद्रके शिष्यने अपनी टीकामें स्वय लिखी है । यथा—

---

१ यह टीका रतलामस्थ श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी नामक सस्थाकी ओरसे प्रकाशित हुई है ।

'मूरि यशोभद्रस्य (हि) शिष्येण समुद्धृता स्वबोधार्थम् ।
तत्त्वार्थस्य हि टीका जडकायार्जनाधृता यात्या नृद्धृता ॥१॥
(र्यर्जुनोद्धृताऽन्त्यार्धा) ।

हरिभद्राचार्येणारब्धा विवृताऽर्धपडव्यायाश्च ।
पूज्यै पुनरुद्धृतेय तत्त्वार्थार्द्धस्य टीकान्त्ये ॥२॥ ति,

'एतदुक्त भवति हरिभद्राचार्येणार्द्धपण्णामध्यायानामाद्याना टीका कृता, भगवता तु गन्धहस्तिना मिद्धसेनेन नव्या कृता तत्त्वार्थ टीका, नव्यैर्वादस्थानैर्व्याकुला, तस्या एव शेपमुद्धृतञ्चाचार्येण (शेप मया) स्वबोधार्थं, साऽत्यन्तगुर्वी च डुपडुपिका निष्पन्नेत्यल प्रसङ्गेन ।'—(हरि० टी०, पृ० ५२१) ।

'अर्थात् हरिभद्राचार्यने आदिके साढे पाँच अध्यायोकी टीका बनाई । भगवान गन्धहस्ती सिद्धसेनने तत्त्वार्थकी नई टीका रची जो नये वादोसे भरपूर है । उसीको उद्धृत करके आचार्य यशोभद्रने और शेप मैंने अपने बोधके लिये वृत्ति रची । सिद्धसेनकी टीका अत्यन्त गुर्वी है सो उसमें अवतरण करनेके लिये यह डुपडुपिका टीका निष्पन्न हुई ।'

अब प्रश्न यह है कि इस टीकाके आद्य रचयिता हरिभद्र कौन है और वे कब हुए हैं ।

श्वेताम्बर परम्परामें हरिभद्र नामके अनेक ग्रन्थकार हुए है । किन्तु उन मबमें मूर्धन्य याकिनी सूनु भवविरहाक हरिभद्र ही है । और परम्परासे उन्हें ही इस लघुवृत्तिका रचयिता माना जाता है । ऊपर जो इस टीकाके अन्तिम भागसे एक उद्धरण दिया है उससे भी ऐसा ही प्रतीत होता है क्योकि उसमें सिद्धसेनकृत टीकाको 'नव्या' कहा है ।

श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पके रूपमें तत्त्वार्थ सूत्रका पं० सुखलालजी कृत जो हिन्दी विवेचन प्रकाशित हुआ है उसकी प्रस्तावनामें (पृ० ४७-५४) पंडितजीने भी यशोभद्र सूरिके शिष्यके ऊपर उद्धृत वचनोंके आधारपर विस्तारसे प्रकाश डालकर यही नतीजा निकला है कि वे हरिभद्र याकिनी सूनु ही हो सकते हैं, दूसरे नही । किन्तु जैन सस्कृति संशोधन मडल वाराणसीमे प्रकाशित तत्त्वार्थ सूत्र विवेचनके सस्करणकी भूमिकामें (पृ० ४२-४३) पडितजीने उक्त लम्बी चर्चाको स्थान न देकर केवल इतना ही लिखा है—'श्वेताम्बर परम्परामे हरिभद्र नामके कई आचार्य हो गये है जिनमेंसे याकिनीसूनु रूपसे प्रसिद्ध सैकडों ग्रन्थोंके रचयिता आ० हरिभद्र ही इस छोटी वृत्तिके रचयिता माने जाते हैं । परन्तु इस बारेमें कोई असंदिग्ध प्रमाण अभी हमारे सामने नही

है। मुनि [1]श्रीजम्बूविजयजीने हरिभद्र वृत्ति और सिद्धसेनीय वृत्ति दोनोकी तुलना की है और वतलाया है कि हरिभद्रने सिद्धसेनीय वृत्तिका अवलम्बन लिया है। अगर यह वात ठीक है तो कहना होगा कि सिद्धसेनकी वृत्तिके वाद ही हरिभद्रीय वृत्तिकी रचना हुई है।'

इससे प्रकट है कि उक्त टीकाके रचयिता हरिभद्रका व्यक्तित्व और समय अभी तक अनिर्णीत ही है।

हमने हरिभद्रीय वृत्ति और सिद्धसेनीय वृत्तिका मिलान करके देखा तो वरावर यह प्रमाणित हुआ कि एक के रचयिताने दूसरेकी कृतिको न केवल देखा है किन्तु उसका अनुसरण भी किया है और ऐसा करने वाला व्यक्ति हरिभद्र ही है, सिद्धसेन नही। किन्तु हरिभद्रने सिद्धसेनका अन्धानुकरण नही किया, उनके अनुकरणमें भी उनके व्यक्तित्वकी छाप सुस्पष्ट प्रतीत होती है। तथा उनकी टीकामें कई एक वातें ऐसी भी हैं जो टीकाकारकी दार्शनिकता तथा स्वतत्र व्यक्तित्वकी परिचायक है। नीचे ऐसी कुछ वातें दी जाती है।

१ सूत्र १-३ की टीकामें भाष्यमें आगत 'अनादौ ससारे' पदका व्याख्यान करते हुए दोनो टीकाकारोंने सृष्टि कर्तृत्वका खण्डन किया है। सिद्धसेनने उसी प्रसगमें सिद्धि विनिश्चय गत सृष्टि परीक्षाको देखनेकी वात लिखी है किन्तु हरिभद्रने 'निर्णीतमेतदन्यत्र' अन्य ग्रन्थमे इसका निर्णय किया है, इतना मात्र लिखा है। ऐसा लिखना लेखकके व्यक्तित्वका परिचायक है। इससे यह भी आशय निकलता है कि टीकाकारने स्वय किसी अन्य ग्रन्थमें उक्त विषयका विचार किया है। ऐसे प्रसग दो एक और भी मिलते है। यथा—सूत्र १-१९ की टीकामें लिखा है—'नायनरश्मिविषानं मनोनिर्गमनं चान्यत्र निराकृतमिति नेहाभिधीयते'। अर्थात् आँखोंसे किरणें निकलती हैं और मन वाहर जाता है इसका खण्डन अन्यत्र किया है इस लिये यहाँ नही कहते।' यदि टीकाकारके इन उल्लेखोंका आशय स्वय अपने द्वारा अन्यत्र लिखे जाने से है तव तो ऐसा लिखने वाले हरिभद्र याकिनी सूनु ही हो सकते हैं। किन्तु उनके उपलव्व ग्रन्थो में हमें उक्त चर्चाएँ देखने को नही मिल सकी।

२ सूत्र १-३ की ही टीकामें यह शका की गई है कि जव सभी जीवोके साथ कर्मका सम्वन्ध अनादि है तो जीवोको कालभेदसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति क्यो होती है? इसके समाधानमें कहा गया है कि सम्यग्दर्शनका लाभ विशिष्टकाल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषकार रूप सामग्रीसे होता है और वह सामग्री प्रत्येक जीवकी भिन्न-भिन्न होती है। इसी प्रसंगमें सिद्धसेन दिवाकरके सन्मति तर्कसे

१. आत्मानन्द प्रकाश, वर्ष ४५, अक १०, पृ० १९३।

'कालो सहाव णियई' आदि गाथा भी उद्धृत कीगई है, सिद्धसेनीय टीकामें यह चर्चा नही है।

३. सूत्र १-४ के भाष्यका व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'औपशमिकादिभावयुक्ता' विशेषणसे नि स्वभाव जीववादका व्यवच्छेद किया है क्योंकि किन्हीका कहना है कि 'नि स्वभावा जीवा सवृतै सन्त'। दूसरों का कहना है 'अकार्याकरणैक स्वभावा' यह भी सिद्धसेनीय टीकामें नही है।

४ सूत्र १-३१ के भाष्यमें 'भगवतो केवलिनो 'अनुसमयमुपयोगो भवति' ऐसा एक वाक्य है। सिद्धसेन और हरिभद्रने 'अनु समय' की व्युत्पत्ति तो समान ही की है। यथा—'अनुगत —अव्यवहित समय —अत्यन्ताविभाग.कालो यत्र कालसन्ताने स कालसन्तानोऽनुसमय तमनुसमय' किन्तु दोनोके अर्थमें आकाश पातालका अन्तर है। उसका कारण यह है कि श्वेताम्बर परम्परामें आगमिक पक्ष केवलीके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक साथ नही मानता, क्रमसे मानता है। सिद्धसेन कट्टर आगमिक पक्षी थे अत उन्होने 'अनुसमय'का अर्थ किया है—'वारवारेणोपयोगो भवतीति यावत्। एकस्मिन् समये केवलज्ञानोपयोगे वृत्ते ततोऽन्यस्मिन् केवलदर्शनोपयोग इति सर्वकालमवसेयम्।'

अर्थात् केवलीके वारंवार उपयोग होता है। एक समयमें केवल ज्ञानोपयोग होनेपर दूसरे समयमें केवल दर्शनोपयोग होता है इस प्रकार सदा होता रहता है।' किन्तु 'अनुसमय' का यथार्थ अर्थ तो प्रति समय है। हरिभद्रने अपनी टीकामें यही अर्थ किया है। यथा—'प्रतिसमयमित्यर्थ , उपयोग स्वग्रहण व्यापारो भवति तत. सदा केवलोपयोगद्वयभावात् ।' अत हरिभद्र के अनुसार केवली के सदा दोनों उपयोग रहते हैं।

इस तरह की विशेपताओके कारण लघुवृत्तिके रचयिता हरिभद्र साधारण विद्वान प्रतीत नही होते। उनकी शैलीमें भी अपनी विशेपता है। उदाहरण तथा तुलनाके लिये सिद्धसेनीय तथा हरिभद्रीय टीकासे एक उद्धरण नीचे दिया जाता है—'अनादौ ससार इति च सृष्टि निरस्यति। न हि कश्चिज्जगत स्रष्टा कर्ता समस्ति पुरुष , यथैव हि तेन केनचित् स्रष्टा प्राण्यादि (?) मन्तस्तथाऽन्येऽपि प्राणिन । कर्त्रन्तराभ्युपगमे चानवस्था। नापि किञ्चित् सर्गे जगत स्रष्टु प्रयोजनमस्ति प्रेक्षापूर्वकारिण । क्रीडाद्यर्थमिति चेत् कुत सर्गशक्ति ? प्राकृतत्वात्। सुखितदुखितदेवनारकसत्त्वोत्पादने चाकस्मिक पक्षपातो द्वेषिता चेति।'—सि० टी०, भा० १, पृ० ३७।

'तस्मिन्ननादौ संसारे अनेन सृष्टिवादव्यवच्छेदमाह—स्रष्टारमन्तरेण तदनुपपत्ते , सति चास्मिन् स केन स्रष्ट ? तदपराभ्युपगमेऽनवस्था, अनभ्युपगमे

तद्वदपरस्यासृष्टि । रागादिरहितस्य च स्रष्टु सर्जने सर्गे प्रयोजनभावः क्रीडा प्रयोजनाङ्गीकरणे रागादिमत्त्वं सुखितदु खितदेवादिकरणेऽस्थानपक्षपात । तत्स्व-भावत्वाभ्युपगमे न चालाद् (न प्रमाण, न चास्मात्) कस्यचिदुत्पत्तिः । (ह० टी०, पृ० २२-२३) ।

एक हरिभद्र जयसिहके राज्यकालमे हुए है । उन्होने उमास्वातिके प्रशमरति प्रकरण तथा कर्मग्रन्थों आदि पर सस्कृतमें वृत्तियाँ रची हैं । किन्तु तुलना करनेसे तत्त्वार्थ की वृत्ति उन हरिभद्रकी प्रतीत नही होती ।

चूँकि टीकाकार हरिभद्रका व्यक्तित्व अनिर्णीत है अत टीकाके रचना कालका भी निर्णय कर सकना शक्य नही है । चूँकि सिद्धसेनकी टीकाका अनुसरण इसमे किया गया है । अत इतना निश्चित है कि उसके पश्चात् ही इसकी रचना हुई है । सिद्धसेनने अपनी टीकामें सिद्धि विनिश्चयकातो उल्लेख किया ही है इसके सिवाय उनकी तत्त्वार्थ टीका अकलकदेवके तत्त्वार्थ वार्तिककी भी ऋणी है यह हम पहले बतला आये है। तथा सिद्धसेन द्वादशारनयचक्रके टीका-कार सिहसूरके प्रशिष्य थे और सिहसूर विक्रमकी सातवी शताब्दीमें अवश्य वर्तमान थे । अकलकदेव भी उनके लघुसमकालीन थे । अत सिद्धसेन विक्रमकी आठवी शताब्दीके विद्वान थे । याकिनीसूनु हरिभद्रका[1] समय भी विक्रमकी ८वी-९वी शताब्दी सुनिश्चित है । यदि उक्त हरिभद्रीय टीका याकिनीसूनु हरिभद्र रचित है तो उसका रचनाकाल भी यही है । अन्यथा विक्रमकी आठवी शताब्दी-के पश्चात् किसी समय वह रची गई है ।

तथा प्रवचन सारोद्धार वृत्ति (वि० स० ११४८) मे 'तथा च तत्त्वार्थ मूल टीकाया हरिभद्रसूरि ' करके हरिभद्रीय टीकाका उल्लेख पाया जाता है अत इससे पहले उसका रचा जाना सिद्ध होता है ।

यशोभद्र और उनके शिष्य

हरिभद्रने सभाष्य तत्त्वार्थ सूत्रके ५॥ अध्यायोंपर ही वृत्ति रची है । शेष अध्यायोपर वृत्ति यशोभद्र और उनके किसी अज्ञात नाम शिष्यने रची है । यह बात यशोभद्रसूरिके शिष्यके वचनोसे स्पष्ट है यह हम ऊपर बतला आये है । यशोभद्रने भी हरिभद्रका ही अनुसरण करते हुए उसी शैलीमें अपनी वृत्ति रची है । साधारण रीतिसे देखनेपर यह प्रतीत नही होता कि शेष वृत्तिके रचयिता कोई भिन्न व्यक्ति हैं । यशोभद्रने भी सिद्धसेनकी तत्त्वार्थ वृत्तिका ही अनुसरण विशेष रूपसे किया है और बहुतसे स्थलोको शब्दश ज्यो का त्यों अपना लिया

---

१ जै० मा० स०, वर्ष १, अक १ ।

है। हरिभद्रकृत ५॥ अध्यायोकी वृत्तिका जितना परिमाण (२७४ पृष्ठ) है। लगभग उतना ही परिमाण (२६२ पृष्ठ) यशोभद्रकी ४॥ अध्यायोकी वृत्तिका है। और उद्धृत वाक्योकी सख्या तो हरिभद्रकी वृत्तिसे तिगुनी है। सिद्धसेनकी वृत्तिमें आगत एक भी उद्धरणको यशोभद्रने नही छोडा है।

श्वेताम्बर परम्परामें यशोभद्र[1] नामके भी अनेक आचार्य हुए हैं। एक यशोभद्र तो श्रुतकेवली भद्रबाहुके गुरु थे। दूसरे यशोभद्र साडेरक गच्छके थे। उनका स्वर्गवास वि० स० १०२९ में हुआ था। तीसरे यशोभद्र स्थानक प्रकरणके रचयिता प्रद्युम्नसूरिके गुरु थे। यह पूर्णतल्ल गच्छके थे। चौथे यशोभद्र बृहद्गच्छके सर्वदेवसूरिके शिष्य थे। पाँचवें यशोभद्र राजगच्छके धर्मघोपसूरिके शिष्य थे। छठे यशोभद्र चन्द्रगच्छमें हुए। इसमेसे प्रस्तुत यशोभद्र कौनसे हैं, यह अज्ञात है। एक यशोभद्रने हरिभद्रके पोडषक प्रकरणके ऊपर वृत्ति रची है। किन्तु प्रस्तुत यशोभद्रके साथ उनका ऐक्य भी विचारणीय है। यशोभद्रके जिस शिष्यने अन्तिम सूत्र पर वृत्ति रची उसका तो नाम भी ज्ञात नही है। अत उसके सम्बन्धमें कुछ कह सकना शक्य नही है। उसकी वृत्ति भी उसके गुरुकी तरह सिद्धसेनकी वृत्तिका सक्षेपीकरण मात्र है।

श्रुतसागर सूरि

जैन परम्परामे ग्रन्थकार प्राय ससारसे विरक्त मुनिजन ही विशेष हुए हैं। किन्तु उत्तरकालमें भट्टारकसम्प्रदायका प्रवर्तन होने पर भट्टारकोंमें भी अनेक विशिष्ट ग्रन्थकार हुए हैं। उनमें श्रुतसागर सूरिका नाम उल्लेखनीय है, क्योकि उन्होने अन्य अनेक छोटी बडी रचनाओके साथ तत्त्वार्थसूत्र पर भी एक श्रुतसागरी नामकी वृत्ति रची है। यह वृत्ति अनेक दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण है और अपने रचयिताकी विद्वत्ताका ख्यापन करती है।

श्रुतसागरने अपनी रचनाओके अन्तमें अपने गुरु आदिका नाम दिया है। वे मूलसघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणमें हुए हैं। उनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दिके गुरुका नाम देवेन्द्रकीर्ति और देवेन्द्रकीर्तिके गुरुका नाम पद्मनन्दि था। ये बलात्कार गणकी सूरत शाखाके भट्टारक थे। विद्यानन्दिके पश्चात् मल्लिभूषण भट्टारक हुए। इन मल्लिभूषणके उपदेशमे श्रुतसागरने यशोधरचरित, मुकुटसप्तमी कथा और पल्यविधान कथा आदिकी रचना की थी।

श्रुतसागरने अपनेको देशव्रती, ब्रह्मचारी या वर्णी लिखा है। तथा नवनवति

---

१ जैन० सा० स० इ० (गु०) के परिशिष्टमें 'यशोभद्र'।

महावादि विजेता, तर्क-व्याकरण-छन्द-अलंकार सिद्धान्त-साहित्यादि शास्त्र निपुण, प्राकृत व्याकरणादि अनेक शास्त्र चचु, उभयभाषा कविचक्रवर्ती, तार्किक-शिरोमणि, परमागमप्रवीण आदि विशेषणोंसे अलकृत किया है। तत्त्वार्थवृत्तिके अन्तिम सन्धिवाक्यमें[1] उन्होने लिखा है कि मैंने श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, न्यायकुमुद चन्द्रोदय, प्रमेयकमलमार्तण्ड, राजवार्तिक, प्रचण्ड अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंका गम्भीरतासे अध्ययन किया है। इससे प्रकट है कि श्रुतसागर अपने समयके अच्छे विद्वान और ग्रन्थकार थे।

श्रुतसागरने अपनी किसी भी रचनामें उसका रचनाकाल नही दिया। किन्तु अन्य आधारोंसे उनके समयका निर्णय हो जाता है जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

१ पद्मनन्दिके[2] शिष्य देवेन्द्रकीर्तिका एक शिलालेख देवगढमें है, जिसपर सम्वत् १४९३ अकित है। यह देवेन्द्रकीर्ति श्रुतसागरके गुरूके गुरू थे।

२ सूरतके[3] एक मूर्तिलेखमें सं० १४९९ और एकमें स० १५१३ अकित है। ये दोनो मूर्तिया देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दिके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई थी। विद्यानन्दिके उपदेशसे प्रतिष्ठित अन्य मूर्तियो पर सं० १५१८, सं० १५३१ और स० १५३७ अकित है।

३. सूरतमें[4] पद्मावतीकी एक मूर्ति पर सं० १५४४ अकित है। तथा उस समय विद्यानन्दिके पट्ट पर मल्लिभूषण विराजमान थे। इन्ही मल्लिभूषणके उपदेशसे श्रुतसागरने कुछ कथाएं रची थी और ये श्रुतसागर के गुरू भाई थे।

---

१ इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसमाजरत्नराज-मतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलंकारसाहित्यादि-शास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेनस्य विद्यानन्दिदेवस्य सछर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचिताया श्लोकवार्तिक-सर्वार्थसिद्धि-न्यायकुमुदचन्द्रो-दय-प्रमेयकमलमार्तण्ड-राजवार्तिकप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रभृतिग्रन्थसन्दर्भनिर्भराव - लोकनबुद्धिविराजिताया तत्त्वार्थटीकाया दशमोऽध्याय'।'—तत्त्वार्थवृत्ति। देखो—जैं० सा० इ०, पृ० ३७१-३७७। जैं० ग्र० प्र० स०, भाग १, की प्रस्ता०, पृ० १४-१८।

२. भ० सम्प्र०, पृ० १६९।

३. भ० सम्प्र०, पृ० १६९।

४ वही, पृ० १७७।

४ ब्र० नेमिदत्तने[1] अपने आराधना कथाकोशकी प्रशस्तिमें विद्यानन्दिके पट्टधर मल्लिभूषण और उनके शिष्य सिंहनन्दिका गुरुरूपमें स्मरण करके श्रुतसागरका भी जयकार किया है। इससे प्रतीत होता है कि वह उस समय जीवित थे। किन्तु इन्ही ब्र० नेमिदत्तने वि० स० १५८५ में श्रीपाल चरित्र[2] भी रचा है और उसमें श्रुतसागरके द्वारा रचित श्रीपालका उल्लेख करते हुए श्रुतसागरको 'पूर्वसूरि' तथा उनके द्वारा रचित श्रीपालचरितको 'पुरा रचित' कहा है। इससे ज्ञात होता कि उस समय श्रुतसागरका अवसान हो चुका था।

५ श्रुतसागरने अपनी पल्यविधान[3] कथाकी प्रशस्तिमें लिखा है कि राजा भानुके मत्री भोजराजकी पुत्रीके साथ श्रुतसागरने गजपन्था और तुगीगिरिकी वन्दना की थी। राजा भानु ईडरके राव भाणजी है।

इनका राज्यकाल स० १५०२ से १५२२ तक है। पल्य विधान कथाकी रचना मल्लिभूषणके उपदेशसे हुई है और उस समय विद्यानन्दिके पट्टपर वही विराजमान थे। विद्यानन्दिका पट्टकाल १४९९ से आरम्भ होता है और मल्लिभूषणका पट्टकाल वि० स० १५४४ से १५५६ तक मिलता है। इन दोनोंका पट्टकाल ही श्रुतसागर सूरिका समय होना चाहिए। स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी स० १९५४ में लिखी गई ग्रन्थ सूचीमें श्रुतसागरका समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है। अत वह विक्रमकी सोलहवी शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान थे।

श्रुतसागरी टीका

तत्त्वार्थसूत्रपर श्रुतसागरजी रचित श्रुतसागरी टीका एक तरहसे पूर्वरचित सब टीकाओका निचोड है। उसके प्रारम्भिक श्लोकसे ही यह बात ज्ञात हो जाती है। उसके द्वारा श्रुतसागरजीने तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीके साथ ही साथ पूज्यपाद, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्दि और अकलकको स्मरण किया है। ये चारो ही आचार्य तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार है। इनमें सबसे अन्तिम है प्रभाचन्द्र। उनकी छोटीसी टिप्पण रूप वृत्तिको तो उन्होंने प्राय पूरा आत्मसात् कर लिया है।

वृत्तिका प्रारम्भ सर्वार्थसिद्धिके आरम्भिक शब्दोंकी शैलीको अपनाकर होता है। सर्वार्थसिद्धिमें उस प्रश्नकर्ता भव्यका नाम नही लिखा जिसके प्रश्नके ऊपरसे आचार्यने यह सूत्र ग्रन्थ रचा। प्रभाचन्द्रने उसको 'प्रसिद्धचैंक नामा' लिखा है, श्रुतसागरने 'द्वैयाकनामा' लिखा है। १३वी शताब्दीके बालचन्द्र मुनि द्वारा जो

---

१. वही, पृ० १७९।

२ जै० ग्र० प्र० स०, १ भा०, पृ० १७।

३ भ० सम्प्र०, पृ० १७८।

तत्त्वार्थसूत्रकी कनडी टीका लिखी गई है उसमें उस प्रश्नकर्ताका नाम 'सिद्धय्य' पाया जाता है।

सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें पाये जाने वाले मगल श्लोक 'मोक्षमार्गस्य नेतार' आदिका व्याख्यान भास्करनन्दिकी तरह श्रुतसागरने भी किया है। इससे प्रकट होता है कि १३वी शताव्दीसे इस मगल श्लोकको सूत्रकारका माना जाने लगा था।

श्रुतसागर सूरिका पूरा व्याख्यान एक तरहसे सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्तिका ही व्याख्यान है। जो बातें वहाँ सक्षेपमें परिमित शब्दोमें कही गई है उनको यहाँ स्पष्ट शब्दोमे कहा गया है। तथा यथास्थान ग्रन्थान्तरोसे उद्धरण देकर विशेष कथन भी किया गया है। ग्रन्थान्तरोसे उद्धरणोकी सख्या काफी है और उससे प्रकट होता है कि श्रुतसागरने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके द्वारा रचित प्राय. सभी प्रमुख ग्रन्थो को पढा था।

उन्होंने पाणिनिसूत्रोके उद्धरण तो दिये ही है। कातत्र व्याकरणके भी उद्धरण वहुतायतसे दिये है। कातत्र व्याकरण भी जैनाचार्य रचित है। किन्तु उसका उपयोग इस तरह किसी अन्य टीकाकारके द्वारा हमारे देखनेमें नही आया।

इसमें सन्देह नही कि श्रुतसागरजी वहुश्रुत विद्वान थे। किन्तु उनके दो स्खलन उल्लेखनीय हैं।

प्रथम उन्होने सूत्र २-५३ की व्याख्यामें लिखा है—

'गुरुदत्तपाण्डवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनान्नास्त्यनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति।'

अर्थात् न्यायकुमुद चन्द्रोदयमें प्रभाचन्द्रने कहा है कि गुरुदत्त और पाण्डव आदिका उपसर्गके द्वारा मुक्तिलाभ देखा जाता है अत अनपवर्त्यायुका नियम नही है।

किन्तु प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें कही भी ऐसा नही लिखा है। असलमें उक्त कथन प्रभाचन्द्रके तत्त्वार्थ टिप्पणमें है। वहाँ उन्होने लिखा है—

'चरम देहस्योत्तमविशेषणात्तीर्थकरदेहो गृह्यते। ततोऽन्येषा चरमदेहानामपि गुरुदत्त-पाण्डवादीनामग्न्यादिना मरणदर्शनात्'। अर्थात् इस सूत्रमें चरमदेहका उत्तम विशेषण है और उससे तीर्थङ्करके शरीरका ग्रहण किया जाता है। तीर्थंकरके सिवाय जो अन्य चरम शरीरी हैं, जैसे गुरुदत्त और पाण्डव वगैरह, उनका अग्नि आदिसे मरण पाया जाता है।

श्रुतसागरजीके सन्मुख प्रभाचन्द्रका टिप्पण अवश्य था, सत्सख्या आदि सूत्र-

की व्याख्यामें उन्होंने उसको खूब अपनाया है फिर भी विस्मरणवश ही उनसे उक्त भूल हो गई जान पडती है।

२ सूत्र ९-४७ की वृत्तिमें उन्होंने लिखा है कि-'कुछ[1] असमर्थ महर्षि शीतकाल वगैरहमें कम्बल आदि ले लेते है। किन्तु न तो वे उसे धोते हैं, न सीते है। और न उसके लिए कोई प्रयत्न वगैरह ही करते है। शीतकाल बीतनेपर उसे त्याग देते हैं। कुछ मुनि शरीरमें दोष उत्पन्न होनेसे लज्जावश वस्त्रको ग्रहण कर लेते हैं। यह व्याख्यान भगवती आराधनामे कहे हुए अभिप्रायसे अपवाद रूप जानना चाहिए।'

किन्तु भगवती आराधनामें इस तरहका कोई विधान नही है। हाँ, उसके टीकाकार अपराजितसूरिने अपनी विजयोदया टीकामें आचेलक्य आदि दस कल्पोका वर्णन करनेवाली गाथा ४२१ की व्याख्या करते हुए आचाराग आदि सूत्र ग्रन्थोमें पाये जानेवाले कुछ वाक्योंके आधारपर यह स्वीकार किया है कि यदि भिक्षुका शरीरावयव सदोष हो, या वह परीषह सहनेमें असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण कर लेता है।

श्रुतसागरजीका अभिप्राय भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकासे ही जान पडता है। उसीके लिये उन्होने भगवती आराधना लिख दिया है।

शैली और भाषा—श्रुतसागरजीकी शैली और भाषा, दोनो सुबोध हैं। न तो उनकी शैलीमें ही जटिलता है और न सस्कृत भाषामें ही। प्रथम वह सूत्रके शब्दोका व्याख्यान करते है और फिर उसका सरल सुबोध सस्कृतमें स्पष्टीकरण करते हैं। जहाँ उनका विषयपर अधिकार है वहाँ भाषापर भी पूर्णाधिकार है। वाक्य रचना सरल और सक्षिप्त है। उसे दुरुह बनानेका प्रयत्न नही किया गया है। बल्कि सरल और सुस्पष्ट करनेका ही प्रयत्न किया गया हैं। उसे पढकर सर्वार्थसिद्धिमें कथित कोई बात अस्पष्ट नही रहती।

श्रुतसागरने कुन्दकुन्दाचार्यके षट् प्राभृतोंपर भी टीका बनाई है, किन्तु उसमें उन्हें सफलता नही मिली। इसका कारण यह हो सकता है कि षट् प्राभृतोकी कोई अन्य टीका उनके सामने नही थी। जबकि तत्त्वार्थ सूत्रकी अनेक टीकाएँ उनके सामने उपस्थित थी। फिर भी जो प्रौढता इस टीका में है, षट् प्राभृतोकी टीकामें उसका आभास नही मिलता। मालूम होता है कि यह टीका प्रौढवयमें लिखी गई है।

---

१ केचिदसमर्था महर्षय शीतकालादौ कम्बलशब्दावाच्यं कौशेयादिक गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति न सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिक कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम्'—श्रु० टी० पृ० ३१६।

अन्य रचनायें—श्रुतसागरजीकी जो रचनाएँ अब तक उपलब्ध हो सकी हैं उनकी नामावली दी जाती है—१ यशस्तिलक चन्द्रिका, २ तत्त्वार्थवृत्ति, ३. तत्त्वत्रय प्रकाशिका (ज्ञानार्णवके गद्य भागकी सं० टीका), ४ जिनसहस्रनाम टीका, ५ महाअभिषेक टीका, ६ षट्पाहुड टीका, ७. सिद्ध भक्ति टीका, ८ सिद्धचक्राष्टक टीका, ९ ज्येष्ठ जिनवर कथा, १०. रविव्रत कथा, ११ सप्तपरम स्थान कथा, १२ मुकुट सप्तमी कथा, १३ अक्षय निधि कथा, १४. षोडश कारण कथा, १५. मेघ माला व्रत कथा, १७. चन्दन षष्ठी कथा, १७ लब्धि विधान कथा, १८ सुन्दर विधान कथा, १९ दशलक्षिणी व्रत कथा, २० पुष्पाजलि व्रत कथा, २१ आकाशपंचमी कथा, २२ मुक्तावलि व्रत कथा, २३ निर्दुख सप्तमी कथा, २४ सुगन्ध दसमी कथा, २५ श्रवण द्वादशी कथा, २६. रत्नत्रय कथा, २७ अनन्त व्रत कथा, २८. अशोक रोहिणी कथा, २२. तपो लक्षणपक्ति कथा, ३० मेरुपक्ति कथा, ३१ विमान पक्ति कथा, ३२ पल्लविधान कथा, ३३ श्रीपाल चरित, यशोधर चरित, ३५ औदार्य चिन्तामणि स्वोज्ञवृत्ति युक्त (प्राकृत व्याकरण), श्रुतस्कन्ध पूजा। इसके सिवाय गुजरातीमें कुछ ग्रन्थ हैं।

यह द्रव्यानुयोगविषयक जैनसाहित्यका इतिहास है।

●

नामसूची